अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति-रक्षक संघ साहित्य रत्नमाला का ५७ वाँ रत्न

तीर्थंकर चरित्र

भाग ३

लेखक—

रतनलाल डोशी

प्रकाशक—

अखिल भारतीय साधुमार्गी
जैन संस्कृति-रक्षक संघ
सैलाना (म. प्र.)

प्राप्ति स्थान--

१-श्री अ. भा. सा. जैन संस्कृति-रक्षक संघ सैलाना
२- " एदुन बिल्डिंग पहली धोबी तलाव लेन बम्बई २
३- " सराफा बाजार, जोधपुर (राजस्थान)

लागत मूल्य ९-००

प्रथमावृत्ति
१५००

वीर संवत् २५०४
विक्रम संवत् २०३४
इस्वी सन् १९७७

मुद्रक— श्री जैन प्रिंटिंग प्रेस, सैलाना (म. प्र.)

लेखक का निवेदन

तीर्थंकर-चरित्र का यह तीसरा—अंतिम--भाग पूर्ण करते मुझे प्रसन्नता हो रही है। शारीरिक निर्बलता रुग्णता एवं शक्ति-क्षीणता से कइबार मन में सन्देह उत्पन्न हुआ कि कदाचित् मैं इसे पूर्ण नहीं कर सकूँगा और शेष रहा काम या तो यों ही धरा रह जायगा, या किसी अन्य को पूर्ण करना पड़ेगा। परंतु सन्देह व्यर्थ हो कर भावना सफल हुई और आज यह कार्य पूर्ण हुआ।

यह लेखन कार्य मैंने अकेले ही अपनी समझ के अनुसार किया है। न कोई सहायक रहा, न संशोधक, साधन सीमित और योग्यता भी उल्लेखनीय नहीं। इस स्थिति में अच्छा निर्दोष और विद्वद्मान्य प्रकाशन कैसे हो सकता है? भाव-भाषा और चरित्र-लेखन में कई त्रुटियें रही होगी, कहीं वास्तविकता के विपरीत भी लिखा गया होगा। मैंने यथा-शक्य सावधानी रखी, फिर भी भूलें रही हो, तो मेरी विवशता का विचार कर पाठक-गण क्षमा करेंगे और भूल सुझाने की कृपा करेंगे।

प्रथम भाग सन् १९७३ में प्रकाशित हुआ था। उसमें प्रथम से लगाकर १९ तीर्थंकर भगवंतों, ८ चक्रवर्तियों, ७ बलदेवों, वासुदेवें और प्रतिवासुदेवों के चरित्र का समावेश हुआ था।

दूसरा भाग मार्च १९७६ में प्रकाशित हुआ। उसमें २० वें तीर्थंकर भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी, २१ वें नमिनाथ स्वामी और २२ वें तीर्थंकर भगवान् अरिष्ट नेमि-नाथजी का ऐसे तीन तीर्थंकर भगवंतों का, ३ चक्रवर्ति सम्राटों और दो-दो बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेवों का चरित्र आया।

इस तीसरे भाग में २३ वें तीर्थंकर भगवान् श्री पार्श्व नाथजी और २४ वें अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी तथा अंतिम चक्रवर्ती का चरित्र आया है।

अ. भा. साधुमार्गी जैन संस्कृति-रक्षक संघ साहित्य-रत्नमाला का यह ५७ वाँ रत्न समाज-हित में समर्पित है।

सैलाना
मार्गशीर्ष शुक्ला १५
वीर सम्वत् २५०४
वि. सं. २०३४

रतनलाल डोशी
दि. २५-१२-१९७७

विषयानुक्रमणिका

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती चरित्र

भगवान् पार्श्वनाथजी

ध. महावीर स्वामीजी

संघ के प्रकाशन

	मूल्य
१ मोक्षमार्ग ग्रंथ	अप्राप्य
२ भगवती सूत्र भाग १	अप्राप्य
३ भगवती सूत्र भाग २	"
४ भगवती सूत्र भाग ३	"
५ भगवती सूत्र भाग ४	५–००
६ भगवती सूत्र भाग ५	५–००
७ भगवती सूत्र भाग ६	५–००
८ भगवती सूत्र भाग ७	७–००
९ उत्तराध्ययन सूत्र	५–००
१० उववाइय सुत्त	२–००
११ जैन स्वाध्यायमाला	अप्राप्य
१२ दशवैकालिक सूत्र	१–५०
१३ सिद्धस्तुति	०–७५
१४ स्त्री-प्रधान धर्म	अप्राप्य
१५ सुखविपाक सूत्र	०–२०
१६ कर्म-प्रकृति	०–२०
१७ सामायिक सूत्र	०–१५
१८ सूयगडांग सूत्र	अप्राप्य
१९ विनयचंद चौवीसी	०–४०
२० नन्दी सूत्र	अप्राप्य
२१ आलोचना पंचक	०–२०
२२ श्री उपासकदशांग सूत्र	४–००
२३ सम्यक्त्व-विमर्श (हिन्दी)	अप्राप्य
२४ जीव-धड़ा	०–२०
२५ प्रतिक्रमण सूत्र	०–३०
२६ अंतगड दसा सूत्र	१–७५
२७ तेतीस बोल	०–३०

	मूल्य
२८ एक सौ दो बोल का बासठिया	०–१५
२९ गुणस्थान स्वरूप	०–२५
३० गति-आगति	०–१५
३१ प्रश्नव्याकरण सूत्र	७–००
३२ नव तत्त्व	१–२५
३३ पच्चीस बोल	०–३०
३४ समर्थ समाधान भाग १	३–००
३५ समर्थ समाधान भाग २	३–००
३६ रजनीश दर्शन	अप्राप्य
३७ शिविर व्याख्यान	अप्राप्य
३८ मंगल-प्रभातिका	अप्राप्य
३९ समकित के ६७ बोल	०–२०
४० समिति-गुप्ति	०–२०
४१ स्तवन-तरंगिणी	०–५०
४२ अणुत्तरोववाइयदसा सुत्त	०–५०
४३ तीर्थंकर पद प्राप्ति के उपाय	१–५०
४४ સમ્યક્ત્વવિમર્શ ગુજરાતી	૧–૫૦
४५ भवनाशिनी भावना	०–३०
४६ तीर्थंकर-चरित्र भाग १	५–००
४७ तीर्थंकरों का लेखा	०–१५
४८ सार्थ सामायिक सूत्र	०–३५
४९ लघुदण्डक	०–४०
५० महादण्डक	०–४०
५१ तीर्थंकर चरित्र भाग २	१०–००
५२ जैन सिद्धांत थोकसंग्रह भाग १–२	२–५०
५३ अंतकृत विवेचन	१–००
५४ आत्म-शुद्धि का मूल—तत्त्वत्रयी	३–५०
५५ संसार-तरणिका	१–२५

तीर्थंकर चरित्र

—×—

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती चरित्र

पूर्व-भव

भगवान् अरिष्टनेमिजी के मुक्तिगमन के पश्चात् उन्हीं के धर्मतीर्थ में इस भरत-क्षेत्र का अन्तिम चक्रवर्ती सम्राट ब्रह्मदत्त हुआ। उसके पूर्वभव का उल्लेख इस प्रकार है।

इस जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में साकेतपुर नगर था। वहाँ के चन्द्रावतंस नरेश का सुपुत्र राजकुमार मुनिचन्द्र था। पवित्रात्मा मुनिचन्द्र ने संसार एवं कामभोग से विरक्त हो कर श्री सागरचन्द मुनि के पास निर्ग्रंथ-दीक्षा ग्रहण की। कालान्तर में गुरु के साथ विचरते हुए वे भिक्षा के लिए एक ग्राम में गये। भिक्षा ले कर लौटने में उन्हें विलम्ब हो गया। इतने में गुरु आदि विहार कर आगे बढ़े। मुनिचन्द्र मुनि पीछे-पीछे चले, किन्तु आगे अटवी में जाते हुए मार्ग भूल कर भटक गए। क्षुधा, तृषा, थकान और अकेले रहने

की चिन्ता से वे उद्विग्न हो गए। हताश हो कर वे इधर-उधर देखने लगे। उनकी दृष्टि कुछ मनुष्यों पर पड़ी। वे उनके निकट पहुँचे। वे ग्वाले थे और गायें चराने के लिए वन में आये थे। वे कुल चार मनुष्य थे। उन्होंने मुनिजी को प्रणाम किया और भक्तिपूर्वक उनकी सेवा की। मुनिजी ने संसार की असारता एवं मनुष्यभव सफल बनाने का उपदेश दिया। वे चारों ही बोध पाये और मुनिजी से निर्ग्रंथ-दीक्षा ले कर संयम और तप की आराधना करते हुए विचरने लगे। चारों मे से दो मुनि तो निष्ठापूर्वक धर्म की आराधना करते रहे, परन्तु दो मुनियों के मन में धर्म के प्रति निष्ठा नहीं रही। वे तपस्या तो करते रहे, परन्तु मन में धर्म के प्रति अश्रद्धा, अनादर एवं जुगुप्सा ने घर कर लिया। अश्रद्धा होते हुए भी संयम और तप के प्रभाव से काल कर के वे देवलोक में गये। देवायु पूर्ण होने पर वे दशपुर नगर में शांडिल्य ब्राह्मण की दासी के गर्भ से पुत्र के रूप में जन्मे। युवावस्था आते ही पिता ने उन्हें अपने खेतों की रखवाली के काम में लगाया। रात को वे खेत के निकट रहे हुए वट-वृक्ष की छाया में सो गए। वृक्ष की कोटर में से एक विषधर निकला और दोनों भाइयों को डस लिया। वे दोनों मर कर कलिंजर पर्वत पर रही हुई हिरनी के उदर से उत्पन्न हुए। वे दोनों प्रीतिपूर्वक जीवन यापन करने लगे। किन्तु एक शिकारी का बाण लगने पर मृत्यु पाये और गंगा नदी के किनारे रही हुई हंसिनी के गर्भ से हंसपने उत्पन्न हुए। वहाँ भी पारधी की जाल में फँस कर मारे गए।

चित्र-संभूति××नमूची का विश्वासघात

हंस के भव से छूट कर दोनों जीव वाराणसी में भूतदत्त नामके चाण्डाल की पत्नी की कुक्षि से पुत्रपने उत्पन्न हुए। उनका नाम 'चित्र' और 'संभूति' रखा गया। दोनों भाइयों में स्नेह-सम्बन्ध प्रगाढ़ था। वे साथ ही रहते खाते और क्रीड़ा करते थे।

वाराणसी के शंख नरेश का 'नमूची' नाम का प्रधान था। नमूची पर नरेश ने एक गम्भीर अपराध का आरोप लगा कर मृत्यु-दण्ड दिया और वन में लेजा कर मारने के लिये भूतदत्त चाण्डाल को सौंप दिया। भूतदत्त नमूची को ले कर वन में आया। फिर नमूची से बोला—"यदि तुम भू-गृह में गुप्त रह कर मेरे चित्र और संभूत को पढ़ाया करो, तो मैं तुम्हें प्राणदान दे कर तुम्हारी रक्षा करूँगा। बोलो स्वीकार है तुम्हें? खान-पान मेरे यहाँ ही होगा।" नमूची मृत्युभय से भयभीत था। वह मान गया और भूतदत्त

चाण्डाल के भू-घर में रह कर दोनों लड़कों को विविध प्रकार की विद्या सिखाने लगा। चाण्डालपत्नी उसके भोजनादि की व्यवस्था करती थी। निकट सम्बन्ध से उनमें स्नेह बढ़ा और चाण्डालिनी के साथ नमूची व्यभिचार करने लगा। पाप का घड़ा फूटा और नमूची की कृतघ्नता, विश्वास-घातकता एवं अधमता, चाण्डाल के सामने प्रकट हो गई। चाण्डाल ने नमूची को मारने का संकल्प किया। यह बात दोनों पुत्रों को ज्ञात हुई। उन्होंने गुरु को सावधान कर के गुपचुप चले जाने का निवेदन किया। नमूची उसी समय वहाँ से निकल भागा और चलते-चलते हस्तिनापुर पहुँचा। उस समय हस्तिनापुर चक्रवर्ती महाराजा सनत्कुमार की राजधानी थी। नमूची वहाँ का प्रधानमन्त्री बन गया।

चित्र-संभूति आत्मघात से बच कर मुनि बने

चित्र-संभूति यौवनवय को प्राप्त हुए। वे गीत-वादिन्त्र एवं नाट्य-कला में अत्यन्त प्रवीण थे। उनका संगीत मनुष्यों को मोहित करने में समर्थ था। वे मृदंग और वीणा हाथ में ले कर, ज्योंही तान मिला कर गाते और उनकी स्वर-लहरी वायुमण्डल में गुंजती हुई लोगों को सुनाई देती, त्योंही लोग अपना कामधन्धा छोड़ कर उनके पास दौड़े आते और मन्त्रमुग्ध हो कर सुनते रहते। मदनोत्सव के दिन थे। वाराणसी के नागरिक, नगर के वाहर उद्यान में एकत्रित हो कर भिन्न-भिन्न टोलियों में राग-रंग में मस्त हो रहे थे। चित्र-संभूति बन्धु भी अपनी स्वर-लहरी से वातावरण को अत्यन्त मोहक बनाते हुए उधर निकले। उनके संगीत का राग कर्णगोचर होते ही लोग अपना राग-रंग छोड़ कर उनके पास पहुँचे और तल्लीनतापूर्वक सुनने लगे। मदनोत्सव के कार्यक्रम में बाधा उत्पन्न हुई देख कर अनुचर ने नरेश से निवेदन किया—"दो चाण्डाल-युवकों ने अपनी संगीत-कला से जनता को आकर्षित कर के सभी को मलिन = अस्पर्श्य बना दिया और उसी से उत्सव में बाधा उत्पन्न हुई।" राजा ने तत्काल नगर-रक्षक को आज्ञा दी—"इन दोनों चाण्डाल-युवकों को नगर से वाहर निकाल दो और उन्हें नगर में पुनः प्रवेश करने से रोको।" नगर-रक्षक ने उन्हें राजाज्ञा सुना कर नगर की सीमा से वाहर कर दिया। वे अन्यत्र चले गये। कालान्तर में कौमुदी उत्सव के प्रसंग पर वे अपने को नहीं रोक सके और वाराणसी में—राजाज्ञा का उल्लंघन कर के आ पहुँचे। वे अवगुण्ठन (बुरके) में अपने को छुपाये हुए नगरी में फिरने लगे। वहाँ होते हुए संगीत ने उन्हें उत्साहित किया और वे भी उस

स्वर में अपना स्वर मिला कर गाने लगे। उनके संगीत ने पोल खोल दी। परीक्षक लोग भाँप गये और उन पर रहा हुआ वस्त्र का आवरण खींच कर उन्हें खुला कर दिया। लोग पहिचान गए कि ये वे ही चाण्डाल हैं, जिन्हें इस नगर से सदा के लिये निकाल दिया था। ये हीनकुल के अछूत—चाण्डाल हमें भी अछूत बनाना चाहते हैं। हमारी जाति को विगाड़ने के लिए तत्पर हैं। लोग उन्हें पीटने लगे। बड़ी कठिनाई से बच कर वे नगर के वाहर निकले। कठोर मार से उनका सारा शरीर पीड़ित हो गया था। बड़ी कठिनाई से उठते-गिरते और थरथर धूजते हुए वे उद्यान में आये। वे सोचने लगे—"रूप-यौवन और उत्कृष्ट कला के स्वामी होते हुए भी हमारी जातिहीनता हमारा उत्थान नहीं करने देती और हमें अपमानित करवा कर दण्डित करवाती है। हमारे शरीर की उत्पत्ति अधमाधम कुल में हुई, यही हमारे लिए विपत्ति का कारण बनी है। धिक्कार है इस शरीर को। अब हमें इस अधम शरीर को समाप्त कर देना चाहिए। इस जीवन से तो मृत्यु ही श्रेष्ठ है।" वे आत्मघात का निश्चय कर के दक्षिण-दिशा की ओर चले। चलते-चलते वे एक वड़े पहाड़ के निकट पहुँच गए। उस पहाड़ पर चढ़ कर उसके खड़े कगार पर से गिर कर (भृगुप्रपात कर) मरने का उन्होंने संकल्प किया। वे ऊपर चढ़े। उनकी दृष्टि एक ध्यानस्थ रहे हुए महात्मा पर पड़ी। उन्होंने सोचा—"मरने से पूर्व महात्मा की भक्ति कर लें। ऐसा शुभ अवसर क्यों खोएँ।" वे महात्मा के चरणों में झुक कर उनके सम्मुख हाथ जोड़ कर खड़े रहे। ध्यान पूर्ण होने पर महात्मा ने उनके आगमन का कारण पूछा। उन्होंने अपनी आपवीती सुनाई और मरने का संकल्प भी वता दिया। महात्मा ने कहा—

"तुम आत्मघात कर के इस दुर्लभ मनुष्यभव को नष्ट क्यों कर रहे हो? मरने से शरीर तो नष्ट हो जायगा, परन्तु पाप नष्ट नहीं होंगे। यदि तुम्हें पाप नष्ट करना है, तो साधना कर के शेष जीवन को सफल वनाओ। इससे तुम्हारे पाप झड़ेंगे और सुख की सामग्री उत्पन्न होगी।"

तपस्वी मुनिराज के धर्मोपदेश ने अमृत के समान परिणमन किया। दोनों बन्धु प्रतिबोध पाये और महात्मा से ही निर्ग्रंथ-साधुता की दीक्षा ले कर संयम और तप की आराधना करने लगे और गुरुदेव से ज्ञानाभ्यास भी करने लगे। कालान्तर में वे गीतार्थ सन्त हो गए। ग्रामानुग्राम विचरते हुए वे हस्तिनापुर आये और उसके निकट के उद्यान में रह कर साधना करने लगे।

नमूची की नीचता और तपस्वी का कोप

तपस्वीराज श्री संभूतिमुनिजी ने मासखमण के पारणे के लिये हस्तिनापुर नगर में प्रवेश किया। वे निर्दोष आहार के लिये भ्रमण कर रहे थे कि प्रधानमन्त्रि नमूची की दृष्टि उन पर पड़ी। उन्हें देखते ही उसके मन में खटका हुआ। उसने सोचा 'यह चाण्डाल मेरे गुप्त-भेद खोल देगा, तो मेरा यहाँ मुँह दिखाना असंभव हो जायगा। इसलिये इस काँटे को यहाँ से निकाल देना ही ठीक होगा।' उसने अपने सेवकों को निर्देश दिया—"यह साधु नगर के लिये दुःखदायी है। शत्रु का भेदिया है। इसे मार-पीट कर नगर के बाहर निकाल दो।" जो स्वभाव से ही दुर्जन और पापी होते हैं। उन्हें साधुजनों पर भी सन्देह होता है। वे उपकारी के अपने पर किये हुए उपकार भी भूल जाते हैं। नमूची को उन्होंने मृत्यु-भय से बचाया था। परन्तु नमूची के सेवकों ने तपस्वी सन्त पर निर्मम प्रहार किये। उन्हें धकेल कर नगर से बाहर निकाल दिया और बाहर निकाल कर भी पीटते रहे। इस अकारण शत्रुता से तपस्वी सन्त को भी क्रोध आ गया। प्रशान्त-कषाय उदयभाव से भभक उठी। संज्वलन क्रोध ने अपना प्रभाव बताया। जिस प्रकार अग्नि के ताप से शीतल जल भी उष्ण हो जाता है, उसी प्रकार तपस्वी महात्मा भी नमूची के पाप से संतप्त हो गये। तपस्वी की आँखों से तेज किरणें निकली, मुख से तेजोलेश्या निकल कर गगन-मण्डल में व्याप्त हो कर नगर में प्रसरी। नागरिकजन भयभीत हुए। महाराजा सनत्कुमारजी भी चिन्तित हुए। राजा और प्रजा तेजोलेश्या के उत्पत्ति स्थान ऐसे मुनिराज के समीप आ कर उन्हें शान्त करने के लिए प्रार्थना करने लगे। महाराजा सनत्कुमारजी ने निवेदन किया—

"भगवन्! आपको उपसर्ग देने वाला तो नीच व्यक्ति है ही, किन्तु आप तो महात्मा हैं. सभी जीवों पर अनुकम्पा करने वाले हैं और सभी का हित चाहने वाले हैं। आप पापियों, दुष्टों और अहित करने वालों का भी हित करते हैं, फिर कुपित हो कर, तेजोलेश्या फैला कर लाखों जीवों को पीड़ित करना आपके लिए उचित कैसे हो सकता है? सन्त तो क्षमा के सागर होते हैं। आप भी क्षमा धारण कर के सभी जीवों को अभयदान दीजिये।"

राजा की प्रार्थना व्यर्थ गई। तब निकट ही ध्यानस्थ रहे हुए चित्रमुनि, ध्यान पाल कर संभुति मुनि के पास आये और मधुर वचनों से समझा कर उनका क्रोध शान्त किया। तेजोलेश्या शांत हो गई। सभी लोग प्रसन्नता पूर्वक वन्दना-नमस्कार कर के स्वस्थान लौट गये।

मुनिराज चित्र-संभूति का अनशन

तेजोलेश्या छोड़ कर लोगों को परितप्त करने का संभूति मुनिजी को भारी पश्चात्ताप हुआ। दोनों बन्धु मुनिवरों ने सोचा--"धिक्कार है इस शरीर और इसमें रही हुई जठराग्नि को कि जिसे शान्त करने के लिये आहार की आवश्यकता होती है और आहार याचने के लिये नगर में जाना पड़ता है, जिससे ऐसे निमित्त खड़े होते हैं। यदि आहार के लिए नगर में जाने की आवश्यकता नहीं होती, तो न तो यह उपद्रव होता और न मुझे दोष सेवन करना पड़ता। इसलिए अब जीवनभर के लिए आहार का त्याग करना ही श्रेयस्कर है।" दोनों मुनिवरों ने संलेखनापूर्वक अनशन कर लिया और धर्मभाव में रमण करने लगे।

राज्यभवन में प्रवेश कर के महाराजाधिराज ने नगर-रक्षक से कहा--"जिस अधम ने तपस्वी सन्त को अकारण उपद्रव किया, उसे शीघ्र ही पकड़ कर मेरे सामने उपस्थित करो। उस नराधम को मैं कठोर दण्ड दूंगा।" नगर-रक्षक ने पता लगा कर नमूची प्रधान को पकड़ा और बाँध कर नरेश के समक्ष खड़ा कर दिया। महाराजाधिराज ने नमूची से कहा;—

"रे अधमाधम! तू राज्य का प्रधान हो कर भी इतना दुष्ट है कि तपस्वी महात्मा को—जिनके चरणों में इन्द्रों के मुकुट झुकते हैं और जो परम वन्दयीय हैं--तुने अकारण ही पिटवा कर निकलवा दिया? बोल, यह महापाप क्यों किया तेने?"

नमूची क्या बोले? यदि वह कुछ झूठा बचाव करे, तो भी उसकी कौन माने? तपस्वी मुनिराज की तप-शक्ति का प्रभाव तो सारा नगर देख ही चुका है। वह मौन ही खड़ा रहा। राजेन्द्र ने आज्ञा दी; —

"इस दुष्ट को इस वन्दी दशा में ही सारे नगर में घुमाओ और उद्घोषणा करो कि इस अधम ने तपस्वी महात्मा को पीड़ित किया है। इससे महाराजाधिराज ने इसे प्रधानमन्त्री के उच्च पद से गिरा कर दण्डित किया है।"

नमूची को वन्दी दशा में नगर में घुमा कर उद्यान में महात्माओं के पास लाया गया। महाराजा सनत्कुमार ने महात्माओं से कहा—

"आपका अपराधी आपके समक्ष उपस्थित है। आप इसे जैसा दण्ड देना चाहें, देवें।"

महात्मा ने कहा—"राजन्! आप इसे छोड़ दीजिये। अपनी करणी का फल यह अपने-आप भोगेगा।"

नमूची को मुक्त कर दिया गया। किन्तु अब वह हस्तिनापुर का नागरिक नहीं रह सका। महाराजा ने उसे नगर से बाहर निकाल दिया।

तपस्वी सन्त बाजी हार गए × × ब्रह्मदत्त का जन्म

चक्रवर्ती सम्राट की पट्टमहिषी महारानी सुनन्दा, समस्त अन्तःपुर और अन्य परिवार सहित महात्माओं के दर्शनार्थ आई। तपस्वी सन्त को वन्दना करते हुए अचानक महारानी के कोमल केशों का स्पर्श तपस्वी सन्त के चरणों को हो गया। परम सौन्दर्यवती कोमलांगी राजरमणी के केशों के स्पर्श ने महात्मा को रोमांचित कर दिया। उन्होंने महारानी की ओर देखा। संयम और तपस्या के बन्धन और तप-ताप से जर्जर बने हुए काम को उभरने का अवसर मिल गया। कामना जाग्रत हुई और संकल्प कर लिया;—"मेरे उग्र तप के फल स्वरूप आगामी भव में मैं ऐसी परमसुन्दरी का समृद्धिमान् पति बनूँ।"

आयु पूर्ण होने पर दोनों मुनि, सौधर्म स्वर्ग के सुन्दर विमान में देव के रूप में उत्पन्न हुए। देवायु पूर्ण कर के चित्र मुनि का जीव, पुरिमताल नगर के एक महान् समृद्धिशाली सेठ का पुत्र हुआ और संभूति का जीव काम्पिल्य नगर के महाराजा ब्रह्म की रानी चुल्लनीदेवी के गर्भ में आया। माता ने चौदह महास्वप्न देखे। जन्म होने पर पुत्र का 'ब्रह्मदत्त' नाम दिया। राजकुमार बढ़ने लगा।

ब्रह्म की राजधानी के निकट के चार राज्यों के अधिपति नरेश, ब्रह्म नरेश के मित्र थे। यथा—काशीदेश का राजा 'कटक' २ हस्तिनापुर का राजा 'करेणुदत्त' ३ कौशल देश का राजा 'दीर्घ' और ४ चम्पा का राजा 'पुष्पचूल'। ये पाँचों नरेश परस्पर गाढ़-मैत्री से जुड़े हुए थे। ये सब साथ ही रहते थे। इन्होंने निश्चय किया था कि एक वर्ष एक राजा की राजधानी में, पाँचों का अपने अन्तःपुर सहित साथ रहना। फिर दूसरे वर्ष दूसरे की राजधानी में। इसी प्रकार इनका साथ चलता रहता था। क्रमशः बढ़ते हुए ब्रह्मदत्त बारह वर्ष का हुआ। इस वर्ष चारों मित्र राजा, ब्रह्म राजा के साथ रहते थे। अचानक ब्रह्म राजा के शरीर में भयंकर रोग उत्पन्न हुआ और वे परलोकवासी हो गए। चारों मित्रों ने मिल कर ब्रह्म राजा की उत्तर-क्रिया करवाई और कुमार ब्रह्मदत्त का राज्याभिषेक किया। चारों ने मिल कर निश्चय किया कि—"जब तक ब्रह्मदत्त बालक है, तब तक

इसके राज्य का संचालन और रक्षण हम सब करेंगे। इसलिए हम एक-एक वर्ष यहाँ रह कर स्वयं व्यवस्था सँभालेंगे।"

प्रथम वर्ष की व्यवस्था कोशल नरेश दीर्घ ने संभाली। अन्य तीनों राजा वहाँ से चले गए।

माता का दुराचार और पुत्र का दुर्भाग्य

राजा दीर्घ राज्य का संचालन करने लगे। कुमार विद्याभ्यास कर रहा था। राजा दीर्घ का मन पलटा। वह ब्रह्मराजा का समृद्ध राज-भंडार और वैभव का यथेच्छ उपभोग करने लगा। इतना ही नहीं, गुप्त-भंडार का पता लगा कर हड़पने का मनोरथ करने लगा। वह अन्तःपुर में भी निःशंक जाता रहता था। पूर्व का परिचय उसे सहायक हुआ। उसके मन में राजमाता चुलनी का सौंदर्य घर गया। वह उस पर अत्यन्त मुग्ध हो गया। दीर्घ की कामुक-दृष्टि ने चुलनी को भी आकर्षित किया। उसमें भी वासना उत्पन्न हो गई। एक बार दीर्घ ने ब्रह्मदत्त के विवाह के विषय में गुप्त मन्त्रणा करने के निमित्त से चूलनी को एकान्त कक्ष में बुलाया। उन दोनों में अवैध सम्बन्ध हो गया। वे दुराचार में रत रहने लगे +।

उनका पाप गुप्त नहीं रह सका। कर्त्तव्य-परायण 'धन' नामक वृद्ध मन्त्री की तीक्ष्ण-दृष्टि चुलनी और दीर्घ के व्यभिचार को भाँप गई। उसे किशोरवय के नरेश के जीवन और राज्य की रक्षा संदिग्ध लगी। वह सावधान हुआ। उसने अपने पुत्र 'वरधनु' के द्वारा ब्रह्मदत्त को सारी स्थिति समझा कर सावधान करने तथा उसकी रक्षार्थ सदा उसके साथ रहने की आज्ञा दी। वरधनु ने ब्रह्मदत्त को सारी स्थिति समझाई। माता के व्यभिचार और दीर्घ के विश्वासघात को वह सहन नहीं कर सका। माता की ओर से उसका मन फिर गया। वह घृणा से भर उठा। वह अपना कोप माता पर प्रकट करने की युक्ति सोचने लगा। एक दिन वह एक कौआ और एक कोकिला को हाथ में ले कर अन्तःपुर में गया और माता तथा दीर्घ को सुना कर कहने लगा—"धिक्कार है इस कोकिला को जो कौए

+ चक्रवर्ती सम्राट भी उत्तम पुरुष होते हैं। श्लाघनीय पुरुषों में उनका भी स्थान है। उत्तम पुरुषों की उत्पत्ति विशुद्ध कुलशील वाले माता-पिता से होती है। इसलिये चक्रवर्ती की माता व्यभिचारिणी हो, ऐसा कैसे हो सकता है? परन्तु उदयभाव की विचित्रता और प्रबलता से ऐसा होना असंभव भी नहीं है। हम ग्रन्थ के उल्लेख का अनुसरण कर रहे हैं।

के साथ रमण करती है। यदि कोई मनुष्य ऐसा करेगा, तो मैं उसका निग्रह करूँगा।" दीर्घ राजा, इस अन्योक्ति को समझ गया। उसने चुलनी से कहा—"तुम्हारा पुत्र मुझे कौआ और तुम्हें कोकिला कह कर धमकी दे रहा है। यह हमारे लिए दुःखदायक होगा।" चुलनी ने कहा—"यह बालक है। यह क्या समझे इस बात में ? किसी ने कुछ सिखा दिया होगा। इस पर ध्यान मत दीजिये।"

ब्रह्मदत्त के हृदय में चिनगारी लगी हुई थी। उसने एक उच्च जाति की हथिनी के साथ एक हलकी जाति का हाथी रख कर पूर्वोक्त के अनुसार पुनः धमकी दी। दीर्घ ने फिर चुलनी से कहा—"ब्रह्मदत्त यों ही नहीं बोल रहा है। इसका अभिप्राय स्पष्ट ही अपने विरुद्ध है।" रानी ने कहा—"होगा। यह अपना क्या बिगाड़ सकेगा। इधर ध्यान देना आवश्यक नहीं है।"

कुछ दिन बाद एक हंसिनी के साथ बगुले को रख कर अन्तःपुर में लाया और जोर-जोर से कहने लगा—"यदि कोई इन पक्षियों के समान मर्यादा तोड़ कर दुराचार करेगा, तो वह अवश्य दण्डित होगा।" यह सुन कर दीर्घ ने फिर कहा—"प्रिये ! तेरे पुत्र के मन में डाह उत्पन्न हो गया है। यह अपना स्नेह-सम्बन्ध सहन नहीं कर सकता। इसे काँटे के समान अपने मार्ग से हटा देना चाहिये।"

"नहीं, अपने पुत्र को तो पशु भी नहीं मारते, फिर मेरे तो यह एक ही पुत्र है। मैं इसे कैसे मरवा सकती हूँ,"—रानी बोली।

"प्रिये ! तुम मोह छोड़ो। यदि पुत्र के मोह में रही, तो यह तुमको मार देगा। इसके मनमें विद्वेष का विष भरा हुआ है। इसके रहते अपन निर्भय नहीं रह सकते। अपन सुरक्षित हैं, तो पुत्र फिर उत्पन्न हो सकेगा। यदि तुम नहीं रही, तो पुत्र किस काम का ? यह पुत्र तो अपना शत्रु बन चुका है। इसके रहते अपना जीवन सुखी एवं सुरक्षित नहीं रह सकता। तुम्हें दो में से एक चुनना होगा। पुत्र या आनन्दमय सुरक्षित जीवन। बोलो क्या चाहती हो ?"

चुलनी पर भोगलुब्धता छाई हुई थी। उसने पुत्र-वध स्वीकार कर लिया। किन्तु साथ ही कहा—"यह काम इस रीति से होना चाहिये कि जिससे लोक में निन्दा नहीं हो और अपना षड्यन्त्र छुपा रह सके। उन्होंने एक योजना बनाई। ब्रह्मदत्त की सगाई कर दी और विवाह की तैयारी होने लगी। वर-वधू के लिये एक भव्य भवन निर्माण कराया जाने लगा। उस भवन में लकड़ी के साथ लाख के रस का प्रचूर मात्रा में उपयोग होने लगा।

रक्षक ही भक्षक बने

दीर्घ और चूलनी की काली-करतूत वृद्ध मन्त्री से छुपी नहीं रह सकी। वह पृथक् रहते हुए भी अपनी पैनी दृष्टि से इनके षड्यन्त्र को समझ रहा था। भवन-निर्माण में लाक्षारस के प्रयोग का रहस्य उससे छुपा नहीं रह सका। मन्त्री ने इस षड्यन्त्र को निष्फल करने के लिए राज्यसेवा से मुक्त होने का संकल्प किया और राजा दीर्घ से निवेदन किया;—

"महाराज! मैं अब वृद्ध हो गया हूँ। जीवनभर राज्य की सेवा की। अब अपनी आत्मा की सेवा करते हुए आयु पूर्ण करना चाहता हूँ। इसलिए मुझे पद-मुक्त करने की कृपा करें।"

राजा दीर्घ भी विचक्षण था। उसने सोचा—मन्त्री बड़ा विचक्षण है और राज्य-भक्त भी। इसकी पैनी-दृष्टि में मेरी गुप्त प्रवृत्ति आ गई हो और उसके उपाय के लिये यह पदमुक्त हो कर किसी दूसरे राज्य में चला गया, तो मेरे लिये बहुत बड़ा बाधक हो जायगा। इसलिये इसे मुक्त नहीं करना ही ठीक है। उसने मन्त्री से कहा;—

"मन्त्रीवर! आपकी शक्ति और बुद्धिमत्ता से ही राज्य फला-फूला और सुरक्षित रहा। आपके प्रभाव से राज्य शांति और समृद्धि से भरपूर है। हम आपको कैसे छोड़ सकते हैं? आप अपने पद पर रहते हुए यथेच्छ दानादि धर्म का आचरण करें।"

दीर्घराजा की बात महामन्त्री धनदेव ने स्वीकार कर ली। उसने गंगा के किनारे एक दानशाला स्थापित की और स्वयं वहाँ रह कर पथिकों को अन्न-दान देना प्रारम्भ किया। साथ ही अपने विश्वस्त सेवकों द्वारा नगर से दो गाउ दूर से, गुप्त रूप से एक सुरंग खुदवाना प्रारम्भ किया जो लाक्षागृह तक लम्बी थी। इधर ब्रह्मदत्त के विवाह के दिन निकट थे। वैवाहिक प्रवृत्तियाँ प्रारम्भ हो गई थी। महामन्त्री धनदेव ने एक पत्र लिख कर, अपने विश्वस्त मनुष्य के साथ ब्रह्मदत्त के श्वशुर राजा पुष्पचूल के पास भेजा। पत्र पढ़ कर पुष्पचूल षड्यन्त्र और उसका उपाय जान गया। उसने अपनी पुत्री के बदले एक सुन्दर दासी-पुत्री को शृंगारित कर के विवाह के लिए काम्पिल्य नगर भेज दिया। दासी-पुत्री और राजकुमारी की वय, रूप और आकार-प्रकार समान था। सभी ने यही समझा कि यह राजकुमारी है। उसके साथ ब्रह्मदत्त का लग्न कर दिया। रात्रि के समय नव दम्पत्ति को लाक्षागृह में ले जाया गया। मन्त्री-पुत्र वरधनु, ब्रह्मदत्त के साथ था। वह अर्द्धरात्रि तक उससे बातें करता रहा। दीर्घ के भेदियों ने अनुकूलता देख कर भवन में

आग लगा दी। भवन जलने लगा। उग्र रूप से ज्वालाएँ उठने लगी। अब आग लगाने वाले कोलाहल कर सुसुप्त लोगों को जाग्रत करने और आग बुझाने का प्रयत्न करने लगे।

ब्रह्मदत्त ने कोलाहल सुना तो वरधनु से पूछा--"यह कोलाहल कैसा ?" वरधनु ने उसे उसकी माता के षड्यन्त्र की जानकारी दी और उस स्थान पर ले गया जहाँ सुरंग का द्वार था। द्वार खोल कर दोनों मित्र सुरंग में उतर गए और चल कर दूसरे द्वार से वन में निकले। वहाँ उनके लिये शीघ्रगामी दो अश्व और कुछ सामग्री ले कर महामंत्री उपस्थित था। दोनों को हित-शिक्षा और अश्व दे कर आशीर्वाद देते हुए विदा किया।

घोड़े सधे हुए और बिना रुके दूर-दूर तक धावा करने वाले थे। वे बिना रुके एक ही श्वास में ५० योजन चले गये और ज्योंही रुके तो चक्कर खा कर नीचे गिर गये और प्राण-रहित हो गए। अब दोनों मित्र अपने पाँवों से ही चलने लगे। वे चलते-चलते कोष्टक गाँव के निकट आये। वे भूख-प्यास और थकान से अत्यन्त क्लांत हो गए। ब्रह्मदत्त ने कहा--"मित्र ! भूख-प्यास के मारे मैं अत्यन्त पीड़ित हूँ। कुछ उपाय करो।" वरधनु ने कहा--"तुम इस वृक्ष की छाँह में बैठो, मैं अभी आता हूँ।" वह ग्राम में गया और एक नापित को बुला लाया। नापित से दोनों ने शिखा छोड़ कर शेष सभी बाल कटवा लिये। इसके बाद उन्होंने महामन्त्री के दिये हुए गेरुए वस्त्र पहिने और ब्रह्मदत्त ने गले में ब्रह्मसूत्र (जनेऊ) धारण किया, जिससे वह क्षत्रिय नहीं लग कर ब्राह्मण ही लगे। ब्रह्मदत्त के वक्षस्थल पर श्रीवत्स का लांछन था, उसे वस्त्र से ढक दिया गया। इस प्रकार ब्रह्मदत्त और वरधनु ने वेश-परिवर्तन किया और ग्राम में प्रवेश किया।

ब्राह्मण-पुत्री का पाणिग्रहण

उस ग्राम के किसी विद्वान् ब्राह्मण ने उन्हें देखा और उन्हें कोई विशिष्ट पुरुष जान कर अपने यहाँ आदर सहित बुलाया। उत्तम प्रकार के भोजनादि से उनका सत्कार किया। भोजनोपरांत ब्राह्मणपत्नी ने कुंकुम-अक्षत और वस्त्रादि से ब्रह्मदत्त को अर्चित कर, अपनी सुन्दर पुत्री का पाणिग्रहण करने का आग्रह किया। यह देख कर वरधनु भौचक्का रह गया। तत्काल वह बोल उठा--

"माता ! यह क्या अनर्थ कर रही हो ? जाति-कुल-शील एवं विद्या से अज्ञात व्यक्ति के साथ अपनी लक्ष्मी के समान पुत्री का गठबन्धन करने की मूर्खता मत करो।

बिना सोचे-समझे कार्य करने से फिर पश्चात्ताप करना पड़ता है।"

वरधनु की बात सुन विद्वान् ब्राह्मण बोला:—

"महाशय ! मेरी गुणवंती प्रिय पुत्री के पति ये महानुभाव ही हैं। मुझे एक निष्णात् भविष्यवेत्ता ने कहा था कि तुम्हारे घर वेश बदले हुए भोजन के लिये आने वाले भव्य-पुरुष के वक्षस्थल पर श्रीवत्स का चिन्ह होगा। वही तुम्हारी पुत्री के पति होंगे और वह पुरुष महान् भाग्यशाली चक्रवर्ती सम्राट होगा। तुम उसी को अपनी पुत्री व्याह देना। भविष्यवेत्ता का वचन आज फलित हो गया। उसने जिस महानुभाव को लक्ष्य कर कहा था, वे आप ही हैं। आपमें वे सारे लक्षण स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं जो चक्रवर्ती में होना चाहिये।"

ब्राह्मण ने ब्रह्मदत्त के साथ अपनी पुत्री के विधिवत् लग्न कर दिये। भाग्यशाली के लिये अनायास ही इच्छित भोग की प्राप्ति हो जाती है। वह रात्रि बन्धुमती के साथ व्यतीत कर और उसे पुनः शीघ्र लौट कर ले जाने का आश्वासन दे कर, दूसरे ही दिन दोनों मित्र वहाँ से आगे चले।

वरधनु शत्रुओं के बन्धन में

दोनों मित्रों ने चलते-चलते एक ग्राम में प्रवेश किया। वहाँ उन्हें ज्ञात हुआ कि 'राजा दीर्घ को उनके निकल भागने का निश्चय हो गया है और उसके सुभट उन दोनों की खोज में इधर-उधर घूम रहे हैं। उन सैनिकों ने उनके सभी मार्ग रोक लिये हैं।" वे दोनों मित्र मार्ग छोड़ कर और उन्मार्ग पर चल कर एक अटवी में घुसे। उस अटवी में अनेक भयंकर एवं क्रूर पशु रहते थे। ब्रह्मदत्त को असह्य प्यास लगी। उसे एक वृक्ष की छाया में बिठा कर, वरधनु पानी की खोज में चला। कुछ दूर निकला होगा कि राज्य-सैनिकों ने उसे देख लिया और तत्काल घेरा डाल कर पकड़ लिया। सैनिकों ने उसे पहिचान भी लिया। वरधनु समझ गया कि वह शत्रुओं के बन्धन में बंध चुका है। उसने मित्र ब्रह्मदत्त को सावधान करने के लिए उच्च स्वर से चिल्ला कर, मित्र को पलायन कर जाने का संकेत किया। वरधनु का संकेत पाते ही कुमार सावधान हो गया। अपनी तीव्र प्यास को भूल कर वह संकेत की विपरीत दिशा की ओर शीघ्रतापूर्वक चल दिया—एक अटवी से दूसरी में यों भटकते हुए और निरस तथा विरस फल खाते हुए उसने दो

दिन व्यतीत किये। तीसरे दिन उसे एक वनवासी तपस्वी दिखाई दिया। तपस्वी उसे अपने आश्रम में ले गया। आश्रम में वृद्ध कुलपति को देख कर कुमार ने नमस्कार किया। कुलपति ने उसका परिचय पूछा। ब्रह्मदत्त की आकृति उसे प्रिय लग रही थी। ब्रह्मदत्त के मन में कुलपति के प्रति भक्ति और विश्वास उत्पन्न हुआ। उसने वास्तविक परिचय और विपत्ति का वर्णन किया। ब्रह्मदत्त का परिचय पा कर कुलपति प्रसन्न हुआ और हर्षावेगपूर्वक बोला;—

"वत्स ! मैं तो तुम्हारा पितृव्य (काका) हूँ। अब-तुम अपने को यहाँ अपने ही घर में समझो और सुखपूर्वक रहो।"

गजराज के पीछे

ब्रह्मदत्त तपस्वियों के आश्रम में रह कर शास्त्र एवं शस्त्र-विद्या का अभ्यास करने लगा। इस प्रकार वहाँ वर्षाकाल व्यतीत किया। शरद-ऋतु में तापस लोग, फल और जड़ी-बूंटी के लिये आश्रम से दूर वन में जाने लगे। ब्रह्मदत्त भी उनके साथ जाने लगा। कुलपति ने उसे रोका, परन्तु वह लम्बे काल तक एक ही स्थान पर रहने से ऊब गया था। इससे कुलपति के निषेध की अवगणना कर के वह अन्य तापसों के साथ चला गया। आगे चलते हुए उसे हाथी के लींडे, मूत्र और पदचिन्ह दिखाई दिये। कुमार यह देख कर उस हाथी को प्राप्त करने के लिए, पद-चिन्हों के सहारे जाने लगा। साथ वाले तापसों ने उसे रोकना चाहा, परन्तु वह नहीं माना और चलता बना। लगभग पाँच योजन जाने के बाद उसे पर्वत के समान ऊँचा और मदोन्मत गजराज दिखाई दिया। कुमार ने उसे ललकारा गजराज क्रोधान्ध बन कर कुमार पर झपटा। कुमार सावधान हो गया। उसने अपना उत्तरीय वस्त्र उतार कर आकाश में उछाला। ज्यों ही वस्त्र हाथी के सामने आ कर गिरा त्यों ही वह उस वस्त्र पर ही अपने दंतशूल से प्रहार करने लगा। वस्त्र की धज्जियाँ उड़ने के बाद ब्रह्मदत्त ने उसे पुनः ललकारा। क्रोधान्ध गजराज ने सूंड उठा कर कुमार पर हमला कर दिया। कुमार हाथी को थका कर वश में करने की कला जानता था। हाथी की मार से बचने के लिये कुमार चपलतापूर्वक इधर-उधर खिसकता और विविध प्रकार की चालबाजियों से अपने को बचाते हुए हाथी को थका कर परिश्रांत करने लगा। कभी कुमार भुलावा दे कर उसकी पूँछ पकड़ कर उस पर चढ़ बैठता, तो कभी सूंड पर

पाँव रख कर एक ओर कूद पड़ता। फिर चढ़ता और उतरता। यों हाथी से खेल खेलता रहा। कुमार और हाथी के ये दाँव-पेच चल ही रहे थे कि बादलों की घटा चढ़ आई और वर्षा होने लगी। हाथी थक चुका था। वर्षा के वेग से वह घबराया और शीघ्र ही एक ओर भाग निकला।

दिव्य खड्ग की प्राप्ति

भटकता हुआ कुमार एक नदी के तट पर पहुँचा और साहस कर के उसको पार कर गया। नदी के उस पार एक उजड़ा हुआ नगर था। ब्रह्मदत उस नगर की ओर बढ़ा। मार्ग की झाड़ियों में एक वंशजाल (बाँसों का झुण्ड) थी। उसके निकट भूमि पर उसे एक जाज्वल्यमान अपूर्व खड्ग दिखाई दिया, जो सूर्य के प्रकाश से अपनी किरणें चारों ओर छिटका रहा था। निकट ही उसका म्यान भी रखा हुआ था। ब्रह्मदत्त ने खड्ग उठा लिया। अपूर्व एवं अलौकिक शस्त्रलाभ से ब्रह्मदत्त उत्साहित हुआ और खड्ग को हाथ में पकड़ कर वंशजाल पर चला दिया, किन्तु तत्काल ही वह चौंक पड़ा। उसके निकट ही एक मनुष्य का कटा हुआ मस्तक गिरा। उसके गले से रक्त की धाराएँ निकल रही थीं, किन्तु ओष्ठ अभी तक कुछ हिल रहे थे, जिससे लगता था कि वह कुछ जाप कर रहा था। उसने कटे हुए बाँसों में देखा, तो वहाँ मनुष्य का धड़ पड़ा था जो रक्त के फव्वारे छोड़ता हुआ छटपटा रहा था। ब्रह्मदत्त का हृदय ग्लानि से भर गया। वह अपने आपको धिक्कारता हुआ पश्चात्ताप कर रहा था। उसे अपने अविवेक पर खेद होने लगा। एक निरपराध साधक को मार कर हत्यारा बनना उसे सहन नहीं हो रहा था। वह खिन्नता लिये हुए आगे बढ़ा।

जंगल में मंगल

चलते-चलते वह एक मनोहर उद्यान में पहुँचा। उस उद्यान में उसने एक सात खंडों वाला भव्य भवन देखा। ब्रह्मदत्त को आश्चर्य हुआ। इस निर्जन दिखाई देने वाले वन में यह उत्तम प्रासाद कैसा ? कुतूहल लिये हुए वह भवन में घुसा। वह ऊपर के खंड में पहुँचा, तो उसे देवांगना के समान उत्कृष्ट सौंदर्य की स्वामिनी एक युवती, चिन्तामग्न मुद्रा में दिखाई दी। कुमार उसके निकट पहुँचा और मृदु वचनों से बोला;—

"देवी ! आप कौन हैं और अकेली चिन्तामग्न क्यों बैठी है ? आपकी चिन्ता का कारण क्या है ?"

"महानुभाव ! मेरा परिचय और व्यथा का वर्णन तो कुछ लम्बा है । पहले आप अपना परिचय दीजिये और बताइये कि इस निर्जन स्थान पर आने का आपका उद्देश्य क्या है"—सुन्दरी ने पूछा ।

"मैं पांचाल देश के स्व. महाराज ब्रह्म का पुत्र ब्रह्मदत्त हुँ । मैं........

उसे आगे बोलते रोक कर युवती एकदम हर्ष-विभोर हो उठी और तत्काल खड़ी हो कर ब्रह्मदत्त से लिपट गई । उसके नेत्रों से हर्षाश्रु बह रहे थे । कुछ समय तक हर्षावेग से उससे बोला ही नहीं गया । आवेग कम होने पर वह बोली;—

"प्रियतम ! आपने मुझे जीवनदान दिया है। महासमुद्र में डूबती हुई मेरी नौका को आपने बचा लिया । इतना कह कर वह रोने लगी । विपत्तिजन्य दुःख के स्मरण ने हृदय से हर्ष को हटा कर शोक भर दिया । वह रोने लगी । शोकावेग कम होने पर बोली;—

"प्रियतम ! मैं आपके मामा पुष्पचूल नरेश की पुत्री और आपकी वाग्दत्ता 'पुष्पचूला' हूँ । मैं अपने उद्यान में रही हुई वापिका के तीर पर खेल रही थी कि अचानक एक दुष्ट विद्याधर वहाँ आया और मेरा अपहरण कर के यहाँ ले आया, किन्तु मेरी दृढ़ता और कठोर दृष्टि को वह सह नहीं सका । इसलिये वह विद्या सिद्ध करने के लिये यहाँ से थोड़ी दूर, एक वंशजाल में अधो सिर लटक कर साधना कर रहा है । आज उसकी साधना पूरी हो जायगी और वह शक्ति प्राप्त कर के आएगा, तथा मुझ से लग्न करने का प्रयत्न करेगा । मैं इसी चिन्ता में थी कि अब उस दुष्ट से अपनी रक्षा किस प्रकार कर सकूँगी । किन्तु मेरा सद्भाग्य कि आप पधार गए ।"

"प्रिये ! तुम्हारा वह दुष्ट चोर, मेरे हाथ से मारा गया है । मैं उसे उस वंश-जाल में मार कर ही यहाँ आया हूँ ।"

पुष्पचूला के हर्ष में और वृद्धि हो गई । हर्ष का वेग उतरने के पश्चात् दोनों ने वहीं गन्धर्व-विवाह कर लिया । वह रात्रि उन्होंने उस प्रासाद में रह कर, सुखभोगपूर्वक व्यतीत की ।

प्रातःकाल होने के बाद उन्होंने आकाश में कोलाहल सुना । कुमार ने पुष्पचूला से पूछा—"यह कोलाहल किस का हो रहा है ?" उसने कहा—"उस विद्याधर की खंडा और विशाखा नाम की दो बहिनें अपने भाई का मेरे साथ लग्न कराने के लिए, सामग्री ले कर, अपनी सेविकाओं के साथ यहाँ आ रही है । इसलिए आप कहीं छिप जाइए ।

मैं उनसे बात कर के उन्हें आपके अनुकूल बनाने का प्रयास करूँगी। यदि वे अनुकूल बन जाए गी, तो मैं आपको लाल रंग का वस्त्र हिला कर संकेत करूँगी, सो आप निर्भीक हो कर यहाँ लौट आएँगे। यदि वे भाई की हत्या का वैर लेने को तत्पर होंगी, तो मैं श्वेत वस्त्र हिला कर संकेत करूँ गी, जिससे आप संकेत पा कर अन्यत्र पधार जावें गे।"

"प्रिये! तुम चिन्ता मत करो। मैं महाराज ब्रह्मदेव का पुत्र हूँ। ये विद्याधरियें तो क्या, इनके विद्याधर आ जावें, तो भी मैं निर्भीकतापूर्वक उनसे भिड़ूँगा।"

"नहीं, प्राणेश! व्यर्थ ही प्राणों की बाजी नहीं लगानी है। अभी आप छिप जाइए। अवसर के अनुसार ही चलना हितकर होता है"।

ब्रह्मदत्त प्रिया की बात मान कर छिप गया। विद्याधरी बहिनें अपनी साथिनों के साथ वहाँ आई। पुष्पचूला ने उन्हें उन के भाई की मृत्यु की बात सुनाई, तो क्रोध एवं शोक में उग्र हो कर वे विकराल बन गई। उन पर समझाने का कोई प्रभाव नहीं हुआ। पुष्पचूला ने श्वेत वस्त्र हिला कर ब्रह्मदत को टल जाने का संकेत किया।

श्रीकान्ता से लग्न

ब्रह्मदत आगे बढ़ा। गहन एवं भयानक वन में चलता हुआ वह संध्या के समय एक सरोवर के समीप आया। दिनभर भटकने के कारण वह थक गया था। सरोवर में उतर कर उसने स्नान किया, पानी पिया और निरुद्देश्य घूमता हुआ वह एक लतामण्डप के समीप आया। उसने देखा कि उस कुञ्ज में वनदेवी के समान एक अनुपम सुन्दरी पुष्प चुन रही है। कुमार उसके अलौकिक सौन्दर्य पर मुग्ध हो कर एकटक उसे देख ही रहा था कि सुन्दरी की दृष्टि कुमार पर पड़ी। वह भी उसे देख कर स्तब्ध रह गई। कुछ क्षणों के दृष्टिपात में उसमें भी स्नेह का संचार हुआ। वह विपरीत दिशा की ओर चल कर अदृश्य हो गई। ब्रह्मदत्त उसी के विचारों में मग्न था कि उस सुन्दरी की दासी एक थाल में वस्त्र, आभूषण और ताम्बूल लिये उसके निकट आई और कहने लगी;—

"मेरी स्वामिनी ने आपके लिये यह भेंट भेजी है। स्वीकार कीजिये और आप मेरे साथ चल कर मन्त्री के यहाँ ठहरिये।"

"तुम्हारी स्वामिनी कौन है"—कुमार ने पूछा।

"वही जो अभी इस उपवन में थी और जिन्हें आपने देखा है।"

कुमार उस दासी के साथ हो गया और राज्य के मन्त्री नागदेव के घर पहुँचा। मन्त्री ने उठ कर कुमार का स्वागत किया। सेविका, मन्त्री से यह कह कर चली गई कि--"राजकुमारी श्रीकान्ता ने इन महानुभाव को आपके पास भेजा है।"

मन्त्री ने राजकुमार को पूर्ण आदर-सत्कार के साथ रखा और प्रातःकाल उसे महाराज के समीप ले गया। राजा ने उसका हार्दिक स्वागत-सत्कार किया और शीघ्र ही पुत्री के साथ उसके लग्न कर दिये। कुमार वहीं रह कर काल व्यतीत करने लगा।

एक दिन कुमार ने पत्नी से पूछा--"तुमने और तुम्हारे पिता ने मेरा कुलशील जाने विना ही मेरे साथ लग्न कैसे कर दिये?"

"स्वामिन्! वसंतपुर नगर में शबरसेन राजा था। मेरे पिता उन्हीं के पुत्र हैं। मेरे पितामह की मृत्यु के बाद मेरे पिता को राज्याधिकार मिला। परन्तु स्वार्थी और दंभी बान्धवों ने षड्यन्त्र कर के राज्य पर अधिकार कर लिया। मेरे पिता अपने बल-वाहन और मन्त्री को ले कर इस भीलपल्ली में आये। शक्ति से भीलों को दबा कर उन पर शासन करने लगे। डाके डाल कर और गाँवों को लूट कर मेरे पिता अपना कुटुम्ब का और आश्रितों का निर्वाह करते हैं। मुझ से वड़े मेरे चार भाई हैं। मुझे वयप्राप्त जान कर स्नेहवश पिता ने यह अधिकार दिया कि "तू जिस पुरुष को चाहे गी, उसीके साथ मैं तेरे लग्न कर दूँ गा।" मैं प्रतिदिन उद्यान में जाने लगी। उधर ही हो कर राजमार्ग है। उस पर लोग आते-जाते रहते हैं। मैंने कई राजा-महाराजा को उधर हो कर निकलते और विश्राम करते देखा, परन्तु किसी पर मेरा मन नहीं गया। आपको देख कर ही मैं संतुष्ट हुई और आपको यहाँ खींच लाई। मुझे स्वीकार कर के आपने मुझे कृतार्थ कर दिया।"

ब्रह्मदत्त का परिचय पा कर श्रीकान्ता अत्यन्त प्रसन्न हुई।

ब्रह्मदत्त डाकू बना × × मित्र का मिलाप

ब्रह्मदत्त पल्लीपति का जामाता हो कर रहने लगा। कुछ दिन वाद उसका श्वशुर डाका डालने के लिए अपने साथियों के साथ जाने लगा, तो ब्रह्मदत्त भी साथ हो गया। उन्होंने एक गांव पर डाका डाला। हलचल मची। लोग भागने लगे। वरधनु भी उस गांव में था। उसने ब्रह्मदत्त को देखा, तो उसके निकट आया और उसके हृदय से लिपट

कर रोने लगा। आवेग निकलने के बाद उसने मित्र से बिछुड़ने के बाद की घटना का वर्णन करते हुए कहा;—

"मैं आपको वटवृक्ष के नीचे छोड़ कर, आपके लिए पानी लेने गया। एक सरोवर में से कमलपत्र तोड़ कर पात्र बनाया और पानी भर कर आपके पास आ ही रहा था कि यमदूतों के समान कई सुभटों ने मुझे घेर लिया और पूछने लगे;—"बता, ब्रह्मदत्त कहाँ है ?" मैने कहा—"एक सिंह ने उसे मार डाला। सिंह ने जब उस पर छलांग लगा कर दबोचा, तो मैं भयभीत हो कर भाग गया। अब मैं अकेला ही भटक रहा हूँ।" उन्होंने मेरी बात पर विश्वास नहीं किया और मुझे पीटने लगे। फिर उनके मुखिया ने मुझसे कहा—"बता, किस स्थान पर उसे सिंह ने मारा। हम वहाँ उसकी हड्डियाँ और कपड़े देखेंगे।"

मुझे आपको सावधान करना था। इसलिये मैं पहले तो आपकी दिशा में ही उन्हें लाया, फिर आपको सुनाने के लिये जोर से बोला—"सुभटराज ! इधर चलो। ब्रह्मदत्त को सिंह ने मार डाला, वह स्थान इस दिशा में है।" आपको दूर चले जाने का अवसर प्राप्त हो, इसलिये मैं उन्हें दूर तक ले गया और आगे रुक कर बोला—"मैं वह स्थान भूल गया हूँ, । भय से भागने में मुझे स्थान का ध्यान नहीं रहा।" उन लोगों ने मुझे झूठा समझ कर बहुत पीटा। मैंने तपस्वी की दी हुई गुटिका मुँह में रख ली। उसका प्रभाव मुझ पर होने लगा और मैं संज्ञाशून्य—मूर्दे के समान हो गया। सुभटों ने मुझे मृत समझा और वे वहाँ से चल दिये। उनके जाने के कुछ काल पश्चात् मैंने वह गुटिका मुँह में से निकाली। इससे मेरे शरीर में पुनः स्फूर्ति बढ़ने लगी। मार की पीड़ा से मेरा अंग-अंग टूटा जा रहा था, परन्तु मैं उठा और शनैः-शनैः चलने लगा।

दीर्घ का मन्त्री-परिवार पर अत्याचार

मैं आपकी खोज में भटकता हुआ एक गाँव के निकट आया। वहाँ एक तपस्वी दिखाई दिये। मैंने उन्हें विनयपूर्वक प्रणाम किया। तपस्वी ने मुझे देखते ही कहा—

"वत्स वरधनु ! मैं तुम्हारे पिता मन्त्रीवर धनु का मित्र हूँ। बताओ, तुम्हारा मित्र ब्रह्मदत्त कहाँ है ?"

"पूज्यवर ! मैं उसी की खोज में भटक रहा हूँ। परन्तु अभी तक पता नहीं चल सका।

मेरी बात सुन कर तपस्वी उदास हो गए। इसके बाद तपस्वी बोले—

"वत्स ! तुम्हारे माता-पिता पर दीर्घ राजा ने जो अत्याचार किये, वे तुम्हें ज्ञात नहीं हैं। लाक्षागृह जलने के बाद दूसरे दिन दीर्घ ने उसमें से तुम्हारे दग्ध-शवों की खोज की, तो मात्र एक ही शव (दासी का) मिला, तब उन्हें अपनी निष्फलता ज्ञात हुई। विशेष खोज करने पर उन्हें वह सुरंग दिखाई दी और उसके आगे घोड़े के पद-चिन्ह दिखाई दिये। वह समझ गया कि तुम बच कर निकल गए हो। उसी समय तुम्हें पकड़ने के लिए उसने घुड़सवारों के दल रवाना कर दिये। तुम्हारे पिता ने समझा कि अब दीर्घ मुझे पकड़ कर त्रास देगा, तो वह वहाँ से निकल भागा। दीर्घ ने सोचा—"ब्रह्मदत्त को भगाने में मन्त्री धनदत्त की गुप्त-योजना ही कारण बनी।" उसने तुम्हारे पिता को पकड़ने के लिए सैनिक भेजे, परन्तु वह तो पहले ही भाग चुका था। क्रोधान्ध बने हुए धनदत्त ने तुम्हारी माता को मारपीट कर घर से निकलवाई और उसे चाण्डालों की बस्ती के एक घृणास्पद झोंपड़े में डाल दी। वह वहाँ दुःख और संताप में जीवन व्यतीत कर रही है।"

वरधनु ने माता का उद्धार किया

तपस्वी का कथन सुन कर मैं अत्यन्त दुखी हुआ। फिर माता का उद्धार करने का संकल्प कर के वहाँ से चला। तपस्वीजी ने मुझे संज्ञाशून्य बनाने वाली गुटिका दी। मैं वहाँ से चल कर कम्पिलपुर आया और एक कापालिक का वेश धारण कर के चाण्डालों की बस्ती में, घर-घर फिर कर माता की खोज करने लगा। लोग मेरा परिचय पूछते, तो मैं उन्हें कहता - "मैं मातंगी विद्या की साधना कर रहा हूँ।" खोज करते हुए मैंने वहाँ के रक्षक को आकर्षित किया और उसके साथ मैत्री सम्बन्ध जोड़ा। माता का पता लगने के बाद मैंने उस रक्षक के द्वारा माता को कहलाया—"तुम्हारे पुत्र का मित्र कौंडिय व्रतधारी तपस्वी हुआ है। वह तुम्हें प्रणाम करता है।" इसके दूसरे दिन मैं माता के पास गया और उसे तपस्वी की दी हुई गुटिका सहित एक फल खाने के लिये दिया, जिसे खा कर वह संज्ञाशून्य - निर्जीव-सी हो गई। नगर-रक्षक को मन्त्री-पत्नी के मरण की सूचना मिली, तो उसने दीर्घराजा से निवेदन किया। दीर्घ ने उसका अन्तिम संस्कार का आदेश दिया। मैंने उन सेवकों से कहा—"अभी गोचर-गृह राजा के अनुकूल नहीं है। यदि अभी इसका दाह-संस्कार करोगे, तो राजा और राज्य पर विपत्ति आ सकती है।" मेरी बात

सुन कर सेवक-दल चला गया। इसके बाद मैंने नगर-रक्षक से कहा--"यह स्त्री उत्तम लक्षणों से युक्त है। इसके द्वारा साधना की जाय, तो बहुत बड़ी सिद्धि प्राप्त हो सकती है और इससे तुम्हें भी महान् लाभ हो सकता है। यदि तुम कहो, तो मैं इसे श्मशान भूमि पर ले जा कर साधना प्रारंभ करूँ। साधना से सम्बन्धित कुछ सामान तुम्हें स्वयं जा कर लाना पड़ेगा।" अधिकारी सम्मत हो गया। मैं माता को नगर से दूर श्मशान पर ले आया। इसके बाद अधिकारी को सामान की सूची दे कर कहा कि वह प्रातःकाल पहर दिन चढ़ने के बाद सब सामग्री ले कर आवे। मैं रातभर साधना करता रहूँगा।" अधिकारी चला गया। संध्या हो चुकी थी। अन्धेरा होते ही मैंने माता के मुँह से गुटिका निकाली। माता की सुसुप्त चेतना जाग्रत हुई। सचेत होते ही माता रुदन करने लगी, तब मैंने अपना परिचय दे कर आश्वस्त किया। माता प्रसन्न हुई। कुछ समय विश्राम करने के पश्चात् हम दोनों वहाँ से चल दिये। कच्छ ग्राम में मेरे पिताश्री के मित्र देवशर्मा के यहां माता को रख कर आपकी खोज में निकला। अनेक ग्रामों, बनों और उपवनों में भटकते रहने के पश्चात् सद्भाग्य से आज आपके दर्शन पाया और कृतार्थ हुआ।"

इस प्रकार वरधनु की विपत्ति-कथा सुनने के बाद ब्रह्मदत्त ने अपने सुख-दुख का वर्णन किया। दोनों मित्र एक-दूसरे से घुल-मिल कर बातें करते रहे।

कौशाम्बी में कुर्कुट-युद्ध

दोनों मित्र शान्तिपूर्वक बातें कर ही रहे थे कि एक व्यक्ति उनके पास आया और बोला---"कम्पिल नगर के घुड़सवार, गाँव में पूछ रहे हैं कि यहाँ कोई अपरिचित युवक आये हैं ?" वे उनकी आकृति का जो वर्णन करते हैं, वह ठीक आप दोनों से समानता रखती है। अब आप सोचें कि इसका सम्बन्ध आप से है या नहीं, और आपको क्या करना चाहिये।" उसके चले जाने के बाद दोनों मित्र उठे और दौड़ कर वन में चले गये। इधर-उधर भटकने के बाद वे कौशाम्बी नगरी के उद्यान में पहुँचे। वहाँ उस नगरी के सेठ सागरदत्त और बुद्धिल के कुकड़ों की लड़ाई हो रही थी। इस लड़ाई के परिणाम पर एक लाख द्रव्य का दाँव रखा गया था। दोनों कुर्कुट जी-जान से लड़ रहे थे। उनके नाखुन और चोंच लोहे के संडासे के समान नोंचने में तथा घोंपने में अत्यन्त तीक्ष्ण थे। दोनों उछल-उछल कर एक-दूसरे पर झपट कर वार करते थे। इनमें सागरदत्त का कुर्कुट जाति-सम्पन्न था।

बुद्धिल का मुर्गा वैसा नहीं था। कुछ समय दोनों मित्र इस कुर्कुट-युद्ध को देखते रहे। सागरदत्त का कुर्कुट हार गया। ब्रह्मदत्त को अच्छे कुर्कुट के हारने पर आश्चर्य हुआ। ब्रह्मदत्त की तीक्ष्ण दृष्टि बुद्धिल की चालाकी भाँप गई। उसने अपने कुकड़े के पाँवों में लोहे की तीक्ष्ण सूइयाँ चुभा कर गड़ा दी थी। उसकी वेदना से वह अपना पाँव ठीक तरह से भूमि पर टीका नहीं सकता था और क्रुद्ध हो कर लड़ता ही जाता था। बुद्धिल ब्रह्मदत्त की दृष्टि भाँप गया, उसे सन्देह हो गया कि यह मनुष्य मेरा भेद खोल देगा। उसने गुप्त रूप से ब्रह्मदत्त को पचास हजार द्रव्य ले कर रहस्य प्रकट नहीं करने का आग्रह किया। परन्तु ब्रह्मदत्त ने स्वीकार नहीं किया और उसका भाँडा जनता के सामने फोड़ दिया। तत्काल कुर्कुट के पाँवों में से सुइयाँ निकाली गई। उसके बाद दोनों पक्षियों का फिर युद्धं हुआ और थोड़ी ही देर में सागरदत्त के कुर्कुट ने बुद्धिल के कुर्कुट को पराजित कर दिया। ब्रह्मदत्त की चतुराई से हारी हुई बाजी जीतने के कारण सेठ सागरदत्त, ब्रह्मदत्त पर प्रसन्न हुआ। वह दोनों मित्रों को अपने रथ में बिठा कर घर ले गया। दोनों मित्र सागरदत्त के घर प्रेमपूर्वक रहने लगे। उनमें मित्रता का सम्बन्ध हो गया।

एक दिन बुद्धिल के सेवक ने आ कर वरधनु से कहा—" मेरे स्वामी ने आपको पचास हजार द्रव्य देने का कहा था, वह लीजिये। मैं लाया हूँ।" इतना कह-कर उसने एक मुक्ताहार उसे दिया। उस हार में ब्रह्मदत्त का नाम अंकित था। ब्रह्मदत्त ने देखा। वह उसे पढ़ने लगा कि इतने में 'वत्सा' नाम की एक वृद्धा वहाँ आई। उसने दोनों मित्रों को आशीर्वाद देते हुए उनके मस्तक पर अक्षत डाले, फिर वरधनु को एक ओर ले जा कर धीरे से कुछ बात कही और चली गई। वरधनु ने ब्रह्मदत्त से कहा—"वह वृद्धा यहाँ के नगर सेठ बुद्धिल की पुत्री रत्नावती का सन्देश ले कर आई थी। पहले जो हार और पत्र आया, वह भी उसी का भेजा हुआ है। उसने कुर्कुट-युद्ध के समय आपको देखा और मोहित हो गई। युवती रति के समान अत्यन्त सुन्दर है और आपके विरह में तड़प रही है। मैंने उसके पत्र का उत्तर आपके नाम से लिख कर उसे दे दिया है।

वरधनु की बात सुन कर ब्रह्मदत्त भी काम के ताप से पीड़ित हो कर तड़पने लगा। उस समय वह अपना विपत्ति-काल भी भूल गया था।

ब्रह्मदत्त का कौशांबी से प्रयाण और लग्न

इधर ब्रह्मदत्त रत्नावती के मोहक विचारों में लीन था, उधर उसके शत्रु दीर्घ के सुभट, कौशाबी नरेश के पास पहुँचे और ब्रह्मदत्त को पकड़वाने का निवेदन किया। कौशाम्बी नरेश की आज्ञा से ब्रह्मदत्त की खोज होने लगी। सेठ सागरदत्त को इसकी सूचना मिली। उसने तत्काल दोनों मित्रों को तलघर में पहुँचा कर छुपा दिया। किन्तु दोनों मित्रों की इच्छा वहाँ से निकल कर अन्यत्र जाने की थी। वे यहाँ छुप कर रहना नहीं चाहते थे और छुपा रहना कठिन भी था। वे रात्रि के अन्धकार में वहाँ से निकले। सागरदत्त ने अपना रथ और शस्त्रादि उन्हें दिये और स्वयं रथारूढ़ हो कर उन्हें पहुँचाने बहुत दूर तक गया। दोनों मित्र आगे बढ़े। उन्हें उद्यान में एक सुन्दर युवती दिखाई दी। दोनों मित्रों को देखते ही युवती बोली—"आपने इतना विलम्ब क्यों किया ? मैं बहुत देर से आपकी प्रतीक्षा कर रही हूँ।"

—"देवी आप कौन हैं ? आप हमें कैसे जानती हैं ? हम तो आपको जानते ही नहीं। आपने हमें पहिचानने में भूल तो नहीं की"—विस्मयपूर्वक ब्रह्मदत्त ने पूछा।

—"इस नगर के धनप्रभव सेठ की मैं पुत्री हूँ और आठ बन्धुओं की सब से छोटी एक मात्र बहिन हूँ। 'रत्नावती' मेरा नाम है। वयप्राप्त होने पर स्त्री-स्वभावानुसार मेरे मन में भी योग्य पति की कामना जाग्रत हुई। मैने इस उद्यान में रहे हुए यक्ष देव की आराधना की। भक्ति से संतुष्ट एवं प्रसन्न हुए देव ने प्रकट हो कर मुझे कहा—"ब्रह्मदत्त नाम का चक्रवर्ती नरेश तेरा पति होगा। जो व्यक्ति सागरदत्त और बुद्धिल के मध्य होने वाले कुर्कुट-युद्ध में, अपने बुद्धिवल से यथार्थ निर्णय करवावे, वह अपरिचित युवक ही ब्रह्मदत्त होगा। उसके वक्षस्थल पर श्रीवत्स का चिन्ह होगा और वह अपने मित्र के साथ होगा। इस पर से तू उसे पहिचान लेना। किन्तु तेरा उससे मिलाप तो मेरे इस मन्दिर में ही होगा।" देव के इन वचनों के अनुसार मैंने आपको कुर्कुट-युद्ध के समय देखा। मैंने ही आपके पास माला भेजी थी और प्रतीक्षा कर रही थी। आपकी हलचल की जानकारी मुझे मिल रही थी। आपको पकड़ने की राजाज्ञा और खोज भी मुझे ज्ञात हो गई थी। मैं समझ गई थी कि अब आप यह नगर छोड़ देंगे। इसलिये यहाँ आ कर आपकी प्रतीक्षा कर रही थी। अब मुझे स्वीकार कर के मेरे मनोरथ को सफल कीजिये।"

ब्रह्मदत्त ने उसे स्वीकार किया और हाथ पकड़ कर रथ में विठाई। उसने पूछा—"प्रिये ! मैं इस प्रदेश से अपरिचित हूँ। अब तुम ही बताओ किधर चलें।"

—"मगधपुर में धनावह सेठ मेरे काका हैं। वहीं चलिये। वे हम सब का भावपूर्वक स्वागत-सत्कार करेंगे और हम सब वहाँ सुखपूर्वक रहेंगे।"

डाकुओं से युद्ध × × वरधनु लुप्त

वरधनु सारथि बना और रथ मगधपुर की ओर चला। आगे चलते हुए उन्होंने भयंकर वन में प्रवेश किया। उस अटवी में 'सुकंटक' और 'कंटक' नाम के दो क्रूर डाकू अपने दल के साथ रहते थे। डाकू-दल ने रथ को घेर लिया और वाण-वर्षा करने लगा। ब्रह्मदत तत्काल उठा और जोर से हुँकार करता हुआ भयंकर वाण-वर्षा करने लगा। उसके गम्भीर एवं सांघातिक प्रहार से डाकूदल भाग गया। डाकूदल के भाग जाने के बाद वरधनु ने कुमार से कहा—"आप थक गये होंगे। रथ में सो जाइए।" ब्रह्मदत्त रथ में सो गया और रथ आगे बढ़ा। प्रातःकाल एक नदी के किनारे पर रथ रुका और ब्रह्मदत्त की नींद खुली। उसने देखा कि वरधनु कहीं दिखाई नहीं देता। उसने रत्नवती को जगाया और मित्र को पुकारने लगा। परन्तु मित्र का पता नहीं चल सका। कुमार हताश हो कर चिन्ता-सागर में डूब गया। उसके मन में मित्र की मृत्यु की आशंका उठी और वह धाड़ें मार कर रोने लगा। रत्नवती ने सान्त्वना देते हुए कहा—"आपके मित्र जीवित हैं—ऐसा मेरी आत्मा में विश्वास है। आप उनके अमंगल की कल्पना कर के विलाप कर रहे हैं, यह उचित नहीं है। वे आपके किसी कार्य से ही कहीं गये होंगे। वे अवश्य ही आवेंगे। आप धीरज रखिये। अपन अपने स्थान पर पहुँच कर उनकी शोध करवावेंगे। अभी इस वन में रुकना उचित नहीं है।"

खण्डा और विशाखा से मिलन और लग्न

रत्नवती की बात सुन कर ब्रह्मदत्त सावधान हुआ और रथ आगे बढ़ाया। अटवी पार कर के उन्होंने मगधपुर की सीमा स्थित एक गाँव में प्रवेश किया। उस गांव का नायक कुछ ग्रामवासियों के साथ मन्त्रणा कर रहा था। ब्रह्मदत्त की भव्यता देख कर नायक प्रभावित हुआ। वह उसे आदरपूर्वक अपने घर ले गया। ब्रह्मदत्त ने उसे अपने मित्र के गुम होने की बात कही। नायक ने उसे आश्वासन दिया और तत्काल

खोज प्रारम्भ कर दी। चारों ओर दूर-दूर तक खोज की, किन्तु एक बाण के अतिरिक्त कुछ भी नहीं मिला। ब्रह्मदत्त हताश हो गया। रात्रि में उस ग्राम में डाकूदल आ कर लूट मचाने लगा, किन्तु कुमार के प्रहार के आगे उसे भागना ही पड़ा। दूसरे दिन वह रत्नवती के साथ आगे बढ़ा और क्रमशः आगे बढ़ता हुआ मगधपुरी पहुँचा। रत्नवती को उद्यान के तापस आश्रम में रख कर वह नगर में गया। वह नगर के भव्य भवनों को देखता हुआ आगे बढ़ रहा था कि उसकी दृष्टि एक भवन के गवाक्ष में बैठी दो सुन्दर स्त्रियों पर पड़ी। उसी समय उन सुन्दरियों की दृष्टि भी उस पर पड़ी और तत्काल वे सुन्दरियाँ बोल उठी;--"प्राणवल्लभ ! हमें निराधार छोड़ कर आप कहाँ चले गये थे ? हम तभी से आप के विरह में तड़प रही हैं। आपका इस प्रकार अचानक चला जाना क्या शिष्टजन के योग्य था ?"

—"देवियों ! आप कौन हैं—यह मैं नहीं जानता और कदाचित् आप भी मुझे नहीं जानती होंगी। फिर कैसे कहा जाय कि मैने आपका त्याग कर दिया"--ब्रह्मदत्त आश्चर्ययुक्त बोला।

"हृदयेश्वर ! आप यहाँ ऊपर पधारो और अपनी प्रेमिकाओं को पहिचानो। बाजार में खड़े-खड़े बातें नहीं हो सकती।"

ब्रह्मदत्त ऊपर गया। दोनों रमणियों ने उनका हृदय से उल्लास पूर्वक स्वागत किया। स्नान-भोजन कराने के बाद सुखासन पर बैठ कर अपना परिचय देने लगी।

"वैताढ्य पर्वत की दक्षिण श्रेणी के शिवमन्दिर नगर के नरेश ज्वलनशिखजी हमारे पिता हैं। नाट्योन्मत्त हमारा भाई है। एक बार हमारे पिता अपने मित्र अग्निशिख के साथ बैठे बातें कर रहे थे कि आकाश में जाते हुए देवों को देखा। वे मुनिश्वरों को वन्दन करने जा रहे थे। हमारे पिता और उनके मित्र ने भी महात्माओं को वन्दन करने के लिए जाने का निश्चय किया। विद्याधरों के लिये कहीं भी जाना सहज है। वायुयान से चले। हम भी उनके साथ थीं। महात्माओं के दर्शन किये। वैराग्यमयी धर्मदेशना सुनी। इसके बाद अग्निशिखजी ने पूछा--"महात्मन् ! इन दोनों बहिनों का पति कौन होगा ?" महात्मा ने उपयोग लगा कर कहा -"जो वीर पुरुष इनके बन्धु का वध करेगा, वही इनका पति होगा।" महात्मा की बात सुन कर पिताश्री चिन्तित हो गए। हमें भी बड़ा खेद हुआ। हमने वैराग्यमय वचनों से कहा —"पूज्य ! आपने अभी महात्माजी की पवित्र वाणी से संसार की असारता सुनी है। फिर खेद क्यों करते हैं ? और हमें भी ऐसे विषय-सुख की

आवश्यकता नहीं है, जिसमें अपने ही प्रियबन्धु का वियोग कारण बने। हम प्राणपण से बन्धु की रक्षा करने में तत्पर रहेंगी।"

एकबार हमारा भाई देशाटन को निकला। उसने आपके मामा पुष्पचूल की पुत्री पुष्पवती को देखा। उसके अद्भुत रूप-लावण्य को देख कर वह मोहित हो गया और उसने उसका हरण किया। यद्यपि पुष्पवती उसके अधिकार में थी, किन्तु उसके तेज को वह सहन नहीं कर सका। इसलिये उसे वश में करने के लिये वह साधना करने लगा और आपके हाथों मारा गया। उधर हम उसके लग्न की सामग्री ले कर आई, तो पुष्पवती ने आपके द्वारा उसके वध की बात कही। हमें गम्भीर आघात लगा। पुष्पवती ने हमें समझाया। हमने भी महात्मा की भविष्य-वाणी का स्मरण कर के भवितव्यता का परिणाम समझ कर संतोष धारण किया और आपको पति स्वीकार किया। पुष्पवती प्रसन्न हुई। उत्साह के आवेग में उसने आपको संकेत कर के बुलवाने में भूल कर दी और रक्तध्वजा के बदले श्वेत ध्वजा हिला दी। अनर्थ हो गया। आप निकट आने के बदले दूर चले गये। यह हमारे दुर्भाग्य का उदय था। हम आपको खोजने के लिये निकली और बहुत भटकी, किन्तु आपको नहीं पा सकी। हताश हो कर भी आशा के बल पर यहीं रह कर समय व्यतीत करती रही। हम दिनभर आते-जाते लोगों में आपको खोजती रहती। आज हमारी मनोकामना सफल हुई। पहले तो हमने पुष्पवती के कहने से मन-ही-मन आपका वरण किया था। अब आज आप साक्षात् हमारे साथ लग्न कर के हमें अपनावें।"

ब्रह्मदत्त ने उन दोनों के साथ गन्धर्व-विवाह किया। रातभर वहाँ सुखोपभोग करने के बाद प्रातःकाल उन दोनों पत्नियों से कहा—"मैं तो अभी जा रहा हूँ। जब तक मुझे राज्य-लाभ नहीं हो जाय तब तक तुम पुष्पवती के साथ रहना।" ब्रह्मदत्त वहाँ से चल कर तापस के आश्रम में आया और रत्नवती की शोध करने लगा। वहाँ उसे एक सुन्दर आकृति वाला पुरुष दिखाई दिया। उससे ब्रह्मदत्त ने पूछा—"कल यहाँ एक सुन्दर युवती थी, वह कहाँ गई?" उसने कहा—"वह युवती जब—"हे नाथ! हे नाथ!" पुकार कर रोने लगी, तब हमारे यहाँ की स्त्रियाँ उसके पास आई और देखते ही पहिचान गई। उन्होंने उसे उसके काका के यहाँ पहुँचा दिया। वह वहीं होगी।" वह पुरुष ब्रह्मदत्त के साथ चल कर धनावह सेठ के घर पहुँचा आया। धनावह सेठ ने बड़े ठाठ के साथ रत्नवती का लग्न ब्रह्मदत्त के साथ कर दिया। ब्रह्मदत्त वहीं रह कर सुखोपभोग में काल व्यतीत करने लगा।

वरधनु का श्राद्ध और पुनर्मिलन

ब्रह्मदत्त के मन में वरधनु के विरह का डंक रह-रह कर खटकता रहता था। उसे उसके जीवित होने की आशा नहीं रही थी। इसलिये वह उसका श्राद्ध (उत्तर-क्रिया) करने लगा। उसने ब्राह्मणों को एक विशाल भोज दिया। ब्राह्मण लोग भोजन कर रहे थे कि एक ब्राह्मण ब्रह्मदत्त के सम्मुख आ कर बोला—"यदि मुझे प्रेमपूर्वक भोजन कराओगे, तो वह तुम्हारे मित्र वरधनु को ही पहुँचेगा।" ब्रह्मदत्त ने उसकी बोली और आकृति देखी और चौंका। वह तत्काल उसे बाहों में भर कर आलिंगन करता हुआ बोला—"मित्र ! कहाँ चले गये थे तुम !"

—"तुमने तो मेरा श्राद्ध ही कर दिया न ? यह तो सोचते कि मैं तुम्हें विपत्ति में छोड़ कर, मर ही कैसे सकता हूँ ? मेरे मरने का कोई चिन्ह भी देखा था क्या तुमने ?"

—"जब शोध करने पर भी तुम नहीं मिले, तो फिर मेरे लिये सोचने का रहा ही क्या ? अच्छा अब, यह वेश बदलो और मुझे लोप होने का कारण बताओ।"

—"मित्र ! तुम तो रथ में सो गये थे। उसके बाद कुछ डाकू लोगों ने अचानक आ कर मुझ पर हमला कर दिया। मैंने उन्हें मार भगाया। किन्तु वृक्ष की ओट में रह कर एक डाकू ने मुझ पर बाण छोड़ा, जिससे घायल हो कर मैं गिर पड़ा और लताओं के झुरमुट में ढक गया। जब डाकुओं ने मुझे नहीं देखा, तो वे लौट गये। इसके बाद मैं वृक्षों और लताओं में छुपता हुआ एक गाँव में पहुँचा। उस गाँव के नायक से तुम्हारे समाचार पा कर यहाँ आया, तो ज्ञात हुआ कि यहाँ मेरा श्राद्ध हो रहा है।"

दोनों मित्र प्रेमपूर्वक मिले और वहीं रह कर समय व्यतीत करने लगे।

गजराज पर नियन्त्रण और राजकुमारी से लग्न

वसंतोत्सव के दिन थे। सर्वत्र रंग-राग और उत्साह व्याप्त था। इसी समय राज्य की हस्तिशाला में से एक गजराज मदोन्मत्त हो गया और बन्धन तुड़ा कर भागा। रंग-राग का वातावरण हाहाकार में पलट गया। गजराज की चपेट में एक युवती आ गई। हाथी ने उसे अपनी सूंड में पकड़ ली। युवती चिल्ला रही थी। ब्रह्मदत्त ने देखा। उसने हाथी को ललकारा और उसकी ओर झपटा। ब्रह्मदत्त को गर्जना करते हुए, अपनी ओर

आते देख कर हाथी ने कन्या को छोड़ दिया और उसकी ओर बढ़ा। ब्रह्मदत्त उछला और हाथी के दाँत पर अपना पाँव जमा कर ऊपर चढ़ गया। उसके मर्मस्थान पर मुष्टि-प्रहार पाद-प्रहार वाक्प्रहार आदि से अपना प्रभाव जमा कर वश में कर लिया। लोगों ने यह दृश्य देखा, तो हर्षोन्मत्त हो जय-जयकार करने लगे। कुमार ने उसे हस्तिशाला में ले जा कर बाँध दिया। जब राजा ने सुना, तो वह कुमार के निकट आया। उसकी भव्य आकृति और पराक्रम देख कर चकित रह गया। इसी समय रत्नवती का काका धनावह सेठ, राजा के निकट आया और उसने ब्रह्मदत्त का परिचय दिया। परिचय पा कर राजा प्रसन्न हुआ। उसे अपनी पुत्री के लिये घर बैठे ही योग्य वर मिल गया था। उसने अपनी पुत्री पुण्यमानी का लग्न ब्रह्मदत्त के साथ कर दिया और वह वहीं सुखपूर्वक रहने लगा।

जिस युवती को ब्रह्मदत्त ने हाथी के आक्रमण से बचाया था, वह उस पर मोहित हो गई। दिनरात वह उसी के चिन्तन में रत रहने लगी। वह उसी नगर के धनकुबेर सेठ वैश्रमण की 'श्रीमती' नाम की पुत्री थी। उसकी धायमाता ने ब्रह्मदत्त के पास आ कर श्रीमती की विरह-वेदना व्यक्त कर उससे लग्न करने का निवेदन किया। ब्रह्मदत्त ने उसे स्वीकार किया और लग्न कर लिया। सुबुद्धि प्रधान की पुत्री 'नन्दा' के साथ वरधनु का विवाह हो गया। वे सब सुखपूर्वक वहीं रहने लगे।

राज्य प्राप्त करने की उत्कण्ठा

राजगृही में रहते हुए ब्रह्मदत्त के मन में, इधर-उधर भटकने और छुपे रहने की स्थिति का अन्त कर के राज्य प्राप्त करने की उत्कंठा जगी। अब मगधेश का जामाता होने के कारण उसकी ख्याति भी चारों ओर फैल चुकी थी। मगधेश की सहायता उसे थी ही। मित्र के साथ विचार कर और मगधेश की आज्ञा ले कर वह वाराणसी आया। वाराणसी-नरेश कटक उसके पिता के मित्र और राज्य के रक्षक थे। कटक नरेश ने उसका हार्दिक स्वागत किया। ब्रह्मदत्त का तेज, शौर्य एवं प्रतिभा, मित्र का पुत्र होने का सम्बन्ध तथा अपना उत्तरदायित्व और मगधेश जैसे प्रतापी नरेश का जामाता होने से बढ़ी हुई प्रतिष्ठा से प्रभावित हो कर उन्होंने भी अपनी 'कटकवती' पुत्री का लग्न ब्रह्मदत्त के साथ कर दिया। इतना ही नहीं, अपनी सैन्य-शक्ति भी उसे प्रदान की। अपने स्वर्गीय मित्र का पुत्र ब्रह्मदत्त का पता पा कर चम्पानगरी के नरेश करेणुदत्त भी वाराणसी आया। मन्त्री धनदेव (वरधनु के पिता) और भगदत्त आदि राजा भी वहाँ आ कर मिले।

ब्रह्मदत्त का दीर्घ के साथ युध्द और विजय

सभी राजाओं की सहायता से ब्रह्मदत्त ने सेना सज्ज की। अपने मित्र वरधनु को सेनापति बनाया। दीर्घ को इस हलचल का पता लग चुका था। उसने कटक नरेश के पास अपना शंख नामक दूत भेज कर मैत्री-सम्बन्ध का स्मरण दिलाते हुए ब्रह्मदत्त को सौंपने की माँग की। कटक नरेश ने दूत से कहा—

"दीर्घ से कहना कि हम पाँच मित्र थे। ब्रह्म राजा के देहावसान के बाद उनके राज्य और पुत्र की रक्षा करने का भार हम चारों पर था। दीर्घ राजा ने रक्षक बन कर भक्षक का काम किया। ऐसा तो नीच से नीच मनुष्य भी नहीं करता। सौंपी हुई वस्तु को तो साँप और डाकू भी नहीं दबाता। उनका कर्त्तव्य था कि वे राज्य की रक्षा करते और वय-प्राप्त उत्तराधिकारी को उसकी धरोहर सौंप कर, वहाँ से हट जाते। किन्तु उन्होंने सारा राज्य दबा लिया और उत्तराधिकारी को मारने का प्रयत्न करते रहे। अब भलाई इसी में है कि वे राज्य छोड़ कर चले जायँ। अन्यथा रणक्षेत्र में ही इसका निर्णय होगा।"

ब्रह्मदत्त सेना ले कर चला और क्रमशः कम्पिलपुर की सीमा तक पहुँचा। उधर दीर्घ भी सेना ले कर आ पहुँचा। दोनों सेना भिड़ गई। ब्रह्मदत्त की सेना के भीषण प्रहार के सामने दीर्घ की सेना टिक नहीं सकी और इधर-उधर बिखर गई। अपनी सेना की दुर्दशा देख कर दीर्घ स्वयं आगे आया और शौर्यपूर्वक लड़ने लगा।

दीर्घ राजा के भयंकर प्रहार के आगे ब्रह्मदत्त की सेना भी टिक नहीं सकी और बिखर गई। अपनी सेना को पीछे हटती हुई देख कर, ब्रह्मदत्त आगे आया और स्वयं दीर्घ से भिड़ गया। दोनों वीर बलवान् थे। वे शत्रु का वार व्यर्थ करते हुए घातक प्रहार करने लगे। उसी समय ब्रह्मदत्त के पुण्य-प्रभाव से अचानक चक्ररत्न उसके निकट प्रकट हुआ। चक्ररत्न की कान्ति से दशोदिशाएँ प्रकाशित हो गई। ब्रह्मदत्त ने चक्ररत्न को ग्रहण किया और घुमा कर दीर्घ पर फेंका। चक्र के प्रहार से दीर्घ का मस्तक कट कर गिर पड़ा। ब्रह्मदत्त की जय-विजय हुई। वह बड़े समारोहपूर्वक कम्पिलपुर में प्रविष्ट हुआ। राज्य पर अधिकार किया। इस समय उसकी वय अठाईस वर्ष की थी। राज्य पर अधिकार करते ही उसने विभिन्न स्थानों पर रही हुई रानी वन्धुमती, पुष्पवती, श्रीकान्ता, खण्डा, विशाखा, रत्नवती, पुण्यमानी, श्रीमती और कटकवती को अपने पास बुलवा लिया और सुखपूर्वक रहने लगा। छप्पन वर्ष तक वह मांडलिक राजा रहा।

फिर उसने भरतक्षेत्र के छह खंड पर अपना अधिकार करने के लिए प्रयाण किया। विभिन्न खंडों, राज्यों और मगधादि तीर्थों पर अधिकार करने में बारह वर्ष लगे। अब वह चक्रवर्ती सम्राट हो गया था। नौ निधि और चौदह रत्न आदि विपुल समृद्धि का वह स्वामी था। हजारों राजाओं पर उसकी आज्ञा चलती थी। हजारों देव उसकी रक्षा में रहते थे। वह भोगोपभोग एवं राज-ऋद्धि में गृद्ध हो कर समय व्यतीत करने लगा।

युद्ध की परिस्थिति के निमित्त से रानी चुल्लनी का मोह हटा और अपनी कलंकित दशा का भान हुआ। वह पश्चात्ताप की अग्नि में जलने लगी। उसने प्रवर्त्तनी महासती श्री पूर्णाजी के समीप प्रव्रज्या ग्रहण की और संयम-तप की उत्तम आराधना करती हुई सद्गति पाई।

जातिस्मरण और बन्धु की खोज

एक दिन चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त सभा में बैठा हुआ मनोहर संगीत सुनने और नाटक देखने में मग्न था कि एक दासी ने आ कर उसे एक पुष्प-कंदुक दिया। वह कला का उत्कृष्ट नमूना था, जैसे किसी देवांगना ने रुचिपूर्वक बनाया हो और अपनी समस्त कला उस पर लगा दी हो। उस पुष्पकंदुक पर विविध प्रकार के पक्षियों, पशुओं, आभूषणों आदि की सुन्दर आकृतियाँ बनी हुई थी। सम्राट तन्मयता से उसे देखने लगे। देखते-देखते उन्हें विचार हुआ कि ऐसा मनोहर श्रीदामगंड तो मैंने पहलें कभी देखा है। सोचते-सोचते उन्हें जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया और वे मूच्छित हो कर लुढ़क गये। उन्हें पूर्व के अपने पाँच भव दिखाई देने लगे। मन्त्री और दासियों ने चन्दन-मिश्रित जल का सिंचन कर उनकी मूर्च्छा हटाई। वे सावधान हो कर सोचने लगे--"मेरा पूर्व-भव का बन्धु कहाँ है?" उनके मन में उन्हें खोजने की इच्छा प्रबल हुई। उन्होंने निम्न-लिखित गाथा रची;—

"दासा दसण्णए आसी, मिया कलिंजरे णगे।
हंसा मयंगतीराए, सोवागा कासीभूमिए ॥१॥
देवा य देवलोयम्मि, आसि अम्हे महिड्ढिया।" ‡

---

‡ त्रि. श. पु. चरित्र में अर्द्धश्लोक की रचना करना लिखा है। यथा—

"आश्वदासौ मृगौ हंसौ, मातंगावमरौ तथा।"

दूसरी गाथा अधूरी छोड़ दी, फिर उपरोक्त डेढ़ गाथा एक पत्र पर लिखी और उसके नीचे यह लिख कर प्रचारित करने के लिये दे दिया कि--"जो व्यक्ति इस आधी गाथा को पूरी कर के लाएगा, उसे आधा राज्य दिया जायगा।" मन्त्रियों को आदेश दिया कि 'इसका प्रचार साम्राज्य के सभी भागों में--जहाँ-तहाँ अधिकाधिक किया जाय। सर्वत्र विपुल प्रचार हुआ। आधे राज्य के लोभ ने सभी लोगों को उत्साहित किया। लोगों ने इसे याद कर ली और आधी गाथा पूरी करने का परिश्रम करने लगे। चलते-फिरते लोगों के मुख में यह गाथा रमने लगी। जो विद्वान् नहीं थे, वे भी इस गाथा को महा-राजाधिराज द्वारा रचित और बहुत महत्वपूर्ण मान कर रटने लगे। उनकी जिव्हा पर भी यह रमने लगी। किन्तु कोई भी इसकी पूर्ति नहीं कर सका।

पुरिमताल नगर के धनकुबेर श्रेष्ठि के 'चित्र' नाम का पुत्र था। उसने यौवनवय में ही निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या धारण कर ली। वे ग्रामानुग्राम विचरते हुए कम्पिल्य नगर के मनोरम उद्यान में आ कर ध्यानस्थ रहे। उनके निकट ही उस उद्यान का माली अपना कार्य करता हुआ, वह गाथा अलाप रहा था। वह गाथा महात्मा चित्रजी के सुनने में आई। उन्हें विचार हुआ—यह व्यक्ति क्या बोल रहा है। वे चिन्तन करने लगे। उन्हें भी जाति-स्मरण ज्ञान हो गया +। उन्होंने स्वस्थ हो कर गाथा का अन्तिम भाग इस प्रकार पूरा किया;—

"इमा णो छट्ठिया जाई, अण्णमण्णेहिं जा विणा।" †

इसका उच्चारण सुनते ही वह माली महात्मा के पास आया। मुनिराज से गाथा का शेष भाग धारण कर के वह हर्षित होता हुआ। महाराज के समीप आया और दोनों गाथा पूरी सुना दी। राजा बहुत प्रसन्न हुआ। उसने पूछा—"यह पूर्ति किसने की?" उसने कहा--"महाराज! उद्यान में एक महात्मा आये हैं। उन्होंने मेरे मुँह से डेढ़ गाथा सुन कर, अपनी ओर से आधी गाथा जोड़ दी। वही मैने सीख कर यहाँ सुनाई है। सम्राट ने उसे पुरस्कार में विपुल धन दिया। इसके बाद वे उद्यान में पहुँचे और गदगद कण्ठ से अपने पूर्वभवों के बन्धु से मिले। सम्राट स्वस्थ हो कर मुनि के सम्मुख बैठे।

+ त्रि. श. पु. च. में जातिस्मरण पहले होना लिखा है।

† त्रि. श. पु. च. में आधा श्लोक पूरा किया जो इस प्रकार है:—

"एषा नो षष्ठिकाजाति, रन्योऽन्याभ्यां वियुक्तयोः।"

योगी और भोगी का सम्वाद

"हे बन्धु ! हम दोनों भाई थे। सदा साथ रहने वाले, एक-दूसरे में अनुरक्त, एक-दूसरे के वशीभूत एवं एक-दूसरे के हितैषी थे। हम पिछले पाँच भवों के साथी, इस भव में पृथक् कैसे हो गए ? और तुम्हारी यह क्या दशा है ? छोड़ो इस जोग को और चलो मेरे साथ राजभवन में। पुर्वभव में आराधना किये हुए संयम और तप का फल हमें मिला है। इसका भोग करना ही चाहिये। मेरा सारा राज्य-वैभव तुम्हारे लिये प्रस्तुत है। मैं तुम्हें अब योगी नहीं रहने दूंगा। चलो उठो बन्धु ! विलम्ब मत करो"—चक्रवर्ती सम्राट ब्रह्मदत्तजी ने मुनिराज चित्रजी से आग्रहपूर्वक निवेदन किया।

"राजन् ! यह सत्य है कि पूर्व-भवों में हमारा सम्बन्ध निराबाध रहा, परन्तु तुम्हारे निदान करने के कारण वह सम्बन्ध टूट गया और हम दोनों बिछुड़ गये। आज हम पुनः मिल गये हैं, तो आओ हम फिर साथी बन जायँ। इस बार ऐसा साथ बनावें जो कभी छुटे ही नहीं"—महात्मा चित्रजी ने सम्राट को प्रेरित किया।

"महात्मन् ! मैंने तो अपने पूर्वभव के त्याग और तप का फल पा लिया है। इससे मैं भारतवर्ष के छहों खण्ड का एकछत्र स्वामी हूँ और मनुष्य सम्बन्धी सभी उत्कृष्ट भोग मुझे उपलब्ध है। मैं उनका यथेच्छ उपभोग करता हूँ। उत्कृष्ट पुण्य के उदय से प्राप्त उत्तम भोगों को बिना भोगे ही कैसे छोड़ा जा सकता है ? लगता है कि तुम्हें सामान्य भोग भी प्राप्त नहीं हुए। इसी से तुम साधु बन गए। चलो, मैं तुम्हें सभी राज-भोग अर्पण करता हूँ। जब बिना तप-संयम के ही फल तुम्हें प्राप्त हो रहा है, तो साधु बने रहने की आवश्यकता ही क्या है ?"

"राजन् ! कदाचित् तुम समझ रहे हो कि मैं दरिद्र था। अभावपीड़ित कुल में उत्पन्न हुआ और सुखसुविधा के अभाव से दुःखी हो कर साधु बना, तो यह तुम्हारी भूल होगी। बन्धु ! जिस प्रकार तुम महान् ऋद्धि के स्वामी हो, उसी प्रकार मैं भी महान् ऋद्धिमंत था। सभी प्रकार के भोग मेरे लिए प्रस्तुत थे, किन्तु मेरा सद्भाग्य कि मुझे निर्ग्रंथ-प्रवचन का वह उत्तम उपदेश मिला कि जिससे प्रभावित हो कर मैंने भोग ठुकरा कर निर्ग्रंथ-दीक्षा ग्रहण कर ली। मुझे आत्म-साधना में जो आनन्द प्राप्त होता है, उसके सामने तुम्हारे ये नाशवान् और परिणाम में दुःखदायक भोग है ही किस गिनती में ? आओ बन्धु ! तुम भी इस आत्मानन्द का पान कर परम सुखी बनो'—महात्मा ने अपने पूर्वभवों के बन्धु को संसार-सागर में डूबने से बचाने के उद्देश्य से कहा।

"हे भिक्षु ! तुम मेरे विषयानन्द के उत्कृष्ट भोग से अपरिचित हो । मैं देवांगना के समान अत्यन्त सुन्दर, सुघड़ एवं सलोनी रमणियों के मनोहर नृत्य और तदनुरूप वादिन्त्रों के सुरों से अत्यन्त आल्हादकारी मधुर आलापमय गीतों से आनन्द-विभोर हो कर, जिन उत्कृष्ट भोगों का अनुभव करता हूँ, उनके सुख को तो तुम जानों ही क्या ? अब तुम भी इन उत्कृष्ट भोगों का भोग कर के सुखी बनो । तुम्हारी यह युवावस्था कंचन के समान वर्ण वाली सुन्दर एवं सबल देह और भरपूर यौवन, ये सब भोग के योग्य है, योग के ताप में जला कर क्षय करने के लिये नहीं है । देव-दुर्लभ ऐसा उत्तम योग प्राप्त हुआ है । इसे व्यर्थ मत गँवाओ"—योगी को भोगी बनाने के उद्देश्य से सम्राट ने कहा ।

"राजेन्द्र ! तुम्हारे ये सभी गीत विलाप रूप हैं । एक दिन इनकी परिणति रुदन के रूप में हो जाती है । ये तुम्हारे उत्कृष्ट कहे जाने वाले नाटक भी विडम्बना रूप है, आभूषण भाररूप और सभी काम-भोग दुःख के महान् भण्डार के समान है । इनसे दुःख परम्परा बढ़ती है ।"

"बन्धु ! कामभोग तो मोहमद में मत्त एवं अज्ञानी जीवों को ही प्रिय लगते हैं । इनकी प्रियता सूक्ष्म है और थोड़े समय की है । किन्तु दुःख महान् है और चिरकाल तक रहने वाले हैं । जो महान् आत्मा, कामभोग से विरत हो कर संयम-चर्या में लीन रहते हैं, उन तपोधनी महात्मा को जो सुख मिलता है, वह स्थायी रहता है और उत्तम कोटि का होता है । ऐसा पवित्र सुख, भोगियों को नहीं मिलता ।

"नरेन्द्र ! पूर्वभव में हम चाण्डाल जाति के मनुष्य थे । सभी लोग हमसे घृणा करते थे । हम उस दुःखपूर्ण मनुष्यभव की विडम्बना भी भुगत चुके हैं । परन्तु यहाँ हमें उत्तम मनुष्यभव प्राप्त हुआ है । यह हमारी उस उत्तम धर्मसाधना का फल है, जो हमने चाण्डाल के भव में की थी । अब इस भव में भी धर्म की उत्तम आराधना कर के दुःख के कारणों को नष्ट करना है । इसलिये तत्काल त्याग दो इन दुःखदायक भोगों को और निर्ग्रंथ-धर्म स्वीकार कर के आराधक बनने में प्रयत्नशील बन जाओ ।"

"जो धर्माचरण नहीं करता, वह मृत्यु के मुँह में जाने पर पछताता है, शोक करता है और भयभीत रहता है । वह संकल्प-विकल्प करता रहता है और मृत्यु उसे इस प्रकार दबोच कर ले उड़ती है, जिस प्रकार मृग को सिंह अपने मुँह में दबा कर ले जाता है । उस समय उसकी रक्षा न तो माता-पितादि सम्बन्धी कर सकते हैं, न धन-सम्पति और सैन्य-शक्ति बचा सकती है । यह जीव असहाय हो कर दुःख-सागर में डूब जाता है ।"

"नरेन्द्र ! जीवन प्रतिसमय समाप्त हो रहा है। मृत्यु-काल निकट आ रहा है। विलम्ब मत करो और शीघ्र ही आरंभ-परिग्रह का सर्वथा त्याग कर के जिनधर्म को अंगीकार कर लो।"

महात्मा चित्रजी के हृदय-स्पर्शी उपदेश का सम्राट के हृदय पर क्षणिक प्रभाव पड़ा। परन्तु उदयभाव की प्रबलता से वे अत्यन्त प्रभावित थे। त्यागमय जीवन अपनाने की शक्ति उनकी लुप्त हो चुकी थी। वे विवश हो कर बोले;--

"महात्मन् ! आपका उपदेश यथार्थ है। मैं इसे समझता हूँ, किन्तु मैं भोगों में आकण्ठ डूबा हुआ हूँ। मुझ-से त्यागधर्म का पालन होना अशक्य हो गया है। आपको भी स्मरण होगा कि मैंने हस्तिनापुर की महारानी को देख कर निदान कर लिया था। उस निदान का फल मैं भोग रहा हूँ। जिस प्रकार कीचड़ में फँसा हुआ हाथी, सूखी भूमि को देखता हुआ भी उस तक नहीं पहुँच सकता और वहीं खुँचा रहता है, उसी प्रकार मैं धर्म को जानता हुआ भी प्राप्त नहीं कर सकता। यह मेरी विवशता है।"

ब्रह्मदत्त की भोगगृद्धता जान कर महर्षि हताश हो गए और अन्त में उन्होंने कहा;–

"राजन् ! तुम भोगों का सर्वथा त्याग करने में असमर्थ हो और आरंभ-परिग्रह और भोगों में गृद्ध हो। तुम्हारी त्याग-धर्म में रुचि ही नहीं है। मैंने व्यर्थ ही तुम्हें प्रति-बोध दे कर अपना समय गँवाया। अब मैं जा रहा हूँ। किन्तु यदि तुम कम-से-कम अनार्य कर्म त्याग दोगे और धर्म में दृढ़ श्रद्धा रखते हुए सभी जीवों पर अनुकम्पा रखोगे और सत्यादि आर्यनीति अपनाओगे तो तुम्हारी दुर्गति नहीं होगी और देवगति प्राप्त कर सकोगे।"

इतना कह कर महर्षि चित्रजी वहाँ से चल दिये और चारित्रधर्म का उत्कृष्टता-पूर्वक आराधन कर के सिद्धगति को प्राप्त हुए।

चक्रवर्ती सम्राट ब्रह्मदत्त पर महर्षि के उपदेश का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वे भोग में तल्लीन हो गए।

भोजनभट्ट की याचना

जब ब्रह्मदत्त विपत्ति का मारा इधर-उधर भटक रहा था, तब एक ब्राह्मण ने उसे किसी प्रकार का सहयोग दिया था। ब्रह्मदत्त ने उसकी सेवा से संतुष्ट हो कर कहा था कि—"जब मुझे राज्य प्राप्त हो जाय, तब तू मेरे पास आना। मैं तुझे संतुष्ट करूँगा।" उस ब्राह्मण ने ब्रह्मदत्त के महाराजाधिराज बनने की बात सुनी, तो वह कम्पिलपुर आया।

उस समय राज्याभिषेक महोत्सव चल रहा था। उसे ब्रह्मदत्त के दर्शन नहीं हो सके। वह वहीं रह कर उचित अवसर की प्रतीक्षा करने लगा। महोत्सव पूर्ण होने के बाद जब नरेश बाहर निकले, तो ब्राह्मण ने सम्राट का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिये पुराने जूते को ध्वजा के समान लकड़ी पर टाँग कर ऊँचा उठाया और खड़ा रह कर "महाराज की जय हो" आदि उच्च शब्दों से चिल्लाया। सम्राट ने उसे समीप बुला कर पूछा;—

"कहो, तुम कौन हो और क्या चाहते हो ?"

"महाराज ! मैं वही ब्राह्मण हूँ जिसे आपने वचन दिया था कि "राज्य प्राप्त होने पर तुम आना, मैं तुम्हें संतुष्ट करूँगा।" मैंने आपको राज्य प्राप्त होने की बात सुनी, तो तत्काल आपके दर्शन को चल दिया। मैं बहुत दूर से आया हूँ महाराज ! चलते-चलते मेरे जूते इतने फट गये कि जिनकी गठड़ी बँध गई। मैं यहाँ पहुँचा, तो राज्याभिषेक का महोत्सव हो रहा था। यहीं पड़ा रहा। आज मेरा भाग्य उदय हुआ है—महाराज ! जय हो, विजय हो।"

सम्राट ने ब्राह्मण को पहिचान लिया। राज्य-सभा में आने पर उससे पूछा--"कहो तुम क्या चाहते हो ?"

"महाराज ! मैं तो आपका भोजन चाहता हूँ। बस, सब से बड़ा सुख उत्तम भोजन से आत्मदेव को तृप्त करना है स्वामिन् !"

"अरे ब्राह्मण ! यह क्या माँगा ? किसी जनपद, नगर या गाँव की जागीर माँग ले। तू और तेरे बेटे-पोते सब सुखी हो जाएँगे"—सम्राट ने उदारतापूर्वक ब्राह्मण को सम्पन्न बनाने के लिए कहा।

"नहीं महाराज ! जागीर की झंझट में कौन पड़े। उसकी व्यवस्था, राजस्व प्राप्ति और रक्षा का दायित्व, लोगों के झगड़े-टंटे, चोरी-डकैती आदि में उलझ कर आत्मा को क्लेशित करने के दुःख से दूर रह कर, मैं तो भोजन से ही संतुष्ट हो कर रहना उत्तम लाभ समझता हूँ। राजा भी राज्य पा कर क्या करते हैं ? उनका राज्य-वैभव यहीं धरा रह जाता है, परन्तु खाया-पीया ही आत्मा के काम आता है। बस, महाराज मेरे लिये यह व्यवस्था करवा दीजिये कि आपके साम्राज्य में प्रत्येक घर में मुझे उत्तम भोजन करा-कर एक स्वर्णमुद्रा दक्षिणा में मिले। ऐसी राजाज्ञा प्रसारित की जाय और इसका प्रारंभ राज्य की भोजनशाला से ही हो।"—ब्राह्मण ने अपनी माँग प्रस्तुत की।

सम्राट ने उसकी माँग स्वीकार की। उस दिन उसने वहीं भोजन किया और स्वर्ण-मुद्रा प्राप्त की। वह भोजन उसे बहुत रुचिकर लगा। दूसरे दिन से वह नगर में क्रमशः

भोजन करने लगा। उसके मन में पुनः राज-भोज प्राप्त करने की इच्छा वनी रही और वह इस इच्छा को मन में लिये हुए ही मर गया। क्योंकि पुनः ऐसा अवसर कभी आया ही नहीं।

नागकुमारी को दण्ड ×× नागकुमार से पुरस्कृत

किसी यवन राजा ने चक्रवर्ती सम्राट के लिए एक श्रेष्ठ अश्व भेंट में भेजा। उस घोड़े की उत्तमता देख कर सम्राट का मन, उस पर आरूढ़ हो कर वन में घूमने का हुआ। वे घोड़े पर चढ़ कर चल दिये। उनके साथ अंगरक्षक भी थे। कुछ अश्वारोही सैनिक और कुछ गजारूढ़ एवं रथी भी पीछे-पीछे हो लिये। अश्व की गति का वेग देखने के लिए महाराज ने उसे अपनी जँघाओं में दवाया और चाबुक मारा। अश्व वायुवेग से दौड़ने लगा। अंगरक्षक और सेना पीछे रह गई। महाराज ने अश्व की रास खिंची, किन्तु वह नहीं रुका और एक भयानक अटवी में जा कर अत्यन्त थक जाने के कारण खड़ा रहा। महाराज को भी जोर की प्यास लग रही थी। घोड़े पर से उतरते ही वे पानी की खोज करने लगे। उन्होंने एक स्वच्छ जलाशय देखा। फिर घोड़े पर से जीन उतारा, उसे पानी पिलाया, फिर उन्होंने जल पिया और स्नान भी किया। इसके वाद वे उस रमणीय स्थान पर इधर-उधर घूम कर मनोरञ्जन करने लगे। हटात् उसकी दृष्टि एक अत्यन्त सुन्दर कमनीय ललना पर पड़ी। भयंकर वन में एक सुन्दर रमणी को देख कर वे आश्चर्य में पड़ गए। वे उसी को देखते रहे। इतने में उसके निकट रहे हुए वृक्ष पर से एक गोनस जाति का नाग उतरा। उस नाग-कुमारी ने वैक्रिय से अपना रूप पलट कर नागिन का रूप धारण किया और उस नाग से लिपट गई। उनके इस व्यभिचार को देख कर नरेन्द्र क्रोधित हो गए। वे स्वयं भोगी थे, परन्तु अनीति उन्हें असह्य हो जाती थी। उन्होंने चाबुक उठाया और उनके पास पहुँच कर दोनों को पीटने लगे। उन्हें भरपूर दण्ड दे कर छोड़ा। नरेन्द्र ने सोचा—'वृक्ष से उतरने वाला भी कोई व्यंतर जाति का देव होगा, जो गोनस नाग वन कर इसके साथ जार-कर्म करता है।' वे सोच ही रहे थे कि उनकी खोज करती हुई सेना वहाँ आ पहुँची। अपनी सेना के साथ नरेश स्वस्थान आये।

वह नागदेवी रोती हुई अपने आवास में लौटी और पति से कहने लगी;—"स्वामी! मैं अपनी सखियों के साथ यक्षिणी के पास जाती हुई, भूतरमण उद्यान में

पहुँची। सरोवर में स्नान कर के ज्योंही मैं बाहर निकली कि मुझे ब्रह्मदत्त नाम के एक राजा ने देखा और वह मेरे पास आ कर काम-क्रीड़ा की याचना करने लगा। मैंने अस्वीकार कर दिया, तो वह बलात्कार करने पर उद्यत हुआ। मैं रोई चिल्लाई और आपका नाम ले कर पुकारा, तो उसने मुझे चाबुक से पीटा। वह बड़ा ही घमंडी है। उसे आपका भय भी नहीं है। मैं जब मूर्च्छित हो कर गिर पड़ी तब मुझे मरी हुई जान कर चला गया।"

नागकुमार क्रोधित हो उठा और ब्रह्मदत्त को मारने के अभिप्राय से वह रात्रि के समय राजभवन में आया। उस समय महाराज ब्रह्मदत्त, अपनी महारानी को आज की घटना सुना रहे थे। नागकुमार उस समय महाराजा को मारने आ पहुँचा था। उन्होंने प्रच्छन्न रह कर महाराज की बात सुनी, तो सन्न रह गया। कहाँ देवी की बात और कहाँ ब्रह्मदत्त की कही हुई सत्य घटना। उसे अपनी देवी के दुराचार पर विश्वास हो गया। इतने में सम्राट लघुशंका निवारण करने के लिये बाहर निकले। उन्होंने अपनी कान्ति से आकाश-मण्डल को प्रकाशित करते हुए देदीप्यमान नागकुमार को देखा। अंतरिक्ष में रहे हुए नागकुमार ने कहा;—

"दुराचारियों को दण्ड देने वाले महाराजा ब्रह्मदत्त की जय हो। राजेन्द्र ! जिस नागदेवी को आपने दण्ड दिया, वह मेरी पत्नी है। उसने मुझे कहा कि—'आप उस पर बलात्कार करना चाहते थे, किन्तु निष्फल होने के कारण आपने उसे पीटा।' उसकी बात सुन कर मैं क्रोधित हो उठा और आपका अनिष्ट करने के लिये यहाँ आया। किन्तु आपकी सत्य बात सुन कर मेरा भ्रम दूर हो गया। मैंने उस दुराचारिणी की बात पर विश्वास कर के आपके प्रति मन में दुर्भावना लाया, इसकी मैं क्षमा चाहता हूँ।"

"नागकुमार ! यह स्वाभाविक बात है। दुराचारी व्यक्ति अपना पाप छुपाने के लिये दूसरों पर झूठे आरोप लगाते हैं और सुनने वाला रुष्ट हो जाता है। यदि शान्तिपूर्वक सोच-समझ कर कार्य किया जाय, तो अनर्थ नहीं होता और न पछताने का अवसर आता है।"

"राजेन्द्र ! आपका कथन सत्य है। मैं आपकी न्यायप्रियता एवं सदाचार-रक्षा पर प्रसन्न हूँ। कहिये मैं आपका कौन-सा हित साधन करूँ।"

"यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो यही कीजिये कि जिससे मेरे राज्य में चोरी व्यभिचार और अपमृत्यु नहीं हो।"

"ऐसा ही होगा। किन्तु आपकी जन-हितकारी भावना एवं सदाचार-प्रियता से

में विशेष संतुष्ट हुआ हूँ। आप अपने लिये भी कुछ माँग लीजिये"—देव ने आग्रह किया।

"यदि आप कुछ देना ही चाहते हैं, तो मुझे वह शक्ति दीजिये कि मैं सभी पशु-पक्षियों की बोली समझ सकूँ"—सम्राट ने विचारपूर्वक माँग की।

आपकी माँग पूरी करने में भय है। मैं आपको यह देता हूँ, किन्तु आप उस शक्ति से जानी हुई बात दूसरों को सुनाओगे, तो आपके मस्तक के सात टुकड़े हो जावेंगे। इसका स्मरण रखना।"

नागकुमार चला गया।

स्त्री-हठ पर विजय

एक दिन सम्राट अपनी प्रियतमा के साथ श्रृंगारगृह में गये। वहाँ एक गर्भिणी छिपकली ने अपने प्रिय से कहा--"महारानी के अंगराग में से मेरे लिये थोड़ा-सा ला दो। मुझे इसका दोहद हुआ है।" उसका नर बोला—"तू मुझे मारना चाहती है क्या? मैं तेरे लिये अंगराग लेने जाऊँ, तो वे मुझे जीवित रहने देंगे?" उनकी बात सुन कर महाराज हँस दिये। पति का हँसना देख कर महारानी ने पूछा—"आप क्यों हँसे?" महाराजा ने कहा--"यों ही।" महारानी ने सोचा कोई विशेष बात होगी, इसीसे छिपा रहे हैं। उसने हठपूर्वक कहा--"आप मुझे हँसने का कारण बताइये। यदि मुझ से कुछ छुपाया तो मेरे हृदय को आघात लगेगा और मैं मर जाऊँगी।" राजा ने कहा--"यदि मैं तुम्हें कह दूँ, तो तुम तो मरोगी या नहीं, किन्तु मैं तो अवश्य मर जाऊँगा। तुम्हें हठ नहीं करना चाहिये।"

"अब मैं वह बात सुने बिना नहीं रह सकती। यदि बात सुनाने से ही आपकी मृत्यु होगी, तो मैं भी आपके साथ मर जाऊँगी और इससे अपन दोनों की गति एक समान होगी। आप टालिये मत। मैं बिना सुने रह ही नहीं सकती"--महारानी ने आग्रहपूर्वक कहा।

राजा मोहवश विवश हो गया। उसने कहा--"यदि तुम्हारी यही इच्छा है, तो पहले मरने की तैयारी कर लें और श्मशान में चलें। फिर चिता पर आरूढ़ होने के बाद मैं तुम्हें वह बात कहूँगा।"

रानी तत्पर हो गई। उसे विश्वास हो गया था कि अवश्य ही कोई महत्वपूर्ण बात है, जिसे मुझ-से छुपा रहे हैं और मृत्यु हो जाने का झूठा भय दिखा रहे हैं। महाराजा

रानी के साथ गजारूढ़ हो कर श्मशान-भूमि की ओर चले। लोगों में यह बात फैल गई कि महाराजा और महारानी मरने के लिए श्मशान जा रहे हैं। नागरिक-जन अपने प्रिय महाराजा के असमय मरण—आत्मघात—से शोकाकूल हो, पीछे-पीछे चलने लगे। राजा की कुलदेवी आकृष्ट हुई। उसने वैक्रिय से एक भेड़ और सगर्भा भेड़ी का रूप बनाया। देवी जान गई कि राजा पशुओं की भाषा जानता है। उसने भेड़ी से कहलवाया—"ये जौ के हरे पुले रखे हैं, इनमें से एक मेरे लिये ला दो।" भेड़ ने कहा—"ये पुले तो राजा के घोड़े के लिये हैं। यदि मैं इनमें से लेने लगूं, तो पास खड़े रक्षक मुझे वहीं समाप्त कर दें। नहीं, मैं ऐसा नहीं कर सकता।"

"यदि तू ऐसा नहीं करेगा, तो मैं मर जाऊँगी"—भेड़ी बोली।

"कोई बात नहीं, तू मर जायगी, तो मैं दूसरी ले आऊँगा। परन्तु तेरे लिये मरने को नहीं जाऊँगा।"

"अरे वाहरे प्रेमी ! देख राजा कैसा प्रेमी है, जो अपनी प्रियतमा का हठ निभाने के लिये मरने को भी तत्पर हो गया। तू तो ढोंगी है"—भेड़ी ने कहा।

"राजा मूर्ख है। बहुत-सी रानियाँ होते हुए भी एक के पीछे मरने को तत्पर हो गया। मैं ऐसा मूर्ख नहीं हूँ"—भेड़ ने कहा।

भेड़-भेड़ी की बात ने राजा को सावधान कर दिया। उसने भेड़ और भेड़ी के गले में हार डाले और रानी से स्पष्ट कह दिया—"मैं तुम्हारे हठ के कारण मरूँगा नहीं। तुम्हारी इच्छा हो वह करो।" और वह राजभवन में लौट आया।

चक्रवर्ती के भोजन का दुष्परिणाम

किसी पूर्व परिचित ब्राह्मण ने महाराजा के सामने याचना की—"मुझे और मेरे परिवार को आपके लिये बनाया हुआ भोजन करवाने की कृपा करें।" नरेश ने कहा—"ब्राह्मण ! तू और कुछ माँग ले। मेरा भोजन तेरे लिये हितकारी नहीं होगा। तुम उसे पचा नहीं सकोगे और अनर्थ हो जायगा।"

"नहीं महाराज ! टालिये नहीं। इस जीवन में बस यही कामना शेष है। यदि आप देना चाहें, तो आपका भोजन ही दीजिये। बस, एक बार और कुछ नहीं।"

ब्राह्मण का अत्याग्रह टाला नहीं जा सका। ब्राह्मण-परिवार ने डट कर भोजन किया,

किन्तु परिणाम बड़ा बीभत्स निकला। सारा कुटुम्ब कामोन्माद में भानभूल हो गया और पशु के समान विवेक-शून्य हो कर माँ, बहिन, बेटी आदि का विवेक त्याग कर व्यभिचार करने लगा। जब उन्माद उतरा और विवेक जागा, तो सभी को अपने दुराचार का भान हुआ। लज्जा और क्षोभ के कारण वे मुँह छिपाने लगे। मुखिया ब्राह्मण को तो अपने और कुटुम्ब के दुष्कृत्य से इतनी ग्लानि हुई कि वह घर छोड़ कर बन में चला गया। वह यह सोच कर राजा के प्रति वैर रखने लगा कि—"राजा ने भोजन में कामोन्माद उत्पन्न करने वाली कोई रसायन मिला कर खिला दी। उसी से यह अनर्थ हुआ। राजा से इस दुष्टता का बदला लेना चाहिए।"

पापोदय और नरक-गमन

चक्रवर्ति सम्राट ब्रह्मदत्त, राज्यऋद्धि और कामभोग में गृद्ध रहते हुए, पुण्य की पूंजी समाप्त करने लगे। पाप का भार बढ़ रहा था। उधर वह ब्राह्मण सम्राट के प्रति वैरभाव सफल करनें का निमित्त खोजता फिरता था। एक दिन उसने देखा कि एक ग्वाला छोटे-छोटे कंकर का अचूक निशाना लगा कर वृक्ष के पत्ते छेद रहा है। उसे इस ग्वालें के द्वारा बदला लेना संभव लगा। उसने ग्वाले से सम्पर्क बढ़ा कर घनिष्टता कर ली। उसे वशीभूत कर के एक दिन कहा—

"नगर में एक आदमी हाथी पर बैठा हुआ हो, उसके मस्तक पर छत्र और दोनों ओर चामर डुलते हों, उसकी दोनों आँखे फोड़ दो। वह मेरा वैरी है। में तुम्हें बहुत धन दूंगा।"

ग्वाले की बुद्धि भी पशु जैसी थी। प्रीति और लोभ से वह उत्साहित हो गया और नगर में आया। उस समय सम्राट गजारूढ़ हो कर राजमार्ग पर जा रहे थे। लक्ष्य साध कर ग्वाले ने कंकर मारा और नरेश की दोनों आँखें फूट गई। वे अन्धे हो गए। ग्वाला पकड़ लिया गया। पूछताछ करने पर ब्राह्मण पकड़ा गया और उसका सारा परिवार मार डाला गया। अन्धे बने हुए ब्रह्मदत्त के मन में सारी ब्राह्मण जाति के प्रति उग्र वैर उत्पन्न हो गया। उन्होंने ब्राह्मणों का वध करने का आदेश दिया और उनकी आँखें ला कर देने की माँग की। प्रधान-मन्त्री दयालु था। वह श्लेष्माफल (गूंदों) का थाल भर कर राजा के सामने रखवाता। राजा उसे ब्राह्मणों की आँखें मान कर रोषपूर्वक

मसलता। उसकी कषाय बढ़ती जाती। जितनी रुचि उसकी आँखें मसलने में थी, उतनी कामभोग में नहीं थी।

इस प्रकार हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान में सौलह वर्ष× तक अत्यन्त लीन रहते हुए, इस अवसर्पिणी काल का अन्तिम (बारहवाँ) चक्रवर्ती सम्राट ब्रह्मदत्त अपनी प्रिया कुरुमति का नामोच्चारण करता हुआ मर कर सातवीं नरक में गया।

यह बारहवाँ चक्रवर्ती अठाईस वर्ष कुमार अवस्था में, छप्पन वर्ष माण्डलिक राजापने, सोलह वर्ष छह खण्ड साधने में और छह सौ वर्ष चक्रवर्ती पद, इस प्रकार कुल सात सौ वर्ष की आयु पूर्ण की और मर कर सातवीं नरक में गया।

॥ इति ब्रह्मदत्त चरित्र ॥

× चक्रवर्ती के उसी भव में इतना पापोदय हो सकता है और वह सोलह वर्ष चलता है—यह एक प्रश्न है।

भ० पार्श्वनाथजी

इस जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में 'पोतनपुर' नाम का समृद्ध नगर था। 'अरविन्द' नरेश वहाँ के शासक थे। वे जीवाजीवादि तत्त्वों के ज्ञाता एवं धर्मरसिक थे। 'विश्वभूति' नामक पुरोहित नरेश का विश्वासपात्र और प्रिय था। वह भी तत्त्वज्ञ श्रावक था। उनके 'कमठ' और 'मरुभूति' नाम के दो पुत्र थे। कमठ के 'वरुणा' और मरुभूति के 'वसुन्धरा' नामक पत्नी थी। वह रूप-लावण्य सम्पन्न थी। दोनों बन्धु कलाविद् थे और स्नेहपूर्वक व्यवसाय एवं गृहकार्य करते थे। विश्वभूति गृह-त्याग कर गुरु के समीप पहुँचा। उसने संयमपूर्वक तप की आराधना की और अनशन कर के प्रथम स्वर्ग में देव हुआ। उनकी पत्नी पतिवियोग से संतप्त हो कर संसार से विमुख हुई और धर्म-चिन्तन करती हुई सद्गति पाई। विश्वभूति की मृत्यु के बाद ज्येष्ठ पुत्र 'कमठ,' पुरोहित हुआ और राज्य-सेवा करने लगा। 'मरुभूति' संसार की असारता का चिन्तन करता हुआ भोग से विमुख हुआ और धर्मस्थान में जा कर पौषधादि धर्म में तत्पर रहने लगा। उसकी भोग-विमुखता से उसकी रूपमती युवा पत्नी की काम-लालसा अतृप्त रही। मरुभूति की विषय-विमुखता के कारण वह विषय-सुख से वंचित ही रही थी। यौवन के उभार ने उसे विच-लित कर दिया। उधर कमठ स्वच्छन्द, विषयलोलुप और दुराचारी बन गया। पर-स्त्री गमन और द्युतक्रीड़ा उसके विशेष व्यसन थे। भ्रातृपत्नी वसुन्धरा पर उसकी दृष्टि पड़ी। तो उसकी मति विकृत हो गई। अवसर पा कर उसने उसके सामने अपनी दुरेच्छा व्यक्त की। यद्यपि वसुन्धरा भी कामासक्त थी, परन्तु ज्येष्ठ को श्वसुर के समान मानती थी। इस-लिये उसने अस्वीकार कर दिया। कमठ के अति आग्रह और आलिंगनादि से प्रेरित हो कर वह वशीभूत हो गई। दोनों की पापलीला चलने लगी। मरुभूति साधु तो नहीं हुआ

था, परन्तु उसका विशेष समय धर्मसाधना में ही जाता था और वह साधु-दीक्षा लेने की भावना रखता था। अतएव यह पापाचार उसकी दृष्टि में नहीं आ सका। किन्तु कमठ की पत्नी वरुणा से यह दुराचार छुपा नहीं रह सका। उसने मरुभूति से कहा। पहले तो मरुभूति ने—भाई के प्रति विश्वास होने के कारण—भाभी की बात नहीं मानी। परन्तु आग्रह-पूर्वक बारबार कहने से उसने स्वयं अपनी आँखों से देखने का निर्णय किया। घर आ कर उसने भाई से, बाहर-गाँव जाने का कह कर चल दिया। और संध्या समय वेश और बोली पलट कर घर आया और अपने को विदेशी व्यापारी बता कर रातभर रहने के लिये स्थान माँगा। कमठ ने उसे एक कमरे में ठहरा दिया। मरुभूति के बाहर चले जाने से कमठ प्रसन्न हुआ। अब वह निःशंक हो कर वसुन्धरा के साथ भोग करने लगा, जिसे मरुभूति ने स्वयं एक जाली में से देख लिया। वह तत्काल क्रोधित हो उठा, किन्तु लोक-लाज के विचार ने उसे मौन ही रहने दिया। उसमें धधकती हुई क्रोधाग्नि शांत नहीं हुई। प्रातः-काल होने के बाद वह महाराजा के पास गया और ज्येष्ठ-भ्राता के दुराचार की बात कह सुनाई। महाराज स्वयं दुराचार के शत्रु थे। उन्होंने तत्काल कमठ को पकड़ा मँगाया और उस पर गुरुतर अपराध का आरोप लगाया। वह अपने को निर्दोष प्रमाणित नहीं कर सका। नरेश ने निर्णय दिया—"इसका कालामुँह करो, गधे पर बिठाओ और नगर में घुमाते हुए जोर-जोर से कहो कि "यह दुराचारी है। इसने छोटे भाई की पत्नी के साथ व्यभिचार किया है।"

आरक्षकों ने उसका मुँह काला किया। उसे विचित्र वेश में गधे पर बिठा कर नगर में घुमाया और उसके महापाप को प्रकट करते हुए नगर से बाहर निकाल दिया। कमठ के लिये यह दण्ड मृत्युदण्ड से भी अधिक दुःखदायक हुआ। वह बन में चला गया। उसके हृदय को गम्भीर आघात लगा था। वह संसार से विरक्त हो गया और एक सन्यासी के पास दीक्षित हो कर अज्ञान तप करने लगा। इधर मरुभूति का कोप शान्त हुआ, तो उसे भाई की घोर कदर्थना पर अत्यन्त पश्चात्ताप हुआ। वह सोचने लगा कि 'मैंने भाई का दुराचार राजा को सुना कर बहुत बुरा किया।' वह भाई से क्षमा माँगने के लिये बन में जाने को तत्पर हुआ। उसने राजा से आज्ञा माँगी। राजा ने उसे समझाया कि 'वह उसके पास नहीं जाय। यदि गया, तो उसका जीवन संकट में पड़ सकता है। उसके मनमें तुम्हारे प्रति उग्रतम वैरभाव होगा।' किन्तु वह नहीं माना और बन में भाई को खोज कर उसके चरणों में गिर पड़ा और क्षमा याचना करने लगा। मरुभूति को देखते ही कमठ का क्रोध भड़क उठा। उसने एक बड़ा पत्थर उठा कर मरुभूति के मस्तक पर दे मारा।

मरुभूति असह्य वेदना से तड़पने लगा। कमठ ने फिर दूसरा पत्थर मार कर कुचल दिया। मरुभूति आर्तध्यान युक्त मर कर विंध्याचल में हाथी हुआ और सारे यूथ का अधिपति हो गया। कमठ की पत्नी वरुणा भी क्रोधादि अशुभ भावों में मर कर उसी यूथ में हथिनी हुई और यूथपति की अत्यन्त प्रिय बन गई। यूथपति गजराज उसके साथ सुखभोग करता हुआ सुखपूर्वक विचरने लगा।

इन्द्रधनुष वैराग्य का निमित्त बना

पोतनपुर नरेश अरविंद शरद-ऋतु में अपनी रानियों के साथ भवन की छत पर बैठा हुआ प्रकृति की शोभा देख रहा था। उसकी दृष्टि आकाश में खिले हुए इन्द्रधनुष पर पड़ी, जो विविध रंगों में शोभायमान हो रहा था। बादल छाये हुए थे। बिजली चमक रही थी। उस दृश्य ने राजा को मुग्ध कर दिया। किन्तु थोड़ी ही देर में वेगपूर्वक वायु चली और सारा दृश्य बिखर कर नष्ट हो गया। यह देख कर राजा ने सोचा—"जिस प्रकार इन्द्रधनुष, विद्युत और मेघसमूह तथा इनसे बनी हुई शोभा नाशवान है, उसी प्रकार मनुष्य का शरीर, बल, रूप वैभव और भोग के साधन भी नाशवान हैं। इन पर मुग्ध होना तो मूर्खता ही है। जीवन भी इसी प्रकार समाप्त हो जाता है और मनुष्यभव पाप ही में व्यतीत हो कर दुर्गति में चला जाता है।" राजा की निर्वेद-भावना बढ़ी। शुभ ध्यान और ज्ञानावरणीयादि कर्म के क्षयोपशम से उन्हें अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया। संसार से विरक्त महाराजा अरविंद ने अपने पुत्र महेन्द्र को राज्य का भार दे कर समंतभद्राचार्य के समीप निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या धारण कर ली। गीतार्थ हो कर, एकलविहार-प्रतिमा अंगीकार की और विचरने लगे। उनके लिए ग्राम, नगर, वन और पर्वत सभी समान थे।

गजेन्द्र को प्रतिबोध

महर्षि अरविंदजी विचरण करते हुए उसी वन में पहुचे, जिसमें वह मरुभूति हाथी अपने यूथ की हथिनियों के साथ विचर रहा था। वह एक सरोवर में जलक्रीड़ा कर रहा था। महात्मा को देख कर हाथी कोपायमान हुआ और जलाशय से बाहर निकल कर महर्षि की ओर बढ़ा। महात्मा ने अवधिज्ञान से हाथी का पूर्वभव जाना और ध्यानारूढ़

हो गए। हाथी क्रोधान्ध हो कर सूंड उठाये मुनिराज पर झपट ही रहा था कि उनके तप-तेज से उसका क्रोध शान्त हो गया। वह एकटक महात्मा को निहारने लगा। हाथी को शान्त देख कर महर्षि ने उसे सम्बोधित किया;--

"मरुभूति ! तेरी यह क्या दशा हुई ? अरे तू मनुष्य भव खो कर पशु हो गया ? स्मरण कर अपने पूर्वभव को। यदि तू धर्मच्युत नहीं होता, तो पशु नहीं बनता। देख मैं वही पोतनपुर का राजा अरविंद हूँ। स्मरण कर और अब भी संभल। जिस उत्तम धर्म से तू पतित हो चुका, उसे फिर से ग्रहण कर और अपना शेष जीवन सुधार ले।"

महर्षि की वाणी ने गजराज को सावधान कर दिया। स्मरण की एकाग्रता से जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ और पूर्वभव की सभी घटनाएँ स्पष्ट दिखाई दी। उसने महात्मा के आगे मस्तक झुका कर प्रणाम किया। मुनिश्री ने हाथी की अनुकूलता देख कर कहा;—

"भद्र ! जिस श्रावकधर्म का तेने ब्राह्मण के भव में पालन किया, वह तुझे पुन: प्राप्त हो और तू दृढ़तापूर्वक धर्म की आराधना करने में लग जा।"

मरुभूति ने महर्षि की शिक्षा शिरोधार्य की। उसके पास ही हथिनी (जो पूर्वभव में कमठ की पत्नी वरुणा थी) खड़ी सब सुन रही थी। वह भी जातिस्मरण पा कर अपना पूर्व-भव देख रही थी। उसने भी धर्म स्वीकार किया। मुनिराज अन्यत्र विहार कर गए। गजराज अब पूरा धर्मात्मा बन गया। वह चलता तो देख कर जीवों को बचाता हुआ चलता। बेला-तेला आदि तपस्या करता, सूखे पत्ते खाता और सूर्य-ताप से तपा हुआ पानी पीता। वह सोचता रहता--"अरे, मैं तो स्वयं श्रमण-प्रव्रज्या धारण करना चाहता था, परन्तु बीच में ही क्रोध की ज्वाला में तप कर पुन: प्रपंच में पड़ गया। यदि मैं उस समय नहीं डिगता, तो मेरा मनुष्यभव व्यर्थ नहीं जाता।" वह शुभ भावों में रत रहने लगा। उसके मनमें से भोग-भावना निकल चुकी थी। तपस्या से उसका शरीर कृश हो गया। वह एक सरोवर में पानी पीने गया, तो दलदल में ही फँस गया। दुर्बल शरीर और शक्ति-हीनता के कारण वह कीचड़ में से निकल नहीं सका। अब वह दलदल में फँसा हुआ ही धर्मचिन्तन करने लगा।

मरुभूति को मार कर भी कमठ तापस शांत नहीं हुआ। गुरु और अन्य सन्यासियों द्वारा निन्दित कमठ दुर्ध्यानपूर्वक मर कर कुक्कुट जाति का सर्प हुआ। वह पंख वाले यमराज के समान उड़ कर जीवों को डसने लगा। एक दिन वह सर्प मरुभूति हाथी के

निकट पहुँच गया। उसे देखते ही उसका वैर भड़का। उसने उड़ कर हाथी के पेट पर डस लिया। गजराज के शरीर में विष की ज्वाला धधकने लगी। अपना मृत्युकाल निकट जान कर उसने आलोचनादि कर के अनशन कर लिया और धर्मध्यान युक्त काल कर के सहस्रार देवलोक में १७ सागरोपम आयुष्य वाला महर्द्धिक देव हुआ।

वरुणा हथिनी भी धर्मसाधना करती हुई मृत्यु पा कर ईशान देवलोक में समृद्धिशाली अपरिग्रहिता देवी हुई। वह रूप सौंदर्य और आकर्षण में अन्य बहुत-सी देवियों में श्रेष्ठ थी। सभी देव उसे चाहते थे। परन्तु वह किसी को नहीं चाहती थी। उसका मन केवल गजेन्द्र के जीव (जो सहस्रार विमान में देव था—) में ही लगा हुआ था। गजेन्द्र देव ने भी उसे देखा और उसे अपने विमान में ले गया और उस स्थान के अनुरूप उसके साथ स्नेहपूर्वक काल व्यतीत करने लगा।

कुक्कुट सर्प ने बहुत पाप-कर्म बाँधा और मृत्यु पा कर पाँचवी नरकभूमि में सतरह सागरोपम की स्थिति वाला नारक हुआ। उसका काल अत्यन्त दुःखपूर्वक व्यतीत होने लगा।

चौथा भव किरणवेग

पूर्व-विदेह स्थित सुकच्छ विजय के वैताढ्य पर्वत पर तिलका नाम की समृद्ध नगरी थी। विद्याधरों का स्वामी विद्युद्गति वहाँ का अधिपति था। आठवें स्वर्ग से च्यव कर गजेन्द्र का जीव कनकतिलका महारानी की कुक्षी में उत्पन्न हुआ। राजकुमार का नाम 'किरणवेग' रखा। महाराज विद्युद्गति ने संसार से विरक्त हो कर युवराज किरणवेग को राज्याधिकार दे दिये और महात्मा श्रुतसागरजी के पास निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या धारण कर ली। महाराज किरणवेग न्याय-नीतिपूर्वक राज करने लगे और अनासक्त रहते हुए जीवन व्यतीत करने लगे। उनकी पद्मावती रानी की कुक्षी से एक तेजस्वी पुत्र का जन्म हुआ, जिसका नाम 'किरणतेज' रखा। वह रूप, कला और बलबुद्धि में पिता के समान था। एक बार मुनिराज सुरगुरुजी वहाँ पधारे। उनके उपदेश से प्रभावित हो कर महाराजा किरणवेग ने राज्याधिकार पुत्र को दे कर दीक्षित हो गये और तप-संयम से आत्मा को पवित्र करने लगे। गीतार्थ होने के पश्चात् उन्होंने गुरुआज्ञा से एकल-विहार प्रतिमा अंगीकार की और आकाश-गामिनी विद्या से वैताढ्य पर्वत के निकट हेमगिरि पर दीर्घ तपस्या अंगीकार कर ध्यानस्थ हो गए। कुक्कुट सर्प का जीव पाँचवी नरक का १७ सागरोपम प्रमाण आयु पूर्ण

कर के उसी हेमगिरि की गुफा में भयंकर विषधर हुआ। वह यमराज के समान बहुत-से प्राणियों का संहार करने लगा। इधर-उधर भटकते हुए वह उन महात्मा के निकट आ पहुँचा। उन्हें देखते ही पूर्वभव का वैर जाग्रत हुआ। वह क्रोधायमान हो कर मुनिश्री की ओर बढ़ा और उनके शरीर पर लता के समान लिपट कर अनेक स्थान पर डंक मारे। मुनिश्री ने सोचा—"यह सर्पराज मेरे कर्मों को भस्म करने में बड़ा सहायक हो रहा है।" उन्होंने धीरतापूर्वक उग्र वेदना सहन की और समाधिपूर्वक काल कर के बारहवें स्वर्ग के जम्बुद्रुमावर्त्त नाम के विमान में समृद्धिशाली देव हुए। उनकी स्थिति बाईस सागरोपम की थी। वह सर्प पापकर्मों का संग्रह कर के दावाग्नि में जला और महा रौद्रध्यानपूर्वक मर कर धूमप्रभा नरक में १७ सागरोपम प्रमाण आयुवाला नारक हुआ। वहाँ अपने पापों का महान् दुःखदायक फल भोगने लगा।

वज्रनाभ का छठा भव

इस जम्बुद्वीप के पश्चिम महाविदेहस्थ सुगन्ध विजय में शुभंकरा नामक नगरी थी। वज्रवीर्य राजा उसके स्वामी थे। लक्ष्मीवती उनकी रानी थी। महात्मा किरणवेगजी का जीव अच्युत कल्प से च्यव कर राजमहिषी लक्ष्मीवती के गर्भ में आया। पुत्र का नाम 'वज्रनाभ' दिया। कलाविद एवं यौवनवय प्राप्त होने पर पिता ने राज्याधिकार दे कर प्रव्रज्या स्वीकार कर ली। रानी लक्ष्मीवती भी दीक्षित हो गई। राजा वज्रनाभ के भी एक तेजस्वी पुत्र हुआ। उसका नाम 'चक्रायुध' था। महाराज वज्रनाभजी के हृदय में पूर्व के संयम के संस्कार जाग्रत हुए। युवराज के योग्य होते ही राज्याभिषेक कर दिया और आपने जिनेश्वर भगवान् क्षेमंकरजी के पास प्रव्रज्या स्वीकार कर ली। श्रुत का अभ्यास किया और गुरु आज्ञा से एकल-विहार प्रतिमा धारण कर के विचरने लगे। घोर तपस्या और कठोर चर्या से उन्हें आकाशगामिनी लब्धि प्राप्त हुई। एक बार वे सुकच्छ विजय में पधारे।

सर्प का जीव पाँचवीं नरक के असह्य दुःख भोग कर कितने ही भव करने के बाद सुकच्छ में ही ज्वलनगिरि की भयानक अटवी में 'कुरंगक' नामक भिल्ल हुआ। यौवनवय प्राप्त होने पर वह धनुष-बाण ले कर पशु-पक्षियों को मारता हुआ विचरने लगा। महात्मा वज्रनाभजी भी हिंस्र एवं क्रूर जीवों से भरपूर उस ज्वलनगिरि पर पधारे और सूर्यास्त होते एक गुफा में प्रवेश कर ध्यानस्थ हो गये। हिंस्र-पशुओं की भयानक गर्जना, विचित्र किलकिलाहट और उलूक आदि पक्षियों की कर्कश-ध्वनि भी महात्मा को ध्यान से विच-

लित नहीं कर सकी । प्रातः काल होने के बाद महात्मा आगे चलने लगे । उधर वह कुरंगक भिल्ल भी शिकार के लिए घर से निकला । पूर्वभव का वैर उसे महात्मा की ओर खिच लाया । उदयभाव में रही हुई पापी-परिणति भड़की । महात्मा के दर्शन को अपशकुन मान कर क्रोधाग्नि सुलगी । धनुष पर वाण रख कर खिचा और मारा । प्रहार से पीड़ित महात्मा सावधान हुए । भूमि का प्रमार्जन कर के बैठ गए । महालाभ का सुअवसर पा कर वे संतुष्ट हुए । आलोचनादि कर के अनशन कर लिया और आयु पूर्ण कर के मध्य ग्रैवेयक में 'ललितांग' नामक ऋद्धिक देव हुए ।

महात्मा को एक ही बाण से मरणासन्न बना कर वह भिल्ल अत्यन्त हर्षित हुआ और अपने वल का घमण्ड करता हुआ हिंसा में अधिक प्रवृत्त हुआ और जीवनभर हिंसा में रत रहा । कुरंगक भिल्ल मर कर सातवीं नरक के रौरव नरकावास में उत्पन्न हुआ और अपने पाप का महान् दुखदायक फल भोगने लगा ।

सुवर्णबाहु चक्रवर्ती का आठवां भव

इस जम्बूद्वीप के पूर्वविदेह में 'पुरानपुर' नामक नगर था । कुलिशवाहु नाम का महा प्रतापी राजा वहाँ राज करता था । सुदर्शना महारानी उसकी अत्यन्त सुन्दरी प्रियतमा थी । महात्मा वज्रनाभजी का जीव ग्रैवेयक की आयु पूर्ण कर के महारानी की कुक्षि में आया । महारानी ने चक्रवर्ती महाराजा के आगमन को सूचित करने वाले चौदह महास्वप्न देखे । गर्भकाल पूर्ण होने पर एक सुन्दर पुत्र का जन्म हुआ । जन्मोत्सव कर के महाराज ने पुत्र का नाम 'सुवर्णवाहु' रखा । यौवनवय प्राप्त होने तक कुमार ने सभी कलाएँ हस्तगत करली और महान् योद्धा वन गया । महाराज ने कुमार का राज्याभिषेक किया और स्वयं संसार का त्याग कर के निर्ग्रथ-प्रव्रज्या ग्रहण कर ली ।

ऋषि के आश्रम में पद्मावती से लग्न

महाराज सुवर्णवाहु महा वलवान थे । वे नीतिपूर्वक राज्य चलाने लगे और इन्द्र के समान उत्तम भोग भोगते हुए विचरने लगे । एक वार वे उत्तम अश्व पर चढ़ कर वन-विहार करने गए । अंगरक्षकादि सेना भी साथ थी । घोड़े की शीघ्रगति जानने के लिए

महाराज ने घोड़े पर चाबुक का प्रहार किया। घोड़ा तीव्रतर गति से दौड़ा। उसे रोकने के लिए महाराज ने लगाम खिंची। उसे उलटी शिक्षा मिली थी। वह अधिक वेग से दौड़ा। ज्यों-ज्यों लगाम खिंचे त्यों-त्यों दौड़ बढ़ाने लगा, जैसे वेगपूर्वक उड़ रहा हो। अंगरक्षक सेना बहुत पीछे छुट गई। घड़ीभर में ही राजा, वन की सुदूर अटवी में जा पहुँचे। उन्होंने स्वच्छ और शीतल जल से भरा हुआ एक जलाशय देखा। थाक प्रस्वेद एवं प्यास से व्याकुल अश्व अपने-आप रुक गया। नरेश नीचे उतरे। घोड़े का जीन खोला और स्वस्थ होने के वाद उसे नहलाया, पानी पिलाया और स्वयं ने भी स्नान कर के जल-पान किया। कुछ समय सरोवर के किनारे विश्राम किया और अश्वारूढ़ हो कर आगे वढ़े। कुछ दूर निकलने के बाद वे एक तपोवन में पहुँचे। वहाँ तापसों के छोटे-छोटे बालक खेल रहे थे। किसी की गोद में छोटा मृगशिशु उठाया हुआ था, तो कोई पुष्पलता का सिंचन कर रहा था। कोई शश-शिशु का मुख चूम रहा था, तो कोई हिरन के गले में बाहें डाल कर स्नेह कर रहा था। राजा को इस दृश्य ने मोह लिया। तपोवन की सुन्दरता, स्वच्छता और रमणीयता का अवलोकन करते हुए नरेश का दाहिना नेत्र फरका। आगे बढ़ने पर उनके कानों में युवती-कुमारिकाओं की सुरीली ध्वनि गुँजी। वे आर्कषित हो कर उधर ही चले। उन्होंने देखा--एक परम सुन्दरी ऋषिकन्या कुछ सखियों के साथ पुष्प-वाटिका में पौधों का सिंचन कर रही है। राजेन्द्र को लगा--अप्सराओं एवं देवांगनाओं से अधिक सुन्दर रूप वाली यह विश्वसुन्दरी कौन है ? वे एक वृक्ष की ओट में रह कर उसे निरखने लगे। वह सुन्दरी सखियों के साथ वाटिका का सिंचन करती हुई माधवीमंडप में आई और अपने वल्कल वस्त्र के बन्धन शिथिल कर के मोरसली के वृक्ष को जलदान करने लगी। राजा विचार करने लगा कि कहाँ तो इस भुवन-मोहिनी का उत्कृष्ट रूप एवं कोमल अंग और कहाँ यह मालिन जैसा सामान्य कार्य ? मुझे लगता है कि यह तापस-कन्या नहीं है, कोई उच्च कुल की राजकुमारी होनी चाहिये। यह किसी गुप्त कारण से आश्रम में रही होगी। इसके रूप ने मेरे हृदय को मोहित कर लिया है। राजा विचार-मग्न हो कर एकटक उसे देख रहा था कि एक भौंरा उस सुन्दरी के मुख के श्वास की सुगन्ध से आर्कषित हो कर उसके मुख के अति निकट आ कर मँडराने लगा। वह डरी और हाथ से उड़ाने लगी, किन्तु वह वहीं मंड़राता रहा, तो उसने अपनी सखी से कहा --"अरे इस भ्रमर-राक्षस से मेरी रक्षा करो, रक्षा करो।"

सखी ने कहा--"वहिन तुम्हारी रक्षा तो महाराजाधिराज सुवर्णवाहु ही कर सकते हैं, किसी दूसरे मनुष्य में यह सामर्थ्य नहीं है। यदि अपनी रक्षा चाहती है, तो महाराज

सुवर्णबाहु का ही अनुसरण प्राप्त कर।"

सखी के वचन सुन कर सुवर्णबाहु तत्काल ओट में से निकला और यह कहता हुआ उनके सम्मुख उपस्थित हुआ कि—"जब तक महाराज वज्रबाहु का पुत्र सुवर्णबाहु का पृथ्वी पर राज्य है, तब तक किस में यह शक्ति है कि तुम पर उपद्रव करे ?"

सुवर्णबाहु को अचानक सम्मुख देख कर वे भयभीत हो कर स्तब्ध रह गईं। उन्हें सहमी हुई जान कर राजा बोला;—

"भद्रे ! तुम्हारी साधना तो शान्तिपूर्वक निर्विघ्न चल रही है ?"

इस प्रश्न से उन्हें धीरज बंधा। स्वस्थ हो कर पद्मावती की सखी ने कहा;—

जब तक महाराज वज्रबाहु के सुपुत्र महाराजाधिराज सुवर्णबाहु का साम्राज्य है, तब तक तपस्वियों के तप में विघ्न उत्पन्न करने का साहस ही कौन कर सकता है ? राजेन्द्र ! मेरी सखी तो भ्रमर के डंक से घबड़ा कर रक्षा के लिये चिल्लाई थी। आप खड़े क्यों हैं ? बैठिये।" इतना कह कर उसने आसन बिछाया और राजा उस पर बैठ गया। फिर सखी ने पूछा;—

"महानुभाव ! आप अपना परिचय देने की कृपा करेंगे ? लगता है कि जैसे कोई देव अवनि-तल पर अवतरित हुआ हो अथवा विद्याधर-पति वन-विहार करते हुए आ निकले हों।"

"मैं तो महाराज सुवर्णबाहु का अनुचर हूँ और आश्रमवासियों की सुरक्षा के लिये यहाँ आया हूँ। हमारे महाराजा को आश्रमवासियों की सुरक्षा की चिन्ता लगी रहती है।"

राजा का उत्तर सुन कर पद्मावती की सखी ने सोचा—"यह स्वयं राजेन्द्र ही होना चाहिए। वह विचारमग्न थी कि राजा ने पूछा—

"तुम्हारी सखी इतना कठोर श्रम कर के अपनी कोमल देह को क्यों कष्ट दे रही है ?"

सखी ने निःश्वास लेते हुए कहा—"महाराज ! दुर्भाग्य ने इसे अरण्यवासिनी बनाया है। यह विद्याधरेन्द्र रत्नपुर नरेश की राजदुलारी 'पद्मावती' है। इनके पिता की मृत्यु के बाद राज्याधिकार के लिये पुत्रों में विग्रह मचा और राज्यभर में उग्र लड़ाइयाँ होने लगी। राजमाता इस छोटी बालिका को ले कर वहाँ से निकली और आश्रम में आ कर रहने लगी। आश्रम के कुलपति गालव मुनि, राजमाता रत्नवती के भाई हैं। तब से माता-पुत्री यहीं रहती है। एक दिव्य ज्ञानी महामुनि विचरते हुए इस आश्रम में पधारे।

गालवऋषि ने मेरी इस सखी के भविष्य के विषय में पूछा तो उन्होंने कहा—"चक्रवर्ती नरेन्द्र सुवर्णबाहु अश्व द्वारा बरवस यहाँ लाया जायगा और वही इसका पति होगा।" महामुनिजी ने आज ही यहाँ से विहार किया है। गालवऋषि उन्हें पहुँचाने गये हैं। अभी आते ही होंगे।"

राजा ने सोचा—"भवितव्यता से प्रेरित हो कर ही यह घोड़ा मुझे यहाँ लाया है।" इतने में किसी ने पद्मा को पुकारा। उधर नरेन्द्र की अंग-रक्षक सेना भी घोड़े के पदचिन्हों का अनुसरण करती हुई निकट आ पहुँची। नरेन्द्र ने कहा—"तुम जाओ। मैं इस सेना से तुम्हारे आश्रम की रक्षा करने जाता हूँ।"

राजा सेना की ओर जा रहा था, तब पद्मावती उसे मुग्ध दृष्टि से देख रही थी। सखी ने उसे हाथ पकड़ कर झंझोड़ा, तब उसका मोह टूटा और वह आश्रम की ओर गई।

गालवऋषि आये, तो पद्मा की सखी नन्दा ने सुवर्णबाहु के आने की सूचना दी। गालवऋषि बोले—"महात्मा ने ठीक ही कहा था। चलो अपन राजेन्द्र का स्वागत करें और पद्मा को समर्पित कर दें।" कुलपति, उनकी बहिन राजमाता रत्नवती, पद्मावती, नन्दा आदि चल कर सुवर्णबाहु के पास आये और कहने लगे;—

"स्वागत है राजेन्द्र! तपस्वियों के आश्रम में आपका हार्दिक स्वागत है। हम तो स्वयं आपके पास राजभवन में आना चाहते थे। मेरी इस भानजी का भविष्य आपके साथ जुड़ा है। कल ही एक दिव्यज्ञानी निर्ग्रंथ महात्मा ने कहा था कि—"इस कुमारी का पति महाराजाधिराज सुवर्णबाहु होगा और एक अश्व उन्हें बरबस यहाँ ले आएगा।" उनकी भविष्य-वाणी की सत्यता प्रत्यक्ष है। आप इसे स्वीकार कीजिये।"

राजा तो पद्मा पर मुग्ध था ही। वहीं गन्धर्व-विवाह से पद्मावती का पाणी ग्रहण कर लिया। उसी समय वहाँ कुछ विमान उतरे। उसमें से राजमाता रत्नवती का सोतेला पुत्र पद्मोत्तर उतरा और सम्मुख आ कर उपस्थित हुआ। रत्नवती ने उसे पद्मावती के लग्न की बात कही, तो पद्मोत्तर ने राजा को प्रणाम कर के कहा—"देव! मैं तो स्वयं आप ही की सेवा में आ रहा था। अच्छा हुआ कि महर्षि के तपोवन में सभी से भेंट हो गई और बहिन के लग्न के समय मैं आ पहुँचा। अब आप वैताढ्य पर्वत पर राजधानी में पधारें। मैं वहाँ आपका स्वागत करूँगा और विद्याधरों के सभी ऐश्वर्य पर आपका प्रभुत्व स्थापित हो जायगा।"

पुत्री को माता की शिक्षा

आश्रम, आश्रमवासियों, वहाँ के हिरन, शशक, मयूर आदि को और माता को छोड़ते हुए पद्मावती की छाती भर आई। माता ने हृदय से लगा कर शुभाशिष देते हुए कहा--

"पुत्री ! पति का पूर्ण रूप से अनुसरण करना। सौतों के साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार करना। यदि वे अप्रसन्न हों, डाह करें और विपरीत व्यवहार करे, तो भी तू उनसे स्नेह ही करना और अनुकूल ही रहना। स्वजन-परिजन सब के साथ तेरा बरताव अपनत्व पूर्ण और विनययुक्त ही होना चाहिये। वाणी से तू प्रियंवदा और व्यवहार से विनय की मूर्ति रहना। अपने महारानी पद का गर्व कभी मत करना। शौक्य-संतति को तू अपनी संतान के समान समझना," इत्यादि।

माता की शिक्षा, ऋषि का आशीर्वाद और आश्रमवासियों की शुभ-कामना ले कर पद्मिनी पति के साथ विमान में बैठ गई। विद्याधर नरेश पद्मोत्तर ने माता और ऋषि को प्रणाम किया और सभी विमान में वैठ कर वैताढ्य पर्वत पर, रत्नपुर नगर में आये। वैताढ्य की दोनों श्रेणियों के राजा, चक्रवर्ती सुवर्णबाहु के आधीन हुए। उनकी अनेक कुमारियों से लग्न किया। भेंट में बहुत-से रत्न आदि प्राप्त हुए। वे छह खंड साध कर चक्रवर्ती सम्राट हुए। चौदह रत्न नौ निधान उनके आधीन थे।

दीक्षा और तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध

मनुष्य सम्बन्धी भोग भोगते हुए एक वार वे अटारी पर वैठे थे। उन्होंने देखा कि देवगण आकाश से नगर के वाहर उतर रहे हैं। थोड़ी ही देर वाद वनपालक ने तीर्थंकर भगवान् जगन्नाथजी के पधारने की सूचना दी। वे जिनेश्वर की वन्दना करने गये। भगवान् के धर्मोपदेश का उन पर गंभीर प्रभाव पड़ा। स्वस्थान आ कर वे चिन्तन में मग्न हो गए - "ऐसे देव तो मैने कहीं देखे हैं।" चिन्तन गहरा हुआ और जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। वे समझ गए कि मनुष्य-भव के भोगों में फँस कर मैं अपने धर्म को भूल गया। अधूरी साधना पूर्ण करने का यह उत्तम अवसर है।" पुत्र को राज्य दे कर वे तीर्थंकर भगवान् के पास प्रव्रजित हो गए। गीतार्थ वने। उग्र तप और शुद्ध संयम

पालते हुए उन्होंने तीर्थंकर नाम-कर्म निकाचित किया।

कुरंगक भिल्ल नरक से निकल कर क्षीरगिरी के निकट सिंह हुआ। महात्मा सुवर्णबाहुजी विहार करते हुए क्षीरगिरि के वन में आये। वे सूर्य के सम्मुख खड़े रह कर आतापना ले रहे थे। उधर वह सिंह दो दिन का भूखा था, भक्ष्य खोजता हुआ मुनि के निकट आया। महात्मा को देखते ही उसका पूर्वभव का वैर उदय हुआ। उसने एक भयानक गर्जना की और छलांग लगा कर महात्मा पर कूद पड़ा। एक थाप मारी और मांस नोचने लगा। महात्मा ने धीरतापूर्वक आलोचना कर के ध्यान में स्थिर हो गए। असह्य वेदना को शान्ति से सहन करते हुए मृत्यु पा कर वे प्राणत देवलोक के महाप्रभ विमान में, बीस सागरोपम की स्थिति वाले महर्द्धिक देव हुए। वह सिंह भी जीवनभर पापकर्म करता हुआ चौथे नरक में दस सागरोपम की स्थिति वाला नारक हुआ। वहाँ से पुनः तिर्यंच भव पा कर विविध प्रकार के दुःख भोगने लगा।

कमठ का जन्म

सिंह का जीव नरक से निकल कर नारक-तिर्यंच गति में भटकता हुआ किसी छोटे गाँव में एक गरीब ब्राह्मण के यहाँ पुत्र हुआ। जन्म के बाद ही उसके माता-पिता मर गए। ग्राम्यजनों ने उसका पालन किया। उसका नाम 'कमठ' था। उसका बालवय भी दुःख ही में व्यतीत हुआ और यौवन में भी वह लोगों द्वारा तिरस्कृत और ताड़ित होता हुआ दुःखमय जीवन व्यतीत करने लगा। उसके पाप का परिणाम शेष था, वह भुगत रहा था। उसकी पेटभराई भी बड़ी कठिनाई से हो रही थी। उसे विचार हुआ कि मेरे सामने ऐसे धनाढ्य परिवार भी हैं जो सुखपूर्वक जीवन जी रहे हैं। उन्हें उत्तम भोजन, वस्त्रालंकार और सुख की सभी सामग्री सहज ही प्राप्त हुई है और मुझे रूखा-सूखा टुकड़ा भी तिरस्कार-पूर्वक कठिनाई से मिलता है। ये लोग अपने पुण्य का फल भोग रहे हैं। इन्होंने अपने पूर्व-भव में तपस्या की होगी, उसीसे ये यहाँ सुखी हैं। अब मैं भी तपस्या करूँ, तो भविष्य में मुझे भी सुख प्राप्त होगा। इस प्रकार विचार कर के वह तापस बन गया और कन्दमूलादि का भक्षण करता हुआ पञ्चाग्नि तप करने लगा।

भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म

इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में गंगा महानदी के निकट 'वाराणसी' नामक भव्य नगरी थी। वहां इक्ष्वाकु वंशीय महाराजा अश्वसेन का राज्य था। वे महाप्रतापी सौभाग्य-

शाली और धर्मपरायण थे। 'वामदेवी' उनकी पटरानी थी। वह सुन्दर, सुशील और उत्तम गुणों की स्वामिनी थी। पति की वह प्राणवल्लभा थी। नम्रता, सौजन्यता और पवित्रता की वह प्रतिमा थी। सुवर्णबाहु का जीव प्राणत स्वर्ग से च्यव कर चैत्र-कृष्णा ४ की अद्धरात्रि को विशाखा-नक्षत्र में महारानी वामदेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। माता ने तीर्थंकर जन्म के सूचक चौदह महास्वप्न देखे। महाराजा और महारानी के हर्ष का पार नहीं रहा। स्वप्नपाठकों से स्वप्न-फल पूछा। तीर्थंकर जैसे त्रिलोकपूज्य होने वाले महान् आत्मा के आगमन की प्रतीति से वे परम प्रसन्न हुए। पौष-कृष्णा दसवीं की रात्रि को विशाखा नक्षत्र × में पुत्र का जन्म हुआ। नीलोत्पल वर्ण और सर्प के चिन्ह वाला वह पुत्र अत्यन्त शोभनीय था। छप्पन दिशाकुमारियों ने सुतिका-कर्म किया। देव-देवियों और इन्द्र-इन्द्रानियों ने जन्मोत्सव किया। महाराज अश्वसेनजी ने भी बड़े हर्ष के साथ पुत्र का जन्मोत्सव किया। जब पुत्र गर्भ में था, तब रात के अन्धकार में महारानी ने पति के पार्श्व (बगल) में हो कर जाते हुए एक सर्प को देखा था। इस स्वप्न को गर्भ का प्रभाव मान कर माता-पिता ने पुत्र का 'पार्श्व' नाम दिया। कुमार दूज के चन्द्रमा के समान बढ़ने लगे। यौवन-वय प्राप्त होने पर वे भव्य अत्याकर्षक और नौ हाथ प्रमाण ऊँचे थे। उनके अलौकिक रूप को देख कर स्त्रियाँ सोचती—'वह स्त्री परम सौभाग्यवती एवं धन्य होगी, जिसके पति ये राजकुमार होंगे।

पार्श्वकुमार समरांगण में

एक दिन महाराजा अश्वसेन राज्य-सभा में बैठे थे। नीति और धर्म की चर्चा चल रही थी कि प्रतिहारी ने आकर नम्रतापूर्वक निवेदन किया;—

"महाराज की जय हो। एक विदेशी पुरुष, स्वामी के दर्शन करने की आकांक्षा लिये सिंहद्वार पर खड़ा है। अनुग्रह हो, तो उपस्थित करूँ।"

"हां, उसे सत्वर उपस्थित कर।"

एक तेजस्वी एवं सभ्य पुरुष महाराजा के सम्मुख आया और नमस्कार किया। वह प्रतिहारी के बताये हुए आसन पर बैठा। महाराज ने पूछा;—

"कहिये, आप कहाँ से आये ? अपना परिचय और प्रयोजन बतलाइये।"

× त्रि. श. में 'अनुराधा' लिखा है।

"स्वामिन् ! 'कुशस्थल' नामक नगर के महाराज नरवर्मा महाप्रतापी नरेश थे। न्यायनीति से अपनी प्रजा का पालन करते थे। जिनधर्म के प्रति उनका अनन्य अनुराग था। उन्होंने तो निर्ग्रंथप्रव्रज्या ग्रहण कर ली। अब उनके प्रतापी पुत्र महाराज प्रसेनजित राज कर रहे हैं। मैं उन्हीं का सेवक हूँ। महाराज प्रसेनजितजी के 'प्रभावती' नाम की पुत्री है। वह रूप-लावण्य में देवांगना से भी अत्यधिक सुन्दर है। उसकी अनुपम सुन्दरता से आकर्षित हो कर अनेक राजाओं और राजकुमारों ने मेरे स्वामी के सम्मुख उसकी याचना की। परन्तु उन्हें कोई पसन्द नहीं आया। एक दिन राजकुमारी अपनी सखियों के साथ उपवन में विचरण कर रही थी कि एक लताकुंज में कुछ किन्नरियाँ बैठी बातें कर रही थी। उन्होंने कहा--"इस समय भरतक्षेत्र में महाराजा अश्वसेन के सुपुत्र युवराज पार्श्वनाथ रूप-यौवन और बल-पराक्रम में इतने उत्कृष्ट हैं कि जिनकी समानता में संसार का कोई पुरुष नहीं आ सकता। वह कुमारी धन्य होगी, जिसे पार्श्वनाथ की पत्नी बनने का सौभाग्य प्राप्त होगा।"

किन्नरियों की बात राजकुमारी प्रभावती ने सुनी। उसके मन में पार्श्वनाथ के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ। किन्नरियाँ तो चली गई, किन्तु वह पार्श्वकुमार के अनुराग में लीन हो कर वहीं बैठी रही। सखियों ने उसे सावधान किया और राज-भवन में ले आई। राजकुमारी तब से आपके सुपुत्र के ही ध्यान में रत रहने लगी। चिन्ता और निराशा में वह खान-पान भी भूल गई। महारानी और महाराजा को सखियों से कुमारी की चिन्ता का कारण ज्ञात हुआ। उन्होंने पुत्री की भावना का आदर किया और आपकी सेवामें मुझे भेजने की आज्ञा प्रदान की। इतने ही में वहाँ कलिंगादि देशों का अधिपति दुर्दान्त यवनराज का दूत आया और प्रभावती की माँग की। महाराज ने कहा--"प्रभावती ने वाराणसी के युवराज पार्श्वकुमार को मन-ही-मन वरण कर लिया है। इसलिए अब अन्य कुछ सोच भी नहीं सकते।" दूत लौट गया। कलिंगराज कोपायमान हुआ और कुशस्थल पर चढ़ाई कर दी। नगर को घेर लिया और सन्देश भेजा कि 'कुमारी प्रभावती को मुझे दो, या युद्ध करो।' नगर के सभी द्वार बन्द हैं। अचानक आक्रमण हुआ। इससे सेना आदि की ठीक व्यवस्था भी नहीं हो सकी। महाराज ने मुझे गुप्त-मार्ग से सेवा में भेजा है। मैं सागरदत्त श्रेष्ठि का पुत्र पुरुषोत्तम हूँ और महाराज का मित्र भी। महाराज ने सहायता की याचना की है और राजकुमारी भी युवराज के समर्पित हो रही है। इस विषम स्थिति से रक्षा आप ही कर सकते हैं।"

दूत की बात सुनते ही महाराजा अश्वसेन की भृकुटी तन गई। वे गर्जना करते हुए बोले—"उस दुष्ट यवनराज का इतना दुःसाहस? पुरुषोत्तम! मैं हूँ वहाँ तक प्रसेनजित नरेश को किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिये। मैं स्वयं उस दुष्ट यवन से कुशस्थल की रक्षा करूँगा।

महाराजा के आदेश से रणभेरी बजी। सेना एकत्रित होने लगी। उस समय पार्श्वकुमार क्रीड़ागृह में खेल रहे थे। उन्होंने रणघोष सुना और सैनिकों का आवागमन देखा, तो तत्काल राजसभा में आये और पिताश्री से कारण पूछा। पिता ने कुशनगर के राजदूत की ओर अंगुली निर्देश करते हुए कारण बताया। युवराज ने कहा—"पूज्य यह कार्य तो साधारण है। इस छोटे-से अभियान पर आपको कष्ट उठाने की आवश्यकता नहीं है। मुझे आज्ञा दीजिये। मैं उस यवनराज को ठीक कर के कुशस्थल का संकट दूर कर दूँगा।

"नहीं पुत्र! तुम बालक हो। तुम्हारी अवस्था खेलने की है। अभी तुम रणांगण में जाने योग्य नहीं हुए। उस दुष्ट को दुःसाहस का सबक सिखाने मैं ही जाऊँगा"--पिता ने स्नेहपूर्वक कहा।

"तात! आप मुझे आज्ञा दीजिये। मेरे लिये तो रणभूमि भी क्रीड़ास्थली होगी। आप निश्चिन्त रहें। ऐसे छोटे अभियान तो मेरे लिये खेल ही होंगे"--पार्श्वकुमार ने आग्रहपूर्वक कहा।

पिता जानते थे कि कुमार लोकोत्तर महापुरुष हैं। इसके बल-पराक्रम का तो पार ही नहीं है। उन्होंने सहर्ष आज्ञा प्रदान की। सेना ने प्रयाण किया। पार्श्वकुमार ने राजदूत पुरुषोत्तम के साथ शुभमुहूर्त में गजारूढ़ हो कर समारोहपूर्वक प्रस्थान किया।

प्रथम स्वर्ग के स्वामी देवेन्द्र शक्र ने अवधिज्ञान से जाना कि भावी जिनेश्वर पार्श्वनाथ युद्धार्थ प्रयाण कर रहे हैं, तो अपने सारथि को दिव्य अस्त्रों और रथ के साथ भेजा। सारथि ने आकाश से उतर कर पार्श्वकुमार को प्रणाम किया और देवेन्द्र की भेंट स्वीकार करने की प्रार्थना की। युवराज हाथी पर से उतर कर रथ में बैठे। रथ, भूमि से ऊपर आकाश में--सेना के आगे चलने लगा। क्षणमात्र में लाखों योजन पहुँच जाने वाला वह दिव्य रथ, सेना का साथ बना रहे, इसलिये धीरे-धीरे चलने लगा। कुछ दिनों में कुशस्थल के उद्यान में पहुँच कर युवराज, देवनिर्मित सप्तखण्ड वाले भव्य भवन में ठहरे। इसके बाद कुमार ने अपना दूत यवनराज के पास भेज कर कहलाया—

"इस नगर के स्वामी प्रसेनजित नरेश ने तुम्हारे आक्रमण को हटाने के लिये, मेरे पिता महाबली महाराजाधिराज अश्वसेनजी की सहायता माँगी। महाराज के आदेश

से मैं यहाँ आया हूँ और तुम्हारे हित के लिये सूचित करता हूँ कि तुम घेरा उठा कर शीघ्र ही अपने देश चले जाओ। यदि तुमने ऐसा किया, तो हम तुम्हें कुछ नहीं कहेंगे और इसी में तुम्हारा हित है। परिणाम सोचे बिना दुःसाहस करना दुःखदायक होता है।"

राजदूत की बात सुन कर यवन क्रोधित हुआ और कड़क कर बोला—

"ओ असभ्य दूत ! किससे बात कर रहा है तू ! मैं तेरे अश्वसेन को भी जानता हूँ। वह वृद्ध हो गया है, फिर भी अपने बल का भय दिखा रहा है, तो खुद क्यों नहीं आया—मुझ से लड़ने के लिये ? छोकरे को क्यों भेजा ? वे दोनों पिता-पुत्र और उसके अन्य साथी आ जावें, तो भी मैं उन सब को किसी गिनती में नहीं मानता। जा भाग और तेरे पार्श्वकुमार से कह कि वह मेरे क्रोध का ग्रास नहीं बने और शीघ्र ही यहाँ से भाग जाय। अन्यथा जीवित नहीं रह सकेगा।"

यवन के धृष्टतापूर्ण वचन को स्वामीभक्त दूत सहन नहीं कर सका। उसने कुपित होकर कहा,—

"रे दुराशय यवन ! तू मेरे स्वामी को नहीं जानता। वे अनन्त बली हैं। वे देवेन्द्र के लिये भी पूज्य हैं। उन अकेले के सामने तू और तेरी सेना ही क्या, संसार की कोई भी शक्ति ठहर नहीं सकती। तेरे जैसे को तो वे मच्छर के समान मसल सकते हैं। तू उनकी महानता नहीं जानता। उनकी सेवा में देवेन्द्र ने अपने शस्त्र और रथ भेजे हैं। यह उनकी तुझ पर कृपा है कि तुझे समझा कर जीवित रहने का सुयोग प्रदान कर रहे हैं। अन्यथा अपनी गर्वोक्ति का फल तू तत्काल पा लेता।"

दूत के वचन सुन कर यवन के सैनिक भड़क उठे और शस्त्र उठा कर बोले;—

"अरे अधम दूत ! इस प्रकार बढचढ़ कर बातें करते तुझे लज्जा नहीं आती ? क्या मृत्यु का भय भी तुझे नहीं है ? तेरी इन धृष्टतापूर्ण बातों से तेरे स्वामी का विनाश ही होगा। हम उसे सेना सहित यमधाम पहुँचा देंगे। ले अब तू भी अपनी धृष्टता का थोड़ा-सा स्वाद चख ले"—कहते हुए सैनिक उसकी ओर बढ़े।

उसी समय यवनराज का एक वृद्ध मन्त्री उठ कर बोला—

"सुनो ! तुम लोग दुःसाहसी हो। तुममें विवेक का अभाव है। बिना समझे उत्तेजित होने से हानि ही उठानी पड़ती है। तुम चुप रहो। दूत तो किसी भी स्थिति में अवध्य होता है। क्या करना, किसी को दण्ड देना, या मुक्त करना यह महाराज के और हमारे सोचने का विषय है। तुम चुप रहो।"

मन्त्री ने सुभटों को शांत कर के आये हुए दूत का प्रेमपूर्वक हाथ थामा और मीठे

वचनों से संतुष्ट करते हुए कहा—"आप निश्चिंत रहें। हम अभी कुमार की सेवा में उपस्थित होते हैं। कृपया इन मूर्ख सुभटों की असभ्यता भूल जाइये। आप भी क्षमासागर महापुरुष के दूत हैं। हम आप से भी शुभ आशा ही रखते हैं।"

यवनराज ने क्षमा माँगी

दूत को विदा कर मन्त्री यवनराज के निकट आया और नम्रतापूर्वक बोला;—

"महाराज ! युवराज पार्श्वकुमार अलौकिक महापुरुष है। चौसठ इन्द्र और असंख्य देव उनके सेवक हैं। उनका जन्मोत्सव इन्द्रों ने स्वर्ग से आ कर किया था। यह उनकी हार्दिक विशालता है कि पूर्ण समर्थ होते हुए भी रक्तपात और विनाश से बचने के लिये आपको सन्देश भेजा। आपको इसका स्वागत करना चाहिये था। अब अपना और अपने राज्य का हित इसी में है कि हम चलें और पार्श्वकुमार के अनुशासन को शिरोधार्य करें।"

यवनराज ने अपने वृद्ध मन्त्री का हितकारी परामर्श माना और मन्त्रियों और अधिकारियों को साथ ले कर पार्श्वकुमार के स्कन्धावार में आया। कुमार की महासेना दिव्यरथ आदि देख कर यवनराज भौचक्का रह गया। उसने अपने मन्त्री का उपकार माना कि उसने उसे विनष्ट होने से बचा लिया। यवनराज प्रभु के प्रासाद के द्वार पर आया। द्वारपाल ने कुमार की आज्ञा से उसे प्रभु के समक्ष उपस्थित किया। प्रभु का अलौकिक रूप और प्रभायुक्त भव्य स्वरूप देखते ही विस्मित हो गया। उसने युवराज को प्रणाम किया। कुमार ने उसे आदरयुक्त बिठाया। वह नम्रतापूर्वक कहने लगा;—

"स्वामिन् ! मैं अज्ञानी रहा। मैं आपकी महानता, भव्यता और अलौकिकता नहीं जानता था। मैं आपकी परोपकार-प्रियता, दयालुता और अनुपम क्षमा को समझ ही नहीं सका था। आपके निकट तो इन्द्र भी किसी गिनती में नहीं है, फिर मैं तो तृण के समान तुच्छ हूँ। आपने हित-बुद्धि से मेरे पास दूत भेजा। किन्तु मैं आपकी अनुकम्पा को नहीं जान सका और अवज्ञा कर दी। मैं अपने अपराध की नम्रतापूर्वक क्षमा चाहता हूँ। यद्यपि मैंने आपका अपराध किया है, तथापि मेरा अपराध ही मेरे लिये गुणकारक सिद्ध हुआ है। यदि मैं अपराध नहीं करता, तो आपका अलौकिक दर्शन और अनुग्रह प्राप्त करने का सौभाग्य कैसे मिलता ? मैं सोचता हूँ कि मेरा क्षमा माँगना भी निरर्थक है, क्योंकि आपके मन में मेरे प्रति क्रोध ही नहीं है। मैं तो आपके दर्शन से ही कृतार्थ हो गया। अब

कृपा कर के मेरा राज्य भी आप ही स्वीकार कीजिये। मैं तो आपकी सेवा को ही परम लाभ समझता हूँ।"

"भद्र यवनराज! तुम्हारा कल्याण हो। तुम निर्भय हो और सुखपूर्वक अपने राज्य का नीतिपूर्वक पालन करो। मैं यही चाहता हूँ कि तुम इस प्रकार के तुच्छ झगड़े और राज्य तथा भोगलालसा छोड़ो और आत्मा को उन्नत बनाओ।"

युवराज ने यवनराज का उचित सत्कार कर के बिदा किया।

राजकुमारी प्रभावती के साथ लग्न

यवनराज का घेरा कुशस्थल पर से उठ गया। पुरुषोत्तम दूत ने नगर में प्रवेश कर के प्रसेनजित नरेश से पार्श्वकुमार के आगमन और विपत्ति टलने का हर्षोत्पादक समाचार सुनाया, तो वे परम प्रसन्न हुए। महोत्सव होने लगा। नागरिकजन प्रफुल्ल हो उठे। प्रसेनजित नरेश सपरिवार--राजकुमारी प्रभावती और अधिकारीवर्ग को साथ ले कर अपने उद्धारक पार्श्वकुमार का अभिनन्दन करने और पुत्री को अर्पण करने आये। वे युवराज को नमस्कार कर के कहने लगे--

"स्वामिन्! आपका यहाँ पदार्पण अचानक ही इस प्रकार हुआ कि जैसे बिना बादल और गर्जना के मेघ का बरस कर संतप्त भूमि को शीतल करना हो। यद्यपि यवनराज मेरा शत्रु बन कर आया था, तथापि उसके निमित्त से आपका यहाँ पदार्पण हुआ। इस प्रकार यवन का कोप भी मेरे लिये लाभदायक हुआ। अन्यथा आपके शुभागमन का सौभाग्य मुझे कैसे प्राप्त होता। आपका और महाराजाधिराज अश्वसेनजी का मुझ पर असीम उपकार हुआ है। अब कृपा कर मेरी इस पुत्री को स्वीकार कर के मुझे विशेष अनुग्रहीत करने की कृपा करें। यह लम्बे समय से मन-ही-मन अपने-आपको आप के श्रीचरणों में समर्पित कर चुकी है।"

प्रभावती पार्श्वनाथ को देखते ही स्तब्ध रह गई। किन्नरियों से सुना हुआ युवराज का वर्णन प्रत्यक्ष में अधिक प्रभावशाली दिखाई दिया। वह तो पहले से ही समर्पित थी। अब उसे सन्देह होने लगा--"यदि प्रियतम ने मुझे स्वीकार नहीं किया, तो क्या होगा? ये तो मेरे सामने भी नहीं देखते।" वह चिन्तित हो उठी। इतने में पार्श्वकुमार की धीरगंभीर वाणी सुनाई दी;--

"राजन् ! मैं पिताश्री की आज्ञा से, केवल आपकी सहायता के लिये आया हूँ। विवाह करने नहीं। अतएव आप यह आग्रह नहीं करें।"

प्रभावती निराश हुई। उसे प्रियतम के अमृतमय वचन भी विषमय लगे। वह अपनी कुलदेवी का स्मरण करने लगी। राजा प्रसेनजित ने विचार कर के निर्णय किया;—

"मुझे महाराज अश्वसेनजी का उपकार मान कर भक्ति समर्पित करने वाराणसी जाना है। मैं कुमार के साथ ही पुत्री सहित वहाँ जाऊँ। महाराज के अनुग्रह से पुत्री का लग्न कुमार के साथ हो जायगा।"

प्रसेनजित राजा अपनी पुत्री और आवश्यक परिजनों सहित कुमार के साथ ही चल दिये। कुमार के प्रभाव से यवनराज के साथ उनका मैत्री सम्वन्ध हो चुका था। विजयी युवराज का जनता ने भव्य स्वागत किया। प्रसेनजित, महाराजा अश्वसेनजी के चरणों में लौट गया और उनकी कृपा के लिए अपने को सेवक के समान अर्पित कर दिया। महाराजा ने प्रसेनजित को उठा कर छाती से लगाया और बोले - "राजन् ! आपका मनोरथ सफल हुआ ? शत्रु से आप की रक्षा हो गई ?" प्रसेनजित ने कहा— "स्वामी ! आप जैसे रक्षक की शीतल छाया हो, वहाँ किस की शक्ति है कि मुझे आतंकित करे। आप की कृपा से और कुमार के प्रभाव से विना युद्ध के ही रक्षा हो गई और शत्रु, मित्र वन गया। परन्तु महाराज ! एक पीड़ा शेष रह गई है। वह आपकी विशेष कृपा से ही दूर हो सकती है।"

"कहो भाई ! कौनसी पीड़ा है। यदि हो सकेगा तो वह भी दूर की जायगी"— महाराज ने आश्वासन दिया। प्रसेनजित ने अपना प्रयोजन वतलाया। अश्वसेन ने कहा—

"कुमार तो संसार से विरक्त है। मैं और महारानी चाहते हैं कि कुमार विवाह कर ले। इससे हम सब को आनन्द होगा। अव आप के निमित्त से मैं जोर दे कर भी यह विवाह कराऊँ गा।"

दोनों नरेश कुमार के पास आये। महाराज अश्वसेन ने कुमार से कहा—"पुत्र ! हमारी लम्बे समय से इच्छा है कि तुम विवाह कर के हमारे मनोरथ पूरे करो। अव समय आ गया है। प्रभावती श्रेष्ठ कन्या है। तुम उससे लग्न कर लो।"

"पिताश्री ! विषय-भोग संसार वढ़ाने वाले हैं। इस जीव ने अनन्त वार इनका सेवन किया और संसार-परिभ्रमण वढ़ाता रहा। अव लग्न के प्रपञ्च में पड़ने की मेरी रुचि नहीं है।" कुमार ने नतमस्तक हो कर कहा।

"नहीं पुत्र ! घर आई लक्ष्मी का तिरस्कार नहीं करते। तुम उससे लग्न कर लो। इससे तुम्हारा संसार बढ़ेगा नहीं और हमारी मनोकामना पूरी हो जायगी। यथा-समय तुम अपनी विरक्ति चरितार्थ भी कर सकोगे। अभी हम सब का आग्रह स्वीकार कर लो।"

कुमार, माता-पिता और प्रसेनजित राजा के आग्रह को टाल नहीं सके। कुछ भोग्य-कर्म भी शेष थे। अतएव उन्होंने प्रभावती के साथ लग्न कर लिये और यथायोग्य अना-सक्त भोग-जीवन व्यतीत करने लगे।

कमठ से वाद और नाग का उद्धार

एक दिन पार्श्वकुमार, भवन के झरोखे से नगर की शोभा देख रहे थे। उन्होंने देखा--नर-नारियों के झुण्ड, हाथ में पत्र-पुष्प-फलादियुक्त चंगेरी ले कर नगर के बाहर जा रहे हैं। उन्होंने सेवक से पूछा--क्या आज कोई उत्सव का दिन है, जो नागरिक जन नगरी के बाहर जा रहे हैं ?" सेवक ने कहा;--

"स्वामी ! नगर के बाहर "कमठ" नाम के तपस्वी आये हुए हैं। वे पंचाग्नि तप करते हैं। नागरिक जन उन महात्मा की पुजा-वन्दना करने जा रहे हैं।"

राजकुमार भी कुतूहल वश सपरिवार तापस को देखने चले। उन्होंने देखा--तापस अपने चारों ओर अग्नि-कुण्ड प्रज्वलित कर के ताप रहा है और ऊपर से सूर्य के ताप को भी सहन कर रहा है। उन्होंने अपने अवधिज्ञान से तापस की क्रिया और उससे होने वाले अनर्थ का अवलोकन किया। उन्होंने जाना कि अग्नि-कुण्ड में जल रहे काष्ठ के मध्य एक नाग झुलस रहा है। भगवान् के मन में दया का वेग उमड़ आया। उन्होंने कहा--

"अहो ! कितना अज्ञान है--इस तप में। वह धर्म ही क्या और वह तप ही किस काम का, जिसमें दया को स्थान ही नहीं रहे। जिस तप में दया का स्थान नहीं, वह तप सम्यग् तप नहीं हो सकता। हिंसायुक्त क्रिया से साधक का आत्महित नहीं हो सकता। जिस प्रकार जल-रहित नदी, चन्द्रमा की चाँदनी के विना रात्रि और विना मेघ की वर्षा ऋतु कष्टदायक होती है, उसी प्रकार दया-रहित धर्म भी व्यर्थ है। पशु के समान अज्ञान कष्ट सहने से काया को क्लेश हो सकता है और ऐसा काय-क्लेश कितना ही सहन किया

जाय, परन्तु जब तक वास्तविक धर्मतत्त्व को हृदय में स्थान नहीं मिलता, तब तक ऐसे निर्दय अनुष्ठान से आत्म-हित नहीं हो सकता, कभी नहीं हो सकता।"

"राजकुमार ! तुम्हारा काम क्रीड़ा करने का है। हाथी-घोड़े पर सवार हो कर मनोविनोद करना तुम जानते हो। धर्म का ज्ञान तुम्हें नहीं हो सकता। धर्मतत्त्व को समझने-समझाने का काम हम धर्मगुरुओं का है, तुम्हारा नहीं। हमारे काम में हस्तक्षेप मत करो। यदि तुम्हें मेरी तपस्या में कोई पाप या हिंसा दिखाई देती हो, तो बताओ। अन्यथा अपने रास्ते लगो"—अपने अधिकार एवं प्रभाव में अचानक विघ्न उत्पन्न हुआ देख कर तपस्वी बोला।

कुमार ने अनुचर को आदेश दिया---

"इस अग्निकुण्ड का वह काष्ठ बाहर निकालो और इस ओर से उसे सावधानी से चीरो।

सेवक ने तत्काल आज्ञा का पालन किया। लकड़े को चीरते ही उसमें से जलता हुआ एक नाग निकला। पीड़ा से तड़पते हुए सर्प को नमस्कार मन्त्र सुनाने का सेवक को आदेश दिया। सेवक ने उस सर्प के पास बैठ कर नमस्कार मन्त्र सुनाया और पाप का प्रत्याख्यान करवाया। प्रभु के प्रभाव से नमस्कार मन्त्र सुनते ही नाग की आत्मा में समाधी-भाव उत्पन्न हुआ। वह आर्त्त-रौद्र ध्यान से बच गया और धर्मध्यानयुक्त आयु पूर्ण कर के भवनपति के नागकुमार जाति के इन्द्र 'धरणेन्द्रपने' उत्पन्न हुआ।

जलते हुए काष्ठ में से सर्प निकलने और उसे धर्म का अवलम्बन देते देख कर, उपस्थित जनता की श्रद्धा तापस पर से हट गई और जनता अपने प्रिय राजकुमार का जयजयकार करने लगी। पार्श्वकुमार वहाँ से लौट कर स्वस्थान आये।

तपस्वीराज कमठजी का मानभंग हो गया। वह आवेश में आ कर अति उग्र तप करने लगा। वह मिथ्यात्वयुक्त तप करता हुआ मर कर भवनवासी देवों की मेघकुमार निकाय में 'मेघमाली' नाम का देव हुआ।

पार्श्वनाथ का संसार-त्याग

भोगोदय के कर्मफल क्षीण होने पर श्री पार्श्वनाथजी के मन में संसार के प्रति विरक्ति अधिक बढ़ी। भगवान् ने वर्षीदान दिया। तत्पश्चात् लोकान्तिक देवों ने अपने आचार के अनुसार भगवान् के निकट आ कर प्रार्थना की—

" भगवान् ! धर्म-तीर्थ प्रवर्त्तन करो । भव्यजीवों का संसार से उद्धार करने का समय आ रहा है । अब प्रव्रजित होने की तैय्यारी करें प्रभु !"

लोकान्तिक देव, अपने आचार के अनुसार भगवान् से निवेदन कर के लौट गये । पौष-कृष्णा एकादशी के दिन विशाखा नक्षत्र में, तेले के तप से, तीन सौ मनुष्यों के साथ प्रभु ने, देवेन्दों नरेन्द्रों और विशाल देव-देवियों और नर-नारियों की उपस्थिति में निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या स्वीकार की । प्रव्रजित होते ही भगवान् को मनःपर्यव ज्ञान उत्पन्न हो गया । दीक्षा ग्रहण करने के दूसरे दिन आश्रमपद उद्यान से विहार कर के भगवान् कोपकटक नामक गाँव में पधारे और धन्य नामक गृहस्थ के यहाँ परमान्न से तेले के तप का पारणा किया । देवों ने वहाँ पंचदिव्य की वर्षा की और धन्य के दान की महिमा की । भगवान् वहाँ से विहार कर गये ।

कमठ के जीव मेघमाली का घोर उपसर्ग

भगवान् साधनाकाल में विचरते हुए एक बन में पधारे और किसी तापस के आश्रम के निकट एक कूएँ पर, वटवृक्ष के नीचे ध्यानस्थ खड़े रहे । उस समय कमठ तापस के जीव मेघमाली देव ने अपने पूर्वभव के शत्रु पार्श्वकुमार को ध्यानस्थ देखा । वह क्रुद्ध हो गया । पूर्वभवों की वैर-परम्परा पुनः भड़की । वह निर्ग्रंथ महात्मा पर उपद्रव करने पर तत्पर हुआ और भगवान् के समीप आया । सर्व प्रथम उसने विकराल केसरी-सिंहों की विकुर्वणा की जो अपनी भयंकर गर्जना, पूँछ से भूमिस्फोट और रक्तनेत्रों से चिनगारियाँ छोड़ते हुए चारों ओर से एक साथ टूट पड़ते हुए दिखाई दिये । परन्तु प्रभु तो अपनी ध्यानमग्नता में अडिग, पूर्णतया शान्त और निर्भीक रहे । मेघमाली की यह माया व्यर्थ गई । सिंहों का वह समूह पलायन कर गया ।

अपना प्रथम वार व्यर्थ होने के बाद मेघमाली ने दूसरा वार किया । उसने मदोन्मत्त गजसेना बनाई, जो सूँड उठाये चिंघाड़ती हुई चारों ओर से प्रभु पर आक्रमण करने के लिये धँसी आ रही थी । परन्तु प्रभु तो पर्वत के समान अडोल शान्त और निर्विकार खड़े रहे । वह गजसेना भी निष्फलता लिये हुए अन्तर्धान हो गई । इसके बाद तीसरा आक्रमण भालुओं का झुण्ड बना कर किया गया । चौथा भयंकर चीतों के झुण्ड से, पाँचवाँ बिच्छुओं से, छठा भयंकर सर्पो से और सातवाँ विकराल वेतालों के भयंकर रूपों द्वारा उपद्रव करवाया । परन्तु वे सभी उपद्रव निष्फल रहे । प्रभु का अटूट धैर्य एवं शान्त समाधी वे नहीं तोड़ सके ।

अपने सभी प्रहार निष्फल होते देख कर देव विशेष क्रोधित हुआ। अब वह महा प्रलयकारी घनघोर वर्षा करने लगा। भयंकर मेघगर्जना, कड़ती हुई बिजलियाँ और मूसलाधार वर्षा से सभी दिशाएँ व्याप्त हो गई। घोर अन्धकार व्याप्त हो गया। तीक्ष्ण भाला बरछी और कुदाल जैसा दुःखदायक असह्य प्रहार उस मेघ की धाराओं का होता था। इस प्राणहारक वर्षा से पशु-पक्षी घायल हो कर गिरने लगे। सिंह-व्याघ्र, महिप और हाथी जैसे बलवान् पशु भी उस जलधारा के प्रहार को सहन नहीं कर सके और इधर-उधर भाग-दौड़ कर अपने बचाव करने की निष्फल चेप्टा करने लगे। पशु-पक्षी उस जल-प्रवाह में बहने लगे। उनकी अरराहट एवं चित्कार से सारे वातावरण में विभीपिका छा गई। वृक्ष उखड़ कर गिरने लगे।

धरणेन्द्र का आगमन × × उपद्रव मिटा

भगवान् पार्श्वनाथ तो सर्वथा निर्भीक, अडिग और शान्त ध्यानस्थ खड़े थे। अंश-मात्र भी भय, क्षोभ या चंचलता नहीं। भूमि पर पानी बढ़ते हुए भगवान् के घुटने तक आया, कुछ देर बाद जानु तक, फिर कमर, छाती और गले तक और बढ़ते-बढ़ते नासिका के अग्रभाग तक पहुँच गया। किन्तु प्रभु की अडिगता, दृढ़ता एवं ध्यान में कोई कमी नहीं हुई। प्रभु पर हुए इस भयंकर उपसर्ग से धरणेन्द्र का आसन चलायमान हुआ। उसने अपने अवधिज्ञान से यह दृश्य देखा। उसे कमठ तापस वाली सारी घटना, अपना सर्प का भव और प्रभु का उपकार स्मरण हो आया। वह अपने उपकारी की, पापी मेघमाली के उपद्रव से रक्षा करने के लिये, अपनी देवांगनाओं के साथ भगवान् के निकट आया। इन्द्र ने भगवान् को नमस्कार किया और वैक्रिय से एक लम्बी नाल वाले कमल की रचना कर के प्रभु के चरणों के नीचे कमल रख कर ऊपर उठा लिया। फिर अपने सप्त फण से प्रभु के शरीर को छत्र के समान आच्छादित कर दिया। धरणेन्द्र ने भगवान् को इस घोर परीपह से मुक्त किया। धरणेन्द्र प्रभु का भक्त—सेवक था और मेघमाली घोर शत्रु था। परन्तु भग-वान् के मन में तो दोनों समान थे। न धरणेन्द्र पर राग हुआ और न मेघमाली पर द्वेष।

जब मेघमाली का उपद्रव नहीं रुका, तो धरणेन्द्र ने चुनौती पूर्वक ललकारते हुए कहा;—

"अरे अधम! तुझे कुछ भान भी है? ओ अज्ञानी! इस घोर पाप से तू

अपना ही विनाश कर रहा है। तेरी बुद्धि इतनी कुटिल क्यों हो गई है? इन विश्वपूज्य महात्मा का अहित कर के तू किस सुख की चाहना कर रहा है? मैं इन महान् दयालु भगवान् का शिष्य हूँ। अब मैं तेरी अधमता सहन नहीं कर सकूँगा। मैं समझ गया। तू इन महात्मा से अपने पूर्वभव का वैर ले रहा है। अरे मूर्ख! इन्होंने तो अनुकम्पा वश हो कर सर्प को (मुझे) बचाया था और तेरा अज्ञान दूर कर के सन्मार्ग पर लाने के लिए तुझे हितोपदेश दिया था। परन्तु तू कुपात्र था। तेरी कषायाग्नि भभकी और अब क्रूर बन कर तू उपद्रव कर रहा है। रे मेघमाली! रोक अपनी क्रूरता को, अन्यथा अपनी अधमता का फल भोगने के लिये तैयार होजा।"

धरणेन्द्र की गर्जना सुन कर मेघमाली ने नीचे देखा। नागेन्द्र को देखते ही उसे आश्चर्य के साथ भय हुआ। उसने देखा कि जिस संत को मैं अपना शत्रु समझ कर उपद्रव कर रहा हूँ, उस महात्मा की सेवा में धरणेन्द्र स्वयं उपस्थित है। मेरी शक्ति ही कितनी जो मैं धरणेन्द्र की अवज्ञा करूँ? और यह महात्मा कोई साधारण मनुष्य नहीं है। साधारण मनुष्य की सेवा में धरणेन्द्र नहीं आते। यह महात्मा किसी महाशक्ति का धारक अलौकिक विभूति है। मेरे द्वारा किये हुए भयानकतम उपद्रवों ने इस महापुरुष को किंचित् भी विचलित नहीं किया। यह महात्मा तो अनन्त शक्ति का भण्डार लगता है। यदि क्रुद्ध हो कर यह मेरी ओर देख भी लेता, तो मेरा अस्तित्व ही नहीं रहता।"

"हाँ, मैं अज्ञानी ही हूँ। मैंने महापाप किया है। मैं इस परमपूज्य महात्मा की शरण में जाऊँ और क्षमा माँगू। इसी में मेरा हित है।"

अपनी माया को समेट कर वह प्रभु के समीप आया और नमस्कार कर के बोला—

"भगवन्! मैं पापी हूँ। मैंने आपकी हितशिक्षा को नहीं समझा। मुझ पापात्मा पर आपकी अमृतमय वाणी का विपरीत परिणमन हुआ और मैं वैर लेने के लिये महाक्रूर बन गया। प्रभो! आप तो पवित्रात्मा हैं। आप के हृदय में क्रोध का लेश भी नहीं है। हे क्षमा के सागर! मुझ अधम को क्षमा कर दीजिये। वास्तव में मैं न तो मुँह दिखाने योग्य हूँ और न क्षमा का पात्र हूँ। परन्तु प्रभो! मैं आपकी शरण आया हूँ। शरणागत पर कृपा तो आप को करनी ही होगी।"

इस प्रकार बार-बार क्षमा माँगते हुए मेघमाली ने प्रभु की वन्दना की और धरणेन्द्र से क्षमा याचना कर स्वस्थान चला गया। उपसर्ग मिटने पर धरणेन्द्र भी प्रभु की वन्दना कर के स्वस्थान चला गया।

प्रभु वहां से विहार कर के वाराणसी के आश्रमपद उद्यान में पधारे और धातकी वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग कर ध्यान में लीन हो गये। दीक्षा दिन से तियासी रात्रि पूर्ण हो चुकी थी। चैत्र-कृष्णा ४ विशाखा नक्षत्र में चन्द्रमा का योग था। घाती-कर्म नष्ट होने का समय आ गया था। भगवान् ने धर्मध्यान से आगे बढ़ कर शुक्ल-ध्यान में प्रवेश किया और वर्द्धमान परिणाम से घातीकर्मों को नष्ट कर के केवलज्ञान-केवलदर्शन प्रकट कर लिया। देव-देवियों और इन्द्रों ने केवल-महोत्सव किया।

केवलज्ञान होने के बाद भगवान् ने अपनी प्रथम धर्म-देशना दी।

धर्म-देशना

श्रावक व्रत

अहो भव्य प्राणियों ! जरा, रोग और मृत्यु से भरे हुए इस संसार रूपी महान् भयानक वन में धर्म के सिवाय और कोई रक्षक-सहायक नहीं है। एक धर्म ही ऐसा है जो जीव को दुःख से बचा कर सुखी करता है। इसलिए धर्म ही सेवन करने के योग्य है। यह धर्म दो प्रकार का है--'सर्वविरति' और 'देशविरति'। अनगार श्रमणों का धर्म सर्वविरति रूप है- जो संयम आदि दस प्रकार का है और दूसरा--देशविरति रूप धर्म गृहस्थों का है। यह देशविरति रूप धर्म--पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षा-व्रत यों बारह प्रकार का है। यदि ये व्रत अतिचार (दोष) युक्त हों, तो यथार्थ फल नहीं देते। दोष-रहित व्रत ही उत्तम फल प्रदान करते हैं। इनका स्वरूप समझो;—

१ स्थूल हिंसा त्याग रूप प्रथम अणुव्रत—जीव दो प्रकार के हैं--स्थावर और त्रस। गृहस्थ जीवन में स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग कर सकना कठिन है। इसलिये स्थावर की हिंसा का त्याग नहीं कर सके तो विवेक पूर्वक व्यर्थ हिंसा के पाप से बचे और त्रस जीवों की जानबूझ कर संकल्प पूर्वक निरपराधी हिंसा नहीं करे और आरम्भजा हिंसा में भी विवेक को नहीं भूले।

इसके पाँच अतिचार इस प्रकार हैं। तीव्र क्रोध कर के किसी जीव को १ बाँधना,

२ अंगोपांग का छेदन करना---काटना, ३ शक्ति अथवा परिमाण से अधिक भार लादना ४ मर्मस्थल में प्रहार करना और ५ भोजन नहीं देना ।

पुत्रादि को कुमार्ग में जाते हुए को रोकना पड़े व शिक्षा देते हुए भी नहीं माने और दण्ड देना पड़े तथा गाय-बैल आदि को उजाड़ करते या सुरक्षार्थ बाँधना पड़े तो अतिचार नहीं लगता । क्योंकि इसमें हित-कामना रही हुई है । इसी प्रकार फोड़ा-फुन्सी या किसी रोग के कारण अंग का छेदन करना पड़े, रोगी को लंघन कराना पड़े, तो हित-कामना युक्त होने से अतिचार नहीं लगता । जहाँ क्रूरता एवं निर्दयता से ये कार्य हों, वहीं अतिचार है ।

२ दूसरा अणुव्रत स्थूल मृषावाद से विरत होना --बड़ी झूठ का त्याग । जिसके कारण जीवों को दुःख हो, घात हो जाय, जीवन दुःख-शोक एवं क्लेशमय वन जाय ऐसे झूठे वचन का त्याग करना चाहिये । मुख्यतया ऐसे झूठ पाँच प्रकार के होते हैं--- १ कन्यालीक--कन्या और वर अर्थात् स्त्री और पुरुष के विषय में झूठ बोलना, २ गवालीक---गाय, बैल, भैंस, घोड़ा आदि पशु-जाति के लिए मिथ्या बोलना । इसी प्रकार ३ भूम्यलीक ४ न्यासापहार---धरोहर रख कर बदल जाना और ५ कूटसाक्ष्य--- खोटी गवाही देना ।

दूसरे व्रत के पाँच अतिचार---१‡ मिथ्या उपदेश देना---जिस उपदेश अथवा परामर्श से दूसरों को दुःख हो जैसे---"इस वछड़े को अब हल में जोतो, इसे खस्सी करो, इस अधम को मार डालना चाहिए।" अथवा वस्तु का जैसा स्वरूप हो, उसके विपरीत प्ररूपणा करना, पापकारी प्रेरणा करना, सत्य का अपलाप करना, झूठ बोलने की सलाह देना आदि । २ असत्य दोषारोपण---विना सोचे किसी पर झूठा कलंक लगाना, विना ठीक निर्णय किये किसी को चोर-जार आदि कहना । ३ गुह्यभाषण---किसी को एकांत में वातचीत करते देख कर यह अनुमान लगाना कि इसने राज्य-विरुद्ध या ऐसा ही कोई आपत्ति-जनक कार्य किया है और ऐसे अनुमान को प्रचारित कर देना--चुगली करना । ४ कूट-लेखन---झूठे लेख लिखना, जाली दस्तावेज वनाना और ५ मित्र, पत्नी आदि या अपने पर विश्वास करने वालों की गुप्त वात प्रकट करना ।

३ अदत्तत्याग अणुव्रत---वड़ी चोरी का त्याग । यह भी पाँच प्रकार की है--- १ घर में सेंध लगा कर, २ गाँठ खोल कर, ३ बन्द ताला खोल कर, ४ दूसरों की गिरी

‡ यहाँ आगमोल्लिखित क्रम में अन्तर आता है, कहीं कहीं अतिचार के नामों में भी अन्तर है । यहाँ त्रि. श. पु. च. के आधार से लिखा जा रहा है ।

हुई वस्तु ले कर और ५ पथिक आदि को लूट कर। इस प्रकार के स्थूल अदत्त का त्याग करना चाहिए।

तीसरे अदत्तादान व्रत के पांच दोष—१ चोर को चोरी करने की प्रेरणा करना, २ चोरी का माल खरीदना, ३ व्यापारादि के लिए राजाज्ञा का उल्लंघन कर विरोधी—शत्रु राज्य में जाना, ४ वस्तु में मिलावट करना—अच्छी वस्तु दिखा कर तदनुरूप बुरी वस्तु देना अथवा असली वस्तु में नकली वस्तु मिला कर देना और ५ नाप-तोल न्यूनाधिक रखना—अधिक लेने और कम देने के लिए खोटे तोल-नाप रखना।

४ स्वपत्नी संतोष व्रत—कामभोगेच्छा को सीमित रखने के लिये स्वपत्नी में ही संतोष रख कर, परस्त्री सेवन का त्याग करना चाहिए।

ब्रह्मचर्य व्रत के अतिचार—१ अपरिगृहिता गमन २ इत्वरपरिगृहितागमन ३ पर विवाह करण ४ तीव्र कामभोगानुराग और ५ अनंगक्रीड़ा।

५ परिग्रह परिमाण व्रत—तृष्णा एवं लोभ को कम कर के धन-धान्य, सोना-चाँदी, खेत-बगीचा और घर-भवन, गाय-भैंस, दास-दासी आदि सम्पत्ति को सीमित रख कर शेष का त्याग करना।

अपरिग्रहव्रत के दोष—१ धन-धान्य के प्रमाण का अतिक्रमण करना, २ ताम्र-पीतल आदि धातु के बरतन आदि के प्रमाण का अतिक्रमण ३ द्विपद-चतुष्पद के परिमाण का अतिक्रमण ४ क्षेत्र-वास्तु के परिमाण का अतिक्रमण और ५ सोना-चाँदी के प्रमाण का अतिक्रमण करना।

परिमाण का अतिक्रमण करना तो अनाचार होता है, फिर अतिचार कैसे माना गया ? इसका खुलासा करते हुए कहा है कि—

"बन्धनाद्भावतो गर्भाद्योजनाद्दानतस्तथा।
प्रतिपन्नव्रतस्यैष पंचधापि न युज्यते॥"

अर्थात्—व्रत की अपेक्षा रखते हुए कार्य करे, तब अतिचार लगता है। जैसे—किसी ने धन-धान्य का परिमाण किया। किन्तु किसी कर्जदार की वसूली में अथवा पारितोषिक के रूप में या अन्य प्रकार से प्राप्ति हो जाय, तब व्रत को सुरक्षित रखने की भावना से उस वस्तु को व्रत की काल-मर्यादा तक उसी के यहाँ धरोहर के रूप में रहने दे और समय पूरा होने के बाद ले, तो यह अतिचार है।

बरतनों की नियत संख्या से अधिक होने का प्रसंग उपस्थित होने पर छोटे बरतनों

को तुड़वा कर बड़े बनवाना और इस प्रकार व्रत की मर्यादा बराबर रखने का प्रयत्न करना।

गाय आदि पशुओं की मर्यादा के बाद गर्भ में रहे हुए के जन्म से संख्या-वृद्धि हो, तो उसे व्रत की एक वर्ष आदि काल की मर्यादा तक अपने नहीं मान कर बाद में मानना।

क्षेत्र की संख्या नियत करने के बाद निकट के दूसरे क्षेत्र को ले कर उसमें मिला देना और संख्या उतनी ही रखना। इसी प्रकार घर की संख्या रख लेने के बाद आसपास का घर ले कर बीच की दीवाल गिरा कर एक ही गिनना।

इसी प्रकार सोना-चाँदी में अभिवृद्धि होने पर भी उसे व्रत के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करना।

इन सब में व्रत पालन के भाव रहने के कारण ही अतिचार माना है। यदि व्रत की अपेक्षा नहीं हो, तो अनाचार हो जाता है।

उपरोक्त पाँच 'अणुव्रत' कहलाते हैं। अब गुणव्रत बताये जाते हैं;--

६ दिशा-गमन परिमाण व्रत- अपनी प्रवृत्ति के क्षेत्र को सीमित करने के लिए ऊँची, नीची और तिर्यक् दिशा में गमन करने का परिमाण कर के शेष सभी दिशाओं में जाने का त्याग करना। इससे अपनी आरम्भिक सावद्य प्रवृत्ति सीमित क्षेत्र में ही रहती है।

दिशा-गमन परिमाण व्रत के अतिचार--१ ऊँची २ नीची ३ तिरछी दिशा के परिमाण का उल्लंघन करना ४ एक ओर की दिशा कम कर के दूसरी ओर बढ़ाना और ५ प्रत्याख्यान के परिमाण को भूल जाना। जैसे--प्रत्याख्यान की सीमा को भूल कर विचार में पड़ जाय कि मैंने ५० कोस का परिमाण किया है या १०० का? इस प्रकार सन्देह रहते हुए ५० कोस से आगे जाना।

७ उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत-- अपने खाने-पीने, पहिनने-ओढ़ने, स्नान-मंजन, तेल-इत्र, शयन-आसन एवं वाहनादि भोगोपभोग के साधनों को मर्यादित रख कर शेष का त्याग करना।

भोगोपभोग परिमाण व्रत के पाँच अतिचार--१ सचित्त भक्षण—अनजानपने में उस सचित्त वस्तु का सेवन करना–जिसका त्याग किया है २ सचित्त प्रतिबद्धाहार × जो

× 'धर्म संग्रह' की टीका में लिखा कि—सचित और सचित प्रतिबद्धाहार ये दो अतिचार, कन्द-मूल और फल की अपेक्षा से है और शेष तीन शाली आदि धान्य की अपेक्षा से है।

'धर्म संग्रह' और 'योग शास्त्र' में इन पांच अतिचारों में प्रथम के दो तो इसी प्रकार है, तीसरा है 'मिश्र' जैसे—पूर्णरूप से नहीं उबला हुआ पानी, मिश्र धोवन, काचरा सचित्त धनियादि मिला कर बनाई हुई वस्तु, सचित्त तिल से मिले हुए अचित जौ आदि। ४ 'अभिषव आहार'—अनेक वस्तुएँ मिला कर बनाये हुए आसव आदि और पांचवा दुष्पक्वाहार है।

जो अचित्त वस्तु सचित्त से जुड़ी हुई है, उसको सचित्त से अलग कर के खाना—जैसे वृक्ष से लगा हुआ गोंद, पके हुए फल या सचित्त बीज से संबद्ध अचित्त फल आदि ३ तुच्छौपधि भक्षण—जो वस्तु तुच्छ हो, जिसमें खाना कम और फेंकना अधिक हो— जैसे सीताफल टिम्बरू आदि। ४ अपक्व वस्तु का भक्षण--जो पकी नहीं हो, उस वस्तु का खाना और ५ दुष्पक्व वस्तु का भक्षण--बुरी तरह से पकाई हुई वस्तु का खाना--अधपकी वस्तु खाना।

उपरोक्त अतिचार भोजन सम्बन्धी है। कर्म सम्बन्धी पन्द्रह अतिचार इस प्रकार है।

१ अंगार जीविका—लकड़ी जला कर कोयले बनाना, चने आदि की भाड़ चला कर भुनना, कुंभकार, लुहार, स्वर्णकार आदि के धन्धों से अग्नि का आरम्भ कर के आजीविका करना। ईंटें, चूना बरतन आदि पकाना।

२ वन जीविका--काटे हुए अथवा नहीं काटे हुए वन के पान, फूल, फल (लकड़ी घास) आदि बेंचना, धान्य को खाँडने-पीसने का काम करना या चावल, दालें, आटा आदि बना कर बेचना। जिसमें वनस्पतिकाय की हिंसा अधिक हो, वह 'वन जीविका' है।

३ शकट जीविका--गाड़ियाँ, गाड़ियों के पहिये, धुरी आदि बनवाना या बना कर चलाना अथवा बेचना। इसमें मोटरें, रथ, साइकल, ट्राम, रेल, इञ्जिन, वायुयान आदि का भी समावेश होता है।

४ भाटी कर्म— गाड़े, बैल, घोड़े, ऊँट, गधे, आदि को भाड़े पर दे कर आजीविका चलाना। मकान बना कर भाड़े से देना। मोटर, साइकल आदि भाड़े चलाना।

५ स्फोट कर्म जीविका--सरोवर—कूए तालाब आदि खोदना, हल से भूमि जोतना, पत्थर घड़ना, खान खोद कर पत्थर निकालना। इन सब में पृथ्विकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय जीवों की विराधना अधिक परिमाण में होती है। धान्य को दल-पीस कर बेचना (धान्य फोड़ना, चूर्ण करना) भी इस भेद में गिना है।

उपरोक्त पाँच अतिचार 'कर्म' संबंधी है। व्यापार सम्बन्धी अतिचार इस प्रकार है।

६ दंत वाणिज्य—हाथीदांत, चँवरी गाय आदि के केश, नख, हड्डियें, चमड़ा तथा रोम आदि।

दंत वाणिज्य को 'धर्मसंग्रह' में 'दन्ताश्रिता' कहा है। इसका अर्थ है—दाँत के आश्रय से रहे हुए शरीर के अवयव। शरीर के सभी अंगों का समावेश इसमें हुआ है।

दाँत, केश, नख, सींग, कोड़ियाँ, शंख आदि सभी अंग इस भेद में आगए।

७ लाक्ष वाणिज्य—लाख का व्यापार। इसमें जीवों की हिंसा अधिक होती है। उपलक्षण से इस भेद में उन वस्तुओं का ग्रहण भी किया है, जिनके योग से शराव आदि बनते हैं। वैसे-छाल, पुष्प आदि तथा मनशील, नील, धावड़ी और टंकणखार आदि, विशेष-रूप से पापजनक व्यापार।

८ रस वाणिज्य—मक्खन, चर्बी, शहद, शराब, दूध, दही, घृत, तेल आदि का व्यापार करना। मक्खन में सम्मूर्च्छिम जीवों की उत्पत्ति होती है तथा प्रवाही वस्तु में छोटे-बड़े जीव गिर कर मर जाते हैं। शहद और चर्बी की तो उत्पत्ति ही त्रस जीवों की हिंसा से होती है। शराव नशीली और उन्माद बढ़ाने वालो वस्तु है।

सभी प्रकार के आसव, स्प्रीट, तेजाव, मुरब्बे, अचार, फिनाइल आदि के व्यापार का समावेश भी इसमें होता है।

९ केश वाणिज्य--केश (बाल) का व्यापार। इस भेद में केश वाले जीव—दास-दासी (गुलामों) का व्यापार, गायें, घोड़े, भेड़ें, ऊँट, वकरे आदि पशुओं का व्यापार। द्विपद चतुष्पद का व्यापार।

१० विष वाणिज्य--सभी प्रकार के विष--जहर का व्यापार। जिनके सेवन से स्वास्थ्य और जीवन का विनाश हो ऐसे--सोमल, अफीम, संखिया आदि। इस भेद में तलवार, छुरी, चाकू, बन्दूक, पिस्तोल, आदि प्राणघातक शस्त्रों का भी समावेश हो जाता है।

योगशास्त्र में पानी खींचने के अरहट्ट पम्प आदि के व्यापार को भी 'विषवाणिज्य' में लिया है।

११ यन्त्र-पीडन कर्म--इक्षु, तिल आदि पील कर रस, तेल आदि निकालना, पत्र-पुष्पादि में से तेल-इत्रादि निकालना। चक्की, मूसल, ओंखली, अरहट्ट, पम्प, चरखी, घानी, कपास से रुई वनाने की जिनिंग-फेक्टरी, प्रेस, टेक्टर आदि यन्त्रों से आजीविका चलाना। इससे त्रस—स्थावर जीवों की वहुत वड़े परिमाण में हिंसा होती है।

१२ निर्लांछन कर्म—बैल, घोड़े, ऊँट आदि जीवों के कान, नासिका, सींग, आदि का छेदन करना, नाथ डालना, कान चीरना, गर्म लोहे से दाग कर चिन्हित करना, पूंछ काटना, वधिया (खस्सी) वना कर नपुंसक करना।

ये कार्य क्रूरता के हैं। इनसे जीवों को वहुत दुःख होता है। ऐसे कार्य करके आजीविका करना—'अनार्य-कर्म' है।

१३ दवाग्निदान-जंगलों को साफ करने के लिए, या गोंद के उत्पादन के लिए, खेत साफ करने के लिए अथवा पुण्य आदि की गल्त मान्यता से आग लगाना 'दवाग्नि-दापनता' कर्म है। इससे अनन्त स्थावर और असंख्य त्रस जीवों की हिंसा होती है।

कई लोग 'अग्नि को तृप्त करने' की मान्यता से घास की गंजियों, मकानों, खेतों और जंगलों को जला देते हैं। कई देवदेवी की मन्नत के निमित्त से वन जलाते हैं, तो कई उग्र द्वेष के कारण गाँव तक जला देते हैं। यह सब अनार्य-कर्म है।

१४ सरःशोष कर्म-कूए, तालाव आदि के पानी को सुखाना, पानी निकाल कर खाली करवाना। इससे अपकाय के अतिरिक्त असंख्य त्रसकाय के जीवों की विराधना होती है।

१५ असती पोषण कर्म + असती = दुराचारिणी स्त्रियों से दुराचार करवा कर आजीविका चलाना। कुत्ते, बिल्ली, सूअर आदि हिंसक पशुओं का पोषण कर के उन से हिंसा करवाना पाप का पोषण करना है। अतएव असती = हिंसक एवं दुराचारियों का आजीविकार्थ पोषण करना वर्जनीय है।

यों पन्द्रह प्रकार के कर्मादान का त्याग करना चाहिए।

८ अनर्थदण्ड त्याग व्रत--जिस प्रवृत्ति से अपने गृहस्थ सम्बंधी आवश्यकता की पूर्ति नहीं हो और व्यर्थ ही पापाचरण कर के आत्मा को दण्डित करने वाले अनर्थदण्ड से आत्मा को बचाना। मोटे रूप में अनर्थदण्ड चार प्रकार का है;--१ अपध्यानाचरण-आर्त्त और रौद्र ध्यान में रत रहना २ प्रमादाचरण-मादक वस्तु सेवन कर के नशे में मग्न रहना, गान-तान, खेलकूद आदि पापकर्मों में लगाना और प्रमाद का सेवन करना। ३ हिंसा प्रदान — हिंसा के साधन-हल, मूसल, चाकू, छुरी, तलवार आदि दूसरों को देना। ४ पापकर्मोपदेश-- पाप के कार्य करने की प्रेरणा देना।

अनर्थदंड-व्रत के पांच अतिचार-१ जो हल, मूसल, गाड़ा, धनुष्य, घट्टा आदि अधिकरण-जीव-घातक शस्त्र, संयुक्त नहीं हो कर वियुक्त हों, जिनके हिस्से अलग-अलग रक्खे हों, उन्हें संयुक्त करके काम-लायक बनाना, जिससे उनका हिंसक उपयोग हो सके २ उपभोग-परिभोग अतिरिक्तता-भोगोपभोग के साधन बढ़ाना ३ अति वाचालता-मौखर्य--बिना विचारे अंटसंट बोलना ४ कौत्कुच्य-भाँड की तरह नेत्र, मुंह आदि विकृत

+ भगवती सूत्र और त्रिषष्ठिशलाका पुरुषचरित्र के कर्मादानों के उल्लेख में क्रम में अन्तर है।

कर के कुचेष्टा करना और दूसरों को हँसाना ५ कन्दर्प-चेष्टा--विषयोत्पादक वचन बोलना।

ये तीन गुणव्रत हैं। इनके पालन से अणुव्रत के गुणों में वृद्धि होती है।

९ सामायिक व्रत--प्रमादाचरण का त्याग कर सर्व सावद्य प्रवृत्ति को रोक कर ज्ञान-दर्शन और चारित्र का लाभ बढ़ाने के लिए सामायिक करना।

सामायिक व्रत के अतिचार--१-३ मन वचन और काया को बुरे कार्यों में जोड़ना (पाप युक्त प्रवृत्ति में लगाना) ४ अनादर-उत्साह-रहित होकर बेगार की तरह करना, अनियमित रूप से करना, समय पूरा होने के पूर्व ही पार लेना और ५ स्मृति अनवधारणा--सामायिक की स्मृति-उपयोग नहीं रखना। प्रमाद की अधिकता से सामायिक को भूल जाना।

१० देशावकाशिक व्रत--आधादिन एकदिन, दो दिन आदि निर्धारित समय एवं क्षेत्र सीमा में रह कर और निर्धारित वस्तु रख कर शेष का त्याग करके धर्मसाधना करना।

देशावकासिक व्रत के अतिचार--१ प्रेष्य प्रयोग--मर्यादित भूमि के बाहर दूसरे को भेजना अर्थात् खुद के जाने से व्रत-भंग होता है ऐसा सोच कर दूसरे को भेजना २ आनयन प्रयोग--मर्यादित भूमि से बाहर रही हुई वस्तु को किसी के द्वारा मँगवाना ३ पुद्गल प्रक्षेप--मर्यादित भूमि से बाहर रहे हुए व्यक्ति को बुलाने या किसी प्रकार का संकेत करने के लिए कंकर आदि फेंकना ४ शब्दानुपात--हुंकार, खखार या किसी प्रकार की आवाज से बाहर रहे हुए व्यक्ति को अपनी ओर आकर्षित करना और ५ रूपानुपात--अपने को दिखा कर बाहर रहे हुए व्यक्ति को आकर्षित करना।

११ पौषधोपवास व्रत--१ आहार-त्याग २ शरीर-संस्कार त्याग ३ अब्रह्म त्याग ४ सावद्य-व्यापार त्याग। इनका त्याग कर के धर्मसाधना करना।

पौषध व्रत के अतिचार--१ दृष्टि से देखे बिना और प्रमार्जन किये बिना मल-मूत्रादि का त्याग करना २ दृष्टि से देखे और प्रमार्जन किये बिना पाटला आदि लेना ३ बिना देखे और बिना प्रमार्जन किये संथारा करना ४ पौषध के प्रति अनादर भाव रखना और ५ पौषध की स्मृति नहीं रख कर भूल जाना।

१२ अतिथि-संविभाग व्रत--सर्व त्यागी निर्ग्रंथ साधु-साध्वी को शुद्ध निर्दोष आहारादि भक्ति पूर्वक प्रदान करना।

अतिथि-संविभाग व्रत के पांच अतिचार--१ प्रासुक वस्तु को सचित पृथ्वी, पानी आदि पर रख देना २ सचित्त वस्तु से ढक देना ३ गोचरी का समय हो जाने के

बाद भोजन तैयार करना ४ ईर्षा पूर्वक दान देना (दूसरे दानी की ईर्षा करते हुए अथवा साधु पर ईर्षा भाव धरते हुए दान देना) ५ अपनी वस्तु को नहीं देने की बुद्धि से दूसरे की बतलाना।

इस प्रकार के दोषों से रहित व्रतों का पालन करने वाला श्रावक, आत्मा को शुद्ध करता हुआ क्रमशः भव से मुक्त हो जाता है।

भगवान् का धर्मोपदेश सुन कर कई भव्यात्माओं ने निर्ग्रंथ-श्रमण प्रव्रज्या स्वीकार की और बहुत-से देशविरत उपासक बने। महाराजा अश्वसेनजी ने अपने लघु-पुत्र हस्तिसेन को राज्य का भार सौंप कर जिनेश्वर भगवान् पार्श्वनाथजी के शिष्य बने और महारानी वामादेवी और प्रभावती ने भी दीक्षा ग्रहण की। प्रभु के शुभदत्त आदि आठ गणधर × हुए भगवान् ने वहाँ से विहार कर दिया।

सागरदत्त की स्त्री-विरक्ति और लग्न

ताम्रलिप्ति नगरी में सागरदत्त नामक वणिकपुत्र था। वह युवक बुद्धिमान और कलाविद था। उसने जातिस्मरण ज्ञान से अपना पूर्वभव जान लिया था। पूर्वभव के कटु अनुभव के कारण वह स्त्रीमात्र से घृणा करता था। सुन्दर एवं आकर्षक युवतियों को भी वह घृणा की दृष्टि से देखता था। वह पूर्वभव में ब्राह्मण का पुत्र था। उसकी पत्नी व्यभिचारिणी थी। उसने इसे भोजन में विष दे दिया और एकाकी छोड़ कर अन्य पुरुष के साथ चली गई थी। एक सेवा-परायण ग्वालिन ने इस पर दया ला कर उपचार किया। वह स्वस्थ हो कर परिव्राजक हो गया। वहाँ से मर कर श्रेष्ठिपुत्र हुआ। पूर्वभव में पत्नी की शत्रुता के अनुभव से वह समस्त स्त्री-जाति को ही 'कूड़-कपट की खान, पापपूर्ण तथा क्रूरता से भरी हुई' मानने लगा था और अविवाहित रहा था। पूर्वभव में जिस ग्वालिन ने इसकी सेवा की थी वह मर कर उसी नगरी में एक सेठ की पुत्री हुई। वह अत्यंत सुन्दर थी। सागरदत्त के कुटुम्बियों ने उस युवती को उपयुक्त मान कर सम्बन्ध जोड़ने का प्रयत्न किया, परंतु सागरदत्त की विरक्ति में कमी नहीं हुई। युवती बुद्धिमती थी। उसने सोचा—'यह युवक किसी स्त्री द्वारा छला हुआ है--इस जन्म में नहीं, तो पूर्वभव में। पूर्व का कटु अनुभव ही इसकी विरक्ति का कारण है।' उसने उसे अनुरक्त करने के लिए पत्र लिख कर प्रेम प्रदर्शित किया। उत्तर में सागरदत्त ने लिखा—

× ग्रन्थ में १० गणधर होने का उल्लेख है, परन्तु समवायांग सूत्र में आठ गणधर लिखे हैं।

"स्त्री मात्र कुपात्र है। सरिता के समान स्त्री की गति अधोगामिनी होती है। वह कभी सदाचारिणी हो ही नहीं सकती। इसलिये मैं स्त्री से स्नेह कर ही नहीं सकता।"

इसके उत्तर में युवती ने लिखा; —

" संसार में सभी स्त्रियाँ समान नहीं होती। बुरी भी होती है और अच्छी भी। आप को यदि कोई बुरी स्त्री दिखाई दी हो, तो अच्छी स्त्री भी देखने में आई होगी। क्या पुरुष सभी अच्छे ही होते हैं, बुरा कोई होता ही नहीं ? अपने एकांगी निर्णय पर आप पुनः विचार कीजिये। आपको अच्छी स्त्रियाँ भी दिखाई देगी।"

इस पत्र ने सागरदत्त की आँखें खोल दी। उसे ग्वालिन की सेवा का अनुभव था ही। सुन्दरी उसे सुशील, बुद्धिमती और अनुकूल लगी। उसने उसके साथ लग्न कर लिये और सुखपूर्वक जीवन बिताने लगा।

कुछ समय बाद सागरदत्त का सुसरा और साला व्यापारार्थ 'पाटलापथ' नगर गये और सागरदत्त यहीं व्यापार करने लगा। कालान्तर में वह व्यापारार्थ विदेश गया। किंतु उसके वाहन समुद्र में डूब गये। इस प्रकार सात बार गया और सातों बार उसके जहाज डूबे। वह निर्धन हो गया। लोग उसे 'पुण्यहीन' कह कर हँसी करने लगे। किंतु उसने अपना लक्ष्य नहीं छोड़ा। भटकते हुए उसने एक कूएँ में से पानी खिचते हुए एक लड़के को देखा। उस लड़के की डोल में सात बार पानी नहीं आया, परंतु आठवीं बार पानी आ गया। इससे वह उत्साहित हुआ और आठवीं बार फिर जहाजों में माल भर कर चल निकला। वह सिंहल द्वीप जाना चाहाता था, परंतु वायु की अनुकूलता नहीं होने से रत्नद्वीप जा पहुँचा। वहाँ अपना सब माल बेच कर रत्न लिये और अपने घर की ओर लौटा। बहुमूल्य रत्नों के लोभ में जलयान के संचालकों ने उसे समुद्र में गिरा दिया। दैवयोग से पहिले के टूट कर डूबे हुए एक जहाज का पटिया उसे मिल गया। उसके सहारे तिरता हुआ वह पाटलापथ पहुँचा। नगर में उसके श्वशुर उसे मिल गये। वह उनके यहाँ गया और अपनी दुर्दशा का कारण बताया। श्वशुर ने कहा-- "वह जहाज ताम्रलिप्ति नहीं जायगा, क्योंकि वहाँ तुम्हारे सम्बन्धियों का भय उन्हें रोकेगा। इस लिये वह यहीं आएगा।" ससुर ने वहाँ के नरेश से जहाजियों की विश्वासघातकता बता कर उन्हें पकड़ने और सागरदत्त को उसका धन दिलाने की प्रार्थना की। राजाने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर के बन्दर के अधिकारी को आदेश दिया। सागरदत्त ने यान-चालकों की पहिचान और माल का विवरण बतला दिया। ज्यों ही यान वहाँ पहुँचा, सभी खलासी पकड़ लिये गये। जब सागरदत्त उनके संमुख आया, तो वे सब भयभीत हो गये। उन्होंने

अपना अपराध स्वीकार कर लिया और क्षमा याचना की। सारा माल सागरदत्त को मिल गया और सागरदत्त की उदारता ने उन्हें मुक्त भी करवा दिया। सागरदत्त की उदारता से आकर्षित हो कर नरेश ने उसे सम्मान दिया। अपने रत्नों को बेंच कर उसने वहुत लाभ उठाया। उसके बाद वह दान-पुण्य करता हुआ वहीं रहने लगा। सुश्रावकों की संगति से वह भी श्रावक वना। उस समय भ० पार्श्वनाथजी पुण्ड्रवर्धन देश में विचर रहे थे। सागरदत्त भगवान् के समीप पहुँचा और प्रभु के उपदेश से प्रभावित हो कर निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या स्वीकार कर ली।

बन्धुदत्त का चरित्र

नागपुरी में सूरतेज नामक राजा राज करता था। वहाँ का धनपति सेठ राजा का प्रीति-पात्र था। उसकी सुशीला पत्नी सुन्दरी की उदर से उत्पन्न "वन्धुदत्त" नाम का पुत्र विनीत एवं गुणवान् था। उस समय वत्स नाम के विजय की कौशाम्वी नगरी में मान-भंग राजा का शासन था। वहाँ 'जिनदत्त' नाम का सम्पत्तिशाली सेठ रहता था। उसकी वसुमती पत्नी से उत्पन्न 'प्रियदर्शना' नाम की पुत्री थी। उस कन्या के 'मृगांकलेखा' नामक सखी थी। वे जिनधर्म की रसिक थी। धर्म-साधना भी उनके जीवन का एक आवश्यक कृत्य वन गया था। एक वार एक महात्मा ने अपने साथ वाले सन्त से, प्रियदर्शना को उद्देश्य कर कहा—"इस युवती के उदर से एक पुत्र होगा, वह उत्तम आत्मा होगा।" महात्मा की यह वात मृगांकलेखा ने सुनी।

नागपुरी के ही वसुनन्द सेठ की पुत्री चन्द्रलेखा के साथ वन्धुदत्त के लग्न हुए। किन्तु लग्न की रात्रि में ही सर्पदंश से चन्द्रलेखा की मृत्यु हो गई। लोग वन्धुदत्त को 'दुर्भागी' और 'स्त्री-भक्षक' कहने लगे। लोकवाणी ने उसे सर्वत्र कलंकित कर दिया। उसका पुन: विवाह होना असंभव माना जाने लगा। उसके पिता ने वहुत-सा धन दे कर पुत्र के लिये कन्या की याचना की, परन्तु सभी प्रयत्न व्यर्थ हुए। वन्धुदत्त निराश हो गया और अपना जीवन ही व्यर्थ मानने लगा। चिन्ता ही चिन्ता में उसका शरीर दुर्वल होने लगा। पिता ने सोचा—यदि इसका मन दु:खित ही रहेगा, तो जीवित रहना कठिन हो जायगा। इसलिये इसे व्यापार में जोड़ कर यह दु:ख भुलाना ही ठीक होगा। उसने जहाज में माल भरवा कर पुत्र को व्यापार के लिये सिंहल द्वीप भेजा। सिंहल द्वीप आ कर वन्धुदत्त ने वहाँ के नरेश को मूल्यवान् भेंट समर्पित की। नरेश ने प्रसन्न हो कर आयात-निर्यात कर से

मुक्ति प्रदान की। अपना सब माल बेच कर उसने इच्छित लाभ प्राप्त किया और अपने देश के उपयुक्त लाभकारी वस्तुएँ क्रय कर के जहाज भरे और स्वदेश की ओर चला। किन्तु प्रतिकूल पवन और प्रचण्ड आँधी से समुद्र डोलायमान हुआ और जहाज टूट कर डूब गया। बन्धुदत्त की जीवन-डोर लम्बी थी। उसे मनुष्य जीवन में भीषण दुःख और सुख का उपभोग कर कर्म-परिणाम भोगना था। उसके हाथ में एक काष्ठ-फलक आ गया। जीवन शेष होने से वह बच गया और वायु के अनुसार बहता हुआ वह रत्नद्वीप पहुँच गया। आम्रफल भक्षण कर और वापिका का जल पी कर स्वस्थ हुआ। फिर वह वनफल खाता और भटकता हुआ रत्न-पर्वत पर पहुँचा। वहाँ चारणमुनि ध्यान कर रहे थे। बन्धुदत्त वन्दना कर के सम्मुख बैठ गया। ध्यान पूर्ण होने पर मुनिराज ने वहाँ आने का कारण पूछा। बन्धुदत्त ने लग्न की रात्रि को ही पत्नी का मरण, वाहन नष्ट होने आदि सारी घटनाएँ कह सुनाई। मुनिवर ने उपदेश दिया। बन्धुदत्त ने जिनधर्म स्वीकार किया। उस समय वहाँ चित्रांगद नामक विद्याधर भी उपस्थित था। वह भी महात्मा के दर्शनार्थ आया था। उसने बन्धुदत्त को साधर्मी-बन्धु के नाते उपकृत करने के लिए कहा—"बन्धु ! यदि तुम चाहो, तो मैं तुम्हें आकाशगामिनी विद्या दूँ, तुम्हें इच्छित स्थान पर पहुँचा दूँ, और पत्नी की इच्छा हो, तो वैसा कहो। मैं तुम्हें सुखी करना चाहता हूँ।" बन्धुदत्त ने कहा—"कृपानिधान ! आपके पास विद्या है, तो वह मेरी ही है, स्थान भी गुरुदेव के पुनीत दर्शन का ठीक है। विशेष क्या कहूँ ? चित्रांगद समझ गया कि इसने पत्नी के विषय में उत्तर नहीं दिया, अतएव यह इसकी मुख्य इच्छा है। उसने सोचा—'इसे ऐसी कन्या मिलनी चाहिये जो उपयुक्त होते हुए भी लम्बे आयुष वाली हो।' वह उसे अपने साथ ले कर स्वस्थान आया। तदनन्तर विद्याधर ने अपने विश्वस्त परिजनों से बन्धुदत्त के योग्य सुन्दरी प्राप्त करने का विचार किया। यह बात चित्रांगद के भाई अंगद की पुत्री मृगांकलेखा ने सुनी, तो उसने अपनी सहेली प्रियदर्शना का परिचय दिया। कौशांबी के सेठ जिनदत्त की वह प्रिय पुत्री है। वह सुन्दर भी है और गुणवती भी। मैं जब कौशाम्बी गई थी तब प्रियदर्शना के विषय में एक ज्ञानी संत ने कहा था कि—"यह एक महात्मा पुरुष की माता होगी और बाद में दीक्षा लेगी।" मृगांकलेखा की बात सुन कर चित्रांगद ने अमितगति आदि को कौशाम्बी जा कर उपयुक्त प्रयत्न से बन्धुदत्त को प्रियदर्शना प्राप्त कराने की आज्ञा प्रदान की। बन्धुदत्त सहित वे विद्याधर कौशाम्बी आये। वहाँ भगवान् पार्श्वनाथ विराजते थे। उन्होंने भगवान् की वन्दना की और धर्मोपदेश सुना। सुश्रावक जिनदत्त भी भगवान् का धर्मोपदेश सुनने आया था। जिनदत्त, अमितगति आदि

सहित बन्धुदत्त को अपने घर ले गया और वहीं ठहरा कर भोजनादि से उनका बहुत सत्कार किया। प्रसंगोपात अमितगति से बन्धुदत्त का परिचय पा कर जिनदत्त प्रभावित हुआ और अपनी प्रिय-पुत्री के योग्य वर जान कर प्रियदर्शना का लग्न बन्धुदत्त के साथ कर दिया। अमितगति आदि स्वस्थान लौट गये और बन्धुदत्त प्रियदर्शना के साथ वहीं रह कर सुख-पूर्वक जीवन बिताने लगा

प्रियदर्शना डाकू के चंगुल में

कालान्तर में प्रियदर्शना गर्भवती हुई। सिंह स्वप्न के साथ एक उत्तम जीव उसके गर्भ में आया। बन्धुदत्त की इच्छा माता-पिता से मिलने की हुई। उसने ससुर से कहा। जिनदत्त सेठ ने बहुत-सा धन, बहुमूल्य आभूषण और अन्य वस्तुएँ तथा दास-दासी दे कर पुत्री को विदा किया। बन्धुदत्त ने अपने प्रस्थान की उद्घोषणा करवाई, जिससे कई लोग उसके साथ चलने को तैयार हो गए। सार्थ ने प्रस्थान किया। चलते-चलते सार्थ एक विशाल अटवी में पहुँचा। उस भयानक अटवी में तीन दिन चलने के बाद एक सरोवर के तीर पर पड़ाव लगा कर रात्रि-निर्गमन करने लगे। उस रात्रि में ही चंडसेन नाम के डाकुओं के सरदार ने अपनी सेना के साथ सार्थ पर आक्रमण किया और सारा धन-माल लूट लिया। सार्थ के सभी लोग भाग गए। किंतु प्रियदर्शना और उसकी दासी चोरों द्वारा पकड़ ली गई। जब लूट-पाट के बाद डाकू-दल स्वस्थान आया, तो प्रियदर्शना का उदास और म्लान मुख देख कर चंडसेन को पश्चाताप हुआ। उसके मन में हुआ कि इसे अपने साथी के पास पहुँचा देनी चाहिये। उसने प्रियदर्शना की दासी से उसका परिचय पूछा। दासी ने उसके पिता सेठ जिनदत्त का परिचय दिया, जिसे सुनते ही चंडसेन के हृदय को धक्का लगा। वह अवाक् रह गया। कुछ समय बाद उसने निःश्वास छोड़ते हुए कहा—"पुत्री! मैंने अनर्थ कर डाला। जिनदास सेठ तो मेरे उपकारी है। उन्होंने मुझे राजा के चंगुल से छुड़ाया था। एक बार मैं मद्य में बेभान हो गया था, तब राजा के सुभटों ने मुझे पकड़ लिया था और राजा ने मृत्युदंड सुना दिया था। परंतु जिनदास सेठ ने मुझे जीवन-दान दे कर छुड़ाया था। मुझ पापी ने अनजान में उन्हीं की पुत्री को लूटा। परंतु पुत्री! तू यहाँ अपने पीहर की तरह रह। मैं तेरे पति की खोज कर के तुझे उससे मिलाऊँगा।"

डाकू सरदार अब बन्धुदत्त की खोज करने लगा।

बन्धुदत्त आत्मघात करने को तत्पर

बन्धुदत्त सम्पन्न एवं सुखमय स्थिति से पुनः दुःख की ऊँडी खाई में गिर पड़ा। प्रिया का वियोग उसे सर्वाधिक पीड़ित कर रहा था। उसे लग रहा था कि मेरी प्राणप्रिया मेरे वियोग में जीवित नहीं रह सकेगी। वह कोमलांगी डाकुओं के बन्धन में एक दिन भी नहीं रह सकेगी। जब वह नहीं रहे, तो मेरा जीवित रहना भी व्यर्थ है। इस प्रकार सोच कर वह आत्मघात करने के लिए तत्पर हुआ। वह फाँसी पर लटकने के लिए एक बड़े वृक्ष के निकट आया। उस वृक्ष के पास एक सरोवर था। उस सरोवर के किनारे एक हंस एकाकी उदास खड़ा था। बन्धुदत्त को लगा कि यह हंस भी प्रिया के वियोग में दुखी है। बन्धुदत्त, हंस के दुःख का विचार करता हुआ कुछ देर खड़ा रहा। इतने में कमल की ओट में छुपी हुई हंसिनी प्रकट हुई। हंस अत्यंत प्रसन्न हो कर हंसिनी से मिला। वियोग के बाद पुर्नमिलन की इस घटना को देख कर बन्धुदत्त ने विचार किया--"क्या मेरा यह सोचना व्यर्थ नहीं है कि मेरी प्रिया मर ही जायगी और कभी मिलना होगा ही नहीं ? जीवन शेष है, तो मरेगी कैसे ? और वियोग के बाद पुनः संयोग होना असंभव तो नहीं है। फिर मैं मरूँ क्यों ? अब मुझे अपना एक स्थान बना कर प्रिया की खोज करनी है। इस दशा में मैं न तो अपने घर जा सकता हूँ और न ससुराल ही। अब विशालापुरी जाऊँ और मामाजी से धन ले कर, डाकू-सरदार को दे कर, पत्नी को मुक्त करवाऊँ। उसके बाद अपने घर जाना ठीक होगा।"

वह विशाला नगरी की ओर चला। दूसरे दिन वह गिरिस्थल के निकट आया और यक्ष के मन्दिर में विश्राम किया। कुछ समय के बाद एक दूसरा पथिक वहाँ आया और उसी मन्दिर में ठहरा। वह पथिक विशाला से ही आ रहा था। अपने मामा धनदत्त सार्थवाह के विषय में पूछने पर पथिक ने कहा—"धनदत्त सेठ तो विदेश गये थे। पीछे से राजा ने उनके पुत्र पर कोप कर के सारा धन लूट लिया और परिवार को बन्दी बना लिया। जब धनदत्त सेठ घर आये, तो राजा को अपनी कमाई का लाया हुआ समस्त धन दे दिया और परिवार को छोड़ने की प्रार्थना की। राजा ने विशेष रूप से कोटि-द्रव्य देने पर ही छोड़ने की इच्छा बतलाई। इस पर से धनदत्त सेठ, अपने भानजे बन्धुदत्त के पास धन लेने गये हैं।"। पथिक की बात ने बन्धुदत्त की आशा चूर-चूर कर दी। वह हताश हो गया। उसने सोचा—'अभी मैं यहीं रह कर मामा की प्रतीक्षा करूँ और उनके साथ अपने घर जा कर, उन्हें धन दिलावा कर, उनके कुटुम्ब को मुक्त करवाऊँ तत्पश्चात् दोनों मिल कर पत्नी को छुड़ाने का प्रयत्न करेंगे।"

मामा-भानेज कारागृह में

पाँचवें दिन एक सार्थ के साथ धनदत्त वहाँ आ पहुँचा। दुर्दशा से पलटी हुई आकृति के कारण पहले तो कोई किसी को पहिचान नहीं सका, परंतु पूछताछ एवं परिचय जानने पर बन्धुदत्त ने मामा को पहिचान लिया। उसने स्वयं का परिचय नहीं दे कर अपने को बन्धुदत्त का मित्र बताया। दूसरे दिन बन्धुदत्त एक नदी के किनारे शौच करने गया। वहाँ कदंब वृक्ष के नीचे एक गह्वर में उसे कुछ ज्योति दिखाई दी। उसने वहां भूमि खोदी, तो उसे रत्नजड़ित आभूषणों से भरपूर एक ताम्रपात्र मिला। बन्धुदत्त वह धन ले कर मामा के पास आया और बोला;--"यह धन मुझे मिला है। आप इससे अपने कुटुम्ब को राजा के बन्धन से मुक्त कराइये। इसके बाद अपन नागपुरी चलेंगे।" धनदत्त धन देख कर प्रसन्न हुआ। किंतु उसने इससे अपने कुटुम्ब को तत्काल मुक्त कराना स्वीकार नहीं किया और कहा--"मेरे परिवार को अभी मुक्त कराना उतना आवश्यक नहीं, जितना तुम्हारे मित्र और मेरे भानेज बन्धुदत्त से मिलना है। उससे मिलने पर फिर विचार कर के योग्य करेंगे।"

मामा की आत्मीयता-पूर्ण भावना जान कर बन्धुदत्त ने अपना परिचय दिया और अपनी दुर्दशा का वर्णन सुनाया। धनदत्त ने कहा—"अब सर्वप्रथम यह धन डाकू सरदार को दे कर प्रियदर्शना को छुड़ानी चाहिये। बाद में दूसरा विचार करेंगे।"

वे चलने की तैयारी कर ही रहे थे कि अकस्मात् राज्य का सैनिक-दल आ धमका और सभी यात्रियों को बन्दी बना लिया। बन्धुदत्त से वह धन छिन लिया। सैनिक-दल चोरों को पकड़ने के लिये ही आया था, सो इन्हीं को चोर समझ बन्दी कर बना लिया। बन्धुदत्त ने कहा--"यह धन हमारा है, हम चोर नहीं हैं।" किंतु वे बच नहीं सके। न्यायाधिकारी ने धनदत्त और बन्धुदत्त के सिवाय सभी बन्दियों को निर्दोष जान कर छोड़ दिया। फिर मामा-भानेज से उनका परिचय और धन-प्राप्ति का साधन पूछा, किंतु धनप्राप्ति का संतोषकारक समाधान नहीं पा कर और वे रत्नाभूषण बहुत काल पूर्व राज्य के ही चोरी में गये हुए, नामांकित होने के कारण मामा-भानेज ही चोर ठहरे। उन्हें सत्य बोलने और अन्य चोर-साथियों का पता बताने के लिये कहा गया, तो उन्होंने कहा—"हम चोर नहीं हैं। हमें यह धन पृथ्वी में गढ़ा हुआ मिला है।" किंतु उनकी बात नहीं मानी गई और उन्हें मार-पिट कर कारागार में बंद कर दिया और कठोर दंड दिया जाने लगा। इस

प्रकार नरक के समान दुःख भोगते हुए उन्हें छः मास व्यतीत हो चुके। इतने में सन्यासी के वेश में छुपे कुछ डाकुओं को विपुल धन के साथ पकड़ कर सुभटों ने न्यायाधिकारी के समक्ष उपस्थित किया। पूछताछ करने पर भी उन्होंने सत्य स्वीकार नहीं किया, तो सब को मृत्यु-दंड सुनाया गया। मृत्यु का समय निकट आने पर प्रमुख सन्यासी ने सत्य स्वीकार किया। उसने कहा—"इस धन का चोर तो मैं ही हूँ। मैंने ही इस नगर में चोरी कर के यह धन प्राप्त किया है। बहुत-सा धन मैंने वन में जहाँ-तहाँ भूमि में रख छोड़ा है। आप उसे प्राप्त कर के जिसका हो, उन्हें लौटा दें और मुझे मृत्युदंड देदें। परंतु इन सब को छोड़ दें।"

सन्यासी की पाप-कथा

न्यायाधिकारी ने पूछा—"तुम तो तेजस्वी हो, किसी उच्चकुल के लगते हो। तुमने ऐसा निन्दनीय कार्य क्यों किया ?"

"महात्मन् ! मेरी विषयासक्ति ने मुझे नीच-कर्म करने को विवश किया। मेरी पापकथा सुनिये।

"मैं पुण्ड्रवर्धन नगर के सोमदेव ब्राह्मण का पुत्र हूँ। नारायण मेरा नाम है। मैं बलिदान से स्वर्ग प्राप्ति का सिद्धांत मानने और प्रचार करने वाला था। एक बार कुछ सुभटों द्वारा कुछ पुरुषों को धन के साथ बन्दी बना कर लाते हुए मैंने देखा। मैंने कहा—"इन चोरों को तो मार ही डालना चाहिये।" मेरी बात निकट रहे हुए एक मुनि ने सुनी। वे अतिशय ज्ञानी थे। उन्होंने कहा—"भद्र ! विना जाने ऐसा अनिष्टकारी वचन कह कर, पाप में नहीं पड़ना चाहिए।" मैंने महात्मा को नमस्कार कर के पूछा—"मेरा अज्ञान क्या है ? क्या मैंने झूठ कहा है ?"

"भाई ! बिना साँच-झूठ का निर्णय किये किसी पर झूठा कलंक लगाना और मृत्युदण्ड देने का कहना पाप है। ये बिचारे पूर्व के पाप के उदय में आये हुए अशुभकर्म का फल भोग रहे हैं। इनके वर्तमान कृत्य को जाने विना ही इन पर चोर होने का दोष मढ़ना पाप ही है। तुमने खुद ने पूर्वभवों में जो दूसरे पर झूठा कलंक लगाया था, उसका अवशेष रहा फल भोगने का समय आयगा, तब तुझे मालूम होगा।'—महात्मा ने कहा।

मैंने पूछा—भगवन् ! मैंने पूर्वभव में कौनसा पाप किया था, जिसका अवशेष फल मुझे अब भोगना पड़ेगा ?

महात्मा ने कहा--"इस भव के पूर्व पाँचवें भव में गर्जन नगर के आषाढ़ नामक ब्राह्मण का तू 'चन्द्रदेव' नामक पुत्र था। तू विद्वान थ. और राजा द्वारा मान्य था। उस समय वहाँ 'योगात्मा' नामक सदाचारी सन्यासी रहता था। लोग उस पर श्रद्धा रखते थे। उस नगर में विनीत नामक सेठ की वीरमती नामकी वालविधवा पुत्री थी। वह एक माली के साथ चली गई थी। देवयोग से उसी दिन योगात्मा सन्यासी भी वहाँ से प्रस्थान कर कहीं अन्य ग्राम चला गया था। वीरमती उस योगात्मा की उपासिका थी। यद्यपि दोनों के प्रस्थान में कोई सम्वन्ध नहीं था, परन्तु वीरमती का उपासिका होना और दोनों का एक ही दिन चला जाना सन्देह का कारण वन गया। तेने उस सन्यासी पर वीरमती को ले-भागने का आरोप लगा कर राजा के समक्ष और नगरभर में उसे कलंकित कर दिया। लोगों का विश्वास उस सन्यासी पर से उठ गया। सन्यासियों ने भी उसे अपने में से वहिष्कृत कर दिया। इस निमित्त से निकाचित कर्म बाँध कर तू वकरा हुआ। पापोदय से तेरी जीभ कुंठित हो गई। तू वहाँ से मर कर शृगाल हुआ। वहाँ से मर कर वेश्या का पुत्र हुआ। वहाँ तू राजमाता का निंदक हुआ, तो जिव्हा का छेदन कर दुःखी किया गया। वहाँ अनशन कर के मर कर तू यह भव पाया। किन्तु पूर्व-भव का शेष रहा फल इस भव में तुझे भोगना है।

कारागृह से मुक्ति

महात्मा का कथन सुन कर मैं संसार से विरक्त हो कर सन्यासी वन गया। मेरे गुरु ने मृत्यु के समय मुझे तालोद्घाटिनी और आकाशगामिनी विद्या दी और साथ ही कहा कि तू इस विद्या का उपयोग धर्म और शरीर-रक्षा के अतिरिक्त नहीं करना। कभी हास्य-वश भी असत्य नहीं बोलना। यदि प्रमादवश असत्य बोल दे, तो जलाशय में नाभि प्रमाण जल में खड़ा रह कर एक हजार आठ बार मन्त्र का जाप करना।" गुरु का देहावसान हो गया और मैं विषयासक्त हो कर गुरु की शिक्षा भूल गया। मैंने दुराचार का बहुत सेवन किया। मैं उस देवालय में रहता, अपने को झूठमूठ महात्मा वताता और दुराचार करता रहता। मैंने विद्या की शुद्धि भी नहीं की। दुराचार में धन की आवश्यकता होती है। मैंने आधी रात को सागरदत्त सेठ के घर चोरी की और आपके नगर-रक्षक द्वारा पकड़ा गया।"

न्यायाधिकारी ने उसके वताये हुए स्थान पर गढ़ा हुआ धन निकलवाया। उसमें वह रत्नभरित ताम्र-पत्र नहीं मिला। न्यायाधिकारी ने धनदत्त और वन्धुदत्त से मिला

हुआ वह पात्र और धन दिखाया, तो उसने इसे अपने द्वारा चुराया हुआ स्वीकार किया। न्यायाधिकारी नें इस सन्यासी ब्राह्मण को भी छोड़ दिया और दोनों मामा-भानेज को भी निर्दोष जान कर, क्षमा याचना कर के छोड़ दिया।

बलिवेदी पर प्रिया मिलन और शुभोदय

बन्धुदत्त की खोज करने के लिए चण्डसेन उस अटवी में खूब भटका, परन्तु बन्धुदत्त नहीं मिला। वह हताश हो कर घर लौटा। फिर अपने कई गुप्तचर चारों ओर भेजे। वे भी इधर-उधर भटक कर लौट आये, परन्तु बन्धुदत्त को नहीं पा सके। अब चण्डसेन ने निश्चय कर लिया कि 'प्रियदर्शना का प्रसव हो जाय, उसके बाद उसे कौशाम्बी पहुँचा कर वह स्वयं अग्नि-प्रवेश कर के पाप का प्रायश्चित्त करेगा।' प्रियदर्शना के पुत्र का जन्म हुआ। सरदार ने जन्मोत्सव मनाया। इसके बाद उसने प्रतिज्ञा की कि—"यदि बहिन प्रियदर्शना और उसका पुत्र एक महीने तक कुशल-क्षेम रहेंगे, तो मैं देवी को दस पुरुषों का बलिदान दूंगा।"

बालक पच्चीस दिन का हो गया, तो चण्डसेन ने अपने सेवकों को, दस पुरुषों को बलिदान के लिए पकड़ कर लाने के लिये भेजा। उधर धनदत्त और बन्धुदत्त कारागृह से छूट कर चले आ रहे थे कि चण्डसेन के लोगों ने उन्हें पकड़ लिया और बलिदान के लिये ले आये निश्चित समय पर चण्डसेना देवी के समक्ष बलिदान की तैयारी होने लगी। प्रियदर्शना, उसकी दासी और बालक को भी देवी के मन्दिर लाया गया। बलिदान के लिये लाये गये पुरुषों में बन्धुदत्त, नमस्कार महामन्त्र का उच्चारण कर रहा था। प्रियदर्शना ने नमस्कार-मन्त्र सुन कर उस ओर देखा, तो हर्षावेग से चीख पड़ी और चण्डसेन से बोली—

"बन्धु ! यह क्या कर रहे हो ? अरे जिसके लिये तुमने यह आयोजन किया और तुम स्वयं आत्मघात कर रहे थे, वे तुम्हारे बहनोई ये ही हैं। इन्हें छोड़ दो और सब को छोड़ दो। आज अपनी सभी मनोकामनाएँ पूरी हो गई।"

चण्डसेन तत्काल बन्धुदत्त के चरणों में गिरा और क्षमा माँगने लगा। सभी बन्दी छोड़ दिये गये। बन्धुदत्त ने चण्डसेन से कहा—

"सरदार ! यह कुकृत्य छोड़ो। देवी की पूजा जीवहिंसा से कदापि नहीं करनी चाहिये। आज से तुम हिंसा, चोरी, परदारहरण आदि भयंकर पाप छोड़ दो और सदाचारमय सात्त्विक जीवन बिताओ।"

सरदार और उसके साथियों ने बन्धुदत्त का उपदेश स्वीकार किया। धनदत्त और बन्धुदत्त को सरदार आदर सहित अपने घर लाया और भोजनादि से सत्कार किया। बन्धुदत्त के परिचय देने पर प्रियदर्शना अपने मामाससुर धनदत्त के चरणों में झुकी। इस अपूर्व आनन्द के निमित्त से धनदत्त ने उस बालक का नाम 'बान्धवानन्द' दिया। वहाँ आनन्द ही आनन्द छा गया। चण्डसेन ने बन्धुदत्त का लूटा हुआ सभी धन उसे दे दिया और अपनी ओर से भी बहुत दिया। बन्धुदत्त ने अपने साथ बन्दी बनाये हुए लोगों को योग्य दान दे कर विदा किया और धनदत्त को भी आवश्यक धन दे कर अपने बन्धी कुटुम्बियों को छुड़ाने भेजा। फिर स्वयं पत्नी-पुत्र और चण्डसेन को साथ ले कर अपने घर नागपुरी के लिये प्रस्थान किया। उसके बन्धुजनों नागरिकों और राजा ने उसका स्वागत किया और सम्मानपूर्वक नगर प्रवेश कराया। बन्धुदत्त ने सभी को अपने जीवन में बीती हुई अच्छी-बुरी घटना सुनाई। अंत में उसने सभी जनों से कहा—"मैं सभी विपत्तियों से बच कर सुखपूर्वक घर आ पहुँचा। यह जिनधर्म की आराधना का फल है।" चण्डसेन को कुछ दिन रोक कर प्रेमपूर्वक विदा किया।

बन्धुदत्त का पूर्वभव और भव-मुक्ति का निर्णय

बन्धुदत्त को प्रियदर्शना के साथ सुखोपभोग करते हुए बारह वर्ष व्यतीत हो गए। एकदा तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी का नागपुरी शुभागमन हुआ। बन्धुदत्त, पत्नी और पुत्र के साथ भगवान् को वन्दन करने गया। धर्मोपदेश सुना। बन्धुदत्त ने अपने अशुभोदय का कारण पूछा। प्रभु ने फरमाया—

"तू पूर्वभवों में इसी भरत के विंध्यादि में 'शिखासन' नामक भील जाति का राजा था। तू हिंसक एवं विषयप्रिय था। यह प्रियदर्शना उस समय तेरी 'श्रीमती' नामकी रानी थी। तू उसके साथ पर्वत के कुंज में रह कर भोग भोग रहा था और पशुओं का शिकार भी करता था। एक बार कुछ साधु, मार्ग भूल कर अटवी में भटकते हुए तेरे कुंज के निकट आये। वे साधु भूख-प्यास से क्लांत, थकित और पीड़ित थे। तुझे उन पर दया आई। तू उन्हें फल खाने को देने लगा, किन्तु सचित्त होने के कारण उन्होंने नहीं लिये, तब तूने उन्हें अचित सामग्री दी और उन्हें सान्त्वना दे कर सीधा मार्ग बताया, तथा कुछ दूर तक पहुँचाने गया। लौटते समय संघाचार्य ने तुझे धर्मोपदेश दिया और नमस्कार महामन्त्र

सिखा कर कहा--"भद्र ! तू प्रत्येक पक्ष में एक दिन सभी प्रकार के सावद्य व्यापार का त्याग कर के एकान्त स्थान में इस महामन्त्र का जाप करते हुए व्यतीत करना। साधना करते हुए यदि कोई तेरा द्रोह करे या अनिष्ट आचरण करे, तो भी तुझे शांत ही रहना चाहिये। यदि तू इस प्रकार साधना करता रहेगा, तो तेरे लिये स्वर्ग के महासुख भी सुलभ हो जावेंगे।"

तेने महात्मा का उपदेश स्वीकार किया और तदनुसार पालन करने लगा। कालान्तर में एक दिन तू साधना कर रहा था कि तेरे निकट एक सिंह आया। उसे देख कर तेरी पत्नी भयभीत हो गई। तू धनुष उठा कर सिंह को मारने लगा, तब तेरी पत्नी ने तुझे प्रतिज्ञा का स्मरण कराया। तू सावधान हो कर साधना में लीन हो गया। तेरी पत्नी भी स्मरण में लीन हो गई। सिंह तुम दोनों को मार कर खा गया। तुम दोनों काल कर के सौधर्म देवलोक में देव हुए। वहां से च्यव कर अपरविदेह में चक्रपुरी के राजा कुरुमृगाँक की वालचन्द्रा रानी की कुक्षि से तू पुत्रपने उत्पन्न हुआ। श्रीमती का जीव मृगांक राजा के साले सुभूषण राजा की कुरुमती रानी के गर्भ से पुत्रीपने उत्पन्न हुई। तुम्हारा नाम क्रमशः 'शबरमृगांक' और 'वसंतसेना' रखे। तुम दोनों के लग्न हुए। तेरे पिता तुझे राज्य दे कर तापस हो गए। तू राजा बना। भील के भव में पशुओं की हिंसा तथा स्नेही-युगलों के कराये हुए वियोग का पाप तेरे उदय में आया।

उसी प्रदेश में जयपुर का वर्धन राजा महापराक्रमी था। उसने तुझ से वसंतसेना की माँग की। तुम दोनों में घोर युद्ध हुआ। वर्धन तुझ से पराजित हो कर भाग गया। किंतु तेरे पाप-कर्म का उदय था। तेरी शक्ति क्षीण देख कर तप्त नाम का दूसरा बलवान राजा तुझ पर चढ़ आया। इस दूसरे युद्ध में तेरी सेना का भी विनाश हुआ और तू भी मारा गया। रौद्रध्यान की तीव्रता से तू छठी नरक में उत्पन्न हुआ। तेरी रानी भी अग्नि में जल कर नरक में उत्पन्न हुई। नरक से निकल कर तू पुष्करवर द्वीप में निर्धन मनुष्य का पुत्र हुआ। वसंतसेना भी वैसे ही घर में पुत्री हुई। तुम दोनों पति-पत्नी हुए। दरिद्रता होते हुए भी तुम दोनों स्नेहपूर्वक रहने लगे। एक बार जैन साध्वियाँ तुम्हारे यहाँ आई। तुमने उन्हें भक्तिपूर्वक आहार-पानी दिया। प्रवर्तिनी साध्वीजी के उपदेश से तुमने श्रावक-धर्म अंगीकार किया। वहाँ से मर कर तुम दोनों ब्रह्मदेवलोक में देव हुए। वहां से च्यव कर यहां उत्पन्न हुए हो। पूर्व के भील के भव में तेने प्राणियों का विनाश किया था, उसके फल स्वरूप इस भव में भी तुम्हें इतना दुःख भोगना पड़ा। अशुभ-कर्म का विपाक बड़ा कठोर होता है।"

बन्धुदत्त ने पूछा—"भगवन् ! यहाँ से मर कर मैं कहाँ उत्पन्न हूँगा ?" प्रभु ने कहा--"यहाँ का आयुष पूर्ण कर के तुम दोनों सहस्रार देवलोक में जाओगे और वहाँ से च्यव कर पूर्वविदेह में चक्रवर्ती बनोगे। प्रियदर्शना स्त्री-रत्न होगी। चिरकाल तक भोग भोग कर तुम त्यागी निर्ग्रंथ बनोगे और मुक्ति प्राप्त करोगे।"

बन्धुदत्त और प्रियदर्शना ने भगवान् के समीप निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या स्वीकार की।

सोमिल उपासक बन गया

भ० पार्श्वनाथ स्वामी ग्रामानुग्राम विचरते हुए वाराणसी नगरी पधारे और आम्र-शाल वन में विराजे। वाराणसी में सोमिल ब्राह्मण रहता था। वह वेद-वेदांग और अनेक शास्त्रों का समर्थ विद्वान् था। भगवान् का आगमन जान कर सोमिल के मन में विचार हुआ—'पार्श्वनाथ सर्वज्ञसर्वदर्शी कहलाते हैं और उनकी बड़ी प्रशंसा सुनी जाती है। मैं आज उनके पास जाऊँ और उनके चारित्र सम्बन्धी तथा कुछ ऐसे प्रश्न पूछूं कि जिनके कई अर्थ--उत्तर हो सकते हैं। वे जो उत्तर देंगे, उनसे विपरीत अथवा अन्य अर्थ बता कर उन्हें निरुत्तर कर के अपनी धाक जमादूंगा और यदि उन्होंने ठीक उत्तर दे कर मुझे संतुष्ट कर दिया, तो मैं वन्दना-नमस्कार करूँगा और उनका उपासक बन जाउँगा"--इस प्रकार संकल्प कर वह अकेला ही भगवान् के समक्ष उपस्थित हुआ और सहसा प्रश्न पूछा;—

"महात्मन् ! आप के यात्रा है ?" "हाँ, सोमिल ! मेरे में यात्रा है।"

"कैसी यात्रा है—आपके ?"

"सोमिल ! तप, नियम, संयम, स्वाध्याय, ध्यान और आवश्यकादि योगों में प्रवृत्ति करना ही मेरी यात्रा है"—भगवान् ने कहा।

"आपके मत में यापनीय (अधिकार में रखने योग्य) क्या है ?

"श्रोत आदि पाँच इन्द्रियाँ मेरे अधिकार में हैं और क्रोधादि कषायें मेरी नष्ट हो चुकी है। यही मेरे यापनीय है।

"भगवन् ! आपके अव्याबाध क्या है"—सोमिल ने पूछा।

"मेरे वात-पित्त-कफ और शारीरिक रोग उपशांत है। यह मेरे अव्याबाध है"—भगवान् ने कहा।

"भगवन् ! आपके प्रासुक विहार (उपाश्रय) कौन-से है ?

"सोमिल ! ये आराम, उद्यान, देवकुल, सभा, प्रपा आदि स्थान जो गृहस्थों के हैं, उन में से निर्दोष स्थान जो स्त्री-पशु और नपुंसक से रहित हों, मैं प्रासुक-एषणीय पीठ-फलकादि ले कर विचरता हूँ। यह मेरे प्रासुक विहार हैं।"

उपरोक्त प्रश्न धर्म के विषय में पूछने के बाद सोमिल ने द्विअर्थी प्रश्न किया;—

"आपके लिये सरिसव भक्ष्य है या अभक्ष्य ?"

"मेरे लिए सरिसव भक्ष्य भी है और अभक्ष्य भी"—भगवान् ने कहा।

"यह कैसे हो सकता है"--पुनः प्रश्न ?

"सोमिल ! तेरे मत से सरिसव दो प्रकार के हैं,--१ मित्र सरिसव (समान वय वाले--सरीखे) और २ धान्य सरिसव। मित्र सरिसव तीन प्रकार के हैं--१ सहजात--साथ जन्मे २ सहवर्धित--साथ बढ़े हुए ३ सहपांशुक्रीड़ित--साथ खेले हुए। प्रथम प्रकार के ये तीनों श्रमण-निर्ग्रंथों के लिए अभक्ष्य हैं।

धान्य सरिसव दो प्रकार के हैं —शस्त्र-परिणत और अशस्त्र-परिणत। अशस्त्र-परिणत अभक्ष्य है। शस्त्र-परिणत दो प्रकार का है—एषणीय और अनेषणीय। अनेषणीय अभक्ष्य है। एषणीय भी दो प्रकार का है—याचित और अयाचित। अयाचित अभक्ष्य है। याचित के भी दो भेद हैं---लब्ध---प्राप्त और अप्राप्त। अप्राप्त अभक्ष्य है। प्राप्त भक्ष्य है।"

"भगवन् ! मास आपके लिये भक्ष्य है या अभक्ष्य ? सरिसव प्रश्न के उतर में--सोमिल को बोलने जैसा कुछ रहा ही नहीं, तब उसने दूसरा प्रश्न पूछा।

"सोमिल ! मास भक्ष्य भी है और अभक्ष्य भी।"

"भगवन् ! मास में भेद कैसे हैं ?"

"सोमिल ! तुम्हारे शास्त्र में मास दो प्रकार का बताया है--द्रव्य मास और काल-मास। काल-मास श्रावण-भाद्रपद यावत् आषाढ़ पर्यंत बारह हैं। यह अभक्ष्य है। द्रव्य-मास भी दो प्रकार का है--अर्थमास और धान्यमास। अर्थ-मास (एक प्रकार का तोल) भी दो प्रकार का है---स्वर्ण-मास और रौप्य-मास। यह अभक्ष्य है। धान्य (उड़द) दो प्रकार का है—शस्त्रपरिणत और अशस्त्र-परिणत। अशस्त्र-परिणत अभक्ष्य है। शस्त्र-परिणत भी दो प्रकार का है, इत्यादि सरिसववत्।

इस प्रश्न के भी व्यर्थ जाने पर सोमिल ने नया प्रश्न उठाया;—

"भगवन् ! आपके लिये कुलस्था भक्ष्य है या अभक्ष्य ?"

सोमिल ! कुलस्था भक्ष्य भी है, और अभक्ष्य भी। तुम्हारे मत से कुलस्था के दो भेद हैं। स्त्री कुलस्था (कुलांगना) और धान्य कुलस्था। स्त्री कुलस्था तीन प्रकार की है—कुलकन्या, कुलवधू और कुलमाता। ये तीनों अभक्ष्य हैं। धान्य कुलस्था के भेद और भक्ष्याभक्ष्य, धान्य सरिसव के अनुसार है।"

सोमिल इस में भी सफल नहीं हुआ, तो उलझन भरा एक और अंतिम प्रश्न पूछा;—

"भगवन् ! आप एक हैं, दो हैं, अक्षय हैं, अव्यय हैं, अवस्थित हैं अथवा अनेक भूत-भाव-भावित्त हैं ?"

"हाँ सोमिल ! मैं एक यावत् भूत-भाव-भाविक हूँ। द्रव्यापेक्षा मैं एक हूँ। ज्ञान और दर्शन के भेद से दो हूँ, आत्म-प्रदेश से अक्षय, अव्यय और अवस्थित हूँ। उपयोग से मैं अनेक भूत, वर्तमान और भावी परिणामों के योग्य हूँ *।

भगवान् के उत्तर से सोमिल संतुष्ट हुआ और भगवान् के उपदेश से प्रतिबोध पा कर बारह प्रकार का श्रावक-धर्म अंगीकार कर विचरने लगा। भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी वाराणसी से विहार कर अन्यत्र पधारे। कालान्तर में असाधु-दर्शन से मिथ्यादृष्टि बन गया। उसने वाराणसी के बाहर, पुष्पों और फलों के बगीचे लगवाये और उनकी शोभा एवं सुन्दरता में लुब्ध रहने लगा। उसके बाद उसने 'दिशाप्रोक्षक' प्रव्रज्या स्वीकार की और गंगानदी के किनारे रह कर तपस्या पूर्वक साधना करने लगा। कालान्तर में उसने अनित्यता का चिन्तन करते हुए महाप्रस्थान करने का निश्चय किया और अन्य तापसों से पूछ कर और अपने उपकरण ले कर तथा काष्ठ-मुद्रा (लकड़ी की मुंहपती) से मुंह बाँध कर **(कट्ठमुद्दाए मुहं बंधइ)** उत्तर दिशा की ओर चल दिया। उसका अभिग्रह था कि यदि वह चलते-चलते कहीं गड्ढे आदि में गिर जायगा, तो वहाँ से उठेगा नहीं, और उसी दशा में आयु पूर्ण करेगा। इस साधना के चलते अर्द्धरात्रि के समय सोमिल के समक्ष एक देव

* सोमिल का उपरोक्त वर्णन पुष्पिका उपांग के तीसरे अध्ययन में है। किन्तु प्रश्नोत्तर के लिए भगवती सूत्र (श. १८ उ. १०:) का निर्देश कर के संक्षेपित कर दिया है। भगवती में भी सोमिल ब्राह्मण के ही प्रश्न हैं, किन्तु वह वाणिज्यग्राम का निवासी था और अपने एक सौ शिष्यों के साथ भ० महावीर के पास आया था। वह श्रमणोपासक हो कर आराधक हुआ था। किन्तु यह सोमिल स्थिर नहीं रह सका। असाधु-दर्शन से विचलित हो कर पतित हो गया। इस प्रकार दोनों में भेद बहुत है।

प्रकट हुआ और बोला--"सोमिल ! तेरी यह साधना अच्छी नहीं है।" इस प्रकार दो तीन बार कहा। किंतु सोमिल ने उसकी उपेक्षा कर दी। इस प्रकार चार रात्रि तक देव आ कर सोमिल से कहता रहा और सोमिल उपेक्षा करता रहा। पाँचवें दिन की रात भी देव आया और इसी प्रकार बोला। दो बार कहने तक तो वह नहीं बोला, जब तीसरी बार कहा तो सोमिल ने पूछा -"क्यों, मेरी प्रव्रज्या बुरी कैसे है ?" देव ने कहा-"देवानुप्रिय ! तुमने भ० पार्श्वनाथ से पाँच अणुव्रतादि श्रावक-धर्म स्वीकार किया था। उस सम्यग्-धर्म को त्याग कर यह दुःप्रव्रज्या स्वीकार की। यह अच्छा नहीं किया।"

सोमिल ने देव से पूछा--"कृपया आप ही बतावें कि मैं सुप्रव्रजित कैसे बनूं ?"

देव ने कहा-"आप पूर्ववत् बारह व्रतों का पालन करें, तो वह प्रव्रज्या सम्यक् हो सकती है।"

सोमिल ने देव की बात स्वीकार कर ली। देव सोमिल को नमस्कार कर के चला गया। सोमिल पुनः श्रावक-व्रत पालने लगा। और उपवास यावत् मासखमण तप करता हुआ विचरने लगा। उसने अर्धमास की संलेखना कर के और अपनी पूर्व विराधना की शुद्धि नहीं कर के आयु पूर्ण कर वह शुक्र महाग्रह देव हुआ।

यही देव भगवान् महावीर प्रभु को वन्दन करने आया था। गौतम स्वामी के पूछने पर भगवान् महावीर ने उसका पूर्वभव इस प्रकार सुनाया और कहा-"देवभव पूर्ण कर यह महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य होगा और निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या स्वीकार कर के मुक्ति प्राप्त करेगा।

काली आर्यिका विराधक हो कर देवी हुई

आमलकल्पा नगरी में काल नामक धनाढ्य गृहस्थ रहता था। उसकी कालश्री भार्या से उत्पन्न 'काली' नामक पुत्री थी। वह काली पुत्री, यौवनवय में भी वृद्धा--वृद्ध-शरीर वाली--दिखाई देती थी। उसका शरीर जराजीर्ण लगता था। वह कुमारी होते हुए भी गतयौवना की भाँति विगलित अंगोपांग वाली थी। उसके स्तन लटक गये थे। उससे लग्न करने को कोई भी युवक तैयार नहीं था। वह पति से वंचित थी।

एकदा भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी आमलकल्पा नगरी पधारे और आम्रशाल उद्यान में विराजे। नागरिक जनता के समान काली कुमारी भी अपने माता-पिता की आज्ञा ले

कर, धर्म-रथ पर आरूढ़ हो कर दासियों के साथ भगवान् की वन्दना करने गई। धर्मोपदेश सुना। वैराग्य प्राप्त कर दीक्षित हुई। महासती श्रीपुष्पचूलाजी की शिष्या हुई। ग्यारह अंग सूत्रों का ज्ञान अर्जित किया और विविध प्रकार का तप करती हुई विचरने लगी।

कालान्तर में वह काली आर्यिका 'शरीरबाकुशिका' हो गई। वह बारम्बार हाथ, पाँव, मुख, स्तन आदि धोने लगी। जहाँ बैठती-सोती वहाँ जल का छिड़काव करती। उसकी इस प्रकार की चर्या देख कर गुरुणीजी महासती श्रीपुष्पचूलाजी ने कहा—

"देवाणुप्रिया ! श्रमणी-निर्ग्रंथियों को शरीरबकुशा नहीं होना चाहिये। तुम शरीर-बकुशा हो गई हो। इस प्रवृत्ति को छोड़ो और आलोचना कर के प्रायश्चित्त से शुद्ध बनो।"

काली आर्यिका ने गुरुणीजी का आदेश नहीं माना, तब पुष्पचूलाजी और अन्य साध्वियें काली आर्यिका की निन्दा करने लगी। अपनी निन्दा सुन कर काली आर्यिका को विचार हुआ कि—"जब मैं गृहस्थवास में थी, तब तो मैं स्वतन्त्र थी। अपनी इच्छानुसार करती थी। परन्तु दीक्षित होने के बाद मैं परवश हो गई। अब मुझे इन साध्वियों से पृथक् हो कर स्वाधीन हो जाना ही श्रेयस्कर है।" इस प्रकार सोच कर वह साध्वी-समूह से पृथक् हो कर रहने लगी और इच्छानुसार करने लगी। 'वह पार्श्वस्था पार्श्वस्थविहारी (ज्ञानादि युक्त नहीं, किन्तु ज्ञानादि के पास—निकट रहने-विचरने लगी) अवसन्न, कुशील यथाच्छन्द एवं संसक्त हो कर विचरने लगी। इस प्रकार बहुत वर्षों तक रही। अंत में अर्द्धमासिकी संलेखणा पूर्ण कर, शरीरबकुशताजन्य दोष की शुद्धि किये बिना ही आयु पूर्ण कर के भवनपति की चमरचंचा राजधानी में देवी के रूप में उत्पन्न हुई। वहाँ वह चार हजार सामानिक देव और अन्य अनेक देव-देवियों की स्वामिनी बनी। उसकी आयु ढाई पल्योपम की है। कालान्तर में यह कालीदेवी भ० महावीर प्रभु की वन्दनार्थ राजगृही के गुणशील उद्यान में आई और भगवान् को वन्दना-नमस्कार कर नाटक किया और चली गई। श्री गौतमस्वामीजी के पूछने पर भगवान् ने उसका पूर्वभव और बाद के मनुष्य-भव में मुक्त होना बतलाया।

इसी प्रकार कुमारी राजी, रजनी, विद्युत् और मेघा का चरित्र भी जानना चाहिये। श्रावस्ति नगरी की शुंभा, निशुंभा, रंभा, निरंभा और मदनाकुमारी भी इसी प्रकार भ० पार्श्वनाथ से दीक्षित हो कर चारित्र की विराधना कर के [illegible] [illegible] [illegible] की देवियाँ हुई।

वाराणसी की इला, सतेरा, सौदामिनी, इन्द्रा, घना और विद्युत् भी चारित्र की

विराधना कर के धरणेन्द्र की अग्रमहिषी हुई। इसी प्रकार वेणुदेव की छह यावत् घोष इन्द्र तक की छह अग्रमहिषियों का चरित्र है।

चम्पानगरी की रुचा, सुरुचा, रुचांशा, रुचकावती, रुचकान्ता और रुचप्रभा भी विराधना कर के असुरकुमार के भूतानन्द इन्द्र की इन्द्रानियाँ हुई।

नागपुर की कमला, पिशाचेन्द्र काल की अग्रमहिषी हुई और कमलप्रभा आदि ३१ कुमारियाँ दक्षिण दिशा के व्यंतरेन्द्रों की रानियाँ हुई। उत्तर दिशा के महाकालेन्द्र की तथा व्यंतरेन्द्रों की बत्तीस रानियाँ भी इसी प्रकार हुई।

अरक्खुरी नगरी की सूर्यप्रभा, आतपा, अर्चिमाली और प्रभंकरा भी चारित्र की विराधना कर के सूर्य इन्द्र की अग्रमहिषियाँ हुई। मथुरा की चन्द्रप्रभा, दोषीनाभा, अर्चिमाली और प्रभंकरा ज्योतिषी के इन्द्र चन्द्र की महारानियाँ हुई।

श्रावस्ति की पद्मा और शिवा, हस्तिनापुर की सती और अंजु, काम्पिल्यपुर की रोहिणी और नवमिका और साकेत नगर की अचला और अप्सरा, ये आठों सौधर्म देवलोक के स्वामी शक्रेन्द्र की इन्द्रानियाँ हुई।

कृष्णा कृष्णराजी वाराणसी की, रामा रामरक्षिता राजगृही की, वसु, वसुगुप्ता श्रावस्ति की, वसुमित्रा और वसुन्धरा कौशाम्बी की भी चारित्र की विराधना कर के ईशानेन्द्र की इन्द्रानियाँ हुई।

ये सभी भ० पार्श्वनाथ से दीक्षित हुई थी और कालान्तर में काली आर्यिका के समान विराधना कर के देवियाँ हुई ‡।

राजगृही नगरी के सुदर्शन गाथापति की भूता नाम की पुत्री भी काली के समान वृद्धकुमारिका थी। उसने भी भ० पार्श्वनाथजी से प्रव्रज्या ग्रहण की और विराधना करके सौधर्मकल्प के श्रीवतंसक विमान में देवी हुई। उसका नाम 'श्री' देवी हुआ—विमान के नाम के अनुसार। श्री देवी के समान ही धी, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, इलादेवी, सुरादेवी, रसदेवी और गन्धदेवी। इस प्रकार कुल दस देवियों का वर्णन पुष्पचूलिका सूत्र में है।

जितनी भी देवियाँ हैं, वे सभी विराधिका हैं। वे या तो प्रथम गुणस्थान से आती है, या ज्ञानदर्शन-चारित्र की विराधना कर के आती है। भवनपति, व्यंतर और ज्योतिषी देव होना भी ऐसा ही है। सम्यग्दृष्टि के सद्भाव में कोई भी मनुष्य या तिर्यंच, एक वैमानिक देव का ही आयुष बांधता है।

---

‡ इनका वर्णन ज्ञाताधर्मकथा के दूसरे श्रुतस्कन्ध में है।

प्रभु का निर्वाण

भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी के १६००० साधु, ३८००० साध्वियाँ, ३५० चौदह पूर्वधर, १४०० अवधिज्ञानी, ७५० मनःपर्यवज्ञानी, १००० केवलज्ञानी, ११०० वैक्रिय-लब्धिधारी, ६०० वादलब्धिसम्पन्न, १६४००० श्रावक और ३२७००० श्राविकाएँ × हुई।

निर्वाण समय निकट आने पर भगवान् तेतीस मुनियों के साथ सम्मेदशिखर पर्वत पर पधारे और अनशन किया। श्रावण-शुक्ला अष्टमी को विशाखा नक्षत्र में एक मास के अनशन के साथ प्रभु मोक्ष पधारे।

भगवान् गृहस्थावास में ३० वर्ष व्रतपर्याय में ७० वर्ष, इस प्रकार कुल आयु १०० वर्ष का रहा।

॥ भ० पार्श्वनाथ स्वामी का चरित्र पूर्ण हुआ ॥

× ग्रन्थ में ३७७००० लिखी है, किन्तु कल्पसूत्र में ३२७००० लिखी है।

भ० महावीर स्वामीजी

नयसार का भव

जम्बूद्वीप के पश्चिम महाविदेह में 'महावप्र' नामक विजय है। उस विजय की 'जयंती नगरी' में शत्रुमर्दन राजा था। उसके राज्य में पृथ्वीप्रतिष्ठान नामक गाँव था। वहाँ 'नयसार' नामक स्वामी-भक्त एवं जनहितैषी गृहपति रहता था। वह स्वभाव से ही भद्र, पापभीरु और दुर्गुणों से वंचित था। सदाचार एवं गुण-ग्राहकता उसके स्वभाव में बसी हुई थी। एक दिन राजाज्ञा से वह भवन-निर्माण के योग्य बड़े-बड़े काष्ठ लेने के लिये, कई गाड़े ले कर महाबन में गया। वृक्ष काटते हुए मध्यान्ह का समय हो गया। गरमी बढ़ गई और भूख भी बढ़ गई थी। साथ के लोग एक सघन वृक्ष के नीचे भोजन ले कर बैठे और नयसार को बुलाया। वह भी भूख-प्यास से पीड़ित हो रहा था। किन्तु अतिथि-सत्कार में उसकी रुचि थी। "यदि कोई अतिथि आवे, तो उसे भोजन कराने के बाद मैं भोजन करूँ"—इस विचार से वह इधर-उधर देखने लगा। उसने देखा कि कुछ मुनि इधर ही आ रहे हैं। वे श्रमण क्षुधा-पिपासा, गरमी थकान और प्रस्वेद से पीड़ित तथा सार्थ से बिछुड़े हुए थे। उन्हें देखते ही नयसार प्रसन्न हुआ। उसने मुनियों को नमस्कार किया और पूछा--

"महात्मन्! इस भयानक महाअटवी में आप कैसे आये? यहाँ तो शस्त्र-सज्ज योद्धा भी एकाकी नहीं आ सकता।"

"महानुभाव! हम एक सार्थ के साथ विहार कर रहे थे। मार्ग के गांव में हम

भिक्षाचरी के लिये गये। हमें भिक्षा नहीं मिली। लौट कर देखा, तो सार्थ प्रस्थान कर गया था। हम उसके पीछे चलते रहे और मार्ग भूल कर इस अटवी में भटक रहे हैं,"--अग्रगण्य महात्मा ने कहा।

"अहो, वह सार्थ कितना निर्दय, पापपूर्ण और विश्वासघाती है कि अपने साथ के साधुओं को निराधार छोड़ कर चल दिया? परन्तु इस निमित्त भी मुझे तो संत-महात्माओं की सेवा का लाभ मिला ही"--इस प्रकार कहता हुआ और प्रसन्नता अनुभव करता हुआ नयसार महात्माओं को अपने भोजन के स्थान - वृक्ष के नीचे - लाया और भक्तिपूर्वक आहार-पानी दिया। मुनियों ने एक वृक्ष के नीचे विधिपूर्वक बैठ कर आहार किया। तदुपरान्त नयसार ने साथ चल कर नगर का मार्ग बताया। प्रमुख महात्मा ने उसे वहीं बैठ कर धर्मोपदेश दिया। नयसार प्रतिबोध पाया और सम्यक्त्व लाभ लिया।

नयसार अब धर्म में विशेष रुचि रखने लगा। तत्त्वों का अभ्यास किया। नमस्कार महामन्त्र का स्मरण करता हुआ, अन्त समय में शुभ भावनायुक्त काल कर के वह प्रथम स्वर्ग में एक पल्योपम की स्थिति वाला देव हुआ।

भरत-पुत्र मरीचि

इस भरतक्षेत्र में 'विनीता' नाम की श्रेष्ठ नगरी थी। भगवान् आदिनाथ के पुत्र महाराजाधिराज भरतजी राज्याधिपति थे। नयसार का जीव प्रथम स्वर्ग से च्यव कर भरत महाराज के पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। बालक के शरीर में से मरीचि (किरणें) निकल रही थी। इससे उसका नाम 'मरीचि' रखा।

भ० ऋषभदेवजी का विनीता में प्रथम समवसरण था। मरीचि भी अपने पिता और भ्राताओं के साथ समवसरण में भगवान् को वन्दन करने आया। प्रभु की देवों और इन्द्रों द्वारा हुई महिमा देख कर और भगवान् का धर्मोपदेश सुन कर वह सम्यग्दृष्टि हुआ और संसार से विरक्त हो कर प्रव्रज्या स्वीकार कर ली। संयम की शुद्धतापूर्वक आराधना करने के साथ उसने ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त किया। वर्षों तक संयम का पालन करते हुए एक वार ग्रीष्म ऋतु आई। सूर्य के प्रचण्ड ताप से भूमि अति उष्ण हो गई। भूमि पर नग्न पाँव धरना अत्यन्त कष्टदायक हो गया। उसके पहिने हुए दोनों वस्त्र प्रस्वेद से लिप्त हो गए। उसे प्यास का परीषह भी बहुत सताने लगा। इस निमित्त से मरीचि के मन में चारित्रमोहनीय का उदय हुआ। वह सोचने लगा;--

" निर्ग्रंथ-साधुता मेरुपर्वत जितना भार उठाने के समान है। मुझ में इतना सामर्थ्य नहीं कि मैं इस भार को शांतिपूर्वक वहन कर सकूँ। किंतु अब इसका त्याग भी कैसे हो सकता है ? यदि मैं साधुता छोड़ कर पुनः गृहस्थ बनता हूँ, तो लोग निन्दा करेंगे और मुझे लज्जित होना पड़ेगा। फिर क्या करूँ ?" वह विचार करने लगा। उसे रास्ता मिल गया। " जिन धर्म में भी श्रावकों के देशव्रत तो है ही। मैं देश-विरत बन जाऊँ और वेश से साधु भी रहूँ। जैसे कि--

(१) ये श्रमण-महात्मा त्रिदण्ड (मन, वचन और काया से पाप करके आत्मा को दंड योग्य बनाना) से विरत हैं। किन्तु मैं त्रिदण्ड से युक्त रहूँगा। इसलिये मैं त्रिदण्ड का चिन्ह रखूँगा।

(२) सभी श्रमण केशों का लोच कर के मुण्डित बनते हैं। किन्तु मैं कैंची आदि से केश कटवाऊँगा और शिखाधारी रहूँगा।

(३) श्रमण-निर्ग्रंथ पाँच महाव्रतधारी होते हैं। मैं आणुव्रती बनूँगा।

(४) मुनिवृंद अपरिग्रही निष्किंचन हैं, किन्तु मैं मुद्रिकादि परिग्रह रखूँगा।

(५) शीत-उष्ण और वर्षा से बचने के लिये मैं छत्र भी रखूँगा।

(६) मैं पाँवों की रक्षा के लिये उपानह भी पहनूँगा।

(७) दुर्गंध से बचने के लिये ललाट पर चन्दन लगाऊँगा।

(८) श्रमणवृंद कषायों के त्यागी हैं, शुद्ध स्वच्छ साधना वाले हैं, इसलिए वे शुक्ल—श्वेत वस्त्र धारण करते हैं, किन्तु मैं वैसा नहीं रहा। इसलिये मैं कषाय (रंगा हुआ) वस्त्र धारण करूँगा।

(९) मुनिवरों ने असंख्य-अनन्त जीवों वाले सचित्त जल का त्याग कर दिया है, परन्तु मैं परिमित जल से स्नान भी करूँगा और पान भी करूँगा।

इस प्रकार निश्चय कर के मरीचि ने मुनिलिंग का त्याग कर के त्रिदण्डी सन्यास धारण किया। उसके वेश की भिन्नता देख कर लोग उससे पूछते कि—"आपने यह परिवर्त्तन क्यों किया ?

वह कहता—"श्रमण-धर्म मेरु पर्वत का महाभार उठाने के समान है। मुझ में इतना सामर्थ्य नहीं कि मैं इसका निर्वाह कर सकूँ। इसलिये मैंने परिवर्त्तन किया है।"

मरीचि धर्मोपदेश देता। उसके उपदेश से प्रतिबोध पा कर कोई व्यक्ति श्रमण-दीक्षा धारण करना चाहता, तो वह भ० ऋषभदेवजी के पास लेजा कर दीक्षा दिलवाता और विहार में भगवान् के साथ ही चलता।

भावी तीर्थंकर

कालांतर में भगवान् फिर विनीता नगरी के बाहर पधारे। महाराजाधिराज भरत भगवान् को वन्दन करने आया। भरत महाराज ने भविष्य में होने वाले तीर्थंकर आदि के विषय में पूछा। प्रभु ने भविष्य में होने वाले तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव के नाम बताये। महाराजा ने पुनः पूछा---

"भगवन्! इस सभा में कोई ऐसा व्यक्ति है जो भविष्य में आपके समान अरिहंत होगा?"

"हां, तुम्हारा पुत्र मरीचि इस अवसर्पिणी काल का 'महावीर' नाम का अंतिम तीर्थंकर होगा और पोतनपुर में 'त्रिपृष्ट' नामक प्रथम वासुदेव, तथा महाविदेह की मोका नगरी में 'प्रियमित्र' नामक चक्रवर्ती होगा"---भगवान् ने कहा।

प्रभु का निर्णय सुन कर भरत महाराज मरीचि के पास आये और कहने लगे---

"तुमने पवित्र निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या का त्याग कर दिया, इसलिये तुम वन्दन करने योग्य नहीं रहे, परंतु तुम भविष्य में पोतनपुर में प्रथम त्रिपृष्ठ वासुदेव, महाविदेह में चक्रवर्ती और इस अवसर्पिणी काल के 'महावीर' नाम के अन्तिम तीर्थंकर होओगे। भगवान् ने तुम्हारा यह शुभ भविष्य बतलाया, जिसका शुभ संवाद देने मैं तुम्हारे पास आया हूँ।"

मरीचि ने नया पंथ चलाया

जिनेश्वर भगवान् आदिनाथजी के निर्वाण के वाद मरीचि साधुओं के साथ फिरने लगा और भव्यजनों को बोध दे कर दीक्षा के लिए साधुओं के पास ला कर दीक्षा दिलवाता। कालान्तर में मरीचि व्याधिग्रस्त हुआ। वह संयमी नहीं रहा था, इसलिये साधुओं ने उसकी सेवा नहीं की। दुःख से संतप्त मरीचि ने सोचा--

"अहो! ये साधु स्वार्थी, निर्दय और कठोर हृदय के हैं। ये अपने स्वार्थ में ही लगे रहते हैं। ये लोक-व्यवहार का भी पालन नहीं करते। इन्हें धिक्कार है। मैं इनका परिचित हूँ। इन पर स्नेह-श्रद्धा रखता हूँ और हम सब एक ही गुरु के शिष्य हैं। मैं इनके साथ बड़े विनीत भाव से व्यवहार करता हूँ। इन सब संबंधों का पालन करना तो दूर रहा, ये तो मेरे सामने भी नहीं देखते।" इस प्रकार सोचते हुए उसके विचारों ने दूसरा मोड़ लिया--"अरे, मुझे ऐसे विचार नहीं करना चाहिये। ये शुद्धाचारी श्रमण हैं। मेरे जैसे भ्रष्ट की परिचर्या ये कैसे कर सकते हैं? अब मेरा प्रवन्ध मुझे ही करना पड़ेगा। व्याधि से मुक्त होने के वाद मैं भी अपना एक शिष्य बनाऊँ, जो मेरी सेवा करे।"

मरीचि व्याधि-मुक्त हुआ। उसे 'कपिल' नामक एक कुलपुत्र मिला। मरीचि ने कपिल को आर्हत् धम का उपदेश दिया। वह दीक्षा का इच्छुक था। उसने पूछा--"आर्हत् धर्म उत्तम है, तो आप उसका पालन क्यों नहीं करते?"

मरीचि ने कहा--"मैं उस धर्म का पालन करने में समर्थ नहीं हूँ।"

"क्या आपके मत में धर्म नहीं है"--कपिल ने पूछा।

"जिनमार्ग में भी धर्म है और मेरे मार्ग में भी धर्म है"--मरीचि ने स्वार्थवश कहा।

कपिल मरीचि का शिष्य हो गया। इस प्रकार मिथ्या उपदेश से मरीचि ने कोटाकोटि सागरोपम प्रमाण संसार-भ्रमण रूप कर्म उपार्जन किया। मरीचि ने अनशन किया और पाप की आलोचना किये विना ही आयु पूर्ण कर ब्रह्म देवलोक में दस सागरोपम की स्थिति वाला देव हुआ। उसके शिष्य कपिल ने भी आसूर्य आदि शिष्य किये और अपने आचार-विचार से परिचित किया। आयु पूर्ण कर के वह भी ब्रह्मदेवलोक में देव हुआ। ज्ञान से अपने शिष्यों को देख कर वह पृथ्वी पर आया और उन्हें 'सांख्य मत' वतलाया।

तब से सांख्य मत पृथ्वी पर चल रहा है। सुख-साध्य अनुष्ठानों में लोगों की रुचि अधिक ही होती है।

मरीचि का जीव ब्रह्म देवलोक से च्यव कर कोल्लाक ग्राम में कौशिक नामक ब्राह्मण हुआ। उसकी आयु अस्सी लाख पूर्व की थी। वह लोभी, विषयासक्त और हिंसादि पापों में बहुत काल लगा रहा। अन्त में त्रिदंडी हुआ और मृत्यु पा कर भव-भ्रमण करता रहा। फिर स्थुणा ग्राम में 'पुष्पमित्र' नाम का ब्राह्मण हुआ। वहाँ भी वह त्रिदंडी हुआ और बहत्तर लाख पूर्व का आयु पूर्ण कर के सोधर्म देवलोक में मध्यम स्थिति का देव हुआ। वहाँ से च्यव कर चैत्य नामक स्थान में 'अग्न्युद्योत' नाम का ब्राह्मण हुआ। उसकी आयु चौंसठ लाख पूर्व की थी। वहां भी वह त्रिदंडी हुआ। मृत्यु पा कर ईशान देवलोक में मध्यम स्थिति का देव हुआ। वहां से च्यव कर मन्दिर नाम के सन्निवेश में छप्पन लाख पूर्व की आयु वाला 'अग्निभूति' ब्राह्मण हुआ। वहां भी त्रिदंडी बना। आयु पूर्ण कर सनत्कुमार देवलोक में मध्यम स्थिति का देव हुआ। वहाँ से मर कर श्वेताम्बिका नगरी में 'भारद्वाज' नामका विप्र हुआ। वहाँ भी त्रिदंडी दीक्षा ली और चवालीस लाख पूर्व का आयु पूर्ण कर माहेन्द्र कल्प में मध्यम स्थिति का देव हुआ। वहां से च्यव कर भव-भ्रमण करता हुआ राजगृहि में 'स्थावर' नाम का ब्राह्मण हुआ। त्रिदंडी प्रव्रज्या ग्रहण की और चौंतीस लाख पूर्व का आयु भोग कर ब्रह्म देवलोक में मध्यम स्थिति का देव हुआ। वहां से च्यव कर अन्य बहुत भव किये।

त्रिपृष्ट वासुदेव भव

महाविदेह क्षेत्र में 'पुंडरीकिनी' नगरी थी। सुबल नाम का राजा वहाँ राज करता था। उसने वैराग्य प्राप्त कर 'मुनिवृषभ' नाम के आचार्य के पास दीक्षा ग्रहण की और संयम तथा तप का अप्रमत्तपने उत्कृष्ट रूप से पालन करते हुए काल कर के अनुत्तर विमान में देवपने उत्पन्न हुए।

भरत-क्षेत्र के राजगृह नगर में 'विश्वनंदी' नाम का राजा था। उसकी 'प्रियंगु' नाम की पत्नी से 'विशाखनन्दी' नाम का पुत्र हुआ। विश्वनन्दी राजा के 'विशाखभूति' नाम का छोटा भाई था। वह 'युवराज' पद का धारक था। वह बड़ा बुद्धिमान्, बलवान् नीतिवान् और न्यायी था, साथ ही विनीत भी। विशाखभूति की 'धारिनी' नाम की रानी

की उदर से, मरीचि का जीव (जो प्रथम चक्रवर्ती महाराजा भरतेश्वर का पुत्र था और भ० आदिनाथ के पास से निकल कर पृथक् पंथ चला रहा था) पुत्रपने उत्पन्न हुआ। उसका नाम 'विश्वभूति' रखा गया। वह सभी कलाओं में प्रवीण हुआ। यौवन-वय आने पर अनेक सुन्दर कुमारियों के साथ उसका लग्न किया गया। वहाँ 'पुष्पकरंडक' नाम का उद्यान बड़ा सुन्दर और रमणीय था। उस नगरी में सर्वोत्तम उद्यान यही था। राजकुमार विश्वभूति अपनी स्त्रियों के साथ उसी उद्यान में रह कर विषय-सुख में लीन रहने लगा।

एक बार महाराज विश्वनन्दी के पुत्र राजकुमार विशाखनन्दी के मन में, इस पुष्प-करंडक उद्यान में अपनी रानियों के साथ रह कर क्रीड़ा करने की इच्छा हुई। किंतु उस उद्यान में तो पहले से ही विश्वभूति जमा हुआ था। इसलिए विशाखनन्दी वहाँ जा ही नहीं सकता था। वह मन मार कर रह गया। एक बार महारानी की दासियाँ उस उद्यान में फूल लेने गई। उन्होंने विश्वभूति और उसकी रानियों को उन्मुक्त क्रीड़ा करते देखा। उनके मन में डाह उत्पन्न हुई। उन्होने महारानी से कहा —

"महारानीजी ! इस समय वास्तविक राजकुमार तो मात्र विश्वभूति ही है। वही सर्वोत्तम ऐसे पुष्पकरण्डक उद्यान का उपभोग कर रहा है और अपने राजकुमार तो उससे वंचित रह कर साधारण स्थान पर रहते हैं। यह हमें तो वहुत बुरा लगता है। महाराजाधिराज एवं राजमहिषी का पाटवी कुमार, साधारण ढंग से रहे और छोटा भाई का लड़का राजाधिराज के समान सुख-भोग करे, यह कितनी बुरी वात है ?"

महारानी को वात लग गई। उनके मन में भी द्वेष की चिनगारी पैठ गई और सुलगने लगी। महाराज अन्तःपुर में आये। रानी को उदास देख कर पूछा। राजा ने रानी को समझाया—"प्रिये ! यह ऐसी वात नहीं है, जिससे मन मैला किया जाय। कुछ दिन विश्वभूति रह ले, फिर वह अपने आप वहाँ से हट कर भवन में आ जायगा और विशाख-नन्दी वहाँ चला जायगा। छोटी-सी वात में कलह उत्पन्न करना उचित नहीं है।" किन्तु रानी को संतोष नहीं हुआ। अन्त में महाराजा ने रानी की मनोकामना पूर्ण करने का आश्वासन दिया, तव संतोष हुआ।

राजा ने एक चाल चली। उसने युद्ध की तैयारियाँ प्रारम्भ की। सर्वत्र हलचल मच गई। यह समाचार विश्वभूति तक पहुँचा, तो वह तुरन्त महाराज के पास आया और महाराज से युद्ध की तैयारियों का कारण पूछा। महाराजा ने कहा,—

"वत्स ! अपना सामन्त पुरुषसिंह विद्रोही बन गया है। वह उपद्रव मचा कर राज्य को छिन्न-भिन्न करना चाहता है। उसे अनुशासन में रखने के लिए युद्ध आवश्यक हो गया है।"

"पूज्यवर ! इसके लिये स्वयं आपका पधारना आवश्यक नहीं है। मैं स्वयं जा कर उसके विद्रोह को दबा दूंगा और उसकी उद्दंडता का दण्ड दे कर सीधा कर दूंगा। आप मुझे आज्ञा दीजिए।"

राजा यही चाहता था। विश्वभूति सेना ले कर चल दिया। उसकी पत्नियाँ उद्यान में से राज-भवन में आ गई। विश्वभूति की सेना उस सामंत की सीमा में पहुँची, तो वह स्वयं स्वागत के लिए आया और उसने कुमार का अति आदर-सत्कार किया। कुमार ने देखा कि यहाँ तो उपद्रव का चिन्ह भी नहीं है। सामन्त, पूर्ण रूप से आज्ञाकारी है। उसके विरुद्ध युद्ध करने का कोई कारण ही नहीं है। कदाचित् किसी ने असत्य समाचार दिये होंगे। वह सेना ले कर लौट आया और उसी पुष्पकरंडक उद्यान में गया। उद्यान में प्रवेश करते उसे पहरेदार ने रोका और कहा—"यहाँ राजकुमार विशाखनन्दी अपनी रानियों के साथ रहते हैं। अतएव आपका उद्यान में पधारना उचित नहीं होगा।"

अब विश्वभूति समझा। उसने सोचा कि 'मुझे उद्यान में से हटाने के लिए ही युद्ध की चाल चली गई।' उसे क्रोध आया। अपने उग्र क्रोध के वश हो कर निकट ही रहे हुए एक फलों से लदे हुए सुदृढ़ वृक्ष पर मुक्का मारा। मुष्ठि-प्रहार से उसके सभी फल टूट कर गिर पड़े और पृथ्वी पर ढेर लग गया। फलों के उस ढेर की ओर संकेत करते हुए विश्वभूति ने द्वारपाल से कहा;—

"यदि पूज्यवर्ग की आशातना का विचार मेरे मन में नहीं होता, तो मैं अभी तुम सब के मस्तक इन फलों के समान क्षण-मात्र में नीचे गिरा देता।"

"धिक्कार है इस भोग-लालसा को। इसी के कारण कूड़-कपट और ठगाई होती है। इसी के कारण पिता-पुत्र, भाई-भाई और अपने आत्मीय से छल-प्रपञ्च किये जाते हैं। मुझे पापों की खान ऐसे कामभोग को ही लात मार कर निकल जाना चाहिए"—इस प्रकार निश्चय कर के विश्वभूति वहाँ से चला गया और संभूति नाम के मुनि के पास पहुँच कर साधु बन गया। जब ये समाचार महाराज विश्वनन्दी ने सुने, तो वे अपने समस्त परिवार और अन्तःपुर के साथ विश्वभूति के पास आये और कहने लगे;—

"वत्स ! तेने यह क्या कर लिया ? अरे, तू सदैव हमारी आज्ञा में चलने वाला रहा, फिर बिना हमको पूछे यह दुःसाहस क्यों किया ?"

महाराज ने आगे कहा--" पुत्र ! मुझे तुझ पर पूरा विश्वास था। मैं तुझे अपना कुलदीपक और भविष्य में राज्य की धुरा को धारण करने वाला पराक्रमी पुरुष के रूप में देख रहा था। किंतु तूने यह साहस कर के हमारी आशा को नष्ट कर दिया। अब भी समझ और साधुता को छोड़ कर हमारे साथ चल। हम सब तेरी इच्छा का आदर करेंगे। पुष्पकरण्डक उद्यान सदा तेरे लिए ही रहेगा। छोड़ दे इस हठ को और शीघ्र ही हमारे साथ हो जा।"

राजा, अपने माता-पिता, पत्नियाँ और समस्त परिवार के आग्रह और स्नेह तथा करुणापूर्ण अनुरोध की उपेक्षा करते हुए मुनि विश्वभूतिजी ने कहा;--

"अब मैं संसार के बन्धनों को तोड़ चुका हूँ। काम-भोग की ओर मेरी बिलकुल रुचि नहीं रही। जिस काम-भोग को मैं सुख का सागर मानता था और संसार के प्राणी भी यही मान रहे हैं, वास्तव में वे दुःख की खान रूप हैं। स्नेही-सम्बन्धी अपने मोह-पाश में बाँध कर संसार रूपी कारागृह का बन्दी बनाये रखते हैं और मोही जीव अपनी मोहजाल का विस्तार करता हुआ उसी में उलझ जाता है। मैं अनायास ही इस मोह-जाल को नष्ट कर के स्वतन्त्र हो चुका हूँ। यह मेरे लिए आनन्द का मार्ग है। अब आप लोग मुझे संसार में नहीं ले जा सकते। मैं तो अब विशुद्ध संयम और उत्कृष्ट तप की आराधना करूँगा। यही मेरे लिए परम श्रेयकारी है।'

मुनिराज श्री विश्वभूतिजी का ऐसा दृढ़ निश्चय जान कर परिवार के लोग हताश हो गए और लौट कर चले गये। मुनिराज अपने तप-संयम में मग्न हो कर अन्यत्र विचरने लगे।

मुनिराज ने ज्ञानाभ्यास के साथ बेला-तेला आदि तपस्या करते हुए बहुत वर्ष व्यतीत किये। इसके बाद गुरु की आज्ञा ले कर उन्होंने 'एकल-विहार प्रतिमा' धारण की और विविध प्रकार के अभिग्रह धारण करते हुए वे मथुरा नगरी के निकट आये। उस समय मथुरा नगरी के राजा की पुत्री के लग्न हो रहे थे। विशाखनन्दी बरात ले कर आया था और नगर के बाहर विशाल छावनी में बरात ठहरी थी। मुनिराजश्री विश्वभूतिजी, मासखमण के पारणे के लिए नगर की ओर चले। वे बरात की छावनी के निकट हो कर जा रहे थे कि बरात के लोगों ने मुनिश्री को पहिचान लिया और एक दूसरे से कहने लगे-- "ये विश्वभूति कुमार हैं।" यह सुन कर विशाखनन्दी भी उनके पास आया। उसके मन में पूर्व का द्वेष शेष था। उसी समय मुनिश्री के पास हो कर एक गाय निकली। उसके धक्के से मुनिराज गिर पड़े। उनके गिरने पर विशाखनन्दी हँसा और व्यंगपूर्वक बोला--

"वृक्ष पर मुक्का मार कर फल गिराने और उसी प्रकार क्षणभर में योद्धाओं के मस्तक गिरा कर ढेर करने की अभिमानपूर्ण बातें करने वाले महाबली ! कहाँ गया तेरा वह बल, जो गाय की मामूली-सी टक्कर भी सहन नहीं कर सका और पृथ्वी पर गिर कर धूल चाटने लगा ? वाह रे महाबली !"

तपस्वी मुनिजी, उसके मर्मान्तिक व्यंग को सहन नहीं कर सके । उनकी आत्मा में सुप्त रूप से रहा हुआ क्रोध भड़क उठा । उन्होंने उसी समय उस गाय के दोनों सींग पकड़ कर उसे उठा ली और घास के पुले के समान चारों ओर घुमा कर रख दी । इसके बाद वे मन में विचार करने लगे कि "यह विशाखनन्दी कितना दुष्ट है । मैं मुनि हो गया । अब इसके स्वार्थ में मेरी ओर से कोई बाधा नहीं रही, फिर भी यह मेरे प्रति द्वेष रखता है और शत्रु के समान व्यवहार करता है ।" इस प्रकार कषाय भाव में रमते हुए उन्होंने निदान किया कि—

"मेरे तप के प्रभाव से आगामी भव में मैं महान् पराक्रमी बनूँ ।"

इस प्रकार निदान कर के और उसकी शुद्धि किये बिना ही काल कर के वे महाशुक्र नाम के सातवें स्वर्ग में महान् प्रभावशाली एवं उत्कृष्ट स्थिति वाले देव बने ।

दक्षिण-भरत में पोतनपुर नाम का एक नगर था । 'रिपुप्रतिशत्रु' नामक नरेश वहाँ के शासक थे । वे न्याय, नीति, बल, पराक्रम, रूप और ऐश्वर्य से सम्पन्न और शोभायमान थे । उनकी अग्रमहिषी का नाम भद्रा था । वह पतिभक्ता, शीलवती और सद्गुणों पात्र थी । वह सुखमय शय्या में सो रही थी । उस समय 'सुबल' मुनि का जीव अनुत्तर विमान से च्यव कर महारानी की कुक्षि में आया । महारानी ने हस्ति, वृषभ, चन्द्र और पूर्ण सरोवर ऐसे चार महास्वप्न देखे । गर्भकाल पूर्ण होने पर पुत्र का जन्म हुआ । जन्मोत्सवपूर्वक पुत्र का नाम 'अचल' रखा । कुछ काल के बाद भद्रा महारानी ने एक सुन्दर कन्या को जन्म दिया । वह कन्या मृग के बच्चे के समान आँखों वाली थी, इसलिए उसका 'मृगावती' नाम रखा गया । वह चन्द्रमुखी, यौवनावस्था मे आई, तब सर्वांग सुन्दरी दिखाई देने लगी । उसका एक-एक अंग सुगठित और आकर्षक था । यह देख कर उसकी माता महारानी भद्रावती को उसके योग्य वर खोजने की चिन्ता हुई । उसने सोचा—"महाराज का ध्यान अभी पुत्री के लिए वर खोजने की ओर नहीं गया है । राजकुमारी यदि पिताश्री के सामने चली जाय, तो उन्हें भी वर के लिए चिन्ता होगी ।" इस प्रकार सोच कर उसने राजकुमारी को महाराजा के पास भेजी । दूर से एक अपूर्व सुन्दरी को आते देख कर राजा मोहाभिभूत हो गया । उसने सोचा—"यह तो कोई स्वर्ग लोक की अप्सरा है । कामदेव के अमोघ शस्त्र रूप में यह अवतरी है । पृथ्वी और स्वर्ग का राज्य मिलना सुलभ

है, किन्तु इन्द्रानी को भी पराजित करने वाली ऐसी अपूर्व सुन्दरी प्राप्त होना दुर्लभ है। मैं महान् भाग्यशाली हूँ जो मुझे ऐमा अलौकिक स्त्री-रत्न प्राप्त हुआ है।"

राजा इस प्रकार सोच ही रहा था कि राजकुमारी ने पिता को प्रणाम किया। राजा ने उसे अपने निकट बिठाई और उसका आलिंगन और चुम्बन कर के साथ में रहे हुए वृद्ध कंचुकी के साथ पुनः अन्तःपुर में भेज दी। राजा उस पर मोहित हो चुका था। वह यह तो समझता ही था कि पुत्री पर पिता की कुवुद्धि होना महान् दुष्कृत्य है। यदि मैं अपनी दुर्वासना को पूरी करूँगा, तो संसार में मेरी महान् निन्दा होगी। वह न तो अपनी वासना के वेग को दबा सकता था और न लोकापवाद की ही उपेक्षा कर सकता था। उसने वहुत सोच-विचार कर एक मार्ग निकाला।

राजा ने एक दिन राजसभा वुलाई। मंत्री-मण्डल के अतिरिक्त प्रजा के प्रमुख व्यक्तियों को भी वुलाया। सभी के सामने उसने अपना यह प्रश्न उपस्थित किया; —

"मेरे इस राज में, नगर में, गाँव में, घर में, या किसी भी स्थान पर कोई रत्न उत्पन्न हो, तो उस पर किसका अधिकार होना चाहिए?"

— "महाराज! आपके राज में जो रत्न उत्पन्न हो, उसके स्वामी तो आप ही हैं, दूसरा कोई भी नहीं"—मन्त्री-मण्डल और उपस्थित सभी सभाजनों ने एक मत से उत्तर दिया।

"आप पूरी तरह सोच लें और फिर अपना मत वतलावें यदि किसी का भिन्न मत हो, तो वह भी स्पष्ट वता सकता है"—स्पष्टता करते हुए राजा ने फिर पूछा। सभाजनों ने पुनः अपना मत दुहराया। राजा ने फिर तीसरी वार पूछा;—

—"तो आप सभी का एक ही मत है कि—"मेरे राज, नगर, गाँव या घर में उत्पन्न किसी भी रत्न का एकमात्र मैं ही स्वामी हूँ। दूसरा कोई भी उसका अधिकारी नहीं हो सकता।"

—"हां महाराज! हम सभी एक मत हैं। इस निश्चय में किसी का भी मतभेद नहीं है"—सभा का अन्तिम उत्तर था।

इस प्रकार सभा का मत प्राप्त कर राजा ने सभा के समक्ष कहा;—

'राजकुमारी मृगावती इस संसार में एक अद्वितीय 'स्त्री-रत्न' है। इसके समान सुन्दरी इस विश्व में दूसरी कोई भी नहीं है। आप सभी ने इस रत्न पर मेरा अधिकार माना है। इस सभा के निर्णय के अनुसार मृगावती के साथ मैं लग्न करूँगा।"

राजा के ऐसे उद्गार सुन कर सभाजन अवाक् रह गए। उन्हें लज्जा का अनुभव हुआ। वे सभी अपने-अपने घर चले गए। राजा ने मायाचारिता से अपनी इच्छा के अनुसार निर्णय करवा कर अपनी ही पुत्री मृगावती के साथ गन्धर्व-विवाह कर लिया। राजा के इस प्रकार के अकृत्य से लोगों ने उसका दूसरा नाम 'प्रजापति' रख दिया। राजा के इस दुष्कृत्य से महारानी भद्रा बहुत ही दुखी हुई। वह अपने पुत्र 'अचल' को ले कर दक्षिण देश में चली गई। अचलकुमार ने दक्षिण में अपनी माता के लिए 'माहेश्वरी' नाम की नगरी बसाई। उस नगरी को धन-धान्यादि से परिपूर्ण और योग्य अधिकारियों के संरक्षण में छोड़ कर राजकुमार अचल, पोतनपुर नगर में अपने पिता की सेवा में आ गया।

राजा ने अपनी पुत्री मृगावती के साथ लग्न कर के उसे पटरानी के पद पर प्रतिष्ठित कर दी और उसके साथ भोग भोगने लगा। कालान्तर में विश्वभूति मुनि का जीव, महाशुक्र देवलोक से च्यव कर मृगावती की कुक्षि में आया। पिछली रात को मृगावती देवी ने सात महास्वप्न देखे। यथा —१ केसरीसिंह २ लक्ष्मीदेवी ३ सूर्य ४ कुंभ ५ समुद्र ६ रत्नों का ढेर और ७ निर्धूम अग्नि। इन सातों स्वप्नों के फल का निर्णय करते हुए स्वप्न पाठकों ने कहा—'देवी के गर्भ में एक ऐसा जीव आया है, जो भविष्य में 'वासुदेव' पद को धारण कर के तीन खण्ड का स्वामी—अर्द्ध चक्री होगा ×।" यथा समय पुत्र का जन्म हुआ। बालक की पीठ पर तीन बाँस का चिन्ह देख कर 'त्रिपृष्ठ' नाम दिया। बालक दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगा। बड़े भाई 'अचल' के ऊपर उसका स्नेह अधिक था। वह विशेषकर अचल के साथ ही रहता और खेलता। योग्य वय पा कर कला-कौशल में शीघ्र ही निपुण हो गया। युवावस्था में पहुँच कर तो वह अचल के समान—मित्र के समान—दिखाई देने लगा। दोनों भाई महान् योद्धा, प्रचण्ड पराक्रमी, निर्भीक और वीर-शिरोमणि थे। वे दुष्ट एवं शत्रु को दमन करने तथा शरणागत का रक्षण करने में तत्पर रहते थे। दोनों बन्धुओं में इतना स्नेह था कि एक के बिना दूसरा रह नहीं सकता था। इस प्रकार दोनों का सुखमय काल व्यतीत हो रहा था।

रत्नपुर नगर में मयुरग्रीव नाम का राजा था। नीलांगना उसकी रानी थी। 'अश्वग्रीव' नाम का उसके पुत्र था। वह भी महान् योद्धा और वीर था। उसकी शक्ति भी त्रिपृष्ठ कुमार के लगभग मानी जाती थी। उसके पास 'चक्र' जैसा अमोघ एवं सर्वोत्तम

× वासुदेव जैसे श्लाघनीय पुरुष की उत्पत्ति, पिता-पुत्री के एकांत निन्दनीय संयोग से हो, यह अत्यन्त ही अशोभनीय है और मानने में हिचक होती है। यह कथा किसी आगम में नहीं है, ग्रन्थ के आधार से ली है।

शस्त्र था। वह युद्धप्रिय और महान् साहसी था। उसने अपने पराक्रम से भरत-क्षेत्र के तीन खण्डों पर विजय प्राप्त कर ली और उन्हें अपने अधिकार में कर लिया। अश्वग्रीव महाराज की आज्ञा में सोलह हजार बड़े-बड़े राजा, रहने लगे। वह वासुदेव के समान (प्रति-वासुदेव) हुआ। वह एक छत्र साम्राज्य का अधिपति हो गया।

अश्वग्रीव का होने वाला शत्रु

एक बार अश्वग्रीव के मन में विकल्प उत्पन्न हुआ कि—"मैं दक्षिण भरत-क्षेत्र का स्वामी हूँ। अब तक मेरी सत्ता को चुनौती देने वाला कोई दिखाई नहीं दिया, किन्तु भविष्य में मेरे साम्राज्य के लिए भय उत्पन्न करने वाला भी कोई वीर उत्पन्न हो सकता है क्या?" इस विचार के उत्पन्न होते ही उसने अश्वबिन्दु नाम के निष्णात भविष्यवेत्ता को बुलाया और अपना भविष्य बताने के लिए कहा। भविष्यवेत्ता ने विचार कर के कहा—

"राजेन्द्र! जो व्यक्ति आपके चण्डसेन नाम के दूत का पराभव करे और पश्चिमी सीमान्त के वन में रहने वाले सिंह को मार डाले, वही आपके लिए घातक बनेगा।"

भविष्यवेत्ता का कथन सुन कर राजा के मन को आघात लगा। किन्तु अपना क्षोभ दबाते हुए पंडित को पुरस्कार दे कर विदा किया। उसी समय वनपालक की ओर से एक दूत आया और निवेदन करने लगा;—

"महाराजाधिराज की जय हो। मैं पश्चिम के सीमान्त से आया हूँ। यों तो आपके प्रताप से वहाँ सुख-शांति व्याप रही है, किन्तु वन में एक प्रचण्ड केसरीसिंह ने उत्पात मचा रखा है। उस ओर के दूर-दूर तक के क्षेत्र में उसका आतंक छाया हुआ है। पशुओं को ही नहीं, वह तो मनुष्यों को भी अपने जबड़े में दबा कर ले जाता है। अब तक उसने कई मनुष्यों को मार डाला। लोग भयभीत हैं। बड़े-बड़े साहसी शिकारी भी उससे डरते हैं। उसकी गर्जना से स्त्रियों के ही नहीं, पशुओं के भी गर्भ गिर जाते हैं। लोग घर-बार छोड़ कर नगर की ओर भाग रहे हैं। इस दुर्दान्त वनराज का अन्त करने के लिए शीघ्र ही कुछ व्यवस्था होनी चाहिए। मैं यही प्रार्थना करने के लिए सेवा में उपस्थित हुआ हूँ।"

राजा ने दूत को आश्वासन दे कर विदा किया और स्वयं उपाय सोचने लगा। उसने विचार किया कि भविष्यवेत्ता के अनुसार, शत्रु को पहिचानने का यह प्रथम निमित्त उपस्थित हुआ है। उसने उस प्रदेश की सिंह से रक्षा करने के लिए अपने सामन्त राजाओं को आज्ञा दी। वे क्रमानुसार आज्ञा का पालन करने के लिए जाने लगे।

राजा के मन में खटका तो था ही। उसने एक दिन अपनी सभा से यह प्रश्न किया;---

"साम्राज्य के सामन्त, राजा, सेनापतियों और वीरों में कोई असाधारण शक्तिशाली, परम पराक्रमी, महाबाहु युवक कुमार आपके देखने में आया है ?"

राजा के प्रश्न के उत्तर में मन्त्रियों, सामन्तों और अन्य अधिकारियों ने कहा—

"नरेन्द्र ! आपकी तुलना में ऐसा एक भी मनुष्य नहीं है। आज तक ऐसा कोई देखने में नहीं आया और अब होने की सम्भावना भी नहीं है।"

राजा ने कहा;—

"आपका कथन मिष्ट-भाषीपन का है, वास्तविक नहीं। संसार में एक से बढ़ कर दूसरा बलवान् होता ही है। यह बहुरत्ना वसुन्धरा है। कोई न कोई महाबाहु होगा ही।"

राजा की बात सुन कर एक मन्त्री गम्भीरतापूर्वक बोला;—

"राजेन्द्र ! पोतनपुर के नरेश 'रिपुप्रतिशत्रु' अपर नाम 'प्रजापति' के देवकुमार के समान दो पुत्र हैं। वे अपने सामने अन्य सभी मनुष्यों को घास के तिनके के समान गिनते हैं।"

मन्त्री की बात सुन कर राजा ने सभा विसर्जित की और अपने चण्डवेग नाम के दूत को योग्य सुचना कर के, प्रजापति राजा के पास पोतनपुर भेजा। दूत अपने साथ बहुत से घुड़सवार योद्धा और साज-सामग्री ले कर आडम्बरपूर्वक पोतनपुर पहुँचा। वहाँ प्रजापति की सभा जमी हुई थी। वह अपने सामंत राजाओं, मन्त्रियों, अचल और त्रिपृष्ठकुमार, राजपुरोहित एवं अन्य सभासदों के साथ बैठ था। संगीत, नृत्य और वादिन्त्र से वातावरण मनोरञ्जक बना हुआ था। उसी समय बिना किसी सूचना के, द्वारपाल की अवगणना करता हुआ, चण्डवेग सभा में पहुँच गया। राजदूत को इस प्रकार अचानक आया हुआ देख कर राजा और सभाजन स्तंभित रह गए। राजदूत का सम्मान करने के लिए राजा स्वयं सिंहासन से उठा और सभाजन भी उठे। राजदूत को आदरपूर्वक आसन पर बिठाया गया और वहाँ के हालचाल पूछे। राजदूत के असमय में अचानक आने से वातावरण एकदम शांत, उदासीन और गम्भीर बन गया। वादिन्त्र और नाच-गान बन्द हो गए। वादक गायिकाएँ और नृत्यांगनाएँ चली गई। यह स्थिति राजकुमार त्रिपृष्ठ को अखरी। उसने अपने पास बैठे हुए पुरुष से पूछा;—

"कौन है यह असभ्य, मनुष्य के रूप में पशु, जो समय-असमय का विचार किये बिना ही और अपने आगमन की सूचना दिये बिना ही अचानक सभा में आ घुसा ? और

इसका स्वागत करने के लिए पिताजी भी खड़े हो गए ? इसे द्वारपाल ने क्यों नहीं रोका ?"

—"यह महाराजाधिराज अश्वग्रीव का दूत है। दक्षिण भरत के जितने भी राजा हैं, वे सब अश्वग्रीव के अधीन हैं। वह सब का अधिनायक है। इसलिए महाराज ने उसे आदर दिया और द्वारपाल ने भी नहीं रोका। स्वामी के कुत्ते को भी दुत्कारा नहीं जाता। उसका भी आदर होता है, तो यह तो महाराजाधिराज अश्वग्रीव का प्रिय राजदूत है। इसको प्रसन्न रखने से महाराजाधिराज भी प्रसन्न रहते हैं। यदि राजदूत को अप्रसन्न कर दिया जाय, तो राज एवं राजा पर भयंकर संकट आ सकता है।"

राजकुमार त्रिपृष्ठ को यह बात नहीं रुचि। उसने कहा;—

"संसार में ऐसा कोई नियम नहीं है कि जिससे अमुक व्यक्ति स्वामी ही रहे और अमुक सेवक ही। यह सब अपनी-अपनी शक्ति के अधीन है। मैं अभी कुछ नहीं कहता, किन्तु समय आने पर उस अश्वग्रीव को छिन्नग्रीव (गर्दन छेद) कर भूमि पर सुला दूंगा।" इसके बाद कुमार ने अपने सेवक से कहा;—

"जब यह राजदूत यहाँ से जाने लगे, तब मुझे कहना। मैं इससे बात करूँगा।"

राजदूत चण्डवेग ने प्रजापति को राज सम्बन्धी कुछ आज्ञाएँ इस प्रकार दी, जिस प्रकार एक सेवक को दी जाती है। प्रजापति ने उसकी सभी आज्ञाएँ शिरोधार्य की और योग्य भेंट दे कर सम्मानपूर्वक विदा किया। राजदूत भी संतुष्ट हो कर अपने साथियों के साथ पोतनपुर से रवाना हो गया। जब राजकुमार त्रिपृष्ठ को राजदूत के जाने का समाचार मिला, तो वे अपने बड़े भाई के साथ तत्काल चल दिये और रास्ते में ही उसे रोक कर कहने लगे;—

"अरे, ओ धीठ पशु! तू स्वयं दूत होते हुए भी महाराजाधिराज के समान घमण्ड करता है। तुझमें इतनी भी सभ्यता नहीं कि सूचना करवाने के बाद सभा में प्रवेश करे। एक राजा भी अपनी प्रजा में किसी गृहस्थ के यहाँ जाता है, तो पहले सूचना करवाता है और उसके बाद वहाँ जाता है। यह एक नीति है। किन्तु तू न जाने किस घमंड में चूर हो रहा है कि बिना सूचना किये ही उन्मत्त की भाँति सभा में आ गया। मेरे पिताश्री ने तेरी इस तुच्छता को सहन कर के तेरा सत्कार किया, यह उनकी सरलता है। किन्तु मैं तेरी दुष्टता सहन नहीं कर सकता। बता तू किस शक्ति के घमण्ड पर ऐसा उद्धत बना है ? बोल! नहीं, तो मैं अभी तुझे तेरी दुष्टता का फल चखाता हूँ।" रोषपूर्वक इतना कह कर राजकुमार ने मुक्का ताना, किन्तु पास ही खड़े हुए बड़े भाई राजकुमार अचल ने रोकते हुए कहा;—

"बस करो बन्धु ! इस नर-कीट पर प्रहार मत करो। यह तो बिचारा दूत है। दूत अवध्य होता है। इसकी दुष्टता को सहन कर के इसे जाने दो। यह तुम्हारा आघात सहन नहीं कर सकेगा।"

त्रिपृष्ठ ने अपना हाथ रोक लिया। किन्तु अपने साथ आये हुए सुभटों को आज्ञा दी कि--

"मैं इस दुष्ट को जीवन-दान देता हूँ। किन्तु इसके पास की सभी वस्तुएँ छिन लो।"

राजकुमार की आज्ञा पाते ही सुभट उस पर टूट पड़े। उसके शस्त्र, आभूषण और प्राप्त भेंट आदि वस्तुएँ छीन लीं और मार-पीट कर चल दिये।

जब यह समाचार नरेश के कानों तक पहुँचे, तो उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने सोचा--'राजदूत के पराभव का परिणाम भयंकर होगा। अब अश्वग्रीव की कोपाग्नि भड़केगी और उसमें मैं, मेरा वंश और यह राज भस्म हो जायगा। इसलिये जब तक चण्ड-वेग मार्ग में है और अश्वग्रीव के पास नहीं पहुँचे, तब तक उसको मना कर प्रसन्न कर लेना उचित है। इससे यह अग्नि जहाँ उत्पन्न हुई, वहीं बुझ जाएगी और सारा भय दूर हो जायगा।' यह सोच कर प्रजापति ने अपने मन्त्रियों को भेज कर चण्डवेग का बड़ा अनु-नय-विनय कराया और उसे पुनः राज-प्रासाद में बुलाया। उसके हाथ जोड़ कर बड़े ही विनय के साथ पहले से चार गुना अधिक द्रव्य भेंट में दिया और नम्रतापूर्वक कहा;—

"आप जानते ही हैं कि युवावस्था दुःसाहसपूर्ण होती है। एक गरीब मनुष्य का युवक पुत्र भी युवावस्था में उन्मत्त हो जाता है, तो महाराजाधिराज अश्वग्रीव की कृपा से, वृद्धि पाई सम्पत्ति में पले मेरे ये कुमार, वृषभ के समान उच्छृंखल हो जाय, तो आश्चर्य की बात नहीं है। इसलिए हे कृपालु मित्र ! इन कुमारों के अपराध को स्वप्न के समान भूल ही जावें। आप तो मेरे सगे भाई के समान हैं। अपना प्रेम सम्बन्ध अक्षुण्ण रखिएगा और महाराज अश्वग्रीव के सामने इस विषय में एक शब्द भी नहीं कहें।"

राजा के मीठे व्यवहार से चण्डवेग का क्रोध शांत हो गया। वह बोला;—

"राजन् ! अपके साथ मेरा चिरकाल का स्नेह सम्बन्ध है। मैं इन छोकरों की मूर्खता की उपेक्षा करता हूँ और इन कुमारों को भी मैं अपना ही मानता हूँ। आपका हमारा सम्बन्ध वैसा ही अटूट रहेगा। आप विश्वास रखें। लड़कों के अपराध का उपालंभ उनके पालक को ही दिया जाता है और यही दण्ड है। इसके अतिरिक्त कहीं अन्यत्र पुकार

नहीं की जाती। अतएव आप विश्वास रखें। मैं महाराज से नहीं कहूँगा। जिस प्रकार हाथी के मुँह में दिया हुआ घास पुनः निकाला नहीं जा सकता, उसी प्रकार महाराज के सामने कह कर उन्हें भड़काया तो जा सकता है, किन्तु पुनः प्रसन्न कर पाना असंभव होता है। मैं इस स्थिति को जानता हूँ। मैं तो आपका मित्र हूँ। इसलिए मेरी ओर से आप ऐसी शंका नहीं लावें।"

इस प्रकार आश्वासन दे कर चण्डवेग चला गया। वह कई दिनों के वाद राजधानी में पहुँचा। उसके पहुँचने के पूर्व ही उसके पराभव की कहानी महाराजा अश्वग्रीव तक पहुँच चुकी थी। त्रिपृष्ठ कुमार के प्रताप से भयभीत हो कर भागे हुए चण्डवेग के कुछ सेवकों ने इस घटना का विवरण सुना दिया था। चण्डवेग ने आ कर राजा को प्रणाम कर के प्रजापति से प्राप्त भेंट उपस्थित की। राजा के चेहरे का भाव देख कर वह समझ गया कि राजा को सब कुछ मालूम हो गया है। उसने निवेदन किया;—

"महाराजाधिराज की जय हो। प्रजापति ने भेंट समर्पित की है। वह पूर्णरूपेण आज्ञाकारी है। श्रीमंत के प्रति उसके मन में पूर्ण भक्ति है। उसके पुत्र कुछ उद्दण्ड और उच्छृंखल हैं, किन्तु वह तो शासन के प्रति भक्ति रखता है। अपने पुत्र की अभद्रता से उसको बड़ा खेद हुआ। वह दुःखपूर्वक क्षमा याचना करता है।"

अश्वग्रीव दूसरे ही विचारों में लीन था। वह सोच रहा था--'भविष्यवेत्ता की एक बात तो सत्य निकली। यदि सिंह-वध की बात भी सत्य सिद्ध हो जाय, तो अवश्य ही वह भय का स्थान है--यह मानना ही होगा। उसने एक दूसरा दूत प्रजापति के पास भेज कर कहलाया कि--"तुम सिंह के उपद्रव से उस प्रदेश को निर्भय करो।" दूत के आते ही प्रजापति ने कुमारों को बुला कर कहा;--

"यह तुम्हारी उद्दंडता का फल है। यदि इस आज्ञा का पालन नहीं हुआ, तो अश्वग्रीव, यमराज वन कर नष्ट कर देगा, और आज्ञा का पालन करने गये, तो वह सिंह स्वयं यमराज वन सकता है। इस प्रकार दोनों प्रकार से हम संकट ग्रस्त हो गए हैं। अभी तो मैं सिंह के सम्मुख जाता हूँ। आगे जैसा होना होगा, वैसा होगा।"

कुमारों ने कहा;—"पिताश्री आप निश्चिन्त रहें। अश्वग्रीव का वल भी हमारे ध्यान में है। और सिंह तो विचारा पशु है, उसका तो भय ही क्या है? अतएव आप किसी प्रकार की चिंता नहीं करें और हमें आज्ञा दें, तो हम उस सिंह के उपद्रव को शांत कर के शीघ्र लौट आवें।"

—"पुत्रों ! तुम अभी बच्चे हो। तुम्हें कार्याकार्य और फलाफल का ज्ञान नहीं है। तुमने विना विचारे जो अकार्य कर डाला, उसी से यह विपत्ति आई। अब आगे तुम क्या कर बैठो और उसका क्या परिणाम निकले ? अतएव तुम यहीं रहो और शांति से रहो। मैं स्वयं सिंह से भिड़ने जाता हूँ।"

"पिताजी ! अश्वग्रीव मूर्ख है। वह बच्चों को भूत से डराने के समान हमे सिंह से डराता है। आप प्रसन्नतापूर्वक आज्ञा दीजिए। हम शीघ्र ही सिंह को मार कर आपके चरणों में उपस्थित होंगे।"

बड़ी कठिनाई से पिता की आज्ञा प्राप्त कर के अचल और त्रिपृष्ठ कुमार थोड़े से सेवकों के साथ उपद्रव-ग्रस्त क्षेत्र में आये। उन्हें वहाँ सैनिकों की अस्थियों के ढेर के ढेर देख कर आश्चर्य हुआ। ये सब बिचारे सिंह की विकरालता की भेंट चढ़ चुके थे।

सिंह-घात

कुमारों ने इधर-उधर देखा, तो उन्हें कोई भी मनुष्य दिखाई नहीं दिया। जब उन्होंने वृक्षों पर देखा, तो उन्हें कहीं-कहीं कोई मनुष्य दिखाई दिया। उन्होंने उन्हें निकट बुला कर पूछा—

—"यहाँ रक्षा करने के लिए आये हुए राजा लोग, किस प्रकार सिंह से इस क्षेत्र की रक्षा करते हैं ?"

—"वे अपने हाथी, घोड़े रथ और सुभटों का व्यूह बनाते हैं और अपने को व्यूह में सुरक्षित कर लेते हैं। जब विकराल सिंह आता है, तो वह व्यूह के सैनिक आदि को मार कर फाड़ डालता है और खा कर लौट जाता है। इस प्रकार उस विकराल सिंह से राजाओं की और हमारी रक्षा तो हो जाती है, किन्तु सैनिक और घोड़े आदि मारे जाते हैं। हम कृषक हैं। वृक्षों पर चढ़ कर यह सब देखते रहते हैं"—उनमें से एक बोला।

दोनों कुमार यह सुन कर प्रसन्न हुए। उन्होंने अपनी सेना को तो वहीं रहने दिया और दोनों भाई रथ पर सवार हो कर सिंह की गुफा की ओर चले। रथ के चलने से उत्पन्न ध्वनि से वन गुंज उठा। यह अश्रुतपूर्व ध्वनि सुन कर सिंह चौंका। वह अपनी तीक्ष्ण दृष्टि से इधर-उधर देखने लगा। उसकी गर्दन तन गई और केशावलि के बाल चँवर के समान इधर-उधर हो गए। उसने उबासी लेने के लिए मुँह खोला। वह मुँह मृत्यु के मुँह के समान भयंकर था। उसने इधर-उधर देखा और रथ की उपेक्षा करता हुआ पुनः लेट गया। सिंह की उपेक्षा देख कर अचलकुमार ने कहा;—

"रक्षा के लिए आये हुए राजाओं ने अपने हाथी घोड़े और सैनिकों का भोग दे कर इस सिंह को घमण्डी बना दिया है।"

त्रिपृष्ठकुमार ने सिंह के निकट जा कर ललकारा। सिंह ने भी समझा कि यह कोई वीर है, निर्भीक है और साहस के साथ लड़ने आया है। वह उठा और रौद्र रूप धारण कर भयंकर गर्जना करने लगा। फिर सावधान हो कर सामने आया। उसके दोनों कान खड़े हो गए। उसकी आँखें दो दीपक के समान थी। दाढ़ें और दांत सुदृढ़ और तीक्ष्ण थे तथा यमराज के शस्त्रागार के समान लगते थे। उसकी जिव्हा तक्षक नाग के समान वाहर निकली हुई थी। प्राणियों के प्राणों को खिचने वाले चिपिये के समान उसके नख थे और क्षुधातुर सर्पवत् उसकी पूँछ हिल रही थी। उसने आगे आ कर क्रोध से पृथ्वी पर पूँछ पछाड़ी, जिसे सुनते ही आस-पास रहे हुए प्राणी भयभीत हो कर भाग गए और पक्षी चिंचियाटी करते हुए उड़ गये। वनराज को आक्रमण करने के लिए तत्पर देख कर अचलकुमार रथ से उतरने लगे, तब त्रिपृष्ठकुमार ने उन्हें रोकते हुए कहा—"हे आर्य! यह अवसर मुझे लेने दीजिए। आप यहीं ठहरें और देखें। फिर वे रथ से नीचे उतरे। उन्होंने सोचा 'सिंह के पास तो कोई शस्त्र नहीं है, इस निःशस्त्र के साथ, शस्त्र से युद्ध करना उचित नहीं।' यह सोच कर उन्होंने भी अपने शस्त्र रख दिए और सिंह को ललकारते हुए बोले—"हे वनराज! यहाँ आ। मैं तेरी युद्ध की प्यास बुझाता हूँ।" इस गम्भीर घोष को सुनते ही सिंह ने भी उत्तर में गर्जना की और रोषपूर्वक उछला। वह पहले तो आकाश में ऊँचा गया और फिर राजकुमार पर मुँह फाड़ कर उतरा। त्रिपृष्ठकुमार सावधान ही थे। वे उसका उछलना और अपने पर उतरना देख रहे थे। अपने पर आते देख कर उन्होंने अपने दोनों हाथ ऊपर उठाये और ऊपर आते हुए सिंह के ऊपर-नीचे के दोनों ओष्ठ दृढ़तापूर्वक पकड़ लिये और एक झटके में ही कपड़े की तरह चीर कर दो टुकडे कर के फेंक दिया। सिंह का मरना जान कर लोगों ने हर्षनाद और कुमार का जय जयकार किया। विद्याधरों और व्यन्तर देवों ने पुष्प-वृष्टि की। उधर सिंह के दोनों टुकड़े तड़प रहे थे, अभी प्राण निकले नहीं थे। वह शोकपूर्वक सोच रहा था कि—

"शस्त्र एवं कवचधारी और सैकड़ों सुभटों से घिरे हुए अनेक राजा भी मेरा कुछ नहीं विगाड़ सके। वे मुझ-से भयभीत रहते थे और इस छोकरे ने मुझे चीर डाला। यही मेरे लिए महान् खेद की बात है।" इस मानसिक दुःख से वह तड़प रहा था। उसका यह खेद समझ कर रथ के सारथी ने कहा;—

"वनराज! तू चिंता मत कर। तू किसी कायर की तरह नहीं मरा। तुझे मारने

वाला कोई सामान्य पुरुष नहीं है, किन्तु इस अवसर्पिणी काल के होने वाले प्रथम वासुदेव हैं।"

सारथी के वचन सुन कर सिंह निश्चित हो कर मरा और नरक में गया। मृत सिंह का चर्म उतरवा कर त्रिपृष्ठकुमार ने अश्वग्रीव के पास भेजते हुए दूत से कहा--"इस पशु से डरे हुए अश्वग्रीव को, उसके वध का सूचक यह सिंह-चर्म देना और कहना कि--

"आपकी स्वादिष्ट भोजन की इच्छा को तृप्त करने के लिए, शालि के खेत सुरक्षित हैं। आप खूब जी भर कर भोजन करें।"

इस प्रकार सिंह के उपद्रव को मिटा कर दोनों राजकुमार अपने नगर में लौट आए। दोनों ने पिता को प्रणाम किया। प्रजापति दोनों पुत्रों को पा कर बड़ा ही प्रसन्न हुआ और बोला--"मैं तो यह मानता हूँ कि इन दोनों का यह पुनर्जन्म हुआ है।"

अश्वग्रीव ने जब सिंह की खाल और राजकुमार त्रिपृष्ठ का सन्देश सुना, तो उसे वज्रपात जैसा लगा।

त्रिपृष्ठ कुमार के लग्न

वैताढ्य पर्वत की दक्षिण श्रेणि में 'रथनूपुर चक्रवाल' नाम की अनुपम नगरी थी। विद्याधरराज 'ज्वलनजटी' वहाँ का प्रबल पराक्रमी नरेश था। उसकी अग्रमहिषी का नाम 'वायुवेग' था। इसकी कुक्षि से सूर्य के स्वप्न से पुत्र उत्पन्न हुआ, उसका नाम 'अर्ककीर्ति' था। कालान्तर में, अपनी प्रभा से सभी दिशाओं को उज्ज्वल करने वाली चन्द्रलेखा को स्वप्न में देखने के बाद पुत्री का जन्म हुआ। उसका नाम 'स्वयंप्रभा' दिया गया। अर्ककीर्ति युवावस्था में बड़ा वीर यौद्धा बन गया। राजा ने उसे युवराज पद पर स्थापित किया। स्वयंप्रभा भी युवावस्था पा कर अनुपम सुन्दरी हो गई। उसका प्रत्येक अंग सुगठित, आकर्षक एवं मनोहर था। वह अपने समय की अनुपम सुन्दरी थी। उसके समान दूसरी सुन्दरी युवती कहीं भी दिखाई नहीं देती थी। लोग कहते थे कि 'इतनी सुन्दर स्त्री तो देवांगना भी नहीं है।'

एक बार 'अभिनन्दन' और 'गजनन्दन' नाम के दो 'चारणमुनि'× उस नगर के बाहर उतरे। स्वयंप्रभा उन्हें वन्दन करने आई और उपदेशामृत का पान किया। धर्मोपदेश सुन कर स्वयंप्रभा बड़ी प्रभावित हुई। उसे दृढ़ सम्यक्त्व प्राप्त हुआ और धर्म के रंग में

× आकाश में विचरने वाले।

रंग गई। एक बार वह राजा को प्रणाम करने गई। पुत्री के विकसित अंगों को देख कर राजा को चिंता हुई। उसने अपने मन्त्रियों को पुत्री के योग्य वर के विषय में पूछा।

सुश्रुत नामक मन्त्री ने कहा--" महाराज ! इस समय तो महाराजाधिराज अश्वग्रीव ही सर्वोपरि हैं। वे अनुपम सुन्दर, अनुपम वीर और विद्याधरों के इन्द्र समान हैं। उनसे बढ़ कर कोई योग्य वर नहीं हो सकता।"

"नहीं महाराज ! अश्वग्रीव तो अब गत-यौवन हो गया है। ऐसा प्रौढ़ व्यक्ति राजकुमारी के योग्य नहीं हो सकता। उत्तर-श्रेणि के विद्याधरों में ऐसे अनेक युवक नरेश या राजकुमार मिल सकते हैं, जो भुजबल, पराक्रम एवं सभी प्रकार की योग्यता से परिपूर्ण हैं। उन्हीं में से किसी को चुनना ठीक होगा"--बहुश्रुत मन्त्री ने कहा।

"महाराज ! इन महानुभावों का कहना भी ठीक है, किन्तु मेरा तो निवेदन है कि उत्तर-श्रेणि की प्रभंकरा नगरी के पराक्रमी महाराजा मेघवाहन के सुपुत्र 'विद्युत्प्रभ' सभी दृष्टियों से योग्य एवं समर्थ है। उसकी बहिन 'ज्योतिर्माला' भी देवकन्या के समान सुन्दर है। मेरी दृष्टि में विद्युत्प्रभ और राजकुमारी स्वयंप्रभा, तथा युवराज अर्ककीर्ति और ज्योतिर्माला की जोड़ी अच्छी रहेगी। आप इस पर विचार करें"--सुमति नामक मन्त्री ने कहा।

"स्वामिन् ! बहुत सोच समझ कर काम करना है"--मन्त्री श्रुतसागर कहने लगा--"लक्ष्मी के समान परमोत्तम स्त्री-रत्न की इच्छा कौन नहीं करता ? यदि राजकुमारी किसी एक को दी गई, तो दूसरे क्रुद्ध हो कर कहीं उपद्रव खड़ा नहीं कर दें। इस लिए स्वयंवर करना सब से ठीक होगा। इसमें राजकुमारी की इच्छा पर ही वर चुनने की बात रहेगी और आप पर कोई क्रुद्ध नहीं हो सकेगा।"

इस प्रकार राजा ने मन्त्रियों का मत जान कर सभा विसर्जित की और संभिन्नश्रोत नाम के भविष्यवेत्ता को बुला कर पूछा। भविष्यवेत्ता ने सोच-विचार कर कहा;--

"महाराज ! तीर्थंकर भगवंतों के वचनानुसार यह समय प्रथम वासुदेव के अस्तित्व को बता रहा है। मेरे विचार से अश्वग्रीव की चढ़ती के दिन बीत चुके हैं। उसके जीवन को समाप्त कर, वासुदेव पद पाने वाला परम वीर पुरुष उत्पन्न हो चुका है। मैं समझता हूँ कि प्रजापति के कनिष्ठपुत्र त्रिपृष्ठ कुमार जिन्होंने महान् क्रुद्ध एवं बलिष्ठ केसरीसिंह को कपड़े के समान चीर कर फाड़ दिया। वही राजकुमारी के लिए सर्वथा योग्य है। उनके समान और कोई नहीं है।"

राजा ने भविष्यवेत्ता का कथन सहर्ष स्वीकार किया और एक विश्वस्त दूत को प्रजापति के पास सन्देश ले कर भेजा। राजदूत ने प्रजापति से सम्बन्ध की बात कही और

भविष्यवेत्ता द्वारा त्रिपृष्ठकुमार के वासुदेव होने की बात भी कही। राजा भी पत्नी को गर्भकाल में आये सात स्वप्नों के फल की स्मृति रखता था। उसने ज्वलनजटी विद्याधर का आग्रह स्वीकार कर लिया। जब दूत ने रथनूपुर पहुँच कर स्वीकृति का सन्देश सुनाया, तो ज्वलनजटी बहुत प्रसन्न हुआ। किन्तु उसकी प्रसन्नता थोड़ी देर ही रही। उसने सोचा कि—'इस सम्बन्ध की बात अश्वग्रीव जानेगा, तो उपद्रव खड़ा होगा।' अन्त में उसने यही निश्चित किया कि पुत्री को ले कर पोतनपुर जावे और वहीं लग्न कर दे। वह अपने चुने हुए सामन्तों, सरदारों और सैनिकों के साथ कन्या को ले कर चल दिया और पोतनपुर नगर के बाहर पड़ाव लगा कर ठहर गया। प्रजापति उसका आदर करने के लिए सामने गया और सम्मानपूर्वक नगर में लाया। राजा ने उनके निवास के लिए एक उत्तम स्थान दिया, जिसे विद्याधरों ने एक रमणीय एवं सुन्दर नगर बना दिया। इसके बाद विवाहोत्सव प्रारंभ हुआ और बड़े आडम्बर के साथ लग्नविधि पूर्ण हुई।

पत्नी की माँग

त्रिखण्ड की अनुपम सुन्दरी विद्याधर पुत्री स्वयंप्रभा को सामने ले जा कर त्रिपृष्ठ कुमार से ब्याहने का समाचार सुन कर, अश्वग्रीव आगबबूला हो गया। भविष्यवेत्ता के कथन और सिंह-वध की घटना के निमित्त से उसके हृदय में द्वेष का प्रादुर्भाव हो ही गया था। उसने इस सम्बन्ध को अपना अपमान माना और सोचा—"मैं सार्वभौम सत्ताधीश हूँ। ज्वलनजटी मेरे अधीन आज्ञापालक है। मेरी उपेक्षा कर के अपनी पुत्री त्रिपृष्ठ को कैसे ब्याह दी ?" उसने अपने विश्वस्त दूत को बुलाया और समझा-बुझा कर ज्वलनजटी के पास पोतनपुर भेजा। भवितव्यता उसे विनाश की ओर धकेल रही थी और परिणति, पर-स्त्री की माँग करवा रही थी। विनाश-काल इसी प्रकार निकट आ रहा था। दूत पोतनपुर पहुँचा और ज्वलनजटी के समक्ष आ कर अश्वग्रीव का सन्देश सुनाया और कहा;--

"राजन् ! आपने अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ा मारा है। आपको यह तो सोचना था कि रत्न तो रत्नाकर में ही सुशोभित होता है, डाबरे--खड्डे में उसके लिए स्थान नहीं हो सकता। महाराजाधिराज अश्वग्रीव जैसे महापराक्रमी स्वामी की उपेक्षा एवं अवज्ञा कर के आपने अपने विनाश को उपस्थित कर लिया है। अब भी यदि आप अपना हित चाहते हैं, तो स्वयंप्रभा को शीघ्र ही महाराजाधिराज के चरणों में उपस्थित कीजिये।

दक्षिण लोकार्द्ध के इन्द्र के समान, सम्राट अश्वग्रीव की आज्ञा से मैं आपको सूचना करता हूँ कि इसी समय अपनी पुत्री को ले कर चलें।"

दूत के कर्ण-कटु वचन सुन कर भी ज्वलनजटी ने शान्ति के साथ कहा;—

"कोई भी वस्तु किसी को दे-देने के बाद, देने वाले का अधिकार उस वस्तु पर नहीं रहता। फिर कन्या तो एक बार ही दी जाती है। मैंने अपनी पुत्री, त्रिपृष्ठकुमार को दे दी है। अब उसकी माँग करना, किसी प्रकार उचित एवं शोभास्पद हो नहीं सकता। मैं ऐसी माँग को स्वीकार भी कैसे कर सकता हूँ? यह अनहोनी बात है।"

ज्वलनजटी का उत्तर सुन कर, दूत वहाँ से चला गया। वह त्रिपृष्ठकुमार के पास आया और कहने लगा; –

"पृथ्वी पर साक्षात इन्द्र के समान विश्वविजेता महाराजाधिराज अश्वग्रीव ने आदेश दिया है कि "तुमने अनधिकारी होते हुए, चुपके से स्वयंप्रभा नामक अनुपम स्त्री-रत्न को ग्रहण कर लिया। यह तुम्हारी धृष्टता है। मैं तुम्हारा, तुम्हारे पिता का और तुम्हारे बन्धु-बान्धवादि का नियन्ता एवं स्वामी हूँ। मैंने तुम्हारा बहुत दिनों रक्षण किया है। इसलिए इस सुन्दरी को तुम मेरे सम्मुख उपस्थित करो।" आपको इस आज्ञा का पालन करना चाहिए।"

दूत के ऐसे अप्रत्याशित एवं क्रोध को भड़काने वाले वचन सुन कर, त्रिपृष्ठकुमार की भृकुटी चढ़ गई। आँखें लाल हो गई। वे व्यंगपूर्वक कहने लगे;——

"दूत! तेरा स्वामी ऐसा नीतिमान् है? वह इस प्रकार का न्याय करता है? इस माँग में लोकनायक कहलाने वाले की कुलीनता स्पष्ट हो रही है। इस पर से लगता है कि तेरे स्वामी ने अनेक स्त्रियों का शील लूट कर भ्रष्ट किया होगा। कुलहीन, न्याय-नीति से दूर, लम्पट मनुष्य तो उस बिल्ले के समान है जिसके सामने दूध के कुंडे भरे हुए हैं। उनकी रक्षा की आशा कोई भी समझदार नहीं कर सकता। उसका स्वामित्व हम पर तो क्या, परन्तु ऐसी दुष्ट नीति से अन्यत्र भी रहना कठिन है। कदाचित् वह अब इस जीवन से भी तृप्त हो गया हो। यदि उसके विनाश का समय आ गया हो, तो वह स्वयं, स्वयंप्रभा को लेने के लिए यहाँ आवे। बस, अब तू शीघ्र ही यहाँ से चला जा। अब तेरा यहाँ ठहरना मैं सहन नहीं कर सकता।"

प्रथम पराजय

दूत सरोष वहाँ से लौटा। वह शीघ्रता से अश्वग्रीव के पास आया और सारा

वृत्तांत कह सुनाया। अश्वग्रीव के हृदय में ज्वाला के समान क्रोध भभक उठा। उसने विद्याधरों के अधिनायक से कहा;—

"देखा ! ज्वलनजटी को कैसी दुर्मति उत्पन्न हुई। वह एक कीड़े के समान होते हुए भी सूर्य से टक्कर लेने को तैयार हुआ है। वह मूर्ख शिरोमणि है। उसने न तो अपना हित देखा, न अपनी पुत्री का। उसके विनाश का समय आ गया है और प्रजापति भी मूर्ख है। कुलीनता की बड़ी-बड़ी बातें करने वाला त्रिपृष्ठ नहीं जानता कि वह बाप-बेटी के भ्रष्टाचार से उत्पन्न हुआ है। यह त्रिपृष्ठ, अचल का भाई है, या भानजा (बहिन का पुत्र) ? और अचल, प्रजापति का पुत्र है, या साला ? ये कितने निर्लज्ज हैं ? इन्हें बढ़-चढ़ कर बातें करते लज्जा नहीं आती। कदाचित् इनके विनाश के दिन ही आ गये हों ? अतएव तुम सेना ले कर जाओ और उन्हें पद-दलित कर दो।"

विद्याधर लोग भी ज्वलनजटी पर क्रुद्ध थे। वे स्वयं भी उससे युद्ध करना चाहते थे। इस उपयुक्त अवसर को पा कर वे प्रसन्न हुए और शस्त्र-सज्ज हो कर प्रस्थान कर दिया। ज्वलनजटी ने शत्रु-सेना को निकट आया जान कर स्वयं रणक्षेत्र में उपस्थित हुआ। उसने प्रजापति, राजकुमार अचल और त्रिपृष्ठ को रोक दिया था। घमासान युद्ध हुआ और अंत में विद्याधरों की सेना हार कर पीछे हट गई और ज्वलनजटी की विजय हुई।

मंत्री का सत्परामर्श

अश्वग्रीव इस पराजय को सहन नहीं कर सका। वह विकराल बन गया। उसने अपने सेनापति और सामन्तों को शीघ्र ही युद्ध का डंका बजाने की आज्ञा दी। तैयारियाँ होने लगी। एकदम युद्ध की घोषणा सुन कर महामात्य ने अश्वग्रीव से निवेदन किया;—

"स्वामिन् ! आप तो सर्व-विजेता सिद्ध हो ही चुके हैं। तीन खंड के सभी राजाओं को जीत कर आपने अपने अधीन बना लिया है। इस प्रकार आपके प्रबल प्रभाव से सभी प्रभावित हैं। अब आप स्वयं एक छोटे-से राजा पर चढ़ाई कर के विशेष क्या प्राप्त कर लेंगे ? आपके प्रताप में विशेषता कौन-सी आ जायगी ? यदि उस छोटे राजा का भाग्य जोर दे गया, तो आपका प्रभाव तो समूल नष्ट हो जायगा और तीन खण्ड के राज्य पर आपका स्वामित्व नहीं रह सकेगा। रण-क्षेत्र की गति विचित्र होती है। इसके अतिरिक्त भविष्यवेत्ता

के कथन और सिंह के वध से मन में सन्देह भी उत्पन्न हो रहा है। इसलिए प्रभु ! इस समय सहनशील बनना ही उत्तम है। बिना विचारे अन्धाधुन्ध दौड़ने से महाबली गजराज भी दलदल में गढ़ जाता है और चतुराई से खरगोश भी सफल हो जाता है। अतएव मेरी तो यही प्रार्थना है कि आप इस बार संतोष धारण कर लें। यदि आप सर्वथा उपेक्षा नहीं कर सकें, तो सेना भेज दें, परन्तु आप स्वयं नहीं पधारें।

अपशकुन

महामात्य की बात अश्वग्रीव ने नहीं मानी। इतना ही नहीं, उसने वृद्ध मन्त्री का अपमान कर दिया। वह आवेश में पूर्णरूप से भरा हुआ था। उसने प्रस्थान कर दिया। चलते-चलते अचानक ही उसके छत्र का दण्ड टूट गया और छत्र नीचे गिर गया। छत्र गिरने के साथ ही उसके सवारी के प्रधान गजराज का मद सूख गया। वह पेशाब करने लगा और विरस एवं रुक्षतापूर्वक चिंघाड़ता हुआ नतमस्तक हो गया। चारों ओर रजोवृष्टि होने लगी। दिन में ही नक्षत्र दिखाई देने लगे। उल्कापात होने लगा और कई प्रकार के उत्पात होने लगे। कुत्ते ऊँचा मुँह कर के रोने लगे। खरगोश प्रकट होने लगे, आकाश में चिलें चक्कर काटने लगी। काकारव होने लगा, सिर पर ही गिद्ध एकत्रित हो कर मँडराने लगे और कपोत आ कर ध्वज पर बैठ गया। इस प्रकार अश्वग्रीव को अनेक प्रकार के अपशकुन होने लगे। किन्तु उसने इन अनिष्टसूचक प्राकृतिक सकेतों की चाह कर उपेक्षा की और बढ़ता ही गया। कुशकुनों को देख कर उसके साथ आये हुए विद्याधरों, राजाओं और योद्धाओं के मन में भी सन्देह बैठ गया। वे भी उत्साह-रहित हो उदास मन से साथ चलने लगे और रथावर्त्त पर्वत के निकट पड़ाव कर दिया।

पोतनपुर में भी हलचल मच गई। युद्ध की तैयारियाँ होने लगी। विद्याधरों के राजा ज्वलनजटी ने अचलकुमार और त्रिपृष्ठकुमार से कहा;—

"आप दोनों महावीर हैं। आप से युद्ध कर के अश्वग्रीव अवश्य ही पराजित होगा। वह बल में आप में से किसी एक को भी पराजित नहीं कर सकता। किन्तु उसके पास विद्या है। वह विद्या के बल से कई प्रकार के संकट उपस्थित कर सकता है। इसलिए मैं आपसे आग्रह करता हूँ कि आप भी विद्या सिद्ध कर लें। इससे अश्वग्रीव की सभी चालें व्यर्थ की जा सकेगी।"

ज्वलनजटी की बात दोनों वीरों ने स्वीकार की और दोनों भाई विद्या सिद्ध करने

के लिए तत्पर हो गए। ज्वलनजटी स्वयं विद्या सिखाने लगा। सात रात्रि तक मन्त्र साधना चलती रही। परिणामस्वरूप ये विद्याएँ सिद्ध हो गई—

गारुड़ी, रोहिणी, भुवनक्षोभिनी, कृपाणस्तंभिनी, स्थामशुंभनी, व्योमचारिणी, तमिस्रकारिणी, सिंह त्रासिनी, वेगाभिगामिनी, वैरीमोहिनी, दिव्यकामिनी, रंध्रवासिनी, कृशानुवर्सिणी, नागवासिनी, वारिशोषणी, धरित्रवारिणी, बन्धनमोचनी, विमुक्तकुंतला, नानारूपिणी, लोहश्रृंखला, कालराक्षसी, छत्रदशदिका, क्षणशूलिनी, चन्द्रमौली, रुक्षमालिनी, सिद्धताड़निका, पिंगनेत्रा, वनपेशला, ध्वनिता, अहिफणा, घोषिणी और भीरु-भीषणा। इन नामों वाली सभी विद्याएँ सिद्ध हो गईं। इन सब ने उपस्थित हो कर कहा—'हम आपके वश में हैं।'

विद्या सिद्ध होने पर दोनों भाई ध्यान-मुक्त हुए। इसके बाद सेना ले कर दोनों भाई प्रजापति और ज्वलनजटी के साथ शुभ मुहूर्त में प्रयाण किया और चलते-चलते अपने सीमान्त पर रहे हुए रथावर्त पर्वत के निकट आ कर पड़ाव डाला। युद्ध के शौर्यपूर्ण बाजे वजने लगे। भाट-चारणादि सुभटों का उत्साह बढ़ाने लगे। दोनों ओर की सेना आमने-सामने डट गई। युद्ध आरम्भ हो गया। बाण-वर्षा इतनी अधिक और तीव्र होने लगी कि जिससे आकाश ही ढँक गया, जैसे पक्षियों का समूह सारे आकाश-मंडल पर छा गया हो। शस्त्रों की परस्पर की टक्कर से आग की चिनगारियाँ उड़ने लगी। सुभटों के शरीर कट-कट कर पृथ्वी पर गिरने लगे। थोड़े ही काल के युद्ध में महाबाहु त्रिपृष्ठकुमार की सेना नें अश्वग्रीव की सेना के छक्के छुड़ा दिये। उसका अग्रभाग छिन्न-भिन्न हो गया। अपनी सेना की दुर्दशा देख कर अश्वग्रीव के पक्ष के विद्याधर कुपित हुए। उन्होंने प्रचण्ड रूप धारण किये। कई विकराल राक्षस जैसे दिखाई देने लगे, तो कई केसरी-सिंह जैसे, कई मदमस्त गजराज, कई पशुराज अष्टापद, वहुत-से चीते, सिंह, वृषभ आदि रूप में त्रिपृष्ठ की सेना पर भयंकर आक्रमण करने लगे। इस अचिन्त्य एवं आकस्मिक पाशविक आक्रमण को देख कर त्रिपृष्ठ की सेना स्तंभित रह गई। सैनिक सोचने लगे कि—'यह क्या है? हमारे सामने राक्षसों और विकराल सिंहों की सेना कहाँ से आ गई? ये तो मनुष्य को फाड़ ही डालेंगे। पर्वत के समान हाथी, अपनी सूंडों में पकड़-पकड़ कर मनुष्यों को चीर डालेंगे। उनके पैरों के नीचे सैकड़ों-हजारों मनुष्यों का कच्चर घाण निकल जायगा। अहा! एक स्त्री के लिए इतना नरसंहार?"

सेना के मनोभाव जान कर ज्वलनजटी आगे आया और उसने त्रिपृष्ठकुमार से

कहा--'यह सब विद्याधरों का माया-जाल है। इसमें वास्तविकता कुछ भी नहीं है। जब इनकी सेना हारने लगी और हमारी सेना पर इनका जोर नहीं चला, तो ये विद्या के बल से भयभीत करने को तत्पर हुए हैं। यह इनकी कमजोरी है। ये बच्चों को डराने जैसी कायरता पूर्ण चाल चल रहे हैं। इससे भयभीत होने की जरूरत नहीं है। अतएव हे महावीर! उठो और रथारूढ़ हो कर आगे आओ, तथा अपने शत्रुओं को मानरूपी हाथी पर से उतार कर नीचे पटको।"

ज्वलनजटी के वचन सुन कर त्रिपृष्ठकुमार उठे और अपने रथ पर आरूढ़ हुए। उन्हें सन्नद्ध देख कर सेना भी उत्साहित हुई। सेना में उत्साह भरते हुए वे आगे आये। अचल बलदेव भी शस्त्रसज्ज रथारूढ़ हो कर युद्ध-क्षेत्र में आ गये। इधर ज्वलनजटी आदि विद्याधर भी अपने-अपने वाहन पर चढ़ कर समर-भूमि में आ गए। उस समय वासुदेव के पुण्य से आकर्षित हो कर देवगण वहाँ आए और त्रिपृष्ठकुमार को वासुदेव के योग्य 'शारंग' नामक दिव्य धनुष, 'कौमुदी' नाम की गदा, 'पांचजन्य' नामक शंख, 'कौस्तुभ' नामक मणि, 'नन्द' नामक खड्ग और 'वनमाला' नाम की एक जयमाला अर्पण की। इसी प्रकार अचलकुमार को बलदेव के योग्य—'संवर्तक' नामक हल, 'सौनन्द' नामक मूसल और 'चन्द्रिका' नाम की गदा भेंट की। वासुदेव और बलदेव को दिव्य अस्त्र प्राप्त होते देख कर सैनिकों के उत्साह में भरपूर वृद्धि हुई। वे बढ़-चढ़ कर युद्ध करने लगे। उस समय त्रिपृष्ठ वासुदेव ने पांचजन्य शंख का नाद कर के दिशाओं को गुंजायमान कर दिया। प्रलयंकारी मेघ गर्जना के समान शंखनाद सुन कर अश्वग्रीव की सेना क्षुब्ध हो गई। कितने ही सुभटों के हाथों में से शस्त्र छूट कर गिर गए। कितने ही स्वयं पृथ्वी पर गिर गए। कई भाग गए। कई आँखे बन्द किए संकुचित हो कर बैठ गए, कई गुफाओं और खड्डों में छुप गए और कई थरथर धूजने लगे।

अश्वग्रीव का भयंकर युद्ध और मृत्यु

अपनी सेना को हताश एवं छिन्न-भिन्न हुई देख कर अश्वग्रीव ने सैनिकों से कहा—

"ओ, विद्याधरो! वीर सैनिको! एक शंख-ध्वनि सुन कर ही तुम इतने भयभीत हो गए? कहाँ गई तुम्हारी वह अजेयता? कहाँ गई प्रतिष्ठा? तुम अपनी आज तक प्राप्त की हुई प्रतिष्ठा का विचार कर के, शीघ्र ही निर्भय बन कर मैदान में आओ। आकाशचारी विद्याधरगण! तुम भी भूचर मनुष्यों से भयभीत हो गए? यदि युद्ध करने का साहस

नहीं हो, तो युद्ध-मण्डल के सदस्य के समान तो डटे रहो। मैं स्वयं युद्ध करता हूँ। मुझे किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं है।"

अश्वग्रीव के उपालम्भ पूर्ण शब्दों ने विद्याधरों के हृदय में पुनः साहस का संचार किया। वे पुनः युद्ध-क्षेत्र में आ गये। अश्वग्रीव स्वयं रथ में बैठ कर, क्रूर-ग्रह के समान शत्रुओं का ग्रास करने के लिए आकाश-मार्ग में चला और बाणों से, शस्त्रों से और अस्त्रों से त्रिपृष्ठ की सेना पर मेघ के समान वर्षा करने लगा। इस प्रकार अस्त्र-वर्षा से त्रिपृष्ठ की सेना घबड़ाने लगी। यदि भूमि-स्थित मनुष्य धीर, साहसी एवं निडर हो, तो भी आकाश से होते हुए प्रहार के आगे वह क्या कर सकता है?

सेना पर अश्वग्रीव के होते हुए प्रहार को देख कर अचल, त्रिपृष्ठ और ज्वलनजटी, रथारूढ़ हो कर अपने-अपने विद्याधरों के साथ आकाश में उड़े। अब दोनों ओर के विद्याधर आकाश में ही विद्याशक्ति युक्त युद्ध करने लगे। इधर पृथ्वी पर भी दोनों ओर के सैनिक युद्ध करने लगे। थोड़ी ही देर में आकाश में लड़ते हुए विद्याधरों के रक्त से उत्पातकारी अपूर्व रक्त-वर्षा होने लगी। वीरों की हुँकार, शस्त्रों की झंकार और घायलों की चित्कार से आकाश-मंडल भयंकर हो गया। युद्ध-स्थल में रक्त का प्रवाह बहने लगा। रक्त और मांस, मिट्टी में मिल कर कीचड़ हो गया। घायल सैनिकों के तड़पते हुए शरीरों और गत-प्राण हुए शरीरों को रौंदते हुए सैनिकगण युद्ध करने लगे।

इस प्रकार कल्पांत काल के समान चलते हुए युद्ध में त्रिपृष्ठकुमार ने अपना रथ अश्वग्रीव की ओर बढ़ाया। उन्हें अश्वग्रीव की ओर जाते देख कर अचलकुमार ने भी अपना रथ उधर ही बढ़ाया। अपने सामने दोनों शत्रुओं को देख कर अश्वग्रीव अत्यन्त क्रोधित हो कर बोला;—

"तुम दोनों में से वह कौन है जिसने मेरे 'चण्डसिंह' दूत पर हमला किया था? पश्चिम-दिशा के वन में रहे हुए केसरीसिंह को मारने वाला वह घमंडी कौन है? किसने ज्वलनजटी की कन्या स्वयंप्रभा को पत्नी बना कर अपने लिये विषकन्या के समान अपनाई? वह कौन मूर्ख है जो मुझे स्वामी नहीं मानता और मेरे योग्य कन्या-रत्न को दबाये बैठा है? किस साहस एवं शक्ति के बल पर तुम मेरे सामने आये हो? मैं उसे देखना चाहता हूँ। फिर तुम चाहो, तो किसी एक के साथ अथवा दोनों के साथ युद्ध करूँगा। बोलो, मेरी बात का उत्तर दो।"

अश्वग्रीव की बात सुन कर त्रिपृष्ठकुमार हँसते हुए बोले;—

"रे दुष्ट ! तेरे दूत को सभ्यता का पाठ पढ़ाने वाला, सिंह का मारक, स्वयंप्रभा का पति और तुझे स्वामी नहीं मानने वाला तथा अव तक तेरी उपेक्षा करने वाला मैं ही हूँ। और अपने बल से विशाल सेना को नष्ट करने वाले ये हैं मेरे ज्येष्ठ वन्धु अचलदेव। इनके सामने ठहर सके, ऐसा मनुष्य संसार भर में नहीं है। फिर तू है ही किस गिनती में ? हे महाबाहु ! यदि तेरी इच्छा हो, तो सेना का विनाश रोक कर अपन दोनों ही युद्ध कर लें। तू इस युद्ध-क्षेत्र में मेरा अतिथि है। अपन दोनों का द्वंद युद्ध हो और दोनों ओर की सेना मात्र दर्शक के रूप में देखा करे।"

त्रिपृष्ठकुमार का प्रस्ताव अश्वग्रीव ने स्वीकार कर लिया और दोनों ओर की सेनाओं में सन्देश प्रसारित कर के सैनिकों का युद्ध रोक दिया गया। अव दोनों महावीरों का परस्पर युद्ध होने लगा। अश्वग्रीव ने धनुष पर वाण चढ़ाया और उसे झंकृत किया। त्रिपृष्ठकुमार ने भी अपना शारंग धनुष उठाया और उसकी पणच वजा कर वज्र के समान लगने वाला और शत्रुपक्ष के हृदय को दहलाने वाला गम्भीर घोष किया। वाण-वर्षा होने लगी। अश्वग्रीव ने वाण-वर्षा करते हुए एक तीव्र प्रभाव वाला वाण त्रिपृष्ठ पर छोड़ा। त्रिपृष्ठ सावधान ही थे। उन्होंने तत्काल ही वाणछेदक अस्त्र छोड़ कर उसके वाण को वीच में ही काट दिया और तत्काल चतुराई से ऐसा वाण मारा कि जिससे अश्वग्रीव का धनुष ही टूट गया। इसके वाद अश्वग्रीव ने नया धनुष ग्रहण किया। त्रिपृष्ठ ने उसे भी काट दिया। एक बाण के प्रहार से अश्वग्रीव के रथ की ध्वजा गिरा दी और उसके वाद उसका रथ नष्ट कर दिया।

जव अश्वग्रीव का रथ टूट गया, तो वह दूसरे रथ में बैठा और मेघ-वृष्टि के समान वाण-वर्षा करता हुआ आगे वढ़ा। उसने इतने जोर से वाण-वर्षा की कि जिससे त्रिपृष्ठ और उनका रथ, सभी ढक गये। कुछ भी दिखाई नहीं देता था। किंतु जिस प्रकार सूर्य वादलों का भेदन कर के आगे आ जाता है, उसी प्रकार त्रिपृष्ठ ने अपनी वाण-वर्षा से समस्त आवरण हटा कर छिन्न-भिन्न कर दिये। अपनी प्रवल वाण-वर्षा को व्यर्थ जाती देख कर अश्वग्रीव के क्रोध में भयंकर वृद्धि हुई। उसने मृत्यु की जननी के समान एक प्रचण्ड शक्ति ग्रहण की और मस्तक पर घुमाते हुए अपना सम्पूर्ण वल लगा कर त्रिपृष्ठ पर फेंकी। शक्ति को अपनी ओर आती हुई देख कर त्रिपृष्ठ ने रथ में से यमराज के दण्ड समान कौमुदी गदा उठाई और निकट आई शक्ति पर इतने जोर से प्रहार किया कि जिससे अग्नि की चिनगारियों के सैकड़ों उल्कापात छोड़ती हुई चूर-चूर हो कर दूर जा गिरी। शक्ति

की विफलता देख कर अश्वग्रीव ने बड़ा परिघ (भाला) ग्रहण किया और त्रिपृष्ठ पर फेंका, किंतु उसकी भी शक्ति जैसी ही दशा हुई और वह भी कौमुदी गदा के प्रहार से टुकड़े-टुकड़े हो कर बिखर गया। इसके बाद अश्वग्रीव ने घुमा कर एक गदा फेंकी, किन्तु त्रिपृष्ठ ने आकाश में ही गदा प्रहार से उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ।

इस प्रकार अश्वग्रीव के सभी अस्त्र निष्फल हो कर चूर-चूर हो गए, तो वह हताश एवं निराश हो गया। 'अब वह क्या करे,' यह चिंता करने लगा। उसका 'नागास्त्र' की ओर ध्यान गया। उसने उसका स्मरण किया। स्मरण करते ही नागास्त्र उपस्थित हुआ। अश्वग्रीव ने उस अस्त्र को धनुष के साथ जोड़ा। तत्काल सर्प प्रकट होने लगे। जिस प्रकार बाँबी में से सर्प निकलते हैं, उसी प्रकार नागास्त्र से सर्प निकल कर पृथ्वी पर दौड़ने लगे। ऊँचे फण किये हुए और फुंकार करते हुए लम्बे और काले वे सर्प, बड़े भयानक लग रहे थे। पृथ्वी पर और आकाश में जहाँ देखो, वहाँ भयंकर साँप ही साँप दिखाई दे रहे थे। त्रिपृष्ठ की सेना, सर्पों के भयंकर आक्रमण को देख कर विचलित हो गई। इतने में त्रिपृष्ठ ने गरुड़ास्त्र उठा कर छोड़ा, तो उसमें से बहुत-से गरुड़ प्रकट हुए। गरुड़ों को देखते ही सर्प-सेना भाग खड़ी हुई।

नागास्त्र की दुर्दशा देख कर अश्वग्रीव ने अग्न्यस्त्र का स्मरण किया और प्राप्त कर छोड़ा, तो उससे चारों ओर उल्कापात होने लगा और त्रिपृष्ठ की सेना चारों ओर से दावानल में घिरी हो—ऐसा दिखाई देने लगा। सेना अपने को पूर्ण रूप से अग्नि से व्याप्त मान कर घबड़ा गई। सैनिक इधर-उधर दुबकने लगे। यह देख कर अश्वग्रीव की सेना के सैनिक उत्साहित हो कर हँसने लगे, उछलने और खिल्ली उड़ाने लगे तथा तालियाँ पीट-पीट कर जिव्हा से व्यंग बाण छोड़ने लगे। यह देख कर त्रिपृष्ठ ने रुष्ट हो कर वरुणास्त्र उठा कर छोड़ा। तत्काल आकाश मेघ आच्छादित हो गया और वर्षा होने लगी। अश्वग्रीव की फैलाई हुई अग्नि शांत हो गई। जब अश्वग्रीव के सभी प्रयत्न व्यर्थ गये, तब उसने अपने अंतिम अस्त्र, अमोघ चक्र का स्मरण किया। सैकड़ों आरों से निकलती हुई सैकडों ज्वालाओं से प्रकाशित, सूर्य-मण्डल के समान दिखाई देने वाला वह चक्र, स्मरण करते ही अश्वग्रीव के सम्मुख उपस्थित हुआ। चक्र को ग्रहण के अश्वग्रीव ने त्रिपृष्ठ से कहा;—

"अरे, ओ त्रिपृष्ठ ! तू अभी बालक है। तेरा वध करने से मुझे बाल-हत्या का पाप लगेगा। इसलिए मैं कहता हूँ कि तू अब भी मेरे सामने से हट जा और युद्ध-क्षेत्र से बाहर चला जा। मेरे हृदय में रही हुई दया, तेरा वध करना नहीं चाहती। देख, मेरा

यह चक्र, इन्द्र के वज्र के समान अमोघ है। यह न तो पीछे हटता है और न व्यर्थ ही जाता है। मेरे हाथ से यह चक्र छूटा कि तेरे शरीर से प्राण छूटे। इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। इसलिए क्षत्रियत्व एवं वीरत्व के अभिमान को छोड़ कर, मेरे अनुशासन को स्वीकार कर ले। मैं तेरे पिछले सभी अपराध क्षमा कर दूँगा। मेरे मन में अनुकम्पा उत्पन्न हुई है। यह तेरे सद्भाग्य का सूचक है। इसलिए दुराग्रह छोड़ कर सीधे मार्ग पर आजा।

अश्वग्रीव की बात सुन कर त्रिपृष्ठ हँसते हुए बोले;——

"अश्वग्रीव ! वास्तव में तू वृद्ध एवं शिथिल हो गया है। इसीसे उन्मत्त के समान दुर्वचन बोल रहा है। तुझे विचार करना चाहिए कि बाल केसरीसिंह, बड़े गजराज को देख कर डरता नहीं, गरुड़ का छोटा बच्चा भी बड़े भुजंग को देख कर विचलित नहीं होता और बाल सूर्य भी संध्याकाल रूप राक्षस से भयभीत नहीं होता। मैं बालक हूँ, फिर भी तेरे सामने युद्ध करने आया हूँ। मैंने तेरे अब तक के सारे अस्त्र व्यर्थ कर दिये, अब फिर एक अस्त्र और छोड़ कर, उसका भी उपयोग कर ले। पहले से इतना घमण्ड क्यों करता है ?"

त्रिपृष्ठ के वचन से अश्वग्रीव भड़का। उसके हृदय में क्रोध की ज्वाला सुलग उठी। उसने चक्र को ऊँचा उठा कर अपने सिर पर खूब घुमाया और सम्पूर्ण बल से उसे त्रिपृष्ठ पर फेंका। चक्र ने त्रिपृष्ठ के वज्रमय एवं शिला के समान वक्षस्थल पर आघात किया और टकरा कर वापिस लौटा। चक्र के अग्रभाग के दृढ़तम आघात से त्रिपृष्ठ मूर्च्छित हो कर नीचे गिर गये और चक्र भी स्थिर हो गया। त्रिपृष्ठ की यह दशा देख कर उसकी सेना में हाहाकार मच गया। अपने लघुबन्धु को मूर्च्छित देख कर अचलकुमार को मानसिक आघात लगा और वे भी मूर्च्छित हो गए। दोनों को मूर्च्छित देख कर अश्वग्रीव ने सिंहनाद किया और उसके सैनिक जयजयकार करते हुए हर्षोन्मत्त हो कर किलकारी करने लगे।

कुछ समय बीतने पर अचलकुमार की मूर्च्छा दूर हुई। वे सावधान हुए। जब उनका ध्यान हर्षनाद की ओर गया, तो उन्होंने इसका कारण पूछा। सेनाधिकारियों ने कहा—" त्रिपृष्ठकुमार के मूर्च्छित हो जाने पर शत्रु-सेना प्रसन्नता से उन्मत्त हो उठी है। यह उसी की ध्वनि है।" अचलकुमार को यह सुन कर क्रोध चढ़ा। उन्होंने गर्जना करते हुए अश्वग्रीव से कहा——

"रे दुष्ट ! ठहर, मैं तेरे हर्षोन्माद की दवा करता हूँ।" उन्होंने गदा उठाई और

अश्वग्रीव पर झपटने ही वाले थे कि त्रिपृष्ठ सावधान हो गए। उन्होंने ज्येष्ठ बन्धु को रोकते हुए कहा;—

"आर्य ! ठहरिये, ठहरिये, मुझे ही अश्वग्रीव की करणी का फल चखाने दीजिए। वह मुख्यतः मेरा अपराधी है। आप उसके घमण्ड का अंतिम परिणाम देखिये।"

राजकुमार अचल, छोटे बन्धु को सावधान देख कर प्रसन्न हुए और उसको अपनी भुजाओं में बाँध कर आलिंगन करने लगे। सेना में भी विषाद के स्थान पर प्रसन्नता व्याप्त हो गई। हर्षनाद होने लगा। त्रिपृष्ठ ने देखा कि अश्वग्रीव का फेंका हुआ चक्र पास ही निस्तब्ध पड़ा है। उन्होंने चक्र को उठाया और गर्जनापूर्वक अश्वग्रीव से कहने लगे;—

"ऐ अभिमानी वृद्ध ! अपने परम अस्त्र का परिणाम देख लिया ? यदि जीवन प्रिय है, तो हट जा यहाँ से। मैं भी एक वृद्ध की हत्या करना नहीं चाहता। यदि अब भी तू नहीं, मानेगा और अभिमान से अड़ा ही रहेगा, तो तू समझ ले कि तेरा जीवन अब कुछ क्षणों का ही है।"

अश्वग्रीव इन वचनों को सहन नहीं कर सका। वह भ्रकुटी चढ़ा कर बोला—

"छोकरे ! वाचालता क्यों करता है। जीवन प्यारा हो, तो चला जा यहाँ से। नहीं, तो अब तू नहीं बच सकेगा। तेरा कोई भी अस्त्र और यह चक्र मेरे सामने कुछ भी नहीं है। मेरे पास आते ही मैं इसे चूर-चूर कर दूंगा।"

अश्वग्रीव की बात सुनते ही त्रिपृष्ठ ने क्रोधपूर्वक उसी चक्र को ग्रहण किया और बलपूर्वक घुमा कर अश्वग्रीव पर फेंका। चक्र सीधा अश्वग्रीव की गर्दन काटता हुआ आगे निकल गया। त्रिपृष्ठ की जीत हो गई। खेचरों ने त्रिपृष्ठ वासुदेव की जयकार से आकाश गुँजा दिया और पुष्प-वर्षा की। अश्वग्रीव की सेना में रुदन मच गया। अश्वग्रीव के संबंधी और पुत्र एकत्रित हुए और अश्रुपात करने लगे। अश्वग्रीव के शरीर का वहीं अग्नि-संस्कार किया। वह मृत्यु पा कर सातवीं नरक में, ३३ सागरोपम की स्थिति वाला नारक हुआ।

उस समय देवों ने आकाश में रह कर उच्च स्वर से उद्घोषणा करते हुए कहा;—

"राजाओं ! अब तुम मान छोड़ कर भक्तिपूर्वक त्रिपृष्ठ वासुदेव की शरण में आओ। इस भरत-क्षेत्र में इस अवसर्पिणी काल के ये प्रथम वासुदेव हैं। ये महाभुज त्रिखंड भरत-क्षेत्र की पृथ्वी के स्वामी होंगे।"

यह देववाणी सुन कर अश्वग्रीव के पक्ष के सभी राजाओं ने भी त्रिपृष्ठ वासुदेव के समीप आ कर प्रणाम किया और हाथ जोड़ कर विनति करते हुए इस प्रकार बोले;—

"हे नाथ ! हमने अज्ञानवश एवं परतन्त्रता से अब तक आपका जो अपराध किया, ऽसे क्षमा करें । अब आज से हम आपके अनुचर के समान रहेंगे और आपकी सभी आज्ञाओं ा पालन करेंगे ।"

वासुदेव ने कहा — "नहीं, नहीं, तुम्हारा कोई अपराध नहीं है । स्वामी की आज्ञा े युद्ध करना, यह क्षत्रियों का कर्त्तव्य है । तुम भय छोड़ कर मेरी आज्ञा से अपने-अपने ाज्य में निर्भय हो कर राज करते रहो ।"

इस प्रकार सभी राजाओं को आश्वास्त कर के त्रिपृष्ठ वासुदेव, इन्द्र के समान अपने अधिकारियों और सेना के साथ पोतनपुर आये । उसके बाद वासुदेव, अपने ज्येष्ठ-बन्धु अचल बलदेव के साथ सातों रत्नों × को ले कर दिग्विजय करने चल निकले ।

उन्होंने पूर्व में मागधपति, दक्षिण में वरदाम देव और पश्चिम में प्रभास देव को आज्ञा-धीन कर के वैताढ्य पर्वत पर की विद्याधरों की दोनों श्रेणियों को विजय किया और दोनों श्रेणियों का राज, ज्वलनजटी को दे दिया । इस प्रकार दक्षिण भरतार्द्ध को साध कर वासु-देव, अपने नगर की ओर चलने लगे । चलते-चलते वे मगधदेश में आये । वहाँ उन्होंने एक महाशिला, जो कोटि पुरुषों से उठ सकती थी और जिसे 'कोटिशिला' कहते थे, देखी । उन्होंने उस कोटिशिला को बायें हाथ से उठा कर मस्तक से भी ऊपर छत्रवत् रखी । उनके ऐसे महान् बल को देख कर साथ के राजाओं और अन्य लोगों ने उनकी प्रशंसा की । कोटिशिला योग्य स्थान पर रख कर आगे बढ़े और चलते-चलते पोतनपुर के निकट आये । उनका नगर-प्रवेश बड़ी धूमधाम से हुआ । शुभ मुहुर्त में प्रजापति, ज्वलनजटी, अचल-बलदेव आदि ने त्रिपृष्ठ का 'वासुदेव' पद का अभिषेक किया । बड़े भारी महोत्सव से यह अभिषेक सम्पन्न हुआ ।

भगवान् श्रेयांसनाथजी ग्रामानुग्राम विचरते हुए पोतनपुर नगर के उद्यान में ारे । समवसरण की रचना हुई । वनपाल ने वासुदेव को प्रभु के पधारने की बधाई दी । ेव, सिंहासन त्याग कर उस दिशा में कुछ चरण गये और जा कर प्रभु को वन्दन-वासुदे ोक । फिर सिंहासन पर बैठ कर बधाई देने वाले को साढ़े बारह कोटि स्वर्ण-नमस्कार किय षिक दिया । इसके बाद वे आडम्बरपूर्वक भगवान् को वन्दने के लिए मुद्रा का पारितो भगवान् की वन्दना की और भगवान् की धर्मदेशना सुनने में तन्मय निकले । विधिपूर्वक

× १ चक्र धनुष ३ गदा ४ शंख ५ कौस्तुभ मणि ६ खड्ग और ७ वनमाला । ये वासुदेव के सात रत्न है ।

को राज्यभार दे कर प्रव्रजित हो गए। उन्होंने कोटि वर्ष तक उग्र तप किया और चोरासी लाख पूर्व का आयु भोग कर महाशुक्र नामक देवलोक के सर्वार्थ विमान में देव हुए।

नन्दनमुनि की आराधना और जिन नामकर्म का बन्ध

प्रियमित्र चक्रवर्ती का जीव महाशुक्र देवलोक से च्यव कर भरतक्षेत्र की छत्रा नगरी में जितशत्रु राजा की भद्रा रानी के गर्भ से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। उसका नाम 'नन्दन' दिया गया। यौवनवय में पिता ने राज्यभार सौंप कर निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या स्वीकार की। नन्दन नरेश, इन्द्र के समान राज्य-वैभव भोगने लगे और प्रजा पर न्याय-नीति से शासन करने लगे। जन्म से चौवीस लाख वर्ष व्यतीत होने पर विरक्त हो कर पोट्टिलाचार्य से निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या स्वीकार की और निरन्तर मासखमण की तपस्या करने लगे। निर्दोष संयम, उत्कृष्ट तप एवं शुभ ध्यान से वे अपनी आत्मा को प्रभावित करने लगे। इस प्रकार उच्चकोटि की आराधना करते हुए शुभ भावों की प्रकृष्टता में मुनिराज ने तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया। आयु का अन्त निकट जान कर महात्मा श्री नन्दनमुनिजी अन्तिम आराधना करने लगे;—

"काल विनय आदि आठ प्रकार के ज्ञानाचार में मुझसे कोई अतिचार लगा हो, तो मैं मन, वचन और काया से उस दोष की निन्दा करता हूँ। निःशंकित आदि आठ प्रकार के दर्शनाचार में मुझसे कोई दोष लगा हो, तो मैं उसकी गर्हा करता हूँ। मैंने मोहवश अथवा लोभ के कारण सूक्ष्म अथवा बादर जीवों की हिंसा की हो, तो उस दुष्कृत्य को मैं वोसिराता हूँ। हास्य, भय, क्रोध या लोभादि से मैंने मृषावाद पाप का सेवन किया, उस पाप का त्याग कर के प्रायश्चित्त करता हूँ। राग-द्वेषवश थोड़ा या वहुत अदत्त ग्रहण किया, उस सव का त्याग कर के शुद्ध होता हूँ। पहले मैंने तिर्यंच, मनुष्य और देव संबंधी मैथुन का सेवन मन-वचन और काया से किया, मैं तीन करण तीन योग से उस पाप का त्याग करता हूँ। लोभ के वशीभूत हो कर मैंने पूर्व अवस्था में धन-धान्यादि सभी प्रकार के परिग्रह का सेवन किया। उस सव पाप से मैं सर्वथा पृथक् होता हूँ। स्त्री, पुत्र मित्र, परिवार, द्विपद, चतुस्पद, स्वर्ण-रत्नादि तथा राज्यादि में आसक्त हुआ, मेरा वह पाप सर्वथा मिथ्या हो जाओ। मैंने रात्रि-भोजन किया हो, तो उस पाप से मेरी आत्मा सर्वथा पृथक् हो जाय। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, क्लेश, पिशुनता, परनिन्दा, अभ्याख्यान, पाप में रुचि, धर्म में अरुचि आदि पापों से मैंने चारित्राचार को दूपित किया

हो, तो उस दुष्कृत्य को मैं अन्तःकरण से पृथक् करता हूँ। वाह्य और आभ्यन्तर तप करते हुए मन-वचन और काया से मुझे उम तपाचार में कोई दोष लगा हो, तो मैं मन-वचन और काया से उसकी निन्दा करता हूँ। धर्म का आचारण करने में मैंने अपनी शक्ति का उपयोग नहीं किया हो और वीर्याचार को प्रमादवश छुपाया हो, तो मैं उस पाप को वोसिराता हूँ।

मैंने किसी जीव की हिंसा की हो, किसी जीव को खेद क्लेश या परिताप उत्पन्न किया हो, किसी का हृदय दुखाया हो, किसी को दुष्ट वचन कहे हों, किसी की कोई वस्तु हरण कर ली हो और किसी भी प्रकार का अपराध किया हो, तो वे सब मुझे क्षमा करें। मेरी किसी के साथ शत्रुता नहीं है। परन्तु यदि किसी के साथ मेरा शत्रुतापूर्ण व्यवहार हुआ हो, मित्र सम्वन्धी के साथ व्यवहार में मुझसे कुछ अप्रिय हुआ हो, तो वे सव मुझे क्षमा करें। सभी जीवों के प्रति मेरी समान बुद्धि है। तिर्यंचभव में, नारक, मनुष्य और देव-भव में मैंने किसी जीव को दुःख दिया हो, तो वे सभी मुझे क्षमा करें। मैं उन सब से क्षमा चाहता हूँ। सव के प्रति मेरा मैत्रीभाव है।

जीवन, यौवन, लक्ष्मी, रूप और प्रिय-समागम ये सव समुद्र की तरंगों के समान चपल अस्थिर और विनष्ट होने वाले हैं। जन्म-जरा और व्याधी तथा मृत्यु से ग्रस्त जीवों को श्री जिनेश्वर भगवंत के धर्म के सिवाय अन्य कोई भी शरणभूत नहीं है। संसार के सभी जीव मेरे स्वजन भी हुए और परजन भी हुए। यह सव स्वोंपार्जित कर्मों का परिणाम है। इस कर्म-परिणाम पर किसी का प्रतिबंध नहीं होता। जीव अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरता है। अपने सुख और दुःख का अनुभव भी अकेला ही करता है। यह शरीर और स्वजनादि सभी आत्मा से भिन्न अन्य—पर हैं। किंतु मोहमूढ़ता से जीव उन्हें अपना मान कर पाप करता है। रक्त, मांस, चरवी, अस्थि, ग्रंथी, मज्जा, विष्ठा और मूत्र से जीव उन्हें अपना मान कर पाप करता है। रक्त, मांस, चरवी, अस्थि, ग्रंथी, मज्जा, विष्ठा और मूत्र से भरे हुए अशूचि के भण्डार रूप शरीर पर मोह करना वुद्धि-हीनता है। यह शरीर भाड़े के घर के समान अंत में छोड़ना ही पड़ता है। मैं इस शरीर के ममत्व का त्याग करता हूँ।

मुझे अरिहंत भगवान् का शरण हो, सिद्ध भगवंतों का शरण हो, साधुमहात्माओं का शरण हो और केवलज्ञानी भगवंतों से प्ररूपित धर्म का शरण हो। श्री जिनधर्म मेरी माता के समान है, गुरुदेव पिता तुल्य है, अन्य श्रमण एवं साधर्मी मेरे सहोदर वन्धु के समान हैं। इनके सिवाय संसार में सव माया-जाल है।

इस अवसर्पिणी काल के ऋषभदेव आदि तीर्थंकर, इनके पूर्व के अनन्त तीर्थंकर और ऐरवत क्षेत्र तथा महाविदेह के सभी तीर्थंकर भगवंतों को मैं नमस्कार करता हूँ। तीर्थंकर भगवंतों को किया हुआ नमस्कार, प्राणियों का संसार-परिभ्रमण काटने वाला तथा बोधि देने वाला होता है। मैं सिद्ध भगवंतों को नमस्कार करता हूँ, जिन्होंने ध्यानरूपी अग्नि से करोड़ों भवों के संचित कर्मरूपी काष्ठ को भस्म कर दिया है। पाँच प्रकार के आचार के पालन करनेवाले आचार्यों को मैं नमस्कार करता हूँ, जो भवच्छेद के लिये पराक्रम करते हुए निग्रंथ-प्रवचन को धारण करते हैं। मैं उन उपाध्याय महात्माओं को नमस्कार करता हूँ जो सर्व श्रुत को धारण करते हैं और शिष्यों को ज्ञान-दान देते हैं। पूर्व के लाखों भवों में बाँधे हुए पाप-कर्म को नष्ट करने वाले शील--शुद्धाचार को धारण करने वाले साधु-महात्माओं को नमस्कार करता हूँ।

मैं सावद्य योग और बाह्य और आभ्यंतर उपधी को मन वचन काया से जीवन-पर्यंत वोसिराता हूँ। मैं यावज्जीवन चारों प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ और चरम उच्छ्वास तक इस देह को भी वोसिराता हूँ।"

दुष्कर्मों की गर्हणा, प्राणियों से क्षमापना, शुभभावना, चार शरण, नमस्कार स्मरण और अनशन—इस तरह छह प्रकार की आराधना करके नन्दन मुनिजी, धर्माचार्य, साधुओं और साध्वियों को खमाने लगे। साठ दिन तक अनशन व्रत का पालन करके और पच्चीस लाख वर्ष का आयु पूर्ण करके श्री नन्दन मुनिजी प्राणत नाम के दसवें देवलोक के पुष्पोत्तर विमान की उपपात-शय्या में उत्पन्न हुए। अन्तर्मुहूर्त में ही वे महान् ऋद्धि सम्पन्न देव हो गए।

देवदुष्य—दैविक वस्त्र को हटा कर शय्या में बैठे हुए उन्होंने देखा तो आश्चर्य में पड़ गए। उन्होंने सोचा—"अरे, मैं कहा हूँ? यह देव-विमान, यह ऋद्धि-सम्पदा मुझे कैसे प्राप्त हो गई? मेरी किस तपस्या का फल है—यह?" उन्होंने अवधिज्ञान से अपना पूर्वभव और अपनी साधना देखी। उन्होंने उत्साहपूर्वक कहा—"अहो, जिन-धर्म का कैसा प्रभाव है? इस परमोत्तम धर्म की साधना से ही मुझे यह दिव्यऋद्धि प्राप्त हुई है।"

इतने में उनके अधिनस्थ देव वहां आ कर उपस्थित हुए और हर्षोत्फुल्ल हो, हाथ जोड़ कर कहने लगे;—"हे स्वामी! आपकी जय हो, विजय हो। आप सदैव आनन्दित रहें। आप हमारे स्वामी हैं, रक्षक हैं। हम आपके आज्ञा-पालक सेवक हैं। आप यशस्वी

देवों ने उनका अभिषेक किया। और नन्दन देव संगीत आदि सुनने और यथा-योग्य भोग भोगने लगे। उनकी स्थिति वीस सागरोपम प्रमाण थी। देव सम्बन्धी आयु पूर्ण होने के छह महीने पूर्व अन्य देवों की कान्ति म्लान हो जाती है, शक्ति क्षीण होती है, और वे खेदित होते हैं, परंतु नन्दन देव, विशेष शोभित होने लगे। उनकी कान्ति बढ़ने लगी। तीर्थंकर होने वाली महान् आत्मा के तो महान् पुण्योदय होने वाला है। उन्हें खेदित नहीं होना पड़ता।

देवानन्दा की कुक्षि में अवतरण

दुःषम-सुषमा काल का अधिकांश भाग व्यतीत हो चुका था और मात्र पिचहत्तर वर्ष, नौ मास और पन्द्रह दिन शेष रहे थे। इस जम्बूद्वीप के दक्षिण भरत-क्षेत्र में 'दक्षिण ब्राह्मणकुंड' नामक गाँव था। जहाँ ब्राह्मणों की वस्ती अधिक थी। वहां कोडालस गोत्रीय 'ऋषभदत्त' नामक ब्राह्मण रहता था। वह समर्थ, तेजस्वी एवं प्रतिष्ठित था। वेद-वेदांग, पुराण आदि अनेक शास्त्रों का वह ज्ञाता था। वह जीव-अजीवादि तत्त्वों का ज्ञाता श्रमणो-पासक था। उसकी पत्नी जाल्न्धरायण गोत्रीय देवानन्दा सुन्दर, सुलक्षणी एवं सद्गुणी थी। वह भी आर्हत्-धर्म की उपासिका एवं तत्त्वज्ञा थी। नन्दन देव, दसवें देवलोक से, आषाढ़-शुक्ला षष्ठी को हस्तोत्तरा (उत्तराषाढ़ा) नक्षत्र में च्यव कर देव-भव के तीन ज्ञान सहित देवानन्दा की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। देवीस्वरूपा देवानन्दा ने तीर्थंकर के योग्य चौदह महास्वप्न देखे। देवानन्दा ने पति को स्वप्न सुनाये। विद्वद्वर ऋषभदत्त ने कहा—'प्रिये! तुम्हारी कुक्षि में एक त्रिलोक-पूज्य महान् आत्मा का आगमन हुआ है। इससे हम और हमारा कुल धन्य हो जायगा ×।' धन-धान्यादि और हर्षोल्लास की वृद्धि होने लगी।

संहरण और त्रिशला की कुक्षि में स्थापन

गर्भकाल को बयासी रात्रि-दिन व्यतीत होने के पश्चात् प्रथम स्वर्ग के [illegible]

देवेन्द्र शक्र का आसन कम्पायमान हुआ। उन्होंने अवधिज्ञान का उपयोग लगा कर जाना कि चरम तीर्थंकर भगवान् देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में आये हैं। उन्हें ८२ रात्रि व्यतीत हो गई है। उन्होंने सिंहासन से नीचे उतर कर भगवान् को नमस्कार किया। इसके बाद उन्हें विचार हुआ कि—"तीर्थंकर भगवान् का जन्म उदारता, शौर्य्यता एवं दायकभाव आदि गुणों से युक्त ऐसे क्षत्रीय-कुल में ही होता है, याचक कुल में नहीं होता। ब्राह्मण कुल याचक होता है। दान लेने के लिये हाथ फैलाता है। उसमें शौर्य्यता, साहसिकता भी प्रायः नहीं होती। कर्म-प्रभाव विचित्र होता है। मरीचि के भव में किये हुए कुल-मद से बन्धा हुआ कर्म अब उदय में आया है। उसीका परिणाम है कि भगवान् को याचक-कुल में आना पड़ा। कर्म-फल भुगत चुका है। अब मेरा कर्त्तव्य है कि—भगवान् के गर्भपिण्ड का संहरण कर के किसी योग्य माता की कुक्षि में स्थापन करूँ।" यह मेरा कर्त्तव्य है—जीताचार है। शक्रेन्द्र ने ज्ञानोपयोग से क्षत्रीय नरेशों के उच्च कुल, उत्तम शील, न्याय-नीति, यश, प्रतिष्ठादि उत्तम गुणों से भरपूर माता-पिता की खोज की। उनकी दृष्टि क्षत्रीयकुंड नगर के अधिपति सिद्धार्थ नरेश पर केन्द्रित हो गई। वे सभी उत्तम गुणों से युक्त थे। उनकी रानी त्रिशलादेवी भी गुणों की भंडार सुलक्षणी तथा साक्षात् लक्ष्मी के समान उत्तम महिला-रत्न थी। देवेन्द्र को यही स्थान सर्वोत्तम लगा। महारानी त्रिशलादेवी भी उस समय गर्भवती थी। शक्रेन्द्र ने अपने सेनापति हरिनैगमेषी देव को आदेश दिया—"तुम भरत क्षेत्र के ब्राह्मणकुंड ग्राम के ऋषभदत्त ब्राह्मण के घर जाओ और उसकी पत्नी देवानन्दा के गर्भ को यतनापूर्वक संहरण कर के क्षत्रीयकुंड की महारानी त्रिशला की कुक्षि में स्थापित करो और उसके गर्भ को देवानन्दा की कुक्षि में रखो।"

इन्द्र का आदेश पा कर हरिनैगमेषी देव अति प्रसन्न हुआ। उसे भावी जिनेश्वर भगवंत रूपी अलौकिक आत्मा की सेवा करने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। देवलोक से च्यव कर देवानन्दा के गर्भ में आये उन्हें बयासी रात्रि-दिन व्यतीत हो चुके थे और तियासी रात्रि वर्तमान थी। आश्विनकृष्णा त्रयोदशी को हस्तोत्तरा (उत्तराफाल्गुनी) नक्षत्र का योग था। हरिनैगमेषी देव उत्तर-वैक्रिय कर के ब्राह्मणकुंड ग्राम आया। गर्भस्थ भगवान् को नमस्कार किया, तथा देवानन्दा और परिवार को अवस्वापिनी निद्रा में लीन किया। फिर गर्भस्थान के अशुभ पुद्गलों को पृथक् किया और शुभ पुद्गलों को प्रक्षिप्त किया। इसके बाद भगवान् से बोला—"आपकी आज्ञा हो भगवन्!" उनको किसी प्रकार की पीड़ा नहीं हो, इस प्रकार भगवान् को अपने हाथों में ग्रहण किया और क्षत्रीयकुण्ड के राजभवन में आया। उसने महारानी त्रिशलादेवी को भी निद्राधीन करके उनके गर्भ और

अशुभ पुद्गलों को हटाया । फिर शुभ पुद्गलों का प्रवेश करके भगवान् को स्थापित किया। इसके बाद त्रिशलादेवी के गर्भ को ले कर देवानन्दा की कुक्षि में रखा । इस प्रकार अपना कार्य पूर्ण करके देव स्वस्थान लौट गया ।

देवभव का अवधिज्ञान भगवान् को गर्भ में भी साथ था । देवलोक से च्यवन होने के पूर्व भी भगवान् जानते थे कि मेरा यहाँ का आयु पूर्ण हो कर मनुष्य-भव प्राप्त होने वाला है । देवानन्दा के गर्भ में आने के तत्काल बाद भगवान् जान गये कि मेरा देवलोक से च्यवन हो कर मनुष्य-गति में—गर्भ में आगमन हो चुका है । किंतु च्यवन होते समय को भगवान् नहीं जानते थे । क्योंकि वह सूक्ष्मतम समय होता है, जो छद्मस्थ के लिये अज्ञेय है । गर्भसंहरण के पूर्व भी भगवान् जानते कि मेरा यहां से संहरण होगा, संहरण होते समय भी जानते थे और संहरण हो चुका––यह भी जानते थे।

देवानन्दा को शोक x x त्रिशाला को हर्ष

देवानन्दा के गर्भ से प्रभु का साहरण हुआ तब देवानन्दाजी को स्वप्न आया कि उनके चौदह महान् स्वप्नों का महारानी त्रिशलादेवी ने हरण कर लिया है । वह घबरा कर उठ बैठी और रुदन करने लगी । उसके शोक का पार नहीं रहा । उसकी अलौकिक निधि उससे छिन ली गई थी । दूसरी ओर वे चौदह महास्वप्न महारानी त्रिशलादेवी ने देखे । उनके हर्ष का पार नहीं रहा । महारानी उठी और स्वाभाविक गति से चल कर पतिदेव महाराज सिद्धार्थ नरेश के शयन कक्ष में आई । उन्होंने अपने मधुर कोमल एवं कर्णप्रिय स्वर एवं मांगलिक शब्दों के उच्चारण से पतिदेव को निद्रामुक्त किया । निद्रा खुलने पर नरेश ने महारानी को देखा, तो सर्व-प्रथम उन्हें एक भव्य सिंहासन पर बिठाया और स्वास्थ्य एवं आरोग्यता पूछ कर, इस समय आगमन का कारण जानना चाहा । महारानी ने महान् स्वप्न आने का वर्णन सुनाया । ज्यों-ज्यों महारानी स्वप्न का वर्णन करने लगी, त्यों-त्यों महाराजा का हर्ष बढ़ने लगा । सभी स्वप्न सुन कर महाराजा ने कहा;––

"देवानुप्रिये ! तुमने कल्याणकारी, मंगलकारी, महान् उदार स्वप्न देखे हैं। इनके फल स्वरूप हमें अर्थलाभ, भोगलाभ, सुखलाभ, राज्यलाभ, यशलाभ के साथ एक महान् पुत्र का लाभ होगा । वह पुत्र अपने कुल का दीपक, कुलतिलक, कुल में ध्वजा के समान, कुल की कीर्ति बढ़ाने वाला, यशस्वी एवं सभी प्रकार से कुलशेखर होगा । वह शुभ लक्षण व्यंजन और शुभ चिन्हों से युक्त सर्वांग सुन्दर, प्रियदर्शी होगा ।"

"हमारा वह पुत्र योग्य वय पा कर शूर-वीर धीर एवं महान् राज्याधिपति होगा। प्रियतमे ! तुमने जो स्वप्न देखे, वे महान् हैं और महान् फल देने वाले हैं।" इस प्रकार कह कर महारानी को विशेष संतुष्ट किया।

पतिदेव से स्वप्नों का शुभतम फल सुन कर महारानी अत्यन्त प्रसन्न हुई। उन्होंने पति की वाणी का आदर करते हुए कहा—

"स्वामिन् ! आपका कथन यथार्थ है, सत्य है, निःसन्देह है। हमारे लिये यह इष्ट है, अधिकाधिक इष्ट है, आनन्द मंगलकारी है"। इस प्रकार स्वप्न-फल को सम्यक् रीति से स्वीकार करती है और सिंहासन से उठ कर राजहंसिनी-सी गति से अपने शयनागार में शय्यारूढ़ हो कर सोचती है;—

"मेरे वे महान् मंगलकारीं स्वप्न किन्हीं अशुभ स्वप्नों से प्रभावहीन नहीं हो जाय, इसलिये मुझे अब निद्रा लेना उचित नहीं है"। इस प्रकार विचार कर के देव, गुरु एवं धर्म सम्बन्धी मांगलिक विचारों, श्लोकों, स्तुतियों तथा धर्मकथाओं का स्मरण-चिन्तन करती हुई धर्म-जागरण से रात्रि व्यतीत की।

दूसरे दिन सिद्धार्थ नरेश ने राज्यसभा में विद्वान् स्वप्न-पाठकों को बुलाया और आदर सहित उत्तम आसनों पर बिठाया। महारानी त्रिशला को भी यवनिका की ओट में भद्रासन पर बिठाया। तत्पश्चात् नरेश ने अपने हाथों में उत्तम पुष्प-फल ले कर विनयपूर्वक स्वप्न पाठकों को महारानी के स्वप्न सुनाये और फल पूछा।

महाराज से स्वप्न-प्रश्न सुन कर स्वप्न-पाठक अत्यन्त प्रसन्न हुए और परस्पर विचार-विनिमय कर के महाराज सिद्धार्थ से निवेदन किया;—

"महाराज ! स्वप्न-शास्त्र में बहत्तर शुभ स्वप्नों का उल्लेख है। जिनमें से बयालीस स्वप्न तो सामान्य हैं और तीस महास्वप्न हैं। उन तीस महास्वप्नों में से चौदह महास्वप्न आदरणिया महादेवी ने देखे हैं। शास्त्र में विधान है कि जिस माता को तीस महास्वप्न में से सात स्वप्न दिखाई दें, तो उसकी कुक्षि में ऐसी पुण्यात्मा का आगमन हुआ है, जो तीन खण्ड के परिपूर्ण साम्राज्य का स्वामी वासुदेव होता है, जो माता चार स्वप्न देखें उसका पुत्र 'बलदेव' होता है और एक महास्वप्न देखने वाली माता के गर्भ में मांडलिक राजा होने वाला पुत्र होता है। जिस महादेवी के गर्भ में चक्रवर्ती सम्राट या जिनेश्वर पद पाने वाली महानतम आत्मा का अवतरण होता है, वही चौदह महास्वप्न देखती है। इसलिये महाराज ! महारानी ने उत्तमोत्तम स्वप्न देखे हैं। इसके फल स्वरूप आपको महान् पुत्रलाभ, अर्थलाभ, भोगलाभ, सुखलाभ, राज्यलाभ एवं यशलाभ होगा।

गर्भकाल पूर्ण होने पर महारानी एक ऐसे पुत्र-रत्न को जन्म देगी, जो आपका कुलदीपक होगा। कुलकीर्तिकर, कुलनन्दीकर, कुल-यशकर, कुलवृद्धिकर और कुलाधार होगा। वह कुल में ध्वजा समान, कुलतिलक, कुलमुकुट तथा कुल में पर्वत के समान होगा। यौवनवय प्राप्त करने पर वह प्रबल पराक्रमी महावीर होगा। विशाल सेना और चतुर्दिक समुद्र के अन्तपर्यंत साम्राज्य का स्वामी चक्रवर्ती-सम्राट होगा। अथवा धर्म-चक्रवर्ती तीर्थंकर होगा।"

स्वप्न-फल सुन कर महाराजा अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने आदरपूर्वक स्वप्न अर्थ को स्वीकार किया। महाराज ने स्वप्न-पाठक विद्वानों को विपुल प्रीतिदान दिया और सत्कार-सम्मानपूर्वक विदा किया। तत्पश्चात् महाराज यवनिका के भीतर गये और महारानी को विद्वानों का बताया हुआ स्वप्न-फल सुनाया। महारानी ने भी आदर सहित स्वप्न-फल स्वीकार किया और अन्तःपुर में चली गई।

गर्भ में हलन-चलन बन्द और अभिग्रह

त्रिशलादेवी के गर्भ में आने के बाद शक्रेन्द्र ने त्रिजृंभक देवों को आज्ञा दी कि "वे भूमि पर रही हुई ऐसी पुरातन निधि—जिसका कोई अधिकारी नहीं हो, अधिकारी और उनके वंशज भी नहीं हो, ग्रहण कर सिद्धार्थ नरेश के भवन में रखे।" देवों ने वैसे धन से सिद्धार्थ नरेश और उनके ज्ञातकुल के भंडार भर दिये। जो अन्य नरेश श्री सिद्धार्थ नरेश से विमुख थे, वे अब अपने आप ही अनुकूल बन गये और उनका आदर-सत्कार करने लगे।

गर्भस्थ महावीर ने सोचा—'मेरे हलन-चलन से माता को कष्ट होगा' इसलिये वे स्थिर--निश्चल हो गए। उनकी निश्चलता से माता चिन्तित हो गई। माता को सन्देह हुआ--'मेरा गर्भ निश्चल क्यों है ? क्या किसी ने हरण कर लिया ? निर्जीव हो गया ? गल गया ?' वे उदास हो गई। उनका सन्देह व्यापक हो गया। समस्त परिवार और दास-दासियों में भी उदासी छा गई। रागरंग और मंगलवाद्य बन्द कर दिये गये। देवी शोकमग्न हो गई। ऐसे परमोत्तम पुत्र की माता बनने के मनोरथ की निष्फलता उन्हें मृत्यु से भी अधिक असहनीय अनुभव होने लगी। देवी का खेद एवं शोक रुक ही नहीं रहा था। म्लान मुखचन्द्र पर अश्रुधारा बह रही थी। गर्भस्थ भगवान् ने अपनी निश्चलता का परिणाम अवधिज्ञान से जाना। उन्हें माता का खेद शोक तथा सर्वत्र व्याप्त उदासीनता दिखाई दी। तत्काल आपने अंगुली हिलाई। बस, शोक के बादल छँट गए। माता प्रसन्न

हो गई। उन्हें गर्भ के सुरक्षित होने का विश्वास हो गया। पुनः मंगलवाद्य बजने लगे। मंगलाचार होने लगा।

गर्भस्थ प्रभु ने माता-पिता के मोह की प्रबलता देख कर अभिग्रह किया कि "जबतक माता-पिता जीवित रहेंगे, मैं दीक्षा नहीं लूंगा।" यह अभिग्रह उस समय लिया जब गर्भ सात मास का था।

भगवान् महावीर का जन्म

चैत्रशुक्ला त्रयोदशी को चन्द्रमा हस्तोत्तरा (उत्तरा फाल्गुनी) नक्षत्र के योग में रहा था। अर्धरात्रि का समय था। सभी ग्रह उच्च स्थान पर थे। दिशाएँ प्रसन्न थीं। वायु मन्द-मन्द और अनुकूल चल रहा था। सर्वत्र शान्ति प्रसन्नता एवं प्रफुल्लता छाई हुई थी और शुभ शकुन हो रहे थे। ऐसे आनन्दकारी सुयोग के समय त्रिशला महारानी ने लोकोत्तम पुत्र को जन्म दिया। प्रभु का जन्म होते ही तीनों लोक में उद्योत हो गया। कुछ क्षणों तक रात्रि भी दिन के समान दिखाई देने लगी। नरक के घोरतम अन्धकार में भी प्रकाश हो गया। महान् दुःखों से परिपूर्ण नारकजीव भी सुख का अनुभव करने लगे। देवों मे हलचल मच गई। भवनपति जाति की भोगंकरा आदि छप्पन दिशाकुमारी देवियों ने प्रभु और माता का सूतिका कर्म किया। शक्र आदि ६४ इन्द्रों और अन्य देव-देवियों ने पृथ्वी पर आ कर भगवान् का जन्मोत्सव किया ‡। मेरु पर्वत की 'अतिपाँडुकबला' नामक शिला पर शक्रेन्द्र, प्रभु को गोदी में ले कर बैठा। देवों द्वारा लाये हुए तीर्थोदक की मोटी और पाषाणभेदक जलधारा प्रभु पर गिरती देख कर, इन्द्र के मनमें शंका उठी कि "प्रभु का सद्यजात कोमलतम शरीर इस बलवती जलधारा को कैसे सहन कर सकेगा?" प्रभु ने इन्द्र का सन्देह अपने अवधिज्ञान से जान लिय। इन्द्र की शंका का निवारण करने के लिए प्रभु ने अपने बायें पाँव के अंगूठे से मेरुशिला को दबाया। नगाधिराज सुमेरु के शिखर कम्पायमान हो गए। पृथ्वी कम्पायमान हुई और समुद्र क्षुब्ध हो गया। देवेन्द्र ने अवधिज्ञान से इसका कारण जाना, तो प्रभु के अनन्त बल से परिचित हुआ। इन्द्र नतमस्तक हो, प्रभु से क्षमायाचना करने लगा। जन्मोत्सव कर के देवेन्द्र ने प्रभु को माता के पास ला कर

‡ जन्मोत्सव का विशेष वर्णन भ० ऋषभदेवजी के चरित्र में हुआ है। वहां से देख लेना चाहिये। यहाँ पुनरावृत्ति नहीं की गई है।

सुला दिया और माता की अवस्वापिनी निद्रा दूर की। देवेन्द्र ने प्रभु के सिरहाने क्षोमवस्त्र और युगलकुंडल रखा और वन्दन कर के चला गया।

देवों और इन्द्रों द्वारा जन्मोत्सव होने के बाद प्रातःकाल होने पर सिद्धार्थ नरेश ने पुत्र-जन्म के आनन्दोल्लास में महारानी की मुख्य सेविका को--मुकुट छोड़ कर सभी आभूषण प्रदान कर पुरस्कृत किया और साथ ही दासत्व से भी मुक्त कर दिया। तत्पश्चात् विश्वस्त कर्मचारियों द्वारा नगर को सुसज्जित करने और स्थान-स्थान पर गायन-वादन एवं नृत्य कर के उत्सव मनाने की आज्ञा दी। कारागृह के द्वार खोल कर वन्दियों को मुक्त कर दिया गया। व्यवसाय में व्यापारियों को तोल-नाप वढ़ाने के निर्देष दिये गये *। मनुष्यों के मनोरंजन के लिए विविध प्रकार के नाटक, खेल, भाँडों की हास्यवर्द्धक चेष्टाएँ और बातें और कत्थकों एवं कहानीकारों की कथा-कहानियों का आयोजन कर के जनता के मनोरंजन के अनेक प्रकार के आयोजन किये गये। इस महोत्सव पर पशुओं को भी परिश्रम करने से मुक्त रख कर, सुखपूर्वक रखने के लिये हल-वक्खर एवं गाड़े आदि के जूए से बैलों को खोल दिया गया। उन्हें भारवहन करने से मुक्त रखा गया। मजदूर वर्ग को सवैतनिक अवकाश दिया गया।

महाराजा ने जन्मोत्सव के समय प्रजा को कर-मुक्त कर दिया। किसी प्रकार का कर नहीं लेने और अभाव-ग्रस्तजनों को आवश्यक वस्तु बिना-मूल्य देने की घोषणा की। किसी ऋणदाता से, राज्य-सत्ता के वल से बरबस (जब्ती-कुर्की आदि से) धन प्राप्त करना स्थगित कर दिया। किसी प्रकार के अपराध अथवा ऋण प्राप्त करने के लिये, राज्य-कर्मचारियों का किसी के घर में घुसने का निषेध कर दिया और किसी को दण्डित करने की भी मनाई कर दी। इस प्रकार दस दिन तक जन्मोत्सव मनाया गया। उत्सव के चलते सिद्धार्थ नरेश, हजारों-लाखों प्रकार के दान, देवपूजा, पुरस्कार आदि देते-दिलाते रहे और सामन्त आदि से भेंटें स्वीकार करते रहे।

भगवान् महावीर के माता-पिता ने प्रथम दिन कुल-परम्परानुसार करने योग्य अनुष्ठान किया। तीसरे दिन पुत्र को चन्द्र-सूर्य के दर्शन कराये। छठे दिन रात्रि-जागरण किया। ग्यारह दिन व्यतीत होने पर अशुचि का निवारण किया। बारहवें दिन विविध प्रकार का भोजन बनवा कर, मित्र-ज्ञाति, स्वजन-परिजन और ज्ञातृवंश के क्षत्रियों को आमन्त्रित कर भोजन करवाया। उनका यथायोग्य पुष्प-वस्त्र-माला-अलंकार से सत्कार-सम्मान किया। इसके बाद

* तोल-नाप बढ़ाने का अर्थ यह है कि ग्राहक जो वस्तु जितने परिमाण में माँगें, उसे उतने ही मूल्य में डयोढ़ी-दुगुनी वस्तु दी जाय। इसका शेष मूल्य राज्य की ओर से चुकाया जाता था।

घोषणा की कि—" जब से यह बालक गर्भ में आया, तब से धन-धान्य, ऋद्धि-सम्पत्ति, यश, वैभव एवं राज्य में वृद्धि होती रही है। राज्य के सामन्त और अन्य राजागण हमारे वशीभूत हो कर आधीन हुए हैं। इसलिए पुत्र का गुण-निष्पन्न नाम " वर्द्धमान " रखते हैं।"

इस प्रकार नामकरण कर के सभी आमन्त्रितजनों को आदर सहित विदा करते हैं।

भगवान् महावीर काश्यप गोत्रीय थे और उनके तीन नाम थे। यथा—१—माता-पिता का दिया नाम—" वर्द्धमान, " २—त्याग-तप की विशिष्ट साधना से प्रभावित हो कर दिया हुआ नाम " श्रमण, " और ३—महा भयानक परीषह-उपसर्गों को धैर्यपूर्वक सहन करने के कारण देवों ने " श्रमण भगवान् महावीर " नाम दिया।

भगवान् के पिता के तीन नाम थे—१ सिद्धार्थ २ श्रेयांश और ३ यशस्वी।

भगवान् की माता वशिष्ठ-गोत्री थी। उनके तीन नाम थे यथा—१ त्रिशला २ विदेहदिन्ना और ३ प्रियकारिणी।

भगवान् के काका सुपार्श्व, ज्येष्ठ-भ्राता नन्दीवर्धन, बड़ी-बहिन सुदर्शना, ये सब काश्यपगोत्रीय थे और पत्नी यशोदा कौडिन्य गोत्र की थी। भगवान् महावीर की पुत्री काश्यप गोत्र की थी। उसके दो नाम थे—अनवद्या और प्रियदर्शना।

भगवान् महावीर की दोहित्री काश्यप गोत्र की थी। उसके दो नाम थे—शेषवती और यशोमती। भगवान् महावीर के माता-पिता भ० पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रमणोपासक थे।

बालक महावीर से देव पराजित हुआ

जब महावीर आठ वर्ष से कुछ कम वय के थे, अपने समवयस्क राजपुत्रों के साथ क्रीड़ा करते हुए उद्यान में गये और 'संकुली' नामक खेल खेलने लगे। उधर शक्रेन्द्र ने देव-सभा में कहा कि—"अभी भरतक्षेत्र में बालक महावीर ऐसे धीर-वीर और साहसी है कि कोई देव-दानव भी उन्हें पराजित नहीं कर सकता।' इन्द्र की बात का और तो सभी देवों ने आदर किया, परन्तु एक देव ने विश्वास नहीं किया। वह परीक्षा करने के लिये चला और उद्यान में जा पहुँचा। उस समय बालकों में वृक्ष को स्पर्श करने की होड़ लगी हुई थी। देव ने भयानक सर्प का रूप बनाया और उस वृक्ष के तने पर लिपट गया। फिर फन फैला कर फुत्कार करने लगा। एक भयानक विषधर को आक्रमण करने में तत्पर देख कर, डर के मारे अन्य सभी बालक भाग गये। महावीर तो जन्मजात निर्भय थे।

उन्होंने साथियों को धैर्य बँधाया और स्वयं सर्प के निकट जा कर और रस्सी के समान पकड़ दूर ले जा कर छोड़ दिया। महावीर की निर्भयता एवं साहसिकता देख कर सभी राजकुमार लज्जित हुए।

अब वृक्ष पर चढ़ने की स्पर्धा प्रारम्भ हुई। शर्त यह थी कि विजयी राजपुत्र, पराजित की पीठ पर सवार हो कर, निर्धारित स्थान पर पहुँचे। वह देव भी एक राजपुत्र का रूप धारण कर उस खेल में सम्मिलित हो गया। महावीर सब से पहले वृक्ष के अग्रभाग पर पहुँच गए और अन्य कुमार बीच में ही रह गए। देव को तो पराजित होना ही था, वह सब से नीचे रहा। विजयी महावीर उन पराजित कुमारों की पीठ पर सवार हुए। अन्त में देव की बारी आई। वह देव हाथ-पाँव भूमि पर टीका कर घोड़े जैसा हो गया। महावीर उसकी पीठ पर चढ़ कर बैठ गए। देव ने अपना रूप बढ़ाया। वह बढ़ता ही गया। एक महान् पर्वत से भी अधिक ऊँचा। उनके सभी अंग बढ़ कर विकराल बन गए। मुँह पाताल जैसा एक महान् खड्डा, उसमें तक्षक नाग जैसी लपलपाती हुई जिव्हा, मस्तक के बाल पीले और खीले जैसे खड़े हुए, उसकी दाढ़े करवत के दाँतों के समान तेज, आँखें अंगारों से भरी हुई सिगड़ी के समान जाज्वल्यमान और नासिका के छेद पर्वत की गुफा के समान दिखाई देने लगे। उनकी भृकुटी सर्पिणी के समान थी। वह भयानक रूपधारी देव बढ़ता ही गया। उसकी अप्रत्यासित विकरालता देख कर महावीर ने ज्ञानोपयोग लगाया। वे समझ गए कि यह मनुष्य नहीं, देव है और मेरी परीक्षा के लिये ही मानव-पुत्र बन कर मेरा वाहन बना है। उन्होंने उसकी पीठ पर मुष्ठि-प्रहार किया, जिससे देव का बढ़ा हुआ रूप तत्काल वामन जैसा छोटा हो गया। देव को इन्द्र की बात का विश्वास हो गया। उसने महावीर से क्षमा-याचना की और नमस्कार कर के चला गया।

शिष्य नहीं, गुरु होने के योग्य

महावीर आठ वर्ष के हुए तो माता-पिता ने उन्हें पढ़ने के लिये कलाचार्य के विद्या-भवन में भेजा। उस समय सौधर्मेन्द्र का आसन चलायमान हुआ। उन्होंने ज्ञानोपयोग से जाना कि "श्री महावीर कुमार के माता-पिता, अपने पुत्र की ज्ञान-गरिमा से परिचित नहीं होने के कारण उन्हें पढ़ने के लिए कला-भवन भेज रहे हैं। तीन ज्ञान के स्वामी को वह अल्पज्ञ कलाचार्य क्या पढ़ाएगा। वह उनका गुरु नहीं, शिष्य होने योग्य है। उन प्रभु

जिनेश्वर का कोई गुरु हो ही नहीं सकता। वे स्वयं जन्मजात गुरु होते हैं, और संसार के वड़े-वड़े उद्भट विद्वान उनके शिष्य होते हैं। मैं जाऊँ और अध्यापक का भ्रम मिटाऊँ। इन्द्र ब्राह्मण का रूप बना कर विद्यालय में आया। प्रभु को महोत्सवपूर्वक अध्यापक के साथ विद्यालय में लाया गया था। इन्द्र ने स्वागतपूर्वक प्रभु को अध्यापक के आसन पर बिठाया। अध्यापक चकित था कि यह प्रभावशाली महापुरुष कौन है जो विद्याभवन के अधिपति के समान अग्रभाग ले रहा है। इतने में इन्द्र ने प्रभु को प्रणाम कर के व्याकरण सम्वन्धी जटिल प्रश्न पूछे। उन प्रश्नों के उत्तर सुन कर विद्याचार्य चकित रह गया। अव वह समझ गया कि वालक महावीर तो अलौकिक आत्मा है। ये तो मेरे गुरु होने के योग्य हैं। देवेन्द्र ने भी उपाध्याय से कहा—"महाशय! आप इनकी वय की ओर ध्यान मत दीजिये। ये ज्ञान के सागर हैं और भविष्य में लोकनाथ सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवान् होंगे।" कुलपति नत-मस्तक हो गया और इन्द्र के प्रश्नों के प्रभु ने जो उत्तर दिये, उससे उन्होंने व्याकरण की रचना कर के उसे 'ऐन्द्र व्याकरण' के नाम से प्रचारित किया। इन्द्र लौट गए और कुलपति भगवान् को ले कर महाराजा सिद्धार्थ के समीप आये। निवेदन किया--"महाराज! आपके सुपुत्र को मैं क्या पढ़ाऊँ। मैं स्वयं इनके सामने वौना हूँ और इनका शिष्य होने योग्य हूँ। अव इन्हें किसी प्रकार की विद्या सिखाने की आवश्यकता नहीं रही।" सिद्धार्थ नरेश अत्यन्त प्रसन्न हुए। प्रभु के गर्भ में आने पर महारानी को आये हुए सपने और इन्द्र द्वारा किये हुए जन्मोत्सव तथा ऐश्वर्यादि में आई हुई अभिवृद्धि का उन्हें स्मरण हुआ। वे समझ गए कि यह हमारा कुलदीपक तो विश्वविभूति है, विश्वोत्तम महापुरुष हैं और गुरुओं का गुरु है। धन्य भाग हमारे।

राजकुमारी यशोदा के साथ लग्न

राजकुमार प्रभु महावीर यौवन-वय को प्राप्त हुए। उनका उत्कृष्ट रूप एवं अलौकिक प्रभा देखने वालों का मन वरवस खींच लेती। यौवनावस्था में संसारी जीवों का मन, वासना से भरपूर रहता है, परंतु भगवान् तो निर्विकार थे। उनके मन में विषय-वासना का वास नहीं था। फिर भी उदयभाव से प्रभावित मनुष्य उन्हें उत्कृष्ट भोग-पुरुष देखना चाहते थे। माता-पिता की इच्छा थी कि शीघ्र ही उनका पुत्र विवाहित हो जाय और उनके घर में कुलवधू आ जाय। कई राजाओं के मन में राजकुमार महावीर को अपना जामाता वनाने की इच्छा हुई। इतने ही में राजा समरवीर के मन्त्रीगण अपनी राजकुमारी यशोदा का

महावीर से सम्बन्ध करने के लिये, महाराजा सिद्धार्थ की सेवा में उपस्थित हुए। महाराजा ने मन्त्रियों का सत्कार किया और कहा--" हम सब महावीर को विवाहित देखना चाहते हैं और राजकुमारी यशोदा भी सर्वथा उपयुक्त है। परन्तु महावीर निर्विकार है। वह लग्न करना स्वीकार कर ले, तो हमें प्रसन्नतापूर्वक यह सम्बन्ध स्वीकार होगा। मैं प्रयत्न करता हूँ। आप मेरा आतिथ्य स्वीकार कीजिए।"

महाराजा ने महावीर के कुछ मित्रों को बुलाया और उन्हें महावीर को लग्न करने के लिए अनुमत करने का कहा। मित्रों ने महावीर से आग्रह किया तो उत्तर मिला;—

" मित्र ! आप मेरे विचार जानते ही हैं। वस्तुत: विषय-भोग सुज्ञजनों के लिये रुचिकर नहीं होते। पौद्गलिक भोग जब तक नहीं छूटते, तब तक आत्मानन्द की प्राप्ति नहीं होती। भोग में मेरी रुचि नहीं है।"

मित्रों ने कहा--" हम आपकी रुचि जानते हैं। किन्तु आप लौकिक दृष्टि से भी देखिये। समस्त मानव-समाज की रुचि के अनुसार ही आपके माता-पिता की रुचि है। उनकी इच्छा पूरी करने के लिये--अरुचि होते हुए भी--आपको मान लेना चाहिये। इससे उनको और हमको प्रसन्नता होगी।"

" मित्रों ! आपके मुँह से ऐसी बातें मोह के विशेष उदय से ही निकल रही है। संसार पुद्गलानन्द में ही रच-पच रहा है। पुद्गलानन्दीपन का दुष्परिणाम आँखों से देखता और अनुभव करता हुआ भी नहीं समझता, और आत्मानन्द की ओर से उदासीन रहता है। मेरी रुचि इधर नहीं है। मैं तो इसी समय संसार-त्याग की भावना रखता हूँ किन्तु मैंने माता-पिता के जीवित रहते दीक्षा नहीं लेने का संकल्प किया है। मेरे माता-पिता को मेरे वियोग का दुःख नहीं हो--इस भावना के कारण ही मैं रुका हुआ हूँ। अब आप व्यर्थ ही.............

हठात् मातेश्वरी प्रकट हुई। प्रभु तत्काल उठ खड़े हुए। मातेश्वरी को सिंहासन पर बिठाया और आने का प्रयोजन पूछा। मातेश्वरी ने कहा;—

" पुत्र ! हमारे पुण्य के महान् उदय स्वरूप ही तुम्हारा योग मिला है। तुम्हारे जैसा परम विनीत और अलौकिक पुत्र पा कर हम सब धन्य हो गए हैं। हमें बहुत प्रसन्नता है। तुमने हमें कभी अप्रसन्न नहीं किया। किन्तु तुम्हारी संसार के प्रति उदासीनता देख कर हम दुःखी हैं। आज मैं तुमसे याचना करने आई हूँ कि तुम विवाह करने की अनुमति दे कर मेरी चिन्ता हर लो। हम सब की लूटी हुई प्रसन्नता लौटाना तुम्हारा कर्त्तव्य है।

वत्स ! मैं जानती हूँ कि तुम स्वभाव से ही विरक्त हो और संसार का त्याग कर निर्ग्रंथ बनना चाहते हो। किन्तु हम पर अनुकम्पा कर के गृहवास में रहे हो। तुम्हारा एकाकी रहना हमारी चिन्ता का कारण बन गया है। मैं तुमसे आग्रह पूर्वक अनुरोध करती हूँ कि विवाह करने की स्वीकृति दे कर हमें कृतार्थ करो।"

माता के आग्रह पर भगवान् विचार में पड़ गये। उन्होंने सोचा--यह कैसा आग्रह है। इसे स्वीकार किया जा सकता है ? क्या होगा--मेरी भावना का ? उन्होंने ज्ञानोपयोग से अपना भविष्य जाना। उन्हें ज्ञात हुआ कि भोग योग्य कर्म उदय में आने वाले हैं। इनका भोग अनिवार्य है। उन्होंने माता को स्वीकृति दे दी। माता-पिता के हर्ष का पार नहीं रहा।

राजकुमारी यशोदा के साथ उनके लग्न हो गए और भगवान् अलिप्त भावों से उदय कर्म को भोग कर क्षय करने लगे। यथासमय एक पुत्री का जन्म हुआ, जिसका नाम 'प्रियदर्शना' रखा गया।

महाराज सिद्धार्थ और महारानी त्रिशलादेवी भ० पार्श्वनाथजी की परम्परा के श्रावक थे। वे श्रावक के व्रतों का पालन करते रहे। यथासमय अनशन कर के अच्युत स्वर्ग में देव हुए। वहाँ का देवायु पूर्ण कर वे महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य होंगे और निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या स्वीकार कर मोक्ष प्राप्त करेंगे। माता-पिता के स्वर्गवास के समय भगवान् २८ वर्ष के थे।

गृहस्थावस्था का त्यागमय जीवन

भगवान् ने गर्भावस्था में प्रतिज्ञा की थी कि जब तक माता-पिता जीवित रहेंगे, तब तक निर्ग्रंथ-दीक्षा नहीं लूँगा। माता-पिता का स्वर्गवास हो जाने पर प्रतिज्ञा पूर्ण हो गई। भगवान् ने अपने ज्येष्ठ-भ्राता महाराजा श्री नन्दीवर्धनजी से निवेदन किया;—

"बन्धुवर ! जन्म के साथ मृत्यु लगी हुई है। जो जन्म लेता है, वह अवश्य ही मरता है। इसलिये माता-पिता के वियोग से शोकाकुल रहना उचित नहीं है। धैर्य्य धारण कर के धर्म साधना कर के पुनर्जन्म की जड़ काटना ही हितावह है। शोक तो सत्वहीन कायर जीव करते हैं। आप स्वस्थ होवें और संतोष धारण करें।

नन्दीवर्धनजी स्वस्थ हुए और मन्त्रियों को आदेश दिया;—"भाई वर्धमान के राज्याभिषेक का प्रबन्ध करो।"

करूँगा। छह काया के जीवों की विराधना नहीं करूँगा और रात्रि-भोजन नहीं करूँगा। मैं भोजनपान भी अचित ही करूँगा और ध्यान-कायोत्सर्गादि करता रहूँगा।"

वर्षीदान और लोकान्तिक देवों द्वारा उद्बोधन

इस प्रकार गृहवास में भी त्यागी के समान जीवन व्यतीत करते भगवान् को एक वर्ष व्यतीत हो गया, तब भगवान् ने वर्षीदान दिया। प्रतिदिन प्रातःकाल एक करोड़ आठ लाख स्वर्णमुद्राओं का दान करने लगे। इस प्रकार एक वर्ष में तीन अरब अठासी करोड़ अस्सी लाख सोने के सिक्कों का दान किया। यह धन शक्रेन्द्र के आदेश से कुबेर ने जृंभक देवों द्वारा राज्यभंडार में रखवाया। जो धन पीढ़ियों से भूमि में दबा हुआ हो, जिसका कोई स्वामी नहीं रहा हो, वैसे धन को निकाल कर जृंभक देव लाते हैं और वह जिनेश्वरों द्वारा दान किया जाता है। अब दो वर्ष की अवधि भी पूर्ण हो रही थी। लोकान्तिक देवों ने आ कर भगवान् को नमस्कार किया और बड़े ही मनोहर, मधुर, प्रिय, इष्ट एवं कल्याणकारी शब्दों में निवेदन किया; —

"जय हो, विजय हो भगवन्! आपका जय-विजय हो। हे क्षत्रिय-श्रेष्ठ! आपका भद्र हो, कल्याण हो। हे लोकेश्वर लोकनाथ! अब आप सर्व-विरत होवें। हे तीर्थेश्वर! धर्म-तीर्थ का प्रवर्त्तन कर के संसार के समस्त जीवों के लिए हितकारी सुखदायक एवं निश्रेयसकारी मोक्षमार्ग का प्रवर्त्तन करें। जय हो, जय हो, जय हो।"

लोकान्ति देव भगवान् को नमस्कार कर के स्वस्थान लौट गए।

महाभिनिष्क्रमण महोत्सव

अब नन्दीवर्धनजी भी अपने प्रिय बन्धु को रुकने का आग्रह नहीं कर सकते थे। प्रिय बन्धू के वियोग का समय ज्यों-ज्यों निकट आ रहा था, त्यों-त्यों श्रीनन्दीवर्धनजी की उदासी बढ़ती जा रही थी। उन्होंने विवश हो कर सेवकजनों को महाभिनिष्क्रमण महोत्सव करने की आज्ञा प्रदान की। भगवान् के निष्क्रमण का अभिप्राय जान कर भवनपति, वाणव्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक जाति के देव अपनी ऋद्धि सहित क्षत्रियकुंड आये। प्रथम स्वर्ग के स्वामी शक्रेन्द्र ने वैक्रिय शक्ति से एक विशाल स्वर्ण-मणि एवं रत्न जड़ित

देवच्छन्दक (भव्य मण्डप जिन के मध्य में पीठिका बनाई हो) बनाया जो परम मनोहर सुन्दर एवं दर्शनीय था। उसके मध्य में एक भव्य सिंहासन रखा जो पादपीठिका सहित था। तत्पश्चात् इन्द्र भगवान् के निकट आया और भगवान् की तीन बार प्रदक्षिणा कर के वन्दन-नमस्कार किया। नमस्कार करने के पश्चात् भगवान् को ले कर देवच्छन्दक में आया और भगवान् को पूर्वदिशा की ओर सिंहासन पर बिठाया। फिर शतपाक और सहस्रपाक तेल से भगवान् का मर्दन किया। शुद्ध एवं सुगन्धित जल से स्नान कराया। तत्पश्चात् गन्ध-काषायिक वस्त्र (लाल रंग का सुगन्धित अंगपोंछना) से शरीर पोंछा गया और लाखों के मूल्य वाले शीतल रक्तगोशीर्ष चन्दन का विलेपन किया। फिर चतुर कलाकारों से बनवाया हुआ और नासिका की वायु से उड़ने वाला मूल्यवान मनोहर अत्यंत कोमल तथा सोने के तारों से जड़ित, हंस के समान श्वेत ऐसा वस्त्र-युगल पहिनाया और हार अर्धहार एकावलि आदि हार, (माला) कटिसूत्र, मुकुट आदि आभूषण पहिनाये। विविध प्रकार के सुगन्धित पुष्पों से अंग सजाया। इसके बाद इन्द्र ने दूसरी बार वैक्रिय समुद्घात कर के एक बड़ी चन्द्रप्रभा नामक शिविका का निर्माण किया। वह शिविका भी दैविक विशेषताओं से युक्त अत्यंत मनोहर एवं दर्शनीय थी। शिविका के मध्य में रत्नजड़ित भव्य सिंहासन पाद-पीठिका समले। रात किया और उस पर भगवान् को विठाया। प्रभु के पास दोनों ओर शक्रेन्द्र । भ० महावीर खड़े रह कर चामर डुलाने लगे। पहले शिविका मनुष्यों ने उठाई, फिर चारों जाति के देवों ने। शिविका के आगे देवों द्वारा अनेक प्रकार के वादिन्त्र बजाये जाने लगे। निष्क्रमण-यात्रा आगे बढ़ने लगी और इस प्रकार जय-जय कार होने लगा,—

"भगवन् ! आपकी जय हो, विजय हो। आपका भद्र (कल्याण) हो। आप ज्ञान-दर्शन-चारित्र से इन्द्रियों के विषय-विकारों को जीतें और प्राप्त श्रमण-धर्म का पालन करें। हे देव ! आप विघ्नबाधाओं को जीत कर सिद्धि प्राप्त करो। तप-साधना कर के हे महात्मन् ! आप राग-द्वेष रूपी मोह-मल्ल को नष्ट कर दो। हे मुक्ति के महापथिक ! आप धीरज रूपी दृढ़तम कच्छ बाँध कर उत्तमोत्तम शुक्ल-ध्यान से कर्म-शत्रु का मर्दन कर के नष्ट कर दो। हे वीरवर ! आप अप्रमत्त रह कर समस्त लोक आराधना रूपी ध्वजा फहराओ। हे साधक-शिरोमणि ! आप अज्ञानरूपी अन्धकार के नष्ट कर के केवलज्ञान रूपी महान् प्रकाश प्राप्त करो। हे महावीर ! परीषहों की को पराजित कर आप परम विजयी बने। हे क्षत्रियवर-वृषभ ! आपकी जय हो, विजय आपकी साधना निर्विघ्न पूर्ण हो। आप सभी प्रकार के भयों में क्षमा-प्रधान भयातीत बनें। जय हो। विजय हो।"

ने
ग।
कर के
भी तू
गया।
ग्रन्थों में

इस प्रकार जयघोष से गगन-मंडल को गुंजाती हुई महाभिनिष्क्रमण-यात्रा क्षत्रिय-कुंड नगर में से चलने लगी। हजारों नेत्र-मालाओं द्वारा देखे और हजारों हृदयों के अभिनन्दन स्वीकार करते हुए भ० महावीर ज्ञातखण्ड वन में पधारे।

भगवान् महावीर की प्रव्रज्या

हेमन्तऋतु का प्रथम मास मृगशिर-कृष्णा दसवीं का सुव्रत दिन था। विजय नामक मुहूर्त और उत्तरा-फाल्गुनी नक्षत्र था। भगवान् शिविका पर से नीचे उतरे और अशोक वृक्ष के नीचे सिंहासन पर पूर्वाभिमुख बिराजे। तत्पश्चात् अपने आभरणालंकार उतारने लगे। बैश्रमण देव गोदोहासन से रह कर श्वेत वस्त्र में वे अलंकार लेने लगा। आभरणालंकार उतारने के बाद भगवान् ने दाहिने हाथ से मस्तक के दाहिनी ओर के, और बायें हाथ से बाईं ओर के बालों का लोच किया। उन बालों को शक्रेन्द्र ने गोदोहासन से रह कर रत्न के थाल में ग्रहण किया और भगवान् को निवेदन कर क्षीर-समुद्र में प्रवेश कराया। भगवान् के वस्त्र उतारते ही शक्रेन्द्र ने देवदुष्य भगवान् के कंधे पर रख[illegible]।

भगवान् के बेले का तप था। शक्रेन्द्र के आदेश से सभी प्रका[illegible] ! अब आ[illegible]त्र और देवों और मनुष्यों का घोष रुक गया। सर्वत्र शान्ति छा गई। तत्पश्[illegible] ने सिद्ध भगवंतों को नमस्कार कर के प्रतिज्ञा की कि—"**सव्वं मे अकरणिज्जं पावं**" = अब मेरे लिये सभी प्रकार के पाप अकरणीय है। इस प्रकार कह कर भगवान् ने सामायिक-चारित्र अंगीकार किया—"**करेमि सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं**"........अप्रमत्तभाव में भगवान् ने चारित्र अंगीकार किया और उसी समय मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न हो गया। इससे वे ढ़ाई द्वीप और दो समुद्र

जब तक भगवान् ओझल नहीं हुए तब तक वे देखते रहे और फिर लौट कर स्वस्थान चले गये। भगवान् वहाँ से विहार कर 'कुर्मार' ग्राम पधारे और ध्यानारूढ़ हो गए। भगवान् उत्कृष्ट संयम, उत्कृष्ट समाधि, उत्कृष्ट त्याग, उत्कृष्ट तप, उत्कृष्ट ब्रह्मचर्य, उत्तरोत्तर समितिगुप्ति, शांति, संतोष आदि से मोक्ष साधना में आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे †।

उपसर्गों का प्रारम्भ और परम्परा

दीक्षा की प्रथम संध्या को कुर्मार ग्राम के बाहर भगवान् सूखे हुए ठूंठ के समान अडौल खड़े रह कर ध्यान करने लगे। उस समय एक कृषक अपने बैलों को खेत से लाया और जहाँ भगवान् कायोत्सर्ग किये खड़े थे, वहाँ चरने के लिए छोड़ कर, गायें दुहने के लिए गाँव में गया। बैल चरते-चरते वन में चले गये। किसान (ग्वाला) लौट कर आया और अपने बैलों को वहाँ नहीं देखा, तो भगवान् से पूछा—"मेरे बैल यहाँ चर रहे थे, वे कहाँ हैं ?" भगवान् तो ध्यानस्थ थे, सो मौन ही रहे। ग्वाले ने वन में खोज की, परन्तु बैल नहीं मिले। रातभर भटकने के बाद वह लौट कर उसी स्थान पर आया, तो अपने बैलों को भ० महावीर के पास बैठे जुगाली करते देखा। बैल रातभर चर कर लौटे और उसी स्थान पर बैठे, जहाँ उन्हें छोड़ा था। प्रभात का समय था। ग्वाले ने सोचा—'मेरे बैल इसी ठग ने छुपा दिये थे।' अब यह इन्हें यहाँ से भगा कर ले जाने वाला था। यदि मैं यहाँ नहीं आता तो मेरे बैल नहीं मिलते। वह रातभर खोजता रहा था और थक भी गया था। क्रोधावेश में हाथ में रही हुई रस्सी से वह भगवान् को मारने के लिये झपटा। उस समय प्रथम स्वर्ग के अधिपति शक्रेन्द्र ने विचार किया—"दीक्षा के बाद प्रथम दिन

---

† ग्रन्थकार लिखते हैं कि भगवान् के दीक्षित हो कर विहार करने के बाद उनके पिता का मित्र 'सोम' नाम का वृद्ध ब्राह्मण भगवान् के पास आया और नमस्कार कर के बोला—"स्वामिन् ! आपने वर्षीदान से मनुष्यों का दारिद्र दूर कर दिया, परन्तु मैं दुर्भागी तो उस महादान से वञ्चित ही रह गया। भगवन् ! मैं जन्म से ही दरिद्र हूँ। मुझ पर कृपा कर के कुछ दीजिये। मेरी पत्नी ने मेरा तिरस्कार कर के आपके पास भेजा है।" भगवान् ने कहा—'विप्र ! मैं तो अब निष्परिग्रही एवं निर्धन हूँ। फिर भी यह मेरे कन्धे पर रहे हुए वस्त्र का अर्धभाग ले जा।" ब्राह्मण आधा वस्त्र ले कर प्रसन्न होता हुआ लौट गया। इसका उल्लेख न तो आचारांग सूत्र में है—जहाँ चरित्र वर्णन है—न कल्पसूत्र में ही है। बाद के ग्रन्थों में है और आगम-विरुद्ध है।

प्रभु क्या कर रहे हैं।" अवधिज्ञान का उपयोग लगाया तो चरवाहे की धृष्ठता देख कर उसे वहीं स्तंभित कर दिया और शीघ्र ही वहाँ चल कर आया। शक्रेन्द्र ने चरवाहे से कहा--" अरे पापी ! यह क्या कर रहा है ? तू नहीं जानता कि ये महाराजा सिद्धार्थ के पुत्र राजकुमार वर्धमान हैं और राजपाट छोड़ कर त्यागी महात्मा हो गये हैं। क्या ये महापुरुष तेरे बैल चुराएँगे ? चल हट यहाँ से।" देवेन्द्र ने प्रभु की प्रदक्षिणा कर के वन्दना की और विनयपूर्वक बोले;--

"भगवन् ! आपको बारह वर्ष पर्यंत उपसर्ग होते रहेंगे और अनेक असह्य कष्ट होंगे। इसलिये मैं आपके साथ रह कर सेवा करना चाहता हूँ।"

"नहीं देवराज ! अरिहंत किसी दूसरे की सहायता नहीं चाहते। जो जिनेश्वर होते हैं, वे अपने वीर्य से ही कर्मों का क्षय कर के केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त करते हैं"-प्रभु ने कहा।

भगवान् की बात सुन कर इन्द्र ने सिद्धार्थ नाम के व्यंतर से—यह भगवान् की मौसी का पुत्र बालतपस्या से व्यंतर देव हुआ था—कहा—" तुम प्रभु के साथ रहना और यदि कोई भगवान् को कष्ट देने लगे, तो तुम उसका निवारण करना।" इतना कह कर इन्द्र भगवान् की वन्दना कर के स्वस्थान गया और सिद्धार्थ व्यंतर भगवान् की सेवा में रहा ×।

दूसरे दिन भगवान् ने वहाँ से विहार किया और कोल्लाक सन्निवेश में बहुल ब्राह्मण के यहाँ परमान्न (क्षीर) से, दीक्षा के पूर्व लिये हुए बेले के तप का पारणा किया। प्रभु के पारणे की देवों ने 'अहोदानमहोदानम्' का उद्घोष कर प्रशंसा की और पाँच दिव्यों की वर्षा की।

दीक्षोत्सव के समय भगवान् के शरीर पर चन्दनादि सुगन्धित द्रव्यों का विलेपन किया था। उनकी सुगन्ध से आकर्षित हो कर, भ्रमर आ कर चार मास तक प्रभु को डसते रहे। युवकगण आ कर भगवान् से उन सुगंधी द्रव्यों का परिचय एवं प्राप्त करने की विधि पूछने लगे और भगवान् के उत्कृष्ट रूप-यौवन पर मोहित हो कर युवतियाँ भोग-याचना कर अनुकूल- प्रतिकूल उपसर्ग करने लगी। इस प्रकार प्रव्रज्या धारण करने के दिन से ही उपसर्गों की परम्परा चालू हो गई।

× इस चरित्र का और उपसर्गादि का विशेष वर्णन ग्रन्थ में उपलब्ध है। श्री आचारांगादि सूत्रों में इनका वर्णन नहीं है। और कल्पसूत्र में भी नहीं है। आचारांग आदि में संक्षेप में उल्लेख है। चरित्र का विशेष भाग ग्रन्थ से ही लिया गया है।

भगवान् की उग्र साधना

दीक्षा लेते समय भगवान् के कन्धे पर इन्द्र ने जो देवदुष्य (वस्त्र) रखा था, उसे भगवान् ने वैसे ही पड़ा रहने दिया। उन्होंने सोचा भी नहीं कि यह वस्त्र शीतकाल में शर्दी से बचने के लिये मैं ओढूंगा, या किसी समय किसी भी प्रकार से काम में लूंगा। वे तो परीषहों को धैर्य एवं शान्तिपूर्वक सहन करने के लिए तत्पर रहते थे। इन्द्रप्रदत्त वस्त्र का ग्रहण उन्होंने पूर्व के तीर्थंकरों द्वारा आचरित होने ("अणुधम्मियं") से ग्रहण किया था। इसका प्रमुख कारण तीर्थ - साधु-साध्वियों में वस्त्र का सर्वथा निषेध न हो जाय और भव्यजीव प्रव्रज्या से वंचित नहीं रह जाय, इसलिये मौनपूर्वक स्वीकार किया था। वह इन्द्रप्रदत्त वस्त्र भगवान् के स्कन्ध पर एक वर्ष और एक मास से अधिक रहा, इसके बाद उसका त्याग हो गया +। वे सर्वथा निर्वस्त्र विचरने लगे।

भगवान् ईर्यासमिति युक्त पुरुष-प्रमाण मार्ग देखते हुए चलते। मार्ग में बालक आदि उन्हें देख कर डरते और लकड़ी-पत्थर आदि से मारने लगते तथा रोते हुए भाग जाते।

भगवान् तृण का तीक्ष्ण स्पर्श, शीत-उष्ण, डाँस-मच्छर के डंक आदि अनेक प्रकार के परीषह सहते हुए समभावपूर्वक विचरने लगे। कभी गृहस्थों के संसर्ग वाले स्थान में रहना होता, तब कामातुर स्त्रियाँ भोग की प्रार्थना करती, परन्तु भगवान् कामभोग को बन्धन का कारण जान कर ब्रह्मचर्य में दृढ़ रह कर ध्यानस्थ हो जाते।

भगवान् गृहस्थों से सम्पर्क नहीं रखते थे और न वार्त्तालाप करते, अपितु ध्यानमग्न रहते। यदि गृहस्थ लोग भगवान् से बात करना चाहते, तो भी भगवान् मौन रह कर चलते रहते। यदि कोई भगवान् की प्रशंसा करता, तो प्रसन्न नहीं होते और कोई निन्दा करता, कठोर वचन बोलता या ताड़ना करता, तो वे उस पर कोप नहीं करते। असह्य परीषह उत्पन्न होने पर वे धीर-गंभीर रह कर शांतिपूर्वक सहन करते। लोगों द्वारा मनाये जाने वाले उत्सवों, गीत-नृत्यों और राग-रंग के प्रति भगवान् रुचि नहीं रखते और न मल्लयुद्ध या विग्रह सम्बन्धी बातें सुनने-देखने की इच्छा करते। यदि स्त्रियाँ मिल कर परस्पर काम-कथा करतीं, तो भगवान् वैसी मोहक कथाएँ सुनने में मन नहीं लगाते, क्योंकि भगवान् ने

स्त्रियों को सभी पापों का मूल जान कर त्याग कर दिया था। अतएव भगवान् मोहक प्रसंगों की उपेक्षा कर के ध्यान-मग्न रहते।

भगवान् आधाकर्मादि दोषों से दूषित आहारादि को कर्मबंध का कारण जान कर ग्रहण नहीं करते, अपितु सभी दोषों से रहित शुद्ध आहार ही ग्रहण करते। भगवान् न तो पराये वस्त्र का सेवन करते और न पराये पात्र का ही सेवन करते। भगवान् ने पात्र तो ग्रहण किया ही नहीं और इन्द्र-प्रदत्त वस्त्र को भी ओढ़ने के काम में नहीं लिया। उस वस्त्र के गिरजाने के बाद वस्त्र भी ग्रहण नहीं किया। मान-अपमान की अपेक्षा रखे बिना ही भगवान् ग्रहस्थों के रसोईघर में आहार की याचना करने के लिये जाते और सरस आहार की इच्छा नहीं रखते हुए जैसा भी शुद्ध आहार मिलता, ग्रहण कर लेते। यदि भगवान् के शरीर पर कहीं खाज चलती, तो वे खुजलाते भी नहीं थे।

भगवान् मार्ग में चलते हुए न तो इधर-उधर (अगल-बगल) और पीछे देखते और न किसी के बोलाने पर बोलते। वे सीधे ईर्यापथ शोधते हुए चलते रहते। यदि शीत का प्रकोप बढ़ जाता तो भी भगवान् निर्वस्त्र रह कर सहन करते, यहाँ तक कि अपनी भुजाओं को संकोच कर बाहों में अपने शरीर को जकड़ कर सर्दी से कुछ बचाव करने की चेष्टा भी नहीं करते।

भगवान् विहार करते हुए जिन स्थानों पर निवास करते, वे स्थान ये थे;—

निर्जन झोंपड़ियें, पानी पिलाने की प्याउ में, सूने घर में, हाट (दुकान) के बरामदे में, लोहार, कुंभकार आदि की शालाओं में, बुनकरशाला में, घास की गंजियों में, बगीचे के घर में, ग्राम-नगर में, श्मशान में और वृक्ष के नीचे प्रमाद-रहित ध्यान में मग्न हो जाते।

निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या धारण करने के बाद भगवान् ने (छद्मस्थता की अन्तिम रात्रि के पूर्व) कभी निद्रा नहीं ली। वे सदैव जाग्रत ही रहते। यदि कभी निद्रा आने लगती, तो शीतकाल में स्थान के बाहर निकल कर, कुछ चल कर ध्यानस्थ हो जाते।

भगवान् जन-शून्यादि स्थानों में रहते, तो अनेक प्रकार के मनुष्यों, सर्प-बिच्छु आदि पशुओं और गिद्धादि पक्षियों से विविध प्रकार के उपसर्ग होते। शून्य घर में प्रभु ध्यानस्थ रहते, वहाँ जार-पुरुष स्त्रियों के साथ कुकर्म करने जाते, तब भगवान् को देख कर दुःख देते। ग्राम-रक्षक भगवान् को चोर, ठग या भेदिया मान कर मार-पीट करते, कामान्ध बनी हुई दुराचारिणी स्त्रियाँ, भोग प्रार्थना करती और कई पुरुष भी कष्ट देते। भगवान् को इस लोक के मनुष्य से और परलोक के तिर्यंच-देव-सम्बन्धी भयंकर एवं असह्य उपसर्ग

होते जिन्हें वे समभावपूर्वक सहन करते। मधुर (स्त्रियादि सम्बन्धी) तथा कठोर कर्कश शब्द, सुगन्धी-दुर्गन्धी पुद्गलों के उपसर्ग भी होते, परन्तु भगवान् तो अपनी साधना में ही मग्न रहते।

यदि बोलने की आवश्यकता होती तो भगवान् बहुत कम बोलते। निर्जन-स्थान में जाते या खड़े रहते देख कर लोग पूछते कि "तू कौन है ?" तो भगवान् इतना ही कहते कि "मैं भिक्षुक हूँ।" कभी किसी को वे उत्तर नहीं भी देते, तो लोग चिढ़ कर उन्हें पीटने लगते, परन्तु भगवान् तो अपनी ध्यान-समाधि में लीन रह कर सभी उपसर्ग सहन करते।

यदि कोई भगवान् को कहता कि "तू यहाँ से चला जा," तो वे तत्काल चले जाते। यदि वे लोग क्रोध कर के गालियाँ देते, कठोर वचन कहते, तो भगवान् शान्तिपूर्वक सहन करते रहते।

जब शिशिर ऋतु में शीतल वायु वेगपूर्वक बहता और लोग ठिठुरने लगते, पसलियों में शीत-लहरें शूल के समान लगती, तब अन्य साधु तो वायु-रहित स्थान खोज कर उसमें रहते और वस्त्रों-कम्बलों और अन्य साधनों से अपना बचाव करते, तापस लोग आग जला कर शीत से बचते, परंतु ऐसी असह्य शीत में भी महा-संयमी भगवान् खुले स्थान में रह कर शीत का असह्य परीषह सहन करते। यदि कभी किसी वृक्षादि के नीचे रहते हुए भी शीत का परीषह असह्य हो जाता, तो उससे बचने का उपाय नहीं कर के भगवान् उस स्थान से बाहर निकल कर विशेष रूप से शीत-परीषह को सहन करने लगते और मुहूर्तमात्र रह कर पुनः वहीं आ कर ध्यानस्थ हो जाते। इस प्रकार भगवान् ने बारंबार परीषह सहन करते हुए संयमविधि का परिपालन किया।

भगवान् को अनेक प्रकार के भयंकर परीषह हो रहे थे, परन्तु वे एक महान् धीर-वीर की भाँति अडिग रह कर सहन कर रहे थे। भगवान् पर आर्यभूमि में रहे हुए अनार्य लोगों द्वारा जो उपसर्ग उत्पन्न हुए, उन यातनाओं को सहन करने से जो निर्जरा हो रही थी, वह भगवान् को अपर्याप्त लगी। उन्होंने अपने ज्ञान से जाना कि मेरे कर्म अति निविड हैं। इनकी निर्जरा इस प्रदेश में रहते नहीं हो सकती। इसके लिए लाट-देश की वज्रभूमि और शुभ्रभूमि का क्षेत्र अनुकूल है। वहाँ के लोग अत्यन्त क्रोधी, क्षुद्र, क्रूर एवं अधम-मनोवृत्ति के हैं। उनके खेल तथा मनोरंजन के साधन भी हिंसक, निर्दय और घोर पापपूर्ण हैं। भगवान् उधर ही पधारे। लोग उन्हें देख कर क्रोध में भभक उठते, मारते-पीटते और शिकारी कुत्तों को छोड़ कर कटवाते। वे भयंकर कुत्ते भगवान् के पाँवों में दाँत गढ़ा देते, मांस

स्त्रियों को सभी पापों का मूल जान कर त्याग कर दिया था। अतएव भगवान् मोहक प्रसंगों की उपेक्षा कर के ध्यान-मग्न रहते।

भगवान् आधाकर्मादि दोषों से दूषित आहारादि को कर्मबंध का कारण जान कर ग्रहण नहीं करते, अपितु सभी दोषों से रहित शुद्ध आहार ही ग्रहण करते। भगवान् न तो पराये वस्त्र का सेवन करते और न पराये पात्र का ही सेवन करते। भगवान् ने पात्र तो ग्रहण किया ही नहीं और इन्द्र-प्रदत्त वस्त्र को भी ओढ़ने के काम में नहीं लिया। उस वस्त्र के गिरजाने के बाद वस्त्र भी ग्रहण नहीं किया। मान-अपमान की अपेक्षा रखे बिना ही भगवान् ग्रहस्थों के रसोईघर में आहार की याचना करने के लिये जाते और सरस आहार की इच्छा नहीं रखते हुए जैसा भी शुद्ध आहार मिलता, ग्रहण कर लेते। यदि भगवान् के शरीर पर कहीं खाज चलती, तो वे खुजलाते भी नहीं थे।

भगवान् मार्ग में चलते हुए न तो इधर-उधर (अगल-बगल) और पीछे देखते और न किसी के बोलाने पर बोलते। वे सीधे ईर्यापथ शोधते हुए चलते रहते। यदि शीत का प्रकोप बढ़ जाता तो भी भगवान् निर्वस्त्र रह कर सहन करते, यहाँ तक कि अपनी भुजाओं को संकोच कर बाहों में अपने शरीर को जकड़ कर सर्दी से कुछ बचाव करने की चेष्टा भी नहीं करते।

भगवान् विहार करते हुए जिन स्थानों पर निवास करते, वे स्थान ये थे;—

निर्जन झोंपड़ियें, पानी पिलाने की प्याउ में, सूने घर में, हाट (दुकान) के बरामदे में, लोहार, कुंभकार आदि की शालाओं में, बुनकरशाला में, घास की गंजियों में, वगीचे के घर में, ग्राम-नगर में, श्मशान में और वृक्ष के नीचे प्रमाद-रहित ध्यान में मग्न हो जाते।

निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या धारण करने के बाद भगवान् ने (छद्मस्थता की अन्तिम रात्रि के पूर्व) कभी निद्रा नहीं ली। वे सदैव जाग्रत ही रहते। यदि कभी निद्रा आने लगती, तो शीतकाल में स्थान के बाहर निकल कर, कुछ चल कर ध्यानस्थ हो जाते।

भगवान् जन-शून्यादि स्थानों में रहते, तो अनेक प्रकार के मनुष्यों, सर्प-बिच्छु आदि पशुओं और गिद्धादि पक्षियों से विविध प्रकार के उपसर्ग होते। शून्य घर में प्रभु ध्यानस्थ रहते, वहाँ जार-पुरुष स्त्रियों के साथ कुकर्म करने जाते, तब भगवान् को देख कर दुःख देते। ग्राम-रक्षक भगवान् को चोर, ठग या भेदिया मान कर मार-पीट करते, कामान्ध बनी हुई दुराचारिणी स्त्रियाँ, भोग प्रार्थना करती और कई पुरुष भी कष्ट देते। भगवान् को इस लोक के मनुष्य से और परलोक के तिर्यंच-देव-सम्बन्धी भयंकर एवं असह्य उपसर्ग

होते जिन्हें वे समभावपूर्वक सहन करते। मधुर (स्त्रियादि सम्बन्धी) तथा कठोर कर्कश शब्द, सुगन्धी-दुर्गन्धी पुद्गलों के उपसर्ग भी होते, परन्तु भगवान् तो अपनी साधना में ही मग्न रहते।

यदि बोलने की आवश्यकता होती तो भगवान् बहुत कम बोलते। निर्जन-स्थान में जाते या खड़े रहते देख कर लोग पूछते कि "तू कौन है?" तो भगवान् इतना ही कहते कि "मैं भिक्षुक हूँ।" कभी किसी को वे उत्तर नहीं भी देते, तो लोग चिढ़ कर उन्हें पीटने लगते, परन्तु भगवान् तो अपनी ध्यान-समाधि में लीन रह कर सभी उपसर्ग सहन करते।

यदि कोई भगवान् को कहता कि "तू यहाँ से चला जा," तो वे तत्काल चले जाते। यदि वे लोग क्रोध कर के गालियाँ देते, कठोर वचन कहते, तो भगवान् शान्तिपूर्वक सहन करते रहते।

जब शिशिर ऋतु में शीतल वायु वेगपूर्वक बहता और लोग ठिठुरने लगते, पसलियों में शीत-लहरें शूल के समान लगती, तब अन्य साधु तो वायु-रहित स्थान खोज कर उसमें रहते और वस्त्रों-कम्बलों और अन्य साधनों से अपना बचाव करते, तापस लोग आग जला कर शीत से बचते, परंतु ऐसी असह्य शीत में भी महा-संयमी भगवान् खुले स्थान में रह कर शीत का असह्य परीषह सहन करते। यदि कभी किसी वृक्षादि के नीचे रहते हुए भी शीत का परीषह असह्य हो जाता, तो उससे बचने का उपाय नहीं कर के भगवान् उस स्थान से बाहर निकल कर विशेष रूप से शीत-परीषह को सहन करने लगते और मुहूर्तमात्र रह कर पुनः वहीं आ कर ध्यानस्थ हो जाते। इस प्रकार भगवान् ने बारंबार परीषह सहन करते हुए संयमविधि का परिपालन किया।

भगवान् को अनेक प्रकार के भयंकर परीषह हो रहे थे, परन्तु वे एक महान् धीर-वीर की भाँति अडिग रह कर सहन कर रहे थे। भगवान् पर आर्यभूमि में रहे हुए अनार्य लोगों द्वारा जो उपसर्ग उत्पन्न हुए, उन यातनाओं को सहन करने से जो निर्जरा हो रही थी, वह भगवान् को अपर्याप्त लगी। उन्होंने अपने ज्ञान से जाना कि मेरे कर्म अति निविड हैं। इनकी निर्जरा इस प्रदेश में रहते नहीं हो सकती। इसके लिए लाट-देश की वज्रभूमि और शुभ्रभूमि का क्षेत्र अनुकूल है। वहाँ के लोग अत्यन्त क्रोधी, क्षुद्र, क्रूर एवं अधम-मनोवृत्ति के हैं। उनके खेल तथा मनोरंजन के साधन भी हिंसक, निर्दय और घोर पापपूर्ण हैं। भगवान् उधर ही पधारे। लोग उन्हें देख कर क्रोध में भभक उठते, मारते-पीटते और शिकारी कुत्तों को छोड़ कर कटवाते। वे भयंकर कुत्ते भगवान् के पाँवों में दाँत गढ़ा देते, मांस

तोड़ लेते और असह्य पीड़ा उत्पन्न करते। उस प्रदेश में ऐसे मनुष्य बहुत कम थे, जो स्वयं उपद्रव नहीं करते और कोई करता तो रोकते, तथा उन कुत्तों का निवारण करते। उस भूमि में विचरने वाले शाक्यादि साधु भी क्रूर कुत्तों से बचने के लिये लाठियें रखते थे, फिर भी कुत्ते उनका पीछा करते और काट भी खाते। ऐसी भयावनी स्थिति में भी भगवान् अपने शरीर से निरपेक्ष रह कर विचरते रहते। उनके पास लाठी आदि बचाव का कोई साधन था ही नहीं। वे हाथ से डरा कर या मुँह से दुत्कार कर अथवा शीघ्र चल कर या कहीं छुप कर भी अपना बचाव नहीं करते थे। जिस प्रकार अनुकूल प्रदेश में स्वाभाविक चाल और शांतचित्त रह कर विचरते, उसी प्रकार इस प्रतिकूल प्रदेश में हो रहे असह्य कष्टों में भी उसी दृढ़ता शांति एवं धीर-गम्भीरतापूर्वक विचरते रहे। ऐसे प्रदेश में उन्हें भिक्षा मिलना भी अत्यन्त कठिन था। लम्बी एवं घोर तपस्या के पारणे में कभी कुछ मिल जाता, तो वह रुक्ष, अरुचिकर एवं तुच्छ होता। परन्तु भगवान् महावीर तो संग्राम में अग्रभाग पर रह कर आगे बढ़ते रहने वाले बलवान् गजराज के समान थे। भयंकर उपसर्गों की उपेक्षा करते हुए अपनी साधना में आगे ही बढ़ते रहते। इसीलिये तो वे इस प्रदेश में पधारे थे।

भगवान् को मार्ग चलते कभी दिनभर कोई ग्राम नहीं मिलता और संध्या के समय किसी गाँव के निकट पहुँचते, तो वहाँ के लोग भगवान् का तिरस्कार करते हुए वहाँ से चला जाने का कहते, तो भगवान् वन में ही रह जाते।

भगवान् को कोई लकड़ी से मारता, कोई मुष्टि-प्रहार करता, कोई पत्थर से, कोई हड्डी से प्रहार कर मारता और कोई भाले की नोक शरीर में घोंप कर छेद करता, जिसमें से रक्त बहने लगता। कोई-कोई तो भगवान् के शरीर से मांस भी काट लेता था। कोई उन्हें उठा कर नीचे पटक देता और ऊपर से धूल डाल देता और फिर सभी मिल कर चिल्लाते। इस प्रकार के भयंकर दुःखों को भी भगवान् शान्तिपूर्वक सहन करते हुए साधना में आगे बढ़ते जाते। जिस प्रकार एक शूरवीर योद्धा, संग्राम में भयंकर प्रहार सहन करते हुए भी आगे ही बढ़ता जाता है, उसी प्रकार भगवान् अपनी साधना में अडिग रह कर आगे बढ़ते जाते थे।

भगवान् पर प्रहार होते, उससे घाव हो जाते और असह्य पीड़ा होती, फिर भी भगवान् किसी भी प्रकार का उपचार नहीं करवाते, न कभी वमन-विरेचन, अभ्यंगन, सम्वाधन स्नान और दतुन ही करते। इन्द्रियों के विषयों से तो वे सर्वथा विरत ही रहते थे।

भगवान् शीतकाल में धूप में रह कर शीत-निवारण करने की इच्छा नहीं करते,

अपितु ठंडे छायायुक्त स्थान में रह कर शीतवेदना को विशेष सहन करते और उष्णकाल में धूप में रह कर आतापना लेते। तपस्या के पारणे में आठ महीने तक भगवान् ने रूखा भात, बोर का चूर्ण और उड़द के बाकले ही लिये और वे भी ठंडे। भगवान् की तपस्या इतनी उग्र होती थी कि पन्द्रह-पन्द्रह दिन महीने-महीने, दो-दो महीने और छह-छह महीने तक पानी भी नहीं पीते थे। भगवान् स्वयं पाप नहीं करते थे, न दूसरों से करवाते थे और न पाप का अनुमोदन ही करते थे।

भगवान् भिक्षा के लिये जाते तो दूसरों के लिये बनाये हुए आहार में से ही अपने अभिग्रह के अनुसार निर्दोष आहार लेते और मन वचन और काया के योगों को संयत कर के खाते थे। भिक्षार्थ जाते मार्ग में कौआ, कबूतर, तोता आदि भूखे पक्षी दाने चुगते हुए दिखाई देते, अथवा कोई श्रमण, ब्राह्मण, भिक्षुक, अतिथि, चांडाल, कुत्ता, बिल्ली आदि को भिक्षा पाने की इच्छा से खड़े देखते, तो उन्हें किसी प्रकार की बाधा नहीं हो, अन्तराय नहीं हो, किसी प्रकार का कष्ट नहीं हो और किसी सूक्ष्म जीव को भी बाधा नहीं हो, इस प्रकार भगवान् धीरे से निकल जाते या अन्यत्र चले जाते।

सूखा हो या गीला, भीगा हुआ, ठंडा, पुराने धान्य का (निस्सार) जौ आदि का पकाया हुआ निरस आहार, जैसा भी हो भगवान् शान्तभाव से कर लेते। यदि कुछ भी नहीं मिलता तो भी शान्ति पूर्वक उत्कट गोदोहासनादि से स्थिर हो कर ध्यानस्थ हो कर, ऊर्ध्व अधो और तिर्यक लोक के स्वरूप का चिन्तन करते।

भगवान् कषाय-रहित आसक्ति-रहित और शब्द-रूपादि विषयों में प्रीति नहीं रखते हुए सदैव शुभ ध्यान में लीन रहते थे। संयम में लीन रहते हुए भगवान् निदान नहीं करते। इस प्रकार की विधि का भगवान् ने अनेक बार पालन किया †।

भ. महावीर तापस के आश्रम में

यह वर्णन अनार्यदेश में विचरने के पूर्व का है और त्रि. श. पु. च. से लिया जा रहा है।

किसी समय विचरते हुए भगवान् मोराक सन्निवेश पधारे। वहाँ दुइज्जंतक जाति के तापस रहते थे। उन तपस्वियों के कुलपति, प्रभु के पिता स्व. श्री सिद्धार्थ नरेश के

† यहाँ तक का वर्णन आचारांग श्रु: १ अ. ९ के आधार से लिखा है। आगे त्रि. श. पु. च. आदि के आधार से लिखा जावेगा।

मित्र थे। उन्होंने अपने मित्र के पुत्र भ० महावीर को आते देख कर प्रसन्नतापूर्वक स्वागत किया। भगवान् उस आश्रम में एक रात्रि की भिक्षुप्रतिमा अंगीकार कर के ध्यानस्थ रहे। प्रातःकाल भगवान् विहार करने लगे, तो कुलपति ने कहा;—"वर्षावास व्यतीत करने के लिये आप यहीं पधारें। यह स्थान एकान्त भी है और शान्त भी।" भगवान् विहार कर गए। जब वर्षाकाल आया, तो भगवान् उसी स्थान पर पधारे। कुलपति ने उन्हें तृण से आच्छादित एक कुटि प्रदान की। भगवान् प्रतिमा धारण कर के उस कुटि में ध्यानारूढ़ हो गए।

वर्षा हुई, किन्तु अब तक गौओं के चरने योग्य घास नहीं हुई थी। गायें आती और तापसों की कुटिया पर छायी हुई घास खिंच कर खाने लगती। तापस लोग उन गौओं को लाठियों से पीट कर भगाते और अपनी कुटिया की रक्षा करते। परन्तु भगवान् तो ध्यानस्थ रहते थे। उन गौओं को पीटने डराने या भगाने और झोंपड़ी की रक्षा करने की उनकी प्रवृत्ति ही नहीं थी। कई बार तो वहाँ के तापसों ने गायों को भगा कर झोंपड़ी बचाई; परन्तु जब देखा कि अतिथि श्रमण तो इस ओर देखता ही नहीं है, तो उनके मन में विपरीत भाव उत्पन्न हुए। वे कुलपति के निकट आये और बोले—"आपका यह अतिथि कैसा है ? अपनी कुटिया भी गौओं से नहीं बचा सकता। हम कहाँ तक बचाते रहें ? ध्यान और तप वही करता है, हम नहीं करते क्या ?" कुलपति भगवान् के समीप आया। उसने देखा कि कुटि पर आच्छादित घास बिखर गया है। वह भगवान् से बोला;—"कुमार ! आपने अपनी कुटिया की रक्षा क्यों नहीं की ? अपने आश्रय-स्थान की रक्षा तो पक्षी भी करते हैं, फिर आप तो क्षत्रिय राजकुमार हैं। दुष्टों को दण्ड देना और सज्जनों की रक्षा करना तो आपका कर्तव्य है। आप अपने आश्रम की भी रक्षा नहीं करते। यह क्षात्र-धर्म कैसा ?"

कुलपति अपने स्थान पर चला गया। भगवान् ने विचार किया कि मेरे कारण इन तापसों और कुलपति को क्लेश हुआ और अप्रीति हुई। भविष्य में ऐसे अप्रीतिकारी स्थान में नहीं रहूँगा ×।

× ग्रन्थकार लिखते हैं कि इस समय वर्षाकाल के पन्द्रह दिन ही बीते थे। भगवान् ने दूसरे ही दिन वहाँ से अन्यत्र विहार कर दिया। यह भी लिखा है कि—कुलपति के उपालम्भ के बाद भगवान् ने पाँच अभिग्रह धारण किये। यथा—

१ अब मैं अप्रीतिकारी स्थान में नहीं रहूँगा।

शूलपाणि यक्ष की कथा

तापस-आश्रम से विहार कर के भगवान् अस्थिक ग्राम पधारे। संध्याकाल होने आया था। भगवान् ने वहाँ के निवासियों से स्थान की याचना की। लोगों ने कहा—'यहाँ एक यक्ष का मन्दिर है, परन्तु यह यक्ष वड़ा क्रूर है। अपने स्थान पर किसी को रहने नहीं देता। इस यक्ष की क्रूरता, उसके पूर्वभव की एक दुर्घटना से सम्वन्धित है।

इस स्थान पर पहले वर्धमान नाम का एक गाँव था। निकट ही वेगवती नामक एक नदी है, जो कीचड़ से युक्त है। एक बार धनदेव नाम का व्यापारी पाँच सौ गाड़ियों में किराना भर कर ले जा रहा था। गाड़ियों के वैलों में एक वड़ा वृषभ था। इस वृषभ को आगे जोड़ कर सभी गाड़ियों को नदी से पार उतार दिया। अतिभार को कीचड़युक्त स्थान से खिच कर पार लगाने में वृषभ की शक्ति टूट गई। उसके मुँह से रक्त गिरनें लगा। शरीर निःसत्व हो गया और वह मूर्च्छित हो कर भूमि पर गिर पड़ा। व्यापारी हताश हो गया। वह वृषभ उसका प्रिय था। उसने ग्रामवासियों को एकत्रित कर के कहा—

"यह वैल मुझे अत्यन्त प्रिय है। परन्तु अब यह चलने योग्य नहीं रहा। मैं स्वयं भी यहाँ इसकी सेवा के लिये रह नहीं सकता। मैं आपको इसके घास और दाना-पानी आदि सेवा के लिये पर्याप्त धन दे रहा हूँ। आप लोग इसकी सभी प्रकार से सेवा करेंगे।"

धनदेव ने उन्हें खर्च के अनुमान से भी अधिक धन दिया। लोगों ने भी प्रसन्न हो कर सेवा करने का विश्वास दिलाया। उसने स्वयं भी वहुत-सा घास और दाना-पानी उस वृषभ के निकट रखवा दिया। फिर अपने प्रिय वृषभ के शरीर पर हाथ फिरा कर आँखों से आँसू टपकाता हुआ धनदेव आगे वढ़ गया। उसके जाने के वाद ग्राम्यजनों ने सव धन

---

२ मैं सदा ध्यानस्थ ही रहूँगा (भगवान् तो दीक्षित होने के वाद विहारादि के अतिरिक्त ध्यानस्थ ही रहते थे)।

३ मौन धारण किये रहूँगा (यह नियम भी दीक्षित होते ही पाला जाता रहा था)।

४ हाथ में ही भोजन करूँगा। प्रभु ने पात्र तो रखा ही नहीं था। आचारांग १-९-१ में स्पष्ट लिखा है कि भगवान् गृहस्थ के पात्र में भोजन नहीं करते थे। परन्तु आवश्यक टीकादि में लिखा है कि—प्रथम पारणे में भगवान् नें गृहस्थ के पात्र में भोजन किया था। (यह वात सूत्र के विपरीत लगती है)।

५ गृहस्थों का विनय नहीं करूँगा (वे गृहस्थों से सम्पर्क ही नहीं रखते थे। ग्रन्थकार ने लिखा है कि जव कुलपति स्वागत करते हुए भगवान् के समक्ष आए, तो भगवान् ने दोनों वाहु फैला कर विनय प्रदर्शित किया...)।

दबा लिया और उस रोगी बैल की सर्वथा उपेक्षा कर दी। कुछ काल पश्चात् वह वृषभ भूख-प्यास से तड़पने लगा। उसके शरीर का रक्त-मांस सूख गया और वह मात्र चमड़ी और हड्डियों का ढाँचा ही रह गया। वृषभ ने विचार किया--" इस गाँव के लोग कितने स्वार्थी और अधम हैं। ये पापी, निष्ठुर निर्दय लोग चाण्डाल जैसे हैं। मेरे स्वामी ने मेरे लिये दिया हुआ धन भी ये ठग खा गये और मुझे तड़पता हुआ छोड़ दिया "--इस प्रकार ग्राम्यजनों पर क्रोध करता हुआ अत्यन्त दुःखपूर्वक अकाम-निर्जरा कर के मृत्यु पा कर वह शूलपाणि नामक व्यंतर हुआ। उसने विभंगज्ञान से अपना पूर्वभव और छोड़ा हुआ वृषभ का शरीर देखा। उसे उन निष्ठुर ग्राम्यजनों पर अत्यन्त क्रोध आया। उसने उस गाँव के लोगों में महामारी उत्पन्न कर दी। लोग रोग से अत्यन्त पीड़ित हो कर मरने लगे और उन मृतकों की हड्डियों के ढेर लगने लगे। लोग घबड़ाये और ज्योतिषी आदि से शांति का उपाय पूछने लगे। अनेक प्रकार के उपाय किये, किन्तु रोग नहीं मिटा। कई लोग गाँव छोड़ कर अन्यत्र चले गये, फिर भी उनका रोग नहीं मिटा। हताश हो कर लोग पुनः इसी गाँव में आये और सब ने मिल कर एक दिन देवों की आराधना कर के अपने अपराध की क्षमा माँगी। उनकी प्रार्थना सुन कर अन्तरिक्ष में रह कर यक्ष बोला;--

" अरे दुष्ट लोगों ! अब तुम क्षमा चाहते हो, परन्तु उस क्षुधातुर रोगी वृषभ की तुम्हें दया नहीं आई और उसके स्वामी का दिया हुआ धन भी खा गये। वह वृषभ मर कर मैं देव हुआ हूँ और तुमसे उस घोर पाप का बदला ले रहा हूँ। मैं तुम सब को समाप्त करना चाहता हूँ।"

देव-वाणी सुन कर लोग भयभीत हो गये और भूमि पर लौटते हुए बारबार क्षमा माँगने लगे। देव ने पुनः कहा--

" सुनो ! यदि तुम अपना हित चाहते हो, तो जो हड्डियों के ढेर पड़े हैं, उन्हें एकत्रित कर के उस पर मेरा भव्य देवालय बनाओ और उसमें मेरी वृषभ रूप मूर्ति स्थापित कर, उसकी पूजा करते रहो, तो मैं तुम्हें जीवित रहने दूंगा, अन्यथा नहीं।"

लोगों ने देवाज्ञा सिरोधार्य की और तदनुसार देवालय बना कर मूर्ति स्थापित की * और इन्द्रशर्मा ब्राह्मण को पुजारी नियुक्त किया। अस्थि संचय के कारण इस गाँव का ' अस्थि ' नाम हुआ। यदि कोई यात्री इस देवालय में रात रहे, तो यक्ष उसका जीवन

* उस वर्धमान ग्राम को अभी सौराष्ट्र में ' वढवाण ' कहते हैं और वहाँ शूलपाणि यक्ष का मन्दिर और प्रतिमा अब भी है--ऐसा ग्रन्थ के पादटिप्पण में लिखा है।

नष्ट कर देता है। पुजारी भी शाम को अपने घर चला जाता है। इसलिये आपको इस देवालय में नहीं रहना चाहिये।

लोगों ने भगवान् को दूसरा स्थान वताया। किन्तु प्रभु ने दूसरे स्थान पर रहना अस्वीकार कर, यक्षायतन की ही याचना की। अनुमति प्राप्त कर के प्रभु यक्षायतन के एक कोने में प्रतिमा धारण कर के ध्यानस्थ हो गए।

शूलपाणि यक्ष द्वारा घोर उपसर्ग

इन्द्रशर्मा पुजारी ने धूप-दीप करने के वाद अन्य यात्रियों को हटा दिया और भगवान् से कहा--"महात्मन्! अब आप भी यहाँ से किसी अन्यत्र स्थान चले जाइये। यह देव वड़ा क्रूर है। जो यहाँ रात रहता है, वह जीवित नहीं रहता।" प्रभु तो ध्यानस्थ थे। पुजारी अपनी वात उपेक्षित जान कर चला गया।

यक्ष ने विचार किया--'यह कोई गर्विष्ठ मनुष्य है। गाँव के लोगों ने और पुजारी ने बारवार समझाया, परन्तु यह अपने घमण्ड में ही चूर रहा। ठीक है अव मेरी शक्ति भी देख ले।'

व्यन्तर ने अट्टहास्य किया। भयंकर रौद्रहास्य से दिशाएँ गुंज उठी—जैसे आकाश फट पड़ा हो और नक्षत्र-मंडल टूट पड़ा हो। ग्राम्यजन काँप उठे। उन्हें विश्वास हो गया कि वह मुनि, यक्ष के कोप का पात्र वन कर मारा गया होगा। यक्ष का अट्टहास्य भी व्यर्थ गया। भगवान् पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। प्रथम प्रयोग व्यर्थ जाने पर यक्ष ने एक मत्त-गजेन्द्र का रूप धारण कर प्रभु को पाँवों से रोंदा और दातों से ठोक कर असह्य वेदना उत्पन्न की। फिर एक विशाल पिशाच का रूप धारण कर भगवान् के शरीर को नोचा। तत्पश्चात् भयंकर विषधर का रूप धर कर भगवान् के शरीर को आँटे लगा कर कसा और मस्तक, नेत्र, नासिका, ओष्ट, पीठ, नख और शिश्न पर डस कर घोर असह्य-वेदना उत्पन्न की। फिर भी प्रभु अडिग एवं ध्यान-मग्न ही रहे। यक्ष थका। उसे विचार हुआ कि यह तो कोई महान् आत्मा है। उपयोग लगाने पर भगवान् की भव्यता ज्ञात हुई। इतने में सिद्धार्थ देव—जिसे शक्रेन्द्र ने भगवान् की सेवा के लिये नियुक्त किया था—कहीं से आया और शूलपाणि को फटकारा--

"हे दुर्मति! तूने यह क्या किया? ये होने वाले तीर्थंकर भगवान् हैं। इनकी

घोरतम आशातना से तू महापापी तो हुआ ही है, साथ ही शक्रेन्द्र के कोप का भाजन भी बना है। ये प्रभु तो शान्त हैं। तेरे प्रति इनमें कोई द्वेष नहीं है। परन्तु अपनी आत्मा का हित चाहता हो, तो भक्तिपूर्वक क्षमा माँग और मिथ्यात्व के विष को उगल कर शुद्ध सम्यक्त्व अंगीकार कर। इसी से तेरा उद्धार होगा।

शूलपाणि भगवान् के चरणों में गिरा, बार-बार क्षमा माँगी और अपने सभी पापों का पश्चात्ताप कर सम्यक्त्वी बना। प्रभु का यह घोर उपसर्ग दूर हुआ।

सिद्धार्थ द्वारा अच्छन्दक का पाखण्ड खुला

‡ भगवान् ने वह चातुर्मास अस्थिक ग्राम में ही किया और अर्द्धमासिक तप आठ बार कर के शांतिपूर्वक वर्षाकाल पूर्ण किया। भगवान् विहार करने लगे, तब शूलपाणि यक्ष आया और भगवान् को वन्दना कर के अपना अपराध पुनः खमाया और गद्‌गद् हो कर बोला—"स्वामिन्! आपने इस महापापी का उद्धार कर दिया। स्वयं भीषण यातना सहन कर ली और बिना उपदेश के ही मेरी पापी प्रवृत्ति छुड़ा दी। धन्य हे प्रभो!"

दीक्षाकाल का एक वर्ष पूरा होने के बाद भगवान् पुनः मोराक ग्राम के बाहर बगीचे में पधार कर प्रतिमा धारण कर के ध्यानस्थ हो गए। उस ग्राम में 'अच्छन्दक' नाम का एक पाखण्डी रहता था। वह मन्त्र तन्त्र कर के लोगों पर अपनी धाक जमाये हुए था। उसकी आजीविका भी इस पाखण्ड के आधार पर चल रही थी। उसके दम्भपूर्ण पाखण्ड को सिद्धार्थ व्यन्तर सहन नहीं कर सका। उसने अच्छन्दक का पाखण्ड खुला करने का ठान लिया।

एक ग्वाला उधर से हो कर जा रहा था। सिद्धार्थ ने उसे निकट बुलाया और प्रच्छन्न रह कर बोला—

"आज तुने सोवीर सहित कांग खाया है। तू बैल चराने घर से निकला, तो मार्ग में तूने साँप देखा और गई रात को तू स्वप्न में खूब रोया था? बोल ये बातें सत्य है?"

---

‡ ग्रन्थकार और कल्पसूत्र टीका आदि में शूलपाणि के उपद्रव के बाद भगवान् को दस स्वप्न आने का उल्लेख है। किन्तु भगवती सूत्र श. १६ उ. ६ में ये दस स्वप्न छद्मस्थता की अन्तिम रात्रि में आने का स्पष्ट उल्लेख है। ग्रन्थकार एवं टीकाकारों के ध्यान में यह बात थी। परन्तु वे इसका अर्थ 'रात्रि के अन्तिम भाग में' करते हैं। हमें यह उपयुक्त नहीं लगा। अतएव इनका बाद में उल्लेख करेंगे।

ग्वाले को आश्चर्य हुआ। सभी बातें सत्य थी। उसने स्वीकार की। उसने गाँव में जा कर प्रचार किया कि बगीचे में एक बहुत बड़े महात्मा ध्यान कर रहे हैं। वे भूत-भविष्य और वर्त्तमान के ज्ञाता हैं, सर्वज्ञ हैं। मेरी सभी गुप्त बातें उन्होंने जान ली और यथावत् कह दी।' लोग उमड़े और भगवान् के समक्ष आ कर वन्दन करने लगे। सिद्धार्थ ने अदृश्य रह कर कहा--

"तुम सब ग्वाले की बात सुन कर मेरा चमत्कार देखने आये हो, तो सुनों।" सिद्धार्थ ने प्रत्येक के साथ घटी हुई खास-खास बातें कह सुनाई। इससे सभी लोग चकित रह गये। कुछ लोगों को भविष्य में होने वाली घटना भी बताई। अब तो लोगों की भीड़ लगने लगी। एक बार किसी भक्त ने कहा--"महात्मन्! हमारे यहाँ एक अच्छन्दक नाम का ज्योतिषी है। वह भी त्रिकालज्ञ है।" सिद्धार्थ ने कहा--"तुम लोग भोले हो। वह धूर्त तुम्हें ठगता है। वस्तुतः वह कुछ नहीं जानता। वह बड़ा पापी है।"

लोगों ने अच्छन्दक से कहा। वह क्रोधित हो कर बोला--"मैं उस ढोंगी के पाखंड की पोल खोल दूंगा। देखूं उसमें कितना ज्ञान है।" वह उत्तेजित हो कर बगीचे की ओर चला। लोग भी उसके पीछे हो लिये। अच्छन्दक ने अपने हाथ में घास का तिनका दोनों हाथों की अंगुलियों से इस प्रकार पकड़ा कि जिससे तिनके का एक सिरा एक हाथ की अंगुली में दबा और दूसरा सिरा दूसरे हाथ की अंगुली में, और बोला;--

"कहो, यह तिनका मैं तोड़ूंगा, या नहीं?"

उसने सोच लिया था कि 'यदि तोड़ने का कहेगा, तो मैं नहीं तोड़ूंगा और नहीं तोड़ने का कहेगा, तो तोड़ दूंगा। इस प्रकार इसे झूठा बना कर इसका प्रभाव मिटा दूंगा और अपना सिक्का सवाया जमा लूंगा।" परन्तु हुआ उलटा। देव ने कहा;--"तू इस तृण को नहीं तोड़ सकेगा।" अच्छन्दक ने उसे तोड़ने के लिये अंगुलियों पर दबाव डाला। देवशक्ति से तिनके के दोनों सिरे उसकी उँगलियों में शूल के समान गढ़ गये और रक्त झरने लगा। लोग-हँसाई हुई और उसका सारा प्रभाव नष्ट हो गया। वह वहाँ से खिन्नतापूर्वक उठा और चला गया।

अच्छन्दक को पद-दलित करने के लिए सिद्धार्थ ने कहा--

"यह अच्छन्दक चोर भी है। इसने इस वीरघोष का दस पल प्रमाण नाप का एक पात्र चुरा कर इसके ही घर के पीछे पूर्व की ओर सरगने के वृक्ष के नीचे भूमि में गाड़ दिया और इन्द्रशर्मा का भेड़ चुरा कर मार खाया। उसकी हड्डियाँ बेर के वृक्ष के दक्षिण की ओर भूमि में दबा दी है।"

वीरघोष और इन्द्रशर्मा के साथ लोगों का झुण्ड हो लिया। दोनों स्थानों से पात्र और हड्डियाँ निकाल लाये। इसके बाद सिद्धार्थ ने फिर कहा--"यह चोर ही नहीं है, व्यभिचारी भी है। इसका यह पाप मैं नहीं खोलूंगा।" लोगों के अति आग्रह से सिद्धार्थ ने कहा;--"तुम इसकी पत्नी से पूछो। वह सब बता देगी।" लोग उसकी पत्नी के पास पहुँचे। पति-पत्नी में कुछ समय पूर्व ही लड़ाई हुई थी। मार खाई हुई पत्नी, पति पर अत्यन्त रुष्ट हो कर रो रही थी और गालियाँ दे रही थी। उसी समय लोग पहुँचे और सहानुभूतिपूर्वक रोने का कारण पूछा। वह क्रोध और ईर्षा से भरी हुई थी। उसने कहा--"यह दुष्ट इसकी बहिन के साथ कुकर्म करता है और मुझसे घृणा करता हुआ मारपीट करता है।"

अच्छन्दक की अच्छाई की सारी पोल खुल गई। लोग उससे घृणा करने लगे। उसे भिक्षा मिलना भी बन्द हो गई। अपनी हीन-दशा से खिन्न हो कर अच्छन्दक, एकान्त देख कर भगवान् के समीप पहुँचा और प्रणाम कर के बोला--

"भगवन्! आपके द्वारा मेरी आजीविका नष्ट हो गई। मैं पद-दलित हो गया। आप तो समर्थ हैं, पूज्य हैं। आपका सम्मान तो सर्वत्र होगा। किन्तु मुझे तो अन्यत्र कोई नहीं जानता। मेरा प्रभाव इस गाँव में ही रहा है। जब तक आप यहाँ हैं, तब तक मैं पद-दलित एवं घृणित ही रहूँगा। यदि आप अन्यत्र पधार जावेंगे, तो मेरी आजीविका पुनः चल निकलेगी।"

अच्छन्दक की प्रार्थना सुन कर भगवान् को अपने अभिग्रह का स्मरण हुआ। अप्रीतिकर स्थान त्यागने के लिए भगवान् ने वहाँ से उत्तर दिशा के वाचाला ग्राम की ओर विहार कर दिया।

चण्डकौशिक का उद्धार

'वाचाल' नाम के दो गाँव थे, एक रुप्यवालुका और स्वर्णवालुका नदी के दक्षिण में और दूसरा उत्तर में। भगवान् दक्षिण वाचाल से विहार कर उत्तर वाचाल की ओर पधार रहे थे, तब स्वर्णवालुका नदी के तट पर, प्रभु के कन्धे पर रहा हुआ वस्त्र कंटिली झाड़ी में अटक कर गिर गया। उस वस्त्र को ब्राह्मण ने उठा लिया ×।

भगवान् श्वेताम्बिका नगरी की ओर पधार रहे थे। वन-प्रदेश में चलते गोपालकों ने कहा--

× इसका उल्लेख पृ. १४६ में हो चुका है।

"महात्मन् ! आप इस मार्ग से नहीं जावें। यह मार्ग सीधा तो है, परन्तु अत्यन्त भयंकर है। आगे कनखल नामक आश्रम है। वहाँ एक भयंकर दृष्टिविष सर्प रहता है। उसके विष का इतना तीव्र प्रभाव है कि उस ओर पक्षी भी उड़ कर नहीं जाते। इसलिये आप इस सीधे मार्ग को छोड़ कर इस दूसरे लम्बे मार्ग से जाइये। इसमें आपको किसी प्रकार का भय नहीं होगा।

भगवान् ने ज्ञानोपयोग से सर्पराज का भूत, वर्त्तमान और भविष्य जाना। यथा--

यह चण्डकौशिक सर्प पूर्वभव में एक तपस्वी साधु था। एक बार वह अपनी तपस्या के पारणे लिए भिक्षा लेने गया। उसके पाँव के नीचे अनजान में एक मेढ़की दब गई। साथ चलते हुए शिष्य ने उन्हें वह कुचली हुई मेढ़की वताते हुए कहा--"आप इसका प्रायश्चित्त लीजिये।" गुरु ने किसी अन्य द्वारा कुचली हुई दूसरी मेढ़की दिखा कर कहा—"क्या इसे भी मैंने ही मारी है?" शिष्य मौन रह गया। संध्या को प्रतिक्रमण करते समय भी आलोचना नहीं की, तो शिष्य ने कहा– "आर्य ! आप मेढ़की मारने का प्रायश्चित्त नहीं लेंगे क्या?" गुरु को क्रोध आ गया। वे शिष्य को मारने दौड़े। क्रोधावेश में और अन्धकार के कारण वे एक खंभे से जोर से अथड़ाये। उनका मस्तक फट गया। इस असह्य आघात ने उनका रोष सीमातीत कर दिया। क्रोध की उग्रता में विराधक हो गये और मृत्यु पा कर ज्योतिषी देव में उत्पन्न हुए। वहाँ से च्यव कर कनखल के आश्रम में पाँच सौ तपस्वियों के कुलपति की पत्नी के गर्भ से 'कौशिक' नामक पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए। अत्यधिक क्रोधी होने के कारण वह 'चण्डकौशिक' नाम से प्रसिद्ध हुआ। पिता के देहान्त के वाद चण्डकौशिक तापसों का कुलपति हुआ। इसे अपने आश्रम और वनखंड पर अत्यन्त मूर्च्छा थी। अपने वनखंड से किसी को पत्र-पुष्प और फल नहीं लेने देता। यदि कोई उस वन में से तुच्छ एवं सड़ा हुआ पुष्प-फलादि लेता, तो चण्डकौशिक उसे मारने दौड़ता। वह दिन-रात उसकी रखवाली करता रहता। दूसरे तो दूर रहे, वहाँ के तपस्वियों को भी वह पत्र-पुष्पादि नहीं लेने देता और उनके साथ कठोरता पूर्वक व्यवहार करता। इससे सभी तपस्वी आश्रम छोड़ कर अन्यत्र चले गये। वह अकेला रह गया। एक वार वह किसी कार्य से वाहर गया था। संयोगवश श्वेताम्विका से कुछ राजकुमार वन-क्रीड़ा करने निकले और उसी वनखंड में आ कर, वन के पुष्पादि तोड़ने लगे। उसी समय वह वाहर से लौट रहा था। ग्वालों ने उसे वताया कि "तुम्हारे आश्रम को कुछ राजकुमार नष्ट कर रहे हैं।" वह आग-ववुला हो गया और अपना फरसा उठा कर उन्हें मारने दौड़ा। राजकुमार तो भाग गये, किन्तु उस चण्डकौशिक का काल एक गड्ढे के रूप में वहाँ सम्मुख

आ गया। अन्धाधुन्ध भागता हुआ वह उस गर्त में गिर पड़ा और उसका वह तेज धार वाला फरसा उसी के मस्तक को फाड़ बैठा। वहीं मृत्यु पा कर वह उसी आश्रम में क्रूर दृष्टिविष सर्प हुआ। पूर्वभव का उग्र क्रोध यहाँ उसका साथी हुआ। क्रोध से अत्यन्त विषैली बनी हुई दृष्टि से वह जिसे देखता, वही काल-कवलित हो कर गतप्राण हो जाता। उसके आतंक से वह सारा वन जनशून्य और पशु-पक्षियों से रहित हो गया और मार्ग भी अवरुद्ध हो गया।'

चण्डकौशिक का भूत और वर्त्तमान जान कर भगवान् ने उसके भविष्य का विचार किया। उसे प्रतिबोध के योग्य जान कर भगवान् उसी मार्ग पर चले। उस जन-संचार रहित—अपथ बने हुए मार्ग पर चलते हुए उसी आश्रम के निकट पहुँचे और एक यक्षालय में कायोत्सर्ग कर के ध्यानारूढ़ हो गए। कुछ काल व्यतीत होने पर सर्पराज चण्डकौशिक इधर-उधर विचरण करता हुआ उस यक्षायतन के समीप आया। अचानक उसकी दृष्टि भगवान् वीर प्रभु पर पड़ी। उसका मान-भंग हो गया। उसके एकछत्र राज्य में प्रवेश करने का साहस करने वाले मनुष्य को वह कैसे सहन कर सकता था? क्रोधावेश में अपने फण का विस्तार कर के विष-फुत्कार छोड़ता हुआ वह भगवान् को क्रुद्ध दृष्टि से देखने लगा। उसकी दृष्टि-ज्वाला उल्कापात के समान भगवान् पर पड़ी। किन्तु भगवान् पर उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। जब उसका यह अमोघ आक्रमण व्यर्थ हो गया, तो उसे आश्चर्य हुआ। यह प्रथम ही अवसर था कि उसका वार व्यर्थ हुआ। विशेष शक्ति प्राप्त करने के लिए उसने बार-बार सूर्य की ओर देखा और पुनःपुनः भगवान् पर दृष्टिज्वाला छोड़ने लगा। परन्तु उसका सारा प्रयत्न व्यर्थ हुआ। अब वह अपनी रक्तवर्णी जिव्हा लपलपाता हुआ प्रभु के निकट आया और चरण में दंश दे कर पीछे हटा। प्रभु पर उसके दंश का भी कोई प्रभाव नहीं हुआ, तो वह पुनः-पुनः डसने लगा। परन्तु भगवान् के शरीर पर तो क्या, दंश के स्थान पर भी विष का किञ्चित् भी प्रभाव नहीं हुआ, डंक के स्थान से गाय के दूध के समान श्वेत वर्ण की रक्तधारा● निकली। सर्पराज का

● तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध इतनी उच्च एवं पवित्र भावनाओं में होता है कि जिसके कारण उनके औदारिक शरीर के स्कन्ध, अस्थियाँ और रक्तादि सभी उत्तम प्रकार के होते हैं। उनका श्वास सुगन्धित, वर्णादि अलौकिक और रक्त, दूध के समान होता है। कुछ विद्वान यहाँ माता के दूध का उदाहरण देते हैं। परन्तु वह उपयुक्त नहीं लगता। माता के तो स्तन में ही दूध होता है और उसका मूल कारण गर्भ पर स्नेह नहीं होता। वह तो पशुओं के भी और उन विधवा और कवाँरी माताओं के भी होता है, जो संतान नहीं चाहती। अति संतान वाली अनिच्छुक माताओं के भी होता है। तात्पर्य यह कि माता के स्तन में

समस्त बल व्यर्थ गया। अब उसके विचारों ने मोड़ लिया। दूध के समान रक्तधारा देख कर भी उसे आश्चर्य हुआ। वह प्रभु के मुखारविन्द को अपलक दृष्टि से देखने लगा। प्रभु के अलौकिक रूप एवं परम शान्त-सौम्य मुद्रा पर उसकी दृष्टि स्थिर हो गई। उसका रोष उपशान्त हो गया। उपयुक्त स्थिति जान कर प्रभु ने उद्‌बोधन किया--"चण्डकौशिक! बुज्झ बुज्झ" (समझ समझ) भगवान् के ये शब्द सुन कर वह विचार करने लगा। एकाग्रता बढ़ी और जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। उसने अपने तपस्वी साधु-जीवन और उसमें क्रोधावेश में हुए पतन को देखा। अपनी भूल समझा। उसने प्रशस्त भाव से प्रभु की प्रदक्षिणा की और उसी समय अनशन करने का निश्चय कर लिया। सर्पराज के पवित्र संकल्प को जान कर प्रभु ने उसे निहारा। सर्पराज ने सोचा--"मेरी विषैली दृष्टि से किसी प्राणी का अनिष्ट न हो'--इस विचार से उसने अपना मुँह बाँबी में रख कर, सारा शरीर बाहर स्थिर रख कर शांति एवं समतापूर्वक रहा। भगवान् भी वहीं ध्यानस्थ रहे।

जिस समय भगवान् चण्डकौशिक के स्थान की ओर पधारे, उस समय कुछ ग्वाले भी--यह देखने के लिए पीछे-पीछे, कुछ दूर रह कर--चले कि देखें नागराज के कोप से ये महात्मा कैसे बचते हैं। वे वृक्ष की ओट में रह कर देखने लगे। जब उन्होंने भगवान् को सुरक्षित और सर्प को निश्चल देखा, तो निकट आये और लकड़ी से सर्प को स्पर्श किया। उनको विश्वास हो गया कि सर्प का उपद्रव समाप्त हो चुका है। उन्होंने गाँव में आ कर इसकी चर्चा की। लोगों के झुण्ड के झुण्ड आने लगे। मार्ग चालू हो गया। लोग सर्प की वन्दना करने लगे। उस मार्ग से हो कर घृत बेचने जाने वाली स्त्रियें सर्प के शरीर पर घृत चढ़ाने लगी। घृत की गन्ध से चिंटियाँ आ कर सर्पराज के शरीर को छेदने लगी। सारा शरीर छलनी हो गया। असह्य वेदना होने लगी, परन्तु बड़ी धीरज एवं शाँति के साथ वह सहन करता रहा। अन्त में पन्द्रह दिन का अनशन कर के मृत्यु पा कर वह सहस्रार कल्प में देव हुआ।

सिंह के जीव सुदंष्ट देव का उपद्रव

चण्डकौशिक सर्प का उद्धार कर के भगवान् उत्तर वाचाल की ओर पधारे। अर्धमासिक तप के पारणे के लिए भगवान् नागसेन के यहाँ पधारे। नागसेन का इकलौता पुत्र

दूध उत्पन्न होने का कारण, गर्भ के निमित्त से होने वाला शरीर में परिवर्त्तन मात्र है, संतान-प्रेम नहीं और तीर्थंकर भगवान् के शरीर में दुग्धवर्णी रक्त होना उनके उत्तमोत्तम औदारिक-शरीर नामकर्म उदय का फल है।

विदेश गया हुआ था। वह बहुत काल व्यतीत होने के बाद अचानक ही घर आया। इस खुशी में नागसेन ने उत्सव किया और सगे-सम्बन्धियों को आमन्त्रित किया था। उसी दिन भगवान् नागसेन के यहाँ पधारे। भगवान् को अपने घर आते देख कर नागसेन हर्षित हुआ और भक्तिपूर्वक क्षीर बहरा कर पारणा कराया। देवों ने पंच दिव्य की वृष्टि कर के नागसेन के दान की प्रशंसा की। पारणा कर के भगवान् श्वेताम्बिका नगरी पधारे। प्रदेशी-राजा भगवान् को वन्दना करने आया। श्वेताम्बिका से भगवान् ने सुरभिपुर की ओर विहार किया×।

कंबल और संबल का वृत्तांत

मथुरा नगरी में 'जिनदास' नाम का एक श्रावक था। 'साधुदासी' उसकी सहचरी

× यहाँ ग्रन्थकार भगवान् को नावा में बैठ कर नदी पार करने का उल्लेख करते हैं। परन्तु भगवान् ने कभी नौका द्वारा नदी पार की हो, अथवा पाँवों से जल में चल कर नदी उतरे हों, ऐसा एक भी उल्लेख आगमों में नहीं है। कथा यों है;—

मार्ग में गंगा महानदी को पार करने के लिये भगवान् शुद्धदंत नाविक की नौका में बिराजे। नौका चलने लगी। उसी समय नदी किनारे किसी वृक्ष पर से उल्लु बोला। उल्लु की बोली सुन कर नौका में बैठे हुए क्षेमिल नाम के शकुन-शास्त्री ने कहा—" हम पर भयानक विपत्ति आनेवाली है। हमारा सुखपूर्वक पार पहुँचना असम्भव है। आशा का केन्द्र है तो ये महात्मा ही है। इन्हीं के पुण्य-प्रभाव से हम बच सकते हैं।

थी। उन्होंने परिग्रह-परिमाण व्रत ग्रहण करते समय गाय-भैंस आदि पशु नहीं रखने का नियम लिया था। अहीरों से दूध-दही ले कर वे अपनी आवश्यकता पूरी करते थे। एक अहीरन उन्हें अच्छा दूध-दही ला कर देती थी। साधुदासी उसी से लेने लगी और विशेष में कुछ दे कर पुरस्कृत भी करने लगी। उन दोनों में स्नेह बढ़ा और बहिनों के समान व्यवहार होने लगा। कालान्तर में अहीरन के घर लग्नोत्सव का प्रसंग आया। उसने सेठ-सेठानी को न्योता दिया। सेठ-सेठानी ने वस्त्रालंकार एवं अन्य सामग्री इतनी दी कि जिससे उसका उत्सव बहुत शोभायमान हुआ और उसकी जाति एवं सम्बन्धियों में भी उसका सम्मान हुआ। अहीर-दम्पत्ति बहुत प्रसन्न हुए। सेठ की असीम कृपा से परम आभारी बन कर गोपाल ने अपने दो श्वेत एवं सुन्दर युवा वृषभ की जोड़ी सेठ को अर्पण करने लगा। सेठ ने स्वीकार नहीं किया, तो वह सेठ के घर ला कर बाँध गया। सेठ ने सोचा—'यदि मैं इन्हें निकाल दूँगा, तो कोई इन्हें पकड़ लेगा, और हल गाड़े या अन्य किसी कार्य में लगा कर दुःखी करेगा" ऐसा सोच कर रहने दिया और प्रासुक घास-पानी आदि से पोषण तथा स्नेहपूर्ण दुलार करने लगा। दोनों बछड़ों का भी सेठ-सेठानी पर स्नेह हो गया। उनमें समझ थी। सेठ-सेठानी को देख कर वे प्रसन्न और उत्साहित होते। अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्वतिथि के दिन सेठ पौषधौपवास करते और उनके निकट नहीं आते, तो वे भी भूखे-प्यासे रह जाते। उनकी ऐसी मनोवृत्ति देख कर सेठ का स्नेह बढ़ा। वे उनको धर्म की बातें सुनाते। सुनते-सुनते वे भद्र-परिणामी हुए। जिस दिन सेठ-सेठानी के पौषध हो, उस दिन वे भी उपवासी रहते थे। इससे सेठ का स्नेह धर्म-स्नेह बन गया। बिना परिश्रम के उत्तम खान-पान से वे वृषभ पुष्ट और बहुत बलवान हो गए।

यक्षदेव का उत्सव था। लोग गाड़े और रथ ले कर उत्सव में जाने लगे। इस दिन वाहनों की दौड़ की होड़ लगती। जिनदास सेठ का एक मित्र भी इस होड़ में सम्मिलित होना चाहता था, परन्तु उसके बैल प्रतिस्पर्धा में लगाने योग्य नहीं थे। उसने सेठ के युवा बैलों की जोड़ी देखी थी। वह आया। सेठ घर नहीं थे। वह मित्रता के नाते बिना पूछे ही बैल ले गया। प्रतिस्पर्धा में वह विजयी हुआ। परन्तु बैलों का बल और शरीर के संध टूट गये। मुँह से रक्त के वमन होने लगे। चाबुकों की मार से पीठ सूज गई। आर घोंपने से चमड़ी छिद कर रक्त बहने लगा। विजय प्राप्त कर के वह बैलों को सेठ के घर छोड़ गया। घर आने पर सेठ ने बैलों की दशा देखी, तो दंग रह गये। मित्र की निर्दयता पर अत्यन्त खेदित हुए। बैलों का मरण-काल निकट था। उन्होंने खान-पान बन्द कर दिया था। सेठ ने उन्हें त्याग कराये और नमस्कार मन्त्र सुनाया। सुनते-सुनते ही समाधीपूर्वक

मृत्यु पा कर नागकुमार जाति में देव हुए।

प्रभु के निमित्त से सामुद्रिक शास्त्रवेत्ता को भ्रम

विहार करते हुए बारीक रेत और धूल पर प्रभु के चरण अंकित हो गए। उधर से 'पुष्प' नामक एक सामुद्रिक शास्त्र का ज्ञाता निकला। भगवान् के चरण-चिन्ह और उस में अंकित उत्तम लक्षण देख कर उसने सोचा कि "इस मार्ग पर कोई चक्रवर्ती सम्राट निकले हैं। परन्तु वे अकेले हैं। लगता है कि अब तक उन्हें राज्य की प्राप्ति नहीं हुई, अथवा राज्यच्युत हो गये हैं। मैं उनसे मिलूं। वे अभी ही इधर से गये हैं। ऐसे महापुरुष की संकट के समय सेवा करना अत्यंत लाभदायक होता है। उन्हें भी सेवक की आवश्यकता होगी ही। मुझे पुण्योदय से ही यह सुयोग मिला है।" इस प्रकार सोच कर वह चरण-चिन्हों के सहारे शीघ्रता से आगे बढ़ा। भगवान् स्थूणाक ग्राम के बाहर अशोक वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ रहे थे। पुष्प, प्रभु के निकट पहुँचा। उसने देखा कि प्रभु के वक्षस्थल पर श्रीवत्स अंकित था, मस्तक पर मुकुट का चिन्ह, दोनों भुजाओं पर चक्रादि दिखाई दे रहे थे। भुजाएँ घुटने तक लम्बी, नाग के समान थी और नाभिमंड दक्षिणवर्त युक्त गम्भीर और विस्तीर्ण था। भगवान् के शरीर पर ऐसे लोकोत्तम चिन्ह देख कर उसे विष्मय हुआ। "ऐसे लोकोत्तम लक्षणों से युक्त होते हुए भी यह तो भिक्षुक है। एक भिखारी के ऐसे उत्तमोत्तम लक्षण? यह तो प्रत्यक्ष ही मेरे विद्या अध्ययन श्रम और शास्त्र के लिये चुनौती है। इस झूठी विद्या पर विश्वास कर के मैंने भूल ही की। मेरा वर्षों का श्रम व्यर्थ ही गया। ऐसे शास्त्र के रचयिता धूर्त्त ही थे।"

वह निराशापूर्ण चिन्ता-मग्न हो गया। उधर प्रथम स्वर्ग का अधिपति शक्रेन्द्र का ध्यान भगवान् की ओर गया। उसने भगवान् को अपने अवधिज्ञान के उपयोग से देखा। भगवान् के साथ उस चिन्ता-मग्न पुष्प को भी देखा। उसकी उपस्थिति का कारण जाना। इन्द्र त्वरित भगवान् के निकट आया और वन्दना नमस्कार किया। इन्द्र को वंदना करते देख कर भविष्यवेत्ता चकित हुआ। इन्द्र ने उससे कहा—

"मूर्ख! तेरा अध्ययन अधूरा है। क्या उत्तमोत्तम लक्षण भौतिक राज्याधिपति के ही होते हैं? धर्माधिपति-धर्मचक्रवर्ती के नहीं होते? ये नरेन्द्रों और देवेन्द्रों के भी पूज्य तीर्थंकर भगवान् हैं। इन्होंने राज्य-भोग की भी इच्छा नहीं की। शास्त्र खोटा नहीं, तेरा

विचार ही खोटा है। ले इन प्रभु के दर्शन के फलस्वरूप मैं तुझे इच्छित फल देता हूँ।"

इन्द्र ने पुष्प शास्त्री को इच्छित दान दिया और भगवान् को वन्दना-नमस्कार कर के चला गया।

गोशालक मिलन

'मंख' जाति का 'मंखली' नामक पुरुष लोगों को चित्रफलक दिखा कर आजीविका चलाता था। एकबार वह अपनी गर्भवती पत्नी भद्रा को ले कर 'सरवण' गाँव में आया। उस गाँव में 'गोवहुल' नामक ब्राह्मण रहता था। वह विद्वान भी था और धनवान् भी। उसके एक विशाल गौशाला थी। मंखली अपनी पत्नी के साथ उस गोशाला के एक भाग में ठहर गया और चित्र-फलक दिखाता और प्राप्त भिक्षा से जीवन-निर्वाह करता था। गर्भकाल पूर्ण होने पर भद्रा ने एक पुत्र को जन्म दिया जो सुन्दर था और पाँचों इन्द्रियों से परिपूर्ण था। गोशाला में जन्म होने के कारण इस पुत्र का नाम 'गोशालक' रखा गया। यौवनवय में स्वच्छन्दता-प्रिय गोशालक, पिता से पृथक् हो कर स्वतन्त्र रूप से चित्रफलक लेकर अपनी आजीविका चलाने लगा।

भगवान् महावीर प्रभु की प्रव्रज्या का यह दूसरा वर्ष था। वे मास-मासखमण तपस्या करते हुए वर्षावास बिताने राजगृह के बाहर नालन्दा में पधारे और तंतुवायशाला (बुनकर शाला) के एक भाग में, यथायोग्य अवग्रह कर के रहे। वहाँ भी भगवान् मास-खमण तप करने लगे। मंखलीपुत्र गोशालक भी चित्रफलक लिये ग्रामानुग्राम फिरता और वृत्ति उपार्जन करता हुआ वहीं आ पहुँचा और उसी तंतुवायशाला के एक भाग में अपना सामान रख कर टिक गया। वह राजगृह में चित्र-फलक दिखा कर द्रव्योपार्जन करने लगा।

भगवान् के उस वर्षावास के प्रथम मासखमण का पारणे का दिन था। भगवान् तंतुवायशाला से निकल कर राजगृह में पधारे और विजय गाथापति के घर में प्रवेश किया। विजय सेठ भगवान् के आगमन से अत्यंत प्रसन्न हुआ और भक्तिपूर्वक वन्दन-नमस्कार कर के आहार-पानी से प्रतिलाभित किया। उसका हर्ष हृदय में समाता नहीं था। भगवान् को प्रतिलाभित करने के पूर्व, प्रतिलाभित करते समय और बाद में भी उसकी प्रसन्नता बढ़ती रही। वह भगवान् का अपने घर में पदार्पण भी अपना अहोभाग्य मान रहा था और आहारादि ग्रहण से तो वह इतना प्रसन्न हुआ कि जैसे उसे कोई बड़ाभारी लाभ हुआ हो और आहारदान के पश्चात् उसकी अनुमोदना से अपने हृदय को पवित्र कर रहा था।

द्रव्य-शुद्धि, दायक-शुद्धि और पात्रशुद्धि एवं उस उत्तम भावना में उसने देवायु का बन्ध किया और संसार को ही परिमित कर लिया। निकट रहे हुए देवों ने विजय-श्रेष्ठि के इस महादान की प्रशंसा करते हुए पाँच दिव्यों की वृष्टि की।

देवों द्वारा विजय-श्रेष्ठि की प्रशंसा सुन कर राजगृह की जनता भी विजय-श्रेष्ठि की प्रशंसा करने लगी। जब गोशालक ने दिव्य-ध्वनि और विजय सेठ की प्रशंसा सुनी, तो वह विजय सेठ के घर आया। उस समय भगवान् आहार कर के विजय सेठ के घर से बाहर निकल रहे थे। विजय सेठ भगवान् को पहुँचाने पीछे-पीछे चल रहा था। गोशालक ने देवों द्वारा की हुई रत्नादि की वृष्टि और भगवान् तथा विजय सेठ को देखा। गोशालक प्रसन्न हुआ। उसकी प्रसन्नता भौतिक दृष्टि लिये हुए थी। उसने सोचा—" ये महात्मा महान् शक्तिशाली हैं। इनकी सेवा से मैं भी महात्मा बन जाऊँगा। मेरे रोजीरोटी के इस तुच्छ धन्धे में रखा ही क्या है ?" वह भगवान् के पास आया और वन्दना-नमस्कार कर के बोला—" भगवन् ! आप मेरे धर्माचार्य, धर्मगुरु हैं और मैं आपका शिष्य हूँ।" गोशालक की इस बात को भगवान् ने स्वीकार नहीं की और मौन ही रहे। फिर भगवान् वहाँ से चल कर उस तंतुवायशाला में पधारे और दूसरा मासखमण स्वीकार कर लिया।

दूसरा मासखमण पूर्ण होने पर भगवान् ने राजगृह के आनन्द गाथापति के यहाँ पारणा किया। वहाँ भी दिव्य देव-वृष्टि हुई और आनन्द के दान की प्रशंसा हुई।

तीसरे मासखमण का पारणा सुनन्द गाथापति के यहाँ हुआ और चौथे मासखमण की पूर्ति होते ही चातुर्मास-काल पूर्ण हो गया। भगवान् नालन्दा की तंतुवायशाला से निकल कर कोल्लाक सन्निवेश पधारे। वहाँ 'बहुल' नाम का ब्राह्मण रहता था। वह वैदिक शास्त्रों का विद्वान और ऋद्धिमंत था। उसने कार्तिकपूर्णिमा के दूसरे दिन मधु और घृत से परिपूर्ण परमान्न (खीर) का भोजन बना कर ब्राह्मणों को भोजन कराया था। भगवान् उस दिन बहुल ब्राह्मण के घर में प्रविष्ट हुए। बहुल भगवान् को देख कर अत्यंत प्रसन्न हुआ और भक्तिपूर्वक परमान्न से प्रतिलाभित किया। वहाँ भी देवों ने रत्नादि की दिव्यवृष्टि की और बहुल के दान की प्रशंसा की।

गोशालक की उच्छृंखलता

भगवान् तो दीर्घतपस्वी थे। उनके मासिक तप चल रहा था। किन्तु गोशालक तपस्वी नहीं था। उसे मालूम ही नहीं था कि भगवान् कब भोजन करेंगे, कहाँ करेंगे और

कितने दिन की तपस्या है। उसे अपना धन्धा कर के पेट भराई करनी पड़ती थी। वह नगर में जाता और अपना नित्यनिर्धारित कार्य करता। भगवान् पारणे के समय चुपचाप निकल जाते। उस समय गोशालक कहीं चित्रपट दिखा कर अपना धन्धा करता होता। दिव्य-ध्वनि सुनने से उसे भगवान् के पारणे का पता चलता।

कार्तिकपूर्णिमा के दिन गोशालक ने भगवान् के ज्ञान की परीक्षा करने के लिये पूछा—"भगवन् ! आज तो सभी जगह कार्तिक महोत्सव हो रहा है। इसलिये सभी घरों में मिष्ठान्न बनेंगे। बताइये कि मुझे आज भिक्षा में क्या मिलेगा ?"

सिद्धार्थ व्यन्तर निकट ही था। उसने भगवान् की ओर से उत्तर दिया—"आज तुझे खट्टा कोद्रव और कुर मिलेगा और दक्षिणा में एक खोटा रुप्यक मिलेगा।"

गोशालक प्रात:काल से ही भिक्षा के लिए भटकने लगा। परंतु संध्या तक उसे कहीं से भी भोजन नहीं मिला। अन्त में एक सेवक ने उसे बिगड़ कर खट्टे बने हुए कोद्रव और कुर दिये, जिसे भूख से व्याकुल बने हुए गोशालक ने खाये। उसे एक रुप्यक दक्षिणा में भी मिला, जो खोटा निकला। गोशालक ने इस घटना पर से निश्चय किया कि "जैसी भवितव्यता होती है, वैसा ही होता है। पुरुषार्थ से कुछ भी नहीं होता। आज सभी जगह मिष्ठान्न बना और मैंने दिनभर प्रयत्न किया, किन्तु मेरे भाग्य में मिष्ठान्न नहीं था, सो नहीं मिला। मिला वही जो भाग्य में था और जैसा गुरुदेव ने बताया था।" इस घटना ने उसे एकान्त नियतिवादी बना दिया।

गोशालक का परिवर्त्तन

गोशालक भटकता हुआ संध्याकाल होने पर अपने स्थान पर आया। प्रभु को वहाँ नहीं देख कर उसने आसपास के लोगों से पूछा, किन्तु पता नहीं लगा। वह दिनभर खोज करता रहा। एक महान् प्रभावशाली चमत्कारिक गुरु से वंचित होना उसे आघातकारक लगा। उसने सोचा—'मुझे अब गुरु के अनुरूप बन जाना चाहिये। यदि मैं आजीविका का काम छोड़ कर गुरु के अनुरूप बन जाता, तो वे मुझे अस्वीकार नहीं करते।' उसने संकल्प किया कि 'अब मैं उन महात्मा के अनुकूल ही बनूंगा और उनको प्राप्त कर के ही रहूँगा।' उसने मस्तक के बालों का मुण्डन करवाया। चित्रपट आदि उपकरणों का त्याग किया और वस्त्र तक छोड़ कर निकल गया। कोल्लाक ग्राम में प्रवेश करते ही लोगों के मुँह से प्रभु की और प्रभु को दान देने वाले बहुल ब्राह्मण की प्रशंसा सुनी तो उसे निश्चय

हो गया कि 'यह प्रभाव मेरे गुरुदेव का ही है। उनके समान प्रभावशाली कोई दूसरा है ही नहीं। गुरुदेव यहीं होंगे।' खोज करते हुए उसने भगवान् को कोल्लाक सन्निवेश के बाहर एकान्त स्थान पर रहे हुए देखा। गोशालक ने प्रसन्न हो कर प्रभु को वन्दन-नमस्कार किया और बोला--

"भगवन् ! मैंने तो पहले से ही आपको अपना गुरु मान लिया था, परन्तु आपने मुझे स्वीकार नहीं किया। उस समय मुझ में जो कमी थी, वह मैंने दूर कर दी। मैंने अपना पूर्व का जीवन ही त्याग दिया है और सर्वथा निःसंग हो कर आपका शिष्यत्व प्राप्त करने आया हूँ। अब मैं आपके आधीन ही रहूँगा। अब मुझे स्वीकार कीजिये--प्रभु ! आप मेरे गुरु हैं और मैं आपका शिष्य हूँ।"

भगवान् ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की *।

गोशालक की पिटाई

कोल्लाक ग्राम से विहार कर के प्रभु स्वर्णखल की ओर जाने लगे। मार्ग में कुछ ग्वाले मिल कर खीर बना रहे थे। उसे देख कर गोशालक के मुँह में पानी आ गया। उसे जोर की भूख लगी थी। उसने प्रभु से निवेदन किया--

"भगवन् ! मुझे भूख लगी है। वे ग्वाले खीर पका रहे हैं। चलिये, वहाँ हम भी खीर का भोजन करेंगे।" इसके उत्तर में सिद्धार्थ व्यन्तर ने कहा--

"ग्वाले निष्फल होंगे। उनकी खीर बनेगी ही नहीं।" गोशालक ग्वालों के पास पहुँचा और बोला--

"मेरे गुरु त्रिकालज्ञानी है। उन्होंने कहा कि तुम्हारी खीर पकेगी नहीं और हंडिया फूट जायगी।"

ग्वाले डरे। उन्होंने बाँस की खपच्चियों और रस्सियों से हंडिया बाँधी। परन्तु चावल अधिक मात्रा में होने के कारण फूलने पर हंडी फूट गई। ग्वालों ने तो हंडी के

---

* इस स्थान पर भगवती सूत्र श. १५ के मूलपाठ में उल्लेख है कि--भगवान् ने गौतमस्वामीजी से इस घटना का वर्णन करते हुए कहा कि--**"तएणं अहं गोयमा ! गोशालस्स मंखलीपुत्तस्स एयमट्ठं पडिसुणेमि।"** अर्थात्--मैने गोशालक की यह बात सुनी। इस 'पडिसुणेमि' शब्द का अर्थ टीकाकार ने 'स्वीकार करना' किया है।

ठीवड़े में रही हुई खीर खा ली, परन्तु गोशालक ताकता ही रह गया। इस घटना से भी उसके नियतिवाद को पुष्टि मिली।

भगवान् ब्राह्मण ग्राम में पधारे। इस गांव के दो विभाग थे। एक का स्वामी नन्द और दूसरे का उपनन्द था। प्रभु के बेले की तपस्या का पारणा था। वे नन्द के घर गोचरी के लिये पधारे। नन्द ने भगवान् को दहीयुक्त कूर का भोजन प्रदान किया। गोशालक दूसरे विभाग के स्वामी उपनन्द के घर गया। उपनन्द की दासी ने गोशालक को वासी चावल दिये। ये उसे अरुचिकर लगे। इससे उसने उपनन्द को अपशब्द कहे। उपनन्द क्रोधित हुआ और दासी से कहा—"ये चावल इस दुष्ट के मस्तक पर पटक दे।"

दासी ने वैसा ही किया। इससे गोशालक विशेष क्रुद्ध हुआ और शाप दिया कि—"मेरे गुरु के तप-तेज से उपनन्द का घर जल कर भस्म हो जाय।" निकट रहे हुए व्यन्तरों ने सोचा—'भगवान् का नाम ले कर दिया हुआ शाप भी व्यर्थ नहीं जाना चाहिये।' उन्होंने आग लगा दी और उपनन्द का घर जला दिया।

ब्राह्मण गाँव से भगवान् चम्पा नगरी पधारे और तीसरा चातुर्मास वहीं किया। वहाँ प्रभु ने दोमासिक दो तप किये और उत्कटुक आदि विविध प्रकार के आसनयुक्त ध्यान करते रहे। प्रथम द्विमासिक तप का पारणा तो प्रभु ने चम्पा नगरी में ही किया और दूसरे का चम्पा के बाहर। चम्पा से चल कर भगवान् कोल्लाक ग्राम पधारे और एक शून्य-गृह में रात को प्रतिमा धारण कर के रहे।

इस ग्राम के अधिकारी के सिंह नामक युवक पुत्र था। विद्युन्मति दासी के साथ उसका अवैध सम्बन्ध था। वे दोनों रति-क्रिड़ा करने इस शून्यगृह में आये। युवक ने उस अन्धेरे घर में घुसते हुए कहा—"यहाँ कोई मनुष्य तो नहीं है?" भगवान् तो ध्यानस्थ थे। परन्तु गोशालक यों ही दुबका हुआ द्वार के पीछे ही बैठा था। वह चाह कर नहीं बोला। सर्वथा एकान्त जान कर कामी-युगल क्रीड़ारत हुआ। जब वे वहाँ से निकल कर जाने लगे, तो गोशालक ने दासी के हाथ का स्पर्श कर लिया। दासी चिल्लाई। युवक ने गोशालक को खूब पीटा। मार खा कर गोशालक ने भगवान् से कहा—

"भगवन्! आप मेरे गुरु हैं और मैं आपका शिष्य हूँ। मुझ पर मार पड़ती रहे और आप चुपचाप देखते रहें। यह अनुचित नहीं है क्या?"

सिद्धार्थ व्यन्तर वहीं था। उसने कहा—'तेरी चञ्चलता और दुर्वृत्ति से ही तुझ पर मार पड़ती है। यदि तू भी मेरे जैसा उत्तम आचार पालता होता, तो मार नहीं पड़ती।'

गोशालक की कुपात्रता

गोशालक, श्रमण तो बना, परन्तु उसकी चंचलतापूर्ण कुपात्रता नहीं मिटी। ब्राह्मण गाँव में मार खाने के पश्चात् भगवान् पत्रकाल गाँव पधारे और एक शून्यगृह में कायोत्सर्ग कर ध्यानस्थ हो गए। वहाँ भी स्कन्दक और दंतीला की जोड़ी उस शून्य गृह में व्यभिचार रत हुई और गोशालक के हँसने पर उसकी पिटाई भी हो गई।

वहाँ से चल कर भगवान् कुमार ग्राम पधारे और चम्पकरमणीय उद्यान में प्रतिमा धारण किये रहे। उस ग्राम में कूपन नामक कुंभकार रहता था। वह धनधान्य से परिपूर्ण एवं समृद्ध था। मदिरापान के व्यसन में वह डूबा रहता था। एक बार उसकी शाला में भ० पार्श्वनाथजी के शिष्यानुशिष्य मुनिचन्द्राचार्य अपने अनेक शिष्यों के साथ पधारे। वे अपने शिष्य वर्धन नामक बहुश्रुत को गच्छ का भार प्रदान कर, जिनकल्प ग्रहण करने की तैयारी कर रहे थे। तप, सत्व, श्रुत, एकत्व और बल—इन पाँच प्रकार की योग्यता से अपनी तुलना करने के लिये समाधिपूर्वक प्रयत्नशील थे।

गोशालक ने भगवान् से कहा—"मध्यान्ह का समय हो गया है। अब भिक्षा के लिये चलना चाहिये।"

भगवान् तो मौन रहे, परन्तु भगवान् की ओर से भगवान् की भाषा में सिद्धार्थ व्यन्तर ने कहा—"आज मेरे उपवास है।"

गोशालक क्षुधातुर था। वह भिक्षा के लिए गाँव में गया। गाँव में विचित्र प्रकार के वस्त्र-पात्र धारण करने वाले भ० पार्श्वनाथ की परम्परा के पूर्वोक्त साधुओं को उसने देखा, तो उसे आश्चर्य हुआ। क्योंकि वह वस्त्र-पात्र रहित भ० महावीर प्रभु को ही जानता था और भगवान् एकाकी ही विचर रहे थे। गोशालक ने उन साधुओं से पूछा--"तुम कौन हो और किस मत के साधु हो?" मुनियों ने कहा--"हम भगवान् पार्श्वनाथ के निर्ग्रंथ हैं।"

"अरे, तुम निर्ग्रंथ नहीं हो, निर्ग्रंथ तो मेरे धर्मगुरु हैं, जो न तो वस्त्र रखते हैं, न पात्र ही। तुम तो कोई ढोंगी दिखाई देते हो"—गोशालक ने आक्षेपपूर्वक कहा।

वे साधु श्रमण भगवान् महावीर प्रभु को नहीं जानते थे, इसलिये गोशालक की बात सुन कर बोले--

"जैसा तू अपने-आपको निर्ग्रंथ बता रहा है, वैसा ही तेरा गुरु भी बिना गुरु के स्वच्छन्द साधु बना हुआ होगा।"

भूख से पीड़ित गोशालक को क्रोध आ गया। वह उत्तेजनापूर्वक बोला—"मेरे गुरु के तप तेज से यह तुम्हारा उपाश्रय जल कर अभी भस्म हो जाय।"

गोशालक का शाप व्यर्थ गया। उसे आशा थी कि उसका कोप सफल होगा। वह निराश हो कर प्रभु के निकट आया और बोला--

"भगवन्! मैंने आपकी निन्दा करने वाले सग्रंथी साधुओं को शाप दिया, किन्तु वे आपके निन्दक भस्म नहीं हुए। आपका तप-तेज व्यर्थ क्यों गया?"

"मूर्ख! वे भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी के शिष्यानुशिष्य निर्ग्रंथ थे। तेरे शाप से उन संयमी संतों का अनिष्ट नहीं हो सकता। तू ऐसी अधम चेष्टा मत किया कर"--सिद्धार्थ ने कहा।

रात्रि के समय भगवान् प्रतिमा धारण कर के ध्यानस्थ रहे। कुंभकार कूपन मदिरापान कर के उन्मत्त वना हुआ कहीं से आ रहा था। आचार्य मुनिचन्द्रजी को ध्यानस्थ देख कर उसका क्रोध उभरा। उसने चुपके से निकट जा कर उनका गला घोंटा और प्राण-रहित कर दिया। मुनिराज अपने शुभध्यान में अडिग रहे। तत्काल घातीकर्म क्षय कर केवल-ज्ञान प्राप्त किया ‡ और योग-निरोध कर मुक्ति प्राप्त कर ली। निकट रहे हुए व्यन्तरों ने महामुनि के महान् त्याग और तप की महिमा की। देवों के प्रभाव से वह स्थान रात्रि के समय भी महाप्रकाश से जगमगा रहा था। गोशालक ने जब यह देखा तो वह समझा कि मेरे शाप के प्रभाव से उनका उपाश्रय जल रहा है। उसने भगवान् से पूछा—"प्रभो! मेरे शाप के प्रभाव से उपाश्रय जल रहा है?" सिद्धार्थ व्यन्तर ने प्रभु की वाणी में कहा—

"मुढ़! तू किस भ्रम में है? यह प्रकाश उन महात्मा के मोक्ष-गमन की महिमा बता रहा है, जो वहाँ ध्यान कर रहे थे।"

गोशालक वहाँ पहुँचा। उसे देवों के दर्शन तो नहीं हुए, परन्तु पुष्पादि सुगन्धित द्रव्यों से उसे प्रसन्नता हुई। वहाँ से चल कर उन आचार्यश्री के शिष्यों के निकट पहुँचा और जोर से बोला—

"अरे, तुम पेटभरों को कुछ पता भी है, या नहीं? तुम्हारे आचार्य निर्जीव पड़े हैं, और तुम सुख की नींद सो रहे हो।"

गोशालक की बात सुन कर शिष्य जागे और आचार्य के निर्जीव शरीर को देख-कर अत्यन्त खेद एवं पश्चात्ताप करने लगे। गोशालक उनकी निन्दा करता हुआ स्वस्थान आया।

---

‡ पूज्य श्री हस्तीमलजी म. सा. ने 'जैनधर्म के इतिहास' पृ. ३७८ में ऐसा ही लिखा है। परन्तु त्रि. श. पु. च. में अवधीज्ञान प्राप्त कर स्वर्गस्थ होना लिखा है।

जासुसों के बन्धन में

कुमार ग्राम से विहार कर के भगवान् चोराक सन्निवेश पधारे और ध्यानस्थ हो गए। वहाँ अन्य राज्य के भेदियों (जासुसों) का भय लगा ही रहता था। आरक्षक लोग, अपरिचित व्यक्ति को सन्देह की दृष्टि से देखते थे। भगवान् को देखते ही आरक्षकों ने पूछा—"तुम कौन हो?" ध्यानस्थ होने के कारण प्रभु बोले नहीं। अपरिचित आरक्षक का सन्देह दृढ़ हुआ। वह भगवान् और गोशालक को बाँध कर पीटने लगा। इतना ही नहीं, उन्हें कूए में डाल कर डुबोने लगा। भगवान् तो अडिग थे। गोशालक ने अपनी निर्दोषिता बताई, तो उस पर आरक्षोंको ने ध्यान नहीं दिया।

उस गाँव में उत्पल नामक निमितज्ञ की बहिनें--सोमा और जयंती रहती थी। वे भगवान् पार्श्वनाथजी की पड़वाई साध्वियें थी। उपरोक्त घटना सुन कर उन्हें भ० महावीर के होने का सन्देह हुआ। वे घटनास्थल पर पहुँची और भगवान् को पहिचान कर बोली—

"अरे मूर्खो! यह क्या अनर्थ कर रहे हो? ये सिद्धार्थ नरेश के सुपुत्र महावीर प्रभु हैं। ये निग्रंथ-प्रव्रज्या धारण कर के साधना कर रहे हैं। ये नरेन्द्रों और देवेन्द्रों के भी पूज्य हैं। इनकी मन से आशातना करना भी अपनी आत्मा का अधःपतन करना है। तुम अज्ञानी लोग अपनी महान् हानि को भी नहीं सोचते हो?"

साध्वी के वचन सुन कर आरक्षक सहमे। तत्काल भगवान् को बन्धन-मुक्त किये और बारम्बार क्षमा याचना करने लगे।

चोराक से विहार कर के भगवान् पृष्टचम्पा पधारे और चौथा चातुर्मास वहीं व्यतीत किया। इस चातुर्मास के चार महीने भगवान् चातुर्मासिक तप-पूर्वक विविध प्रकार की प्रतिमा धारण कर के रहे। चातुर्मास पूर्ण होने पर विहार किया और अन्यत्र जा कर पारणा किया।

गोशालक की अयोग्यता प्रकट हुई

पृष्टचम्पा से भगवान् कृतमंगल नगर पधारे। उस नगर में 'दरिद्र स्थविर' नामक पाखण्डियों का एक विशाल मन्दिर था। उसमें उनके कुलदेव की प्रतिमा थी। उस देवालय के एक कोने में भगवान् कायोत्सर्ग से खड़े हो गए। माघ-मास की कड़कड़ाती ठण्ड असह्य एवं अति दुःखदायक लग रही थी। उसी रात को उस मन्दिर में उसके उपासक

कोई उत्सव मना रहे थे। अनेक स्त्री-पुरुष सपरिवार नृत्य गान और वान्दित्र कर के जागरण कर रहे थे। गोशालक चंचल प्रकृति का तो था ही, झट बोल उठा—" इन पाखण्डियों में सभ्यता भी नहीं है। ये अपनी स्त्रियों को मद्यपान करवा कर नचवाते हैं।"

गोशालक की बात सुन कर लोग कोपायमान हुए और घसीट कर उसे मन्दिर के बाहर निकाल दिया। कड़कड़ाती असह्य सीत-वेदना से गोशालक विशेष दुखी होने लगा, तब उन लोगों ने अनुकम्पा ला कर उसे पुनः देवालय में ले लिया। ठण्ड में कुछ कमी हुई, तो फिर कुछ अनुचित बोल गया और फिर निकाला गया। किसी अनुकम्पाशील व्यक्ति ने दया ला कर पुनः भीतर लिया। इस प्रकार कोप और अनुकम्पा से तीन बार निकाला और फिर भीतर लिया। चौथी बार गोशालक की दुष्टता की उपेक्षा करते हुए एक वृद्ध ने कहा—

" इस धृष्ट को बकने दो। बाजे कुछ जोर से बजाओ, जिससे इसके शब्द हमारे कानों में ही नहीं पड़े। ये महायोगी ध्यानस्थ खड़े हैं। इनका यह कुशिष्य होगा। हमें इसकी दुष्टता पर ध्यान नहीं देना चाहिये।"

गोशालक का अभक्ष्य भक्षण

सूर्योदय होने पर भगवान् वहाँ से विहार कर के श्रावस्ति नगरी पधारे और नगर के बाहर कायोत्सर्ग कर के रहे। भोजन का समय होने पर गोशालक ने भगवान् से कहा—

" भगवन् ! अब भिक्षा के लिए चलना चाहिए। शरीर-धारियों के लिये भोजन अति आवश्यक है। इसकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिए।' भगवान् की ओर से सिद्धार्थ बोला—

" मेरे आज उपवास है।'

गोशालक ने पूछा—"बताइये मुझे कैसा आहार मिलेगा ?"

सिद्धार्थ ने उत्तर दिया—"आज तुझे मनुष्य के मांस की भिक्षा मिलेगी।'

गोशालक ने कहा—" जिस घर में मैं मांस की गन्ध भी आती होगी, उस घर में मैं जाऊँगा ही नहीं।"

गोशालक भिक्षा के लिये नगरी में गया। उस नगरी में पितृदत्त नामक गृहस्थ रहता था। श्रीभद्रा उसकी पत्नी थी। उसके गर्भ से मरे हुए पुत्र जन्म लेते थे। शिव[illegible] नामक नैमित्तिक को उपाय पूछने पर उसने कहा था—" तू आगे मृतक पुत्र के [illegible] और मांस को घृत, दूध और मधु में मिला कर खीर बनाके और उस खीर को [illegible]

खिलावे जो बाहर से आया हुआ हो और उसके पाँव धूल से भरे हो। इस उपाय से तेरे जो पुत्र होंगे, वे जीवित रहेंगे। जब वह भिक्षु भोजन कर के चला जाय, तब अपने घर का द्वार तत्काल पलट देना, क्योंकि यदि उसे भोज्य-वस्तु ज्ञात हो जाय और वह क्रोध कर के उसे जलाने आवे, तो उसे तुम्हारा घर नहीं मिले।

सन्तान की कामना वाली स्त्री यह करने को तत्पर हो गई। उसके मृतक पुत्र जन्मा और उसने उसके रक्त-मांस युक्त खीर पकाई। उस खीर को स्वादिष्ट पदार्थों, सुगन्धित द्रव्यों और केसर आदि के रंग से ऐसी बना दी कि किसी को सन्देह ही नहीं हो और रुचिपूर्वक खा ले। यह वही दिन था, जब गोशालक वहाँ भिक्षा के लिये आया, तो उसे वह खीर मिली। खीर में उसे मांस या रक्त होने की आशंका ही नहीं हुई। स्वादिष्ट खीर उसने भरपेट खाई। वह वहाँ से प्रसन्न होता हुआ लौटा और भगवान् से निवेदन किया—"मुझे आज बहुत ही स्वादिष्ट खीर मिली है। मैंने भरपेट खाई। उसमें मांस और रक्त था ही नहीं। आपकी भविष्यवाणी आज असत्य हो गई।"

सिद्धार्थ ने कहा—"उस खीर में सद्य-जात मृत बालक के शरीर के बारीक टुकड़े कर के मिलाये हुए हैं।" उसका कारण भी बता दिया गया।

गोशालक ने मुँह में उंगलियाँ डाल कर वमन किया और सूक्ष्मदृष्टि से देखा, तो उसे विश्वास हो गया। वह क्रोधित हुआ और पलट कर उस स्त्री के घर आया। किन्तु खोजने पर भी उसे उसका घर नहीं मिला।

अग्नि से भगवान् के पाँव झुलसे

वहाँ से विहार कर के प्रभु हरिद्रु नामक गाँव पधारे और गाँव के निकट हरिद्रु वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग प्रतिमा धारण कर के रहे। वहाँ एक बड़ा सार्थ भी आ कर ठहरा। रात्रि के समय शीत से बचने के लिये आग जलाई। प्रातःकाल होते ही सार्थ चला गया, परन्तु अग्नि सुलगती ही छोड़ गया। वायु की अनुकूलता पा कर आग फैली। गोशालक तो भयभीत हो कर—"भगवन्! भागो यहाँ से, नहीं तो जल जाओगे"—चिल्लाता हुआ भाग गया। परन्तु भगवान् पूर्ववत् निश्चल खड़े रहे। आग की झपट से प्रभु के पाँव झुलस कर श्याम हो गये×।

× कर्म की गति विचित्र है। जब परीषह की भीषणता हो, तब रक्षक बना हुआ सिद्धार्थ जाने कहाँ चला जाता है। परन्तु गोशालक को उत्तर देते समय वह सदैव उपस्थित रहता है। उदय अन्यथा नहीं होता—भले हो कितने ही समर्थ रक्षक हों।

हरिद्रु से विहार कर भगवान् लांगल गाँव पधारे। गोशालक भी साथ हो गया था। वासुदेव के मन्दिर में प्रभु कायोत्सर्ग कर ध्यानस्थ हो गए। गाँव के बालक खेलने आये, तो गोशालक ने विकृत मुँह कर के उन्हें डराया। वे भयभीत हो कर भागे। उनमें से कई गिर गये। किसी के सिर में घाव हो गया, किसी के नाक में से रक्त बहने लगा और किन्हीं का हाथ-पाँव टूटा। सभी रोते-रोते अपने-अपने पिता के पास पहुँचे। उनके पिता क्रुद्ध हो कर आये और गोशालक को खूब पीटा। भगवान् की ओर देख कर किसी ने कहा—"यह इन महात्मा का शिष्य है। इसे छोड़ दो।" लोग लौट गए।

लांगल ग्राम से विहार कर भगवान् आवर्त्त ग्राम पधारे और बलदेव के मन्दिर में ध्यानस्थ हुए। यहाँ भी गोशालक ने अपनी अनियंत्रित चंचल प्रकृति के कारण बालकों को डराया और मार खाई। एक ने कहा--

"इसे क्यों मारते हो? इसके गुरु को ही मारो। वही अपराधी है। वह इसे क्यों नहीं रोकता। अपने सेवक का अपराध चुपचाप देखते रहना भी अपराध का समर्थन है।"

लोग प्रभु को मारने के लिए उस ओर बढ़े। इतने में निकट रहा हुआ कोई जिन-भक्त व्यन्तर बलदेव की प्रतिमा में घुसा और हल उठा कर उन्हें मारने झपटा। लोग भयभीत हो कर चकित हुए और प्रभु के चरणों में गिर कर क्षमा माँगने लगे।

आवर्त्त से विहार कर भगवान् चोराक ग्राम पधारे और किसी एकांत स्थान में प्रतिमा धारण कर के रहे। गोशालक भिक्षा के लिए गया। उसने देखा कि कुछ मित्र मिल कर भोजन बना रहे हैं। अभी भोजन बनने में कुछ समय लगेगा। वह छुप कर देखने लगा। उस गाँव में चोरों का उपद्रव हो रहा था। भोजन बनाने वाले मित्रों में से किसी ने गोशालक को छुप कर झांकते हुए देख लिया और चोर के सन्देह में पकड़ कर खूब पीटा।

वहाँ से विहार कर के भगवान् कलंबुक ग्राम की ओर पधारे। वहाँ के स्वामी मेघ और कालहस्ती नाम के दो बन्धु थे। कालहस्ती सेना ले कर चोरों को पकड़ने जा रहा था। मार्ग में भगवान् और गोशालक को देख कर पूछा—"तुम कौन हो?" भगवान् तो मौन रहते थे, परन्तु गोशालक मौन नहीं रखता हुआ भी चुप रहा। इससे उसे सन्देह हुआ और सैनिकों के द्वारा भगवान् और गोशालक को बन्दी बना लिया। बाद उसने अपने भाई मेघ को उन्हें दण्ड देने के लिये दिया। मेघ पहले [illegible] सिद्धार्थ की सेवा में रह चुका था। उसने भगवान् को पहिचान लिया और क्षमायाचना करते हुए छोड़ दिया।

अनार्यदेश में विहार और भीषण उपसर्ग सहन

भगवान् ने सोचा--"आर्यदेश में रह कर कर्मों की विशेष निर्जरा करना असंभव है। यहाँ परिचित लोग बचाव कर के बाधक बन जाते हैं। इसलिये मेरे लिये अनार्य देश में जा कर कर्मों की विशेष निर्जरा करना श्रेयस्कर है।" इस प्रकार सोच कर भगवान् लाट देश की वज्रभूमि में पधारे● । उस प्रदेश में घोर उपसर्ग सहन करने पड़े। परन्तु भगवान् घोरयुद्ध में विशाल शत्रु-सेना के सम्मुख अडिग रह कर, धैर्यपूर्वक संग्राम करते हुए योद्धा के समान अडिग रहते। भगवान् को इससे संतोष ही होता। वे चाह कर उपसर्गों के सम्मुख पधारे थे। गोशालक भी साथ ही था। उसे भी बन्धन और ताड़ना की वेदनाएँ--विना इच्छा के सहनी ही पड़ी। उस प्रदेश में घोर परीषह एवं उपसर्ग सहन कर और कर्मों की महान् निर्जरा करके भगवान् पुनः आर्यदेश की ओर मुड़े। क्रमानुसार चलते हुए पूर्णकलश नामक गाँव के निकट उन्हें दो चोर मिले। वे लाटदेश में प्रवेश कर रहे थे। चोरों ने भगवान् का मिलना अपशकुन माना और क्रुद्ध हो कर मारने को तत्पर हुए। उस समय प्रथम स्वर्ग के स्वामी शक्रेन्द्र ने सोचा--"इस समय भगवान् कहाँ है ?" उसने ज्ञानोपयोग से चोरों को भगवान् पर झपटते हुए देखा और तत्काल उपस्थित हो उनका निवारण किया।

वहाँ से चल कर भगवान् भद्दिलपुर नगर पधारे और चार महीने का चौमासी तप कर के पाँचवाँ चातुर्मास वहीं व्यतीत किया। चातुर्मास पूर्ण होने पर विहार कर के "भगवान् कदली समागम" ग्राम पधारे। वहाँ के लोग याचकों को अन्नदान करते थे। भोजन मिलता देख कर गोशालक ने कहा--"गुरु ! यहाँ भोजन कर लेना चाहिये।" भगवान् तो अधिकतर तप में ही रहते थे। अतएव गोशालक भोजन करने गया। वह खाता ही गया। दानदाताओं ने उसे भरपूर भोजन दिया। गोशालक ने वहाँ ठूंस-ठूंस कर आहार किया, पानी पीना भी उसके लिये कठिन हो गया। बड़ी कठिनाई से वह वहाँ से चल कर प्रभु के निकट आया।

वहाँ से विहार कर के भगवान् जम्बूखंड ग्राम पधारे। वहाँ भी गोशालक ने सदाव्रत का भोजन किया। वहाँ से भगवान् तुम्बाक ग्राम के समीप पधारे और कायोत्सर्ग प्रतिमा धारण

● इसका वर्णन पृ. १५१ से आ गया है।

कर के रहे। गोशालक गाँव में गया। वहाँ भ० पार्श्वनाथजी के संतानिक आचार्य श्री नन्दीसेनजी थे। वे जिनकल्प के तुल्य साधना कर रहे थे। गोशालक ने उनकी भी हँसी उड़ाई। वे महात्मा रात्रि के समय बाहर ध्यानस्थ खड़े थे। ग्रामरक्षकों ने उन्हें चोर जान कर इतनी मार मारी कि उनका प्राणान्त हो गया। उन्हें भी केवलज्ञान हो कर निर्वाण हो गया था। देवों ने महिमा की। गोशालक ने वहाँ भी उनके शिष्यों की भर्त्सना की।

वहाँ से विहार कर के भगवान् कूपिका ग्राम के निकट पधारे। वहाँ आरक्षों ने गुप्तचर की भ्रांति से भगवान् और गोशालक को बन्दी बना कर सताने लगे। उस गाँव में प्रगल्भा और विजया नामकी दो परिव्राजिका रहती थी, जो सम्यग्-चारित्र का त्याग कर के परिव्राजिका बनी थी। उन्होंने गुप्तचर की बात सुनी, तो देखने आई। भगवान् को पहिचान कर उन्होंने परिचय दिया और वह उपसर्ग टला। आरक्षकों ने क्षमायाचना की।

गोशालक पृथक् हुआ

कूपिका से भगवान् ने विशाला नगरी की ओर विहार किया। गोशालक ने सोचा कि—"मेरा भगवान् के साथ रहना निरर्थक है। ये अधिकतर तपस्या और ध्यान में रहते हैं। न तो इनकी ओर से भिक्षा प्राप्ति में अनुकूलता होती है और न रक्षा ही होती है। लोग मुझे पीटते हैं, तो ये मेरा बचाव भी नहीं करते। इनके साथ रहने से विपत्तियों की परम्परा बढ़ती है। ये ऐसे प्रदेश में जाते हैं कि जहाँ के लोग अनार्य क्रूर और शत्रु जैसे हों। इनके साथ रहने में कोई लाभ नहीं है?" इस प्रकार सोचता हुआ वह चला जा रहा था कि ऐसे स्थल पर पहुँचा जहाँ का मार्ग दो दिशाओं में विभक्त हो गया था। गोशालक ने कहा—

"भगवन्! अब मैं आपके साथ नहीं रह सकता। आपके साथ रहने में कोई लाभ नहीं है। मैं अब इस दूसरे मार्ग से जाना चाहता हूँ। आपके साथ रहने से मुझे दुःख भोगना पड़ता है और कभी भूखा ही रहना पड़ता है। आपके साथ रहने में लाभ तो कुछ है ही नहीं।"

सिद्धार्थ व्यन्तर ने भगवान् की ओर से कहा—"जैसी तेरी इच्छा। हमारी चर्या तो ऐसी ही रहेगी।"

भगवान् वहाँ से विशाला के मार्ग पर पधारे और गोशालक राजगृह की ओर चला।

गोशालक पछताया

प्रभु से पृथक् हो कर गोशालक आगे बढ़ा। वह भयंकर वन था। उसमें डाकुओं का विशाल समूह रहता था। डाकू-सरदार बड़ा चौकन्ना और सावधान रहता था। उसके भेदिये ऊँचे वृक्ष पर चढ़ कर पथिकों और सैनिकों की टोह लेते रहते। यदि कोई पथिक दिखाई देता, तो लूटने की सोचते और सैनिक दिखाई देते, तो बचने का मार्ग सोचते। गोशालक को देख कर भेदिये ने कहा कि--"इस नंगे भिखारी के पास लूटने का है ही क्या? इसे जाने देना चाहिये।" परन्तु उसके साथी ने कहा--"यदि भिखारी के भेष में राज्य का भेदिया हुआ, तो विपत्ति में पड़ जाएँगे। इसलिए इसे छोड़ना तो नहीं चाहिये।" निकट आने पर डाकुओं ने उसे पकड़ा और उस पर सवार हो कर उसे दौड़ाया। जब गोशालक मूच्छित हो कर गिर पड़ा, तब उसे मारपीट कर वहीं छोड़ गए। वह निष्प्राण जैसा हो गया। जब गोशालक की मूर्च्छा टूटी और चेतना बढ़ी, तब उसे विचार हुआ--"गुरु से पृथक् होते ही मेरी इतनी दुर्दशा हो गई, बस मृत्यु से बच गया। इतनी भीषण दशा तो गुरु के साथ रहते कभी नहीं हुई थी। उनकी सहायता के लिये तो इन्द्र भी आ जाता था। परन्तु मेरी सहायता के लिये कोई नहीं आया। मैने भूल की जो गुरु का साथ छोड़ा। अब भगवान् को पुनः प्राप्त कर उन्हीं के साथ रहना हितकर है। मैं भगवान् की खोज करूँगा और उन्हीं के साथ रह कर जीवन व्यतीत करूँगा।

भगवान् विशाला नगरी पधारे और अनुमति ले कर किसी लुहार की शाला में एक ओर ध्यानस्थ हो गए। उस घर का स्वामी पिछले छह महीने से रोगी था। उसकी कर्मशाला बन्द थी। अब वह रोगमुक्त हो कर अपनी लोहकार शाला में आया, तो भगवान् को देखते ही चौंका। उसको भगवान् का अपने यहाँ रहना अपशकुन लगा। वह घण उठा कर भगवान् को मारने को तत्पर हुआ। उधर शक्रेन्द्र का उपयोग इधर ही था। वह तत्काल आया और उसी घण से उसका मस्तक फोड़ कर मार डाला। शक्रेन्द्र भगवान् की वन्दना कर के स्वस्थान चला गया।

विशाला से चल कर भगवान् ग्रामक गाँव के बाहर पधारे और विभेलक उद्यान में यक्ष के मन्दिर में कायोत्सर्ग कर ध्यानस्थ हो गए। यक्ष सम्यक्त्वी था। उसने भगवान् की वन्दना की।

व्यन्तरी का असह्य उपद्रत

ग्रामक गाँव से विहार कर के भगवान् शालिशीर्ष गाँव पधारे और उद्यान में कायुत्सर्ग कर के ध्यान में लीन हो गए। माघमास की रात्रि थी। शीत का प्रकोप बढ़ा हुआ था। उस उद्यान में कटपूतना नामक व्यन्तरी का निवास था। यह व्यन्तरी भगवान् के त्रिपृष्ट वासुदेव के भव में विजयवती नाम की रानी थी। इसे वासुदेव की ओर से समुचित आदर एवं अपनत्व नहीं मिला। इसलिए वह रुष्ट थी। और रोप ही में मृत्यु पा कर भव-भ्रमण करती रही। पिछले भव में मनुष्य हो कर बालतप करती रही। वहाँ से मृत्यु पा कर वह व्यन्तरी बनी। पूर्वभव के वैर तथा यहाँ भगवान् का तेज सहन नहीं कर सकने के कारण वह तपस्विनी रूप बना कर प्रकट हुई। उसने वायु विकुर्वणा की और हिम के समान अत्यन्त शीतल पवन चला कर भगवान् को असह्य कष्ट देने लगी। वह वायु शूल के समान पसलियों को भेदने लगा। तापसी बनी हुई व्यन्तरी ने अपनी लम्बी जटा में पानी भरा और अन्तरिक्ष में रह कर जटाओं का पानी भगवान् के शरीर पर छिड़कने लगी। शीतल पानी की बौछार और शीतलतम वायु का प्रकोप। कितनी असह्य पीड़ा हुई होगी भगवान् को? प्रभु के स्थान पर यदि कोई अन्य पुरुष होता, तो मर ही जाता। यह भीषण उपद्रव रातभर होता रहा, परन्तु भगवान् को अपनी धर्मध्यान की लीनता से किञ्चित् मात्र भी चलित नहीं कर सका। वे पर्वत के समान अडोल ही रहे। धर्मध्यान की लीनता से अवधिज्ञानावरणीय कर्म की विशेष निर्जरा हुई, जिससे भगवान् के अवधिज्ञान का विकास हुआ और वे सम्पूर्ण लोक को देखने लगे ×। रातभर के उपद्रव के बाद व्यन्तरी थक गई। उसने हार कर भगवान् से क्षमा याचना की और वहाँ से हट गई।

शालीशीर्ष से विहार कर प्रभु भद्रिकापुर पधारे और छठा चौमासा वहीं कर दिया। विविध अभिग्रह से युक्त भगवान् ने यहाँ चौमासी तप किया। छह मास तक इधर-उधर भटकने के बाद गोशालक पुनः भगवान् के समीप आ कर साथ हो गया। वर्षाकाल बीतने पर भगवान् ने विहार किया और नगर के बाहर पारणा किया।

भगवान् ग्रामानुग्राम विहार करने लगे। गोशालक साथ ही था। आठ मास बिना उपद्रव के ही व्यतीत हो गए। वर्षावास आलंभिका नगरी में किया और चौमासी तप

× पूज्य श्री हस्तीमलजी म. सा. ने 'जैनधर्म के मौलिक इतिहास' भाग १ पृ. ३८४ में 'परम अवधिज्ञान' लिखा। यह समझ में नहीं आया। क्योंकि परमावधि ज्ञान तो एक लोक ही नहीं, असंख्य लोक हो, तो देखने की शक्ति रखता है और अन्तर्मुहूर्त में ही केवलज्ञान प्राप्त करवा देता है। यह छद्मस्थकाल का छठा वर्ष था।

कर के चातुर्मास पूर्ण किया। यह छद्मस्थकाल का सातवाँ चातुर्मास था। विहार कर के भगवान् ने नगर के बाहर पारणा किया और कुंडक ग्राम पधारे। वहाँ वासुदेव के मन्दिर के एकान्त कोने में ध्यानस्थ हो गए। गोशालक अपनी प्रकृति के अनुसार प्रतिमा के साथ अशिष्टता करने लगा। पुजारी ने देखा तो दंग रह गया। वह गाँव के लोगों को बुला लाया। लोगों ने उसकी अधमता देख कर खूब पीटा। एक वृद्ध ने उसे छुड़ाया। भगवान् कुंडक ग्राम से विहार कर मर्दन गाँव पधारे और बलदेव के मन्दिर में कायोत्सर्ग युक्त रहे। यहाँ भी गोशालक अपनी नीच मनोवृत्ति से पीटा गया। भगवान् मर्दन गाँव से चल कर बहुशाल गाँव के शालवन उद्यान में पधारे। उस उद्यान में शालार्या नाम की एक व्यन्तरी थी। उसने भगवान् को अनेक प्रकार के उपसर्ग कर कष्ट दिये। वह अपनी पापी-शक्ति लगा कर हार गई, परन्तु भगवान् को अपनी साधना से नहीं डिगा सकी। अन्त में क्षमा याचना कर के चली गई। वहाँ से चल कर भगवान् लोहार्गल नगर पधारे। जितशत्रु वहाँ राज करता था। उसकी अन्य राजा से शत्रुता थी। इसलिये राज्य-रक्षक सतर्क रहते थे। किसी अपरिचित मनुष्य को देख कर भेदिये होने का सन्देह करते थे। भगवान् और गोशालक को देख कर पूछताछ करने लगे। भगवान् तो मौन रहे और गोशालक भी नहीं बोला। उन्हें शत्रु का भेदिया जान कर, बन्दी बना कर राजा के सामने ले गये। उस समय अस्थिक ग्राम से उत्पल नामक भविष्यवेत्ता वहाँ आया हुआ था। उसने प्रभु को पहिचान कर वन्दना की और राजा को भगवान् का परिचय दिया। राजा ने भगवान् को तत्काल मुक्त किया, क्षमा याचना की और वन्दना की।

लोहार्गल से चल कर भगवान् पुरिमताल नगर पधारे और शकटमुख उद्यान में ध्यानस्थ हो गये। यहाँ ईशानेन्द्र भगवान् की वन्दना करने आया। पुरिमताल से भगवान् ने उण्णाक नगर की ओर विहार किया। उधर से एक बरात लौट रही थी। नवपरणित वर-वधू अत्यन्त कुरूप थे। उन दोनों का विद्रुप देख कर गोशालक ने हँसी उड़ाई--"विधाता की यह अनोखी कृति है और दोनों का सुन्दर योग तो सचमुच दर्शनीय है। इनका तो सर्वत्र प्रदर्शन होना चाहिये।" इस प्रकार बार-बार कह कर हँसने लगा। गोशालक की अशिष्टता एवं धृष्टता से बराती कुपित हुए। उसे पकड़ कर पीटा और बाँध कर एक झाड़ी में फेंक दिया। उनमें से एक वृद्ध ने सोचा--'यह मनुष्य उन महात्मा का कुशिष्य होगा।' इस विचार से उसने उसे छोड़ दिया। भगवान् गोभूमि पधारे और वहाँ से राजगृह पधारे। वहाँ आठवाँ वर्षाकाल रहे। चातुर्मासिक तपस्या कर के वह वर्षाकाल पूरा किया और नगर के बाहर पारणा किया।

पुनः अनार्य देश में

प्रभु ने अपने कर्मों की प्रगाढ़ता का विचार कर पुनः वज्रभूमि शुद्धभूमि एवं लाट आदि म्लेच्छ देशों में प्रवेश किया। वहाँ के म्लेच्छ लोग परमाधामी देव जैसे क्रूर एवं निर्दय थे। वे लोग भगवान् को विविध प्रकार के उपद्रव करने लगे। पूर्व की भाँति इस बार भी कुत्तों को झपटा कर कटवाया गया। परन्तु भगवान् तो कर्म-निर्जरार्थ ही इन उपद्रवों के निकट पधारे थे और ऐसे उपद्रवों को अपने कर्म-रोग को नष्ट करने में शल्य-चिकित्सा की भाँति उपकारक मानते थे। भगवान् इस प्रकार के उपद्रव करने वालों को अपना हितैषी समझते थे।

भगवान् अनन्त बली थे। उन उपद्रवकारियों को चिंटी के समान समझने की उनमें शक्ति थी। उनके पदाघात से पर्वतराज भी ढह सकते थे। परन्तु कर्म-सत्ता के आगे किसी का क्या वश चल सकता है? देवेन्द्र शक्र ने सिद्धार्थ व्यंतर को इसलिये नियुक्त किया था कि वह उपद्रवों का निवारण करे, परन्तु वह तो मात्र गोशालक को उत्तर देने का ही काम करता रहा। 'उपद्रव के समय तो पता ही नहीं, वह कहाँ होता था। बड़े-बड़े देव और इन्द्र भगवान् के भक्त थे और चरण-वन्दना करते थे। परन्तु कर्मशत्रु के आगे तो वे भी विवश थे।

ग्रीष्मऋतु के घोर ताप और शीतकाल की असह्य शीत को भगवान् बिना आश्रय-स्थान के वृक्ष के नीचे या खंडहरों में सहन करते रहे और धर्म-जागरण करते छह मास तक उस भूमि में विचरे और नौवाँ चातुर्मास उस प्रदेश में ही किया।

तिल के पुष्पों का भविष्य सत्य हुआ

अनार्य देश का चातुर्मास पूर्ण कर भगवान् ने गोशालक सहित पुनः आर्य-क्षेत्र की ओर विहार किया और सिद्धार्थ ग्राम पधारे। वहाँ से कूर्म-ग्राम की ओर पधार रहे थे। मार्ग में गोशालक ने तिल का एक बड़ा पौधा देखा और भगवान् से पूछा—"भगवन्! तिल का यह पौधा फलेगा? इसके सात फूल हैं, तो इन फूलों के जीव मर कर कहाँ उत्पन्न होंगे?"

भवितव्यतावश गोशालक के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने स्वयं ही कहा—

"गोशालक ! यह तिल का पौधा फलेगा और सात फूलों के जीव मर कर इसकी एक फली में तिल के सात दाने होंगे ।

गोशालक को भगवान् के वचन पर श्रद्धा नहीं हुई । उसके मन में भगवान् को असत्यवादी सिद्ध करने की भावना हुई । वह भगवान् के पीछे चलता हुआ रुका और उस पौधे को मिट्टी सहित मूल से उखाड़ कर एक ओर फेंक दिया और फिर भगवान् के साथ हो लिया । उस समय वहाँ दिव्य-वृष्टि हुई । एक गाय चरती हुई उधर निकली । उसके पाँव के खुर के नीचे आ कर उस उखाड़े हुए तिल के पौधे का मूल गिली मिट्टी में दब गया । मिट्टी और पानी के योग से पौधे का पोषण एवं रक्षण हो गया और वह विकसित हो कर फल युक्त बना । उसकी एक फली में सातों पुष्पों के जीव तिल के सात दाने के रूप में उत्पन्न हुए ।

वेशिकायन तपस्वी का आख्यान

चम्पा और राजगृही के मध्य में 'गोबर' नाम का गाँव था । वहाँ 'गोशंखी' नामक अहीर रहता था । उसकी 'बन्धुमती' स्त्री थी । दम्पति निःसन्तान थे । गोबर गाँव के निकट खेटक नाम का छोटा गाँव था, जिसे डाकुओं ने लूट कर नष्ट कर दिया था और अनेक लोगों को बन्दी बना लिया था । उस समय वहाँ की 'वेशिका' नामक एक स्त्री के पुत्र का जन्म हुआ था । उसके पति को डाकुओं ने मार डाला और सुन्दर होने के कारण उस सद्य-प्रसूता वेशिका को अपने साथ ले चले । प्रसव से पीड़ित उसे बच्चे को उठा कर डाकुओं के साथ शीघ्र चलना कठिन हो रहा था । डाकुओं ने उसे पुत्र के भार को फैंक कर शीघ्र चलने का कहा । उसने पुत्र को एक वृक्ष के नीचे रख दिया और चल दी । कालान्तर में डाकुओं ने वेशिका को चम्पापुरी की एक वेश्या को बेच दिया । वह गणिका बन गई ।

गोशंखी अहीर बन में गया, तो उसे एक वृक्ष के नीचे रोता हुआ वह बच्चा मिला । अपुत्रिये को पुत्र मिल गया । वह प्रसन्नतापूर्वक चुपचाप घर ले आया और पत्नी को दिया । बन्धुमती भी अत्यन्त प्रसन्न हुई । पति-पत्नी ने योजनापूर्वक चाल चली । बन्धुमती प्रसूता बन कर शय्याधीन हो गई । अहीर पुत्रजन्म का उत्सव मनाने लगा और प्रचारित किया कि--'मेरी पत्नी गूढ़गर्भा थी ।" बालक युवावस्था को प्राप्त हुआ । एक बार वह घृत बेचने

के लिये चम्पा नगरी गया और घी बेच कर नगरी की शोभा देखता हुआ गणिकाओं के मोहल्ले में गया। वहाँ के रंगढंग देख कर वह भी आकर्षित हुआ और भवितव्यतावश वह उसी वेशिका गणिका के यहाँ पहुँचा--जिसका वह पुत्र था। उसने उसे एक आभूषण दे कर अनुकूल बनाई। वहाँ से चल कर वह बनठन कर उस वेश्या के घर जा रहा था कि उसका पांव विष्ठा से लिप्त हो गया। उसकी कुलदेवी ने उसका पतन रोकने के लिये एक गाय और बछड़े का रूप बना कर मार्ग में आ गई। अहीरपुत्र, अपना विष्ठालिप्त पाँव बछड़े के शरीर पर घिस कर साफ करने लगा। गोवत्स ने अपनी माँ से कहा—"माँ माँ! यह कैसा अधर्मी मनुष्य है जो अपना विष्ठालिप्त पाँव मेरे शरीर से पोंछता है?" गाय ने उत्तर दिया--"पुत्र! जो मनुष्य पशु के समान बन कर अपनी जननी के साथ व्यभिचार करने जा रहा है, उसकी आत्मा तो अत्यन्त पतित है। वह योग्यायोग्य का विचार कैसे कर सकेगा?"

मनुष्य की बोली में गाय की बात सुन कर युवक चौंका। उसका कामज्वर उतर गया। उसने सच्चाई जानने का निश्चय किया। वह गणिका के पास आया। गणिका ने उसका आदर किया। किन्तु युवक का काम-ज्वर शान्त हो चुका था। उसने पूछा—"भद्रे! मैं तुम्हारा पूर्व-परिचय जानना चाहता हूँ। तुम अपनी उत्पत्ति आदि का वृत्तान्त मुझे सुनाओ।" गणिका ने युवक की बात की उपेक्षा की और उसे मोहित करने की चेष्टा करने लगी। परन्तु युवक ने उसे रोक कर कहा--"यदि तुम अपना सच्चा परिचय दोगी, तो मैं तुम्हें विशेष रूप से पुरस्कार दूंगा।" उसने उसे शपथपूर्वक पूछा। युवक के आग्रह एवं पुरस्कार के लोभ से उसने अपना पूर्व वृत्तान्त सुना दिया। गणिका के वृत्तान्त ने युवक के मन में सन्देह भर दिया। वह वहाँ से चल कर अपने गाँव आया और अहीर-दम्पति—पालक माता पिता—से अपनी उत्पत्ति का वृत्तान्त पूछा। पहले तो उन्होंने उसे आत्मज ही बताया, परन्तु अन्त में सच्ची बात बतानी ही पड़ी। वह समझ गया कि गाय का कथन सत्य था। वेशिका गणिका ही उसकी जननी है। वह राजगृह गया और माता को अपना सच्चा परिचय दिया। वह लज्जित हुई। युवक ने द्रव्य दे कर नायिका को संतुष्ट किया और माता को मुक्त करवा कर अपने गाँव लाया। उसने माता वेशिका को धर्म-पथ पर स्थापित किया। वेशिका के उस पुत्र का नया नाम 'वेशिकायन' प्रचलित हुआ। संसार की विडम्बना देख कर वह विरक्त हो गया और तापस-व्रत अंगीकार कर वह शास्त्राभ्यास करने लगा। अपने शास्त्रों में निष्णात हो कर वह ग्रामानुग्राम फिरने लगा। उस समय वह कूर्म ग्राम के बाहर, सूर्य के सम्मुख दृष्टि रख कर ऊँचे हाथ किये आतापना ले रहा था।

उसकी जटाएँ खुली थो और स्कन्ध आदि पर फैली हुई थी। वह स्वभाव से ही विनीत, दयालु एवं दाक्षिण्यता से युक्त था। वह समतावान्, धर्मप्रिय और ध्यान साधना में तत्पर रहता था। बेले-बेले की तपस्या वह निरन्तर करता रहता था और सूर्य की आतापनापूर्वक ध्यान भी करता रहता था। उसके मस्तक की जटा में रही हुई यूकाएँ (जूंए) असह्य ताप से घबड़ा कर खिर कर भूमि पर गिरती। वे तप्तभूमि पर मर नहीं जाय, इसलिए वह भूमि से उठा कर पुनः अपने मस्तक पर धर देता।

वेशिकायन के कोप से गोशालक की रक्षा

ऐसे ही समय भगवान् गोशालक सहित कूर्म ग्राम पधारे। वेशिकायन को यूकाएँ उठा कर मस्तक पर रखते हुए देख कर गोशालक ने कहा—"तुम तत्त्वज्ञ मुनि हो या जूंओं के घर ?" वेशिकायन ने गोशालक के प्रश्न की उपेक्षा की और शान्त रहा। परन्तु गोशालक चुप नहीं रह सका और बार-बार वही प्रश्न करता रहा। बार-बार की छेड़छाड़ से शान्त तपस्वी भी क्रोधित हो गया। उसने तपस्या से प्राप्त तेजोलेश्या शक्ति से दुष्ट गोशालक को भस्म करने का निश्चय किया। वह आतपना भूमि से पीछे हटा और तेजस्-समुद्घात कर के गोशालक पर उष्ण तेजोलेश्या छोड़ी। गोशालक की दुष्टता, तपस्वी का क्रोध और तपस्वी द्वारा गोशालक को भस्म करने के लिये उष्ण तेजोलेश्या छोड़ने की प्रवृत्ति से भगवान् अवगत थे। भगवान् को गोशालक पर दया आई। उसकी रक्षा के लिए भगवान् ने उष्ण तेजोलेश्या का प्रतिरोध करने के लिए शीतल तेजोलेश्या* निकाली। भगवान् की शीतल तेजोलेश्या से वेशिकायन की उष्ण तेजोलेश्या प्रतिहत हुई। जब वेशिकायन ने अपनी उष्ण तेजोलेश्या का भगवान् की शीतल-तेजोलेश्या से प्रतिहत होना और गोशालक को पूर्ण रूप से सुरक्षित जाना, तो उसे भगवान् की विशिष्ट शक्ति का

---

* इस विषय में पूज्य श्री हस्तीमलजी म. सा. ने 'जैनधर्म का मौलिक इतिहास' भाग १ पृ. ३८६ पर लिखा है कि—"अब क्या था गोशालक मारे भय के भागा और प्रभु के चरणों में आ कर छुप गया। दयालु प्रभु ने .....। इससे मिलतीजुलती बात त्रि. श. पु. च. में भी है। किन्तु भगवती सूत्र श. १५ के वर्णन से यह बात उचित नहीं लगती। सूत्र के शब्दों से लगता है कि गोशालक को भय तो क्या, यह ज्ञात ही नहीं हुआ कि उस पर तेजोलेश्या छोड़ी गई और भगवान् ने शीतल लेश्या छोड़ कर उसकी रक्षा की। उसने वेशिकायन के इन शब्दों 'सेगयमेयं भंते २' को सुन कर भगवान् से पूछा, तब मालूम हुआ। उसके बाद वह डरा और भगवान् से तेजोलेश्या प्राप्त करने की विधि पूछी।

भान हुआ। उसने अपनी उष्ण-तेजोलेश्या अपने में समा ली और बोला—"भगवन् ! मैं जान गया कि आप महान् शक्तिशाली हैं (और यह आपका शिष्य है। आपने अपनी विशिष्ट शक्ति से उसे बचा लिया)।

वेशिकायन ने भगवान् से क्षमा याचना की। वेशिकायन के शब्दों से गोशालक कुछ भी नहीं समझ सका। उसने भगवान् से पूछा—

"भगवन् ! यूकाओं के शय्यातर ने आपसे यह क्यों कहा कि—'हे भगवन् ! मैं जान गया हूँ, मैं जान गया हूँ ?"

भगवान् ने कहा;—

"गोशालक ! तूने बालतपस्वी वेशिकायन को देख कर मेरा साथ छोड़ा और पीछा वेशिकायन की ओर जा कर उससे कहा—"तू जूँओं का घर है, जूँओं का घर है।" तेरे बार-बार कहने पर वह बाल-तपस्वी क्रोधित हुआ और आतापना-भूमि से नीचे उतर कर तुझे मार डालने के लिये तेजस्समुद्घात कर के तेजोलेश्या छोड़ी। मैं उस तपस्वी का अभिप्राय जान गया था। उसके तेजोलेश्या छोड़ते ही मैंने तेरा जीवन बचाने के लिये शीतलेश्या छोड़ कर उसकी तेजोलेश्या लौटा दी। तेरी रक्षा हो गई। अपनी अमोघशक्ति को व्यर्थ जाते देख कर वेशिकायन समझ गया कि यह मेरे द्वारा मोघ हुई है। इसीसे उसने वे शब्द कहे। भगवान् का कथन सुन कर गोशालक भयभीत हुआ। वह अपने को सद्भागी मानने लगा कि मैं ऐसे महान् गुरु का शिष्य हूँ कि जिसके कारण मेरी जीवन-रक्षा हो गई। अन्यथा आज मैं भस्म हो जाता।

वास्तव में यह गोशालक का सद्भाग्य ही था कि भगवान् उसके रक्षक बने। यदि पूर्व के समान ध्यानमग्न होते, तो उसकी रक्षा कैसे हो सकती थी ?

तेजोलेश्या प्राप्त करने की विधि

गोशालक ने भगवान् से पूछा—"भगवन् ! संक्षिप्त-विपुल तेजोलेश्या प्राप्त करने की विधि क्या है ?"

भगवान् ने कहा—"बन्द की हुई मुट्ठी में जितने उड़द के बाकुले आवे, उन्हें खा कर और एक चुल्लु में जितना पानी आवे उतना ही पी कर, निरन्तर बेले-बेले की तपस्या करे साथ ही सूर्य के सम्मुख खड़ा रह कर ऊँचे हाथ उठा कर आतापना लेवे। इस प्रकार छह मास पर्यंत साधना करने से तेजोलेश्या शक्ति प्रकट होती है।"

गोशालक ने भगवान् की बताई हुई विधि विनयपूर्वक स्वीकार की।"

गोशालक सदा के लिए पृथक् हुआ

भगवान् गोशालक के साथ कूर्म ग्राम से सिद्धार्थ नगर पधार रहे थे। वे उस स्थान पर पहुँचे जहाँ गोशालक ने भगवान् को मिथ्यावादी सिद्ध करने के लिए तिल का पौधा उखाड़ फेंका था। गोशालक की स्मृति में वह पौधा आया। उसने तत्काल भगवान् से कहा;—

"भगवन् ! आपने मुझसे कहा था कि 'यह तिल का पौधा फलेगा और पुष्प के जीव, तिल के सात दानों के रूप में उत्पन्न होंगे। किन्तु आपका वह भविष्य-कथन सर्वथा मिथ्या सिद्ध हुआ। मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ कि वह पौधा भी यहाँ नहीं है। वह नष्ट हो चुका है। फिर पुष्प के जीवों की तिलरूप में उत्पन्न होने की बात तो वैसे ही असत्य हो जाती है।"

भगवान् ने कहा—"गोशालक ! तेरी इच्छा मुझे मिथ्यावादी ठहराने की हुई थी। मुझ-से पूछने के बाद तू मेरा साथ छोड़ कर पीछे खिसका और उस पौधे को उखाड़ कर फेंक दिया। किन्तु उसके बाद वर्षा हुई। एक गाय चरती हुई उधर निकली, जिधर तेने वह पौधा फेंका था। गाय के खुर से दब कर पौधे का मूल पृथ्वी में जम गया। पृथ्वी और पानी की अनुकूलता पा कर वह पौधा जीवित रह कर बढ़ा और उसमें दाने के रूप में सातों पुष्प के जीव उत्पन्न हुए। तिल का वह पौधा अब भी उस स्थान पर खड़ा है, जहाँ तेने उसे उखाड़ कर फेंक दिया था। उसमें सात दाने सुरक्षित हैं।"

गोशालक का गुप्त पाप भगवान् से छुपा नहीं रहा और पौधा उखाड़ना भी व्यर्थ रहा—यह गोशालक जान गया। परन्तु फिर भी वह अविश्वासी रहा। वह पौधे के निकट गया और उसकी फली तोड़ी। फली को मसल कर तिल के दाने गिने, तो पूरे सात ही निकले। इस घटना पर से उसने यह सिद्धांत बनाया कि—"सभी जीव मर कर उसी शरीर में उत्पन्न होते हैं, जिसमें उनकी मृत्यु हुई थी।" यही गोशालक मत का "परिवर्त-परिहार" वाद है।

गोशालक को तेजोलेश्या प्राप्त करने की विधि प्राप्त हो गई थी। इसके बाद वह भगवान् के साथ नहीं रह सका और पृथक् हो गया।

तेजोलेश्या की प्राप्ति और दुरुपयोग

भगवान् से पृथक् हो कर गोशालक, श्रावस्ती नगरी पहुँचा और एक कुम्भकार की शाला में रह कर तेजोलेश्या प्राप्त करने के लिये विधिपूर्वक तप करने लगा। छह मास पर्यन्त तप साधना कर के तेजोलेश्या शक्ति प्राप्त की। गोशालक को अपनी शक्ति की परीक्षा करनी थी। वह कूएँ पर गया। तेजोलेश्या का उपयोग क्रोधावेश में होता है। अपने में क्रोध उत्पन्न करने के लिये गोशालक ने कूएँ से जल भर कर जाती हुई एक पनिहारी के जलपात्र को पत्थर मार कर फोड़ दिया। पनिहारी क्रुद्ध हुई और गोशालक को गालियाँ देने लगी। गालियाँ सुन कर गोशालक क्रोधित हुआ और प्राप्त शक्ति का एक निरपराध स्त्री पर प्रहार कर के उसकी हत्या कर डाली। जिस प्रकार बिजली गिरने से मनुष्य मर जाता है, उसी प्रकार वह पनिहारी तत्काल भस्म हो गई।

कुपात्र को शक्ति या सत्ता प्राप्त हो जाय तो वह दूसरों के लिए दुःखदायक और घातक हो जाता है। यदि गोशालक में विवेक होता, तो वह सूखे काष्ठ पर प्रयोग कर सकता था। आत्मार्थी संत तो ऐसा सोचते भी नहीं। वे विपुल तेजोलेश्या को अत्यन्त संक्षिप्त कर के दबाये रखते हैं। उनके मन में यह भाव भी उत्पन्न नहीं होता कि वे 'विशिष्ट शक्ति के स्वामी हैं।' परन्तु गोशालक तो कुपात्र था। इस शक्ति के द्वारा आश्चर्यभूत घटना घटित हो कर, उसका महान् अधःपतन होने की भवितव्यता सफल होनी थी।

गोशालक द्वारा पनिहारी की मृत्यु देख कर लोग भयभीत हो गए। वह शक्तिशाली महात्मा के रूप में प्रसिद्ध होने लगा।

तीर्थंकर होने का पाखण्डपूर्ण प्रचार

गोशालक अपने को शक्तिशाली महात्मा मानता हुआ गर्वपूर्वक विचरने लगा। कालान्तर में उसे भ० पार्श्वनाथजी के वे छह शिष्य मिले, जो संयम से पतित हो कर विचर रहे थे। वे अष्टांग निमित्त के निष्णात पंडित थे। उनके नाम थे--शान, कलिंद कर्णिकार, अच्छिद्र, अग्निवेशायन, और गोमायुपुत्र अर्जुन। गोशालक की उनसे प्रीति हो गई और वे गोशालक के आश्रित हो गए। गोशालक ने उनसे अष्टांग निमित्त सीख लिया।

अब गोशालक अष्टांग निमित्त के योग से लोगों को हानि-लाभ, सुख-दुःख और जीवन-मरण बताने लगा। इससे उसकी महिमा विशेष बढ़ी। अपनी महिमा को व्यापक देख गोशालक अभिमानी बन कर अपने को तीर्थंकर बताने लगा। सामान्य लोग भी उसे तीर्थंकर मानने लगे। लोगों को भावी हानि-लाभ, सुख-दुःख और जीवन-मरण जानने की लालसा रहती ही है। सच्चा भविष्य बताने वाले को वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी मान लेते हैं और उसका शिष्यत्व स्वीकार कर उसे 'तीर्थंकर' मानने लगते हैं। पूर्व की घटनाओं के कारण गोशालक एकान्त नियतिवादी तो बन ही चुका था। अब उसने अपना स्वतन्त्र मत चलाना प्रारंभ कर दिया। इसी के सहारे वह तीर्थंकर कहला सकता था।

महान् साधक आनन्द श्रावक की भविष्य-वाणी

सिद्धार्थपुर से विहार कर के भगवान् वैशाली नगरी पधारे। सिद्धार्थ राजा के मित्र शंख गणाधिपति ने भगवान् का बहुत आदर-सत्कार कर के वन्दन किया। वैशाली से विहार कर के भगवान् वाणिज्य ग्राम पधारे और ग्राम के बाहर प्रतिमा धारण कर के ध्यानारूढ़ हुए।

वाणिज्य ग्राम में 'आनन्द' नाम का एक श्रावक रहता था। वह भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा का था। उसे अवधिज्ञान प्राप्त हो गया था और वह निरन्तर बेले-बेले की तपस्या करता हुआ आतापना ले रहा था। वह प्रभु को वन्दन करने आया और हाथ जोड़ कर बोला;--

"भगवन् ! आपने घोर परीषह सहन किये। आपका शरीर और मन वज्र के समान दृढ़ है, जिससे घोर परीषह से भी विचलित नहीं होते। अब आपको केवलज्ञान की प्राप्ति होने ही वाली है।"

प्रभु को वन्दना कर के आनन्द लौट गया। भगवान् प्रतिमा पाल कर श्रावस्ति नगरी पधारे और वहाँ दसवाँ चातुर्मास किया।

भद्र महाभद्र प्रतिमाओं की आराधना

चातुर्मास पूर्ण होने पर नगर के बाहर पारणा कर के भगवान् सानुयष्टिक गाँव पधारे और वहाँ भद्र प्रतिमा धारण कर ली। इस प्रतिमा में पूर्वाभिमुख खड़े रह कर एक

पुद्गल पर दृष्टि स्थापित कर भगवान् दिनभर खड़े रहे और ध्यान करते रहे और रात को दक्षिणाभिमुख रह कर ध्यान किया। दूसरे दिन पश्चिमाभिमुख और रात्रि में उत्तराभिमुख रह कर ध्यान किया। इस प्रकार बेले के तप सहित प्रतिमा का पालन किया। साथ ही बिना प्रतिमा पाले भगवान् ने 'महाभद्र-प्रतिमा' अंगीकार कर ली और पूर्वादि दिशाओं के क्रम से चार दिनरात तक चोले के तप से इसका पालन किया। तत्पश्चात् 'सर्वतोभद्रप्रतिमा' अंगीकार की। इसमें दस उपवास (बाईस भक्त) कर के एक-एक दिन-रात से दसों दिशाओं (चार दिशा, चार विदिशा और उर्ध्व-अधोदिशा) में एक पुद्गल पर दृष्टि स्थिर कर के ध्यान किया। इस प्रकार लगातार सोलह उपवास कर के तीनों प्रतिमा पूर्ण की। भगवान् आनन्द गाथापति के यहाँ पारणे के लिये पधारे। वहाँ बहुला नामकी दासी गत रात के भोजन के बरतनों को साफ करने के लिये उनमें लगी हुई खुरचन निकाल कर बाहर फेंकने जा रही थी। उसी समय भगवान् उसके दृष्टिगोचर हुए। उसने पूछा—"महात्माजी! आप यह लेंगे?" भगवान् ने हाथ बढ़ाये और दासी ने भक्तिपूर्वक वह खुरचन भगवान् के हाथों में डाल दी। भगवान् के पारणे से प्रसन्न हुए देवों ने पाँच दिव्यों की वर्षा की और जय-जयकार किया। जनता हर्षविभोर हो गई। नरेश ने बहुला दासी को दासत्व से मुक्त किया।

इन्द्र द्वारा प्रशंसा से संगम देव रुष्ट

भगवान् विहार करते हुए दृढ़भूमि में पेढाल गाँव पधारे। वहाँ म्लेच्छ लोग बहुत थे। गाँव के बाहर पेढाल उद्यान के पोलास चैत्य में प्रभु ने तेले के तप सहित प्रवेश किया और एक शिला पर खड़े हो कर एक रात्रि की महाभिक्षु-प्रतिमा अंगीकार कर के ध्यानस्थ स्थिर हो गए।

सौधर्म स्वर्ग की सुधर्मा सभा में शक्रेन्द्र अपने सामानिक एवं त्रायस्त्रिंशक आदि देवों की परिषद में बैठे थे। उस समय देवेन्द्र ने अवधिज्ञान से भगवान् को पोलास चैत्य में महाभिक्षु प्रतिमा में ध्यानस्थ देखा। देवेन्द्र का हृदय भक्ति में सराबोर हो गया। वह सिंहासन से नीचे उतरा और बाया जानू खड़ा रखा और दाहिना भूमि पर स्थापित किया। फिर दोनों हाथ जोड़, मस्तक झुका कर भगवान् की स्तुति की। स्तुति करने के पश्चात् सिंहासन पर बैठ कर सभा में कहने लगा;—

"देव-देवियों! इस समय तिरछे लोक के दक्षिणार्थ भरतक्षेत्र के पेढाल गाँव के

बाहर भगवान् भिक्षु की महाप्रतिमा धारण कर के एकाग्रतापूर्वक ध्यान-मग्न हो कर खड़े हैं। भगवान् समिति-गुप्ति से युक्त हो कर क्रोधादि कषायों को नियन्त्रित कर के नष्ट करने में लगे हुए हैं। उनकी दृढ़ता, निश्चलता, एकाग्रता और महान् सहनशीलता इतनी निश्चल है कि जिससे सभी देव, दानव, यक्ष, राक्षस, मनुष्य एवं तीनों लोक मिल कर भी चलायमान करने में समर्थ नहीं हैं।"

इन्द्र की बात का समर्थन देव-सभा के सदस्यों ने किया। किन्तु इन्द्र के ही 'संगम' नाम के एक सामानिक देव ने उस पर विश्वास नहीं किया। वह अभव्य और गाढ़मिथ्यात्वी था। उसने कुपित हो कर कहा;—

"देवेन्द्र ! कभी-कभी तो आप भी किसी की प्रशंसा करने लगते हैं, तब एक ही धारा में बह जाते हैं और औचित्य की मर्यादा का भी ध्यान नहीं रखते। क्या औदारिक-शरीरी मनुष्य में इतना धैर्य साहस और बल हो सकता है कि वह देव-शक्ति के सम्मुख भी अडिग रह सके ? जब कि आप समस्त देव-दानवादि तीनों लोक के शक्तिशाली तत्त्वों से भी उस हाड़-मांस के घृणित पुतले की शक्ति अधिक बता रहे हैं ?"

"जिसके शिखर ऊर्ध्वलोक में पहुँचे हुए हैं और जिसका मूल अधोलोक में पहुँच गया है, ऐसे पर्वतराज सुमेरु को भी एक मिट्टी के ढेले के समान उठा कर फेंक देने और समस्त पर्वत तथा पृथ्वी को समुद्र में डुबो देने और समुद्र को एक चुल्लु में पी जाने की शक्ति रखने वाले देव से भी उन मनुष्य की शक्ति बढ़ गई ?"

"नहीं, कदापि नहीं। मैं देखता हूँ आपकी बात की सच्चाई कि कितना दम है--उस साधु में।"

रोष में धमधमाता हुआ संगम उठा और सभा छोड़ कर चल दिया। शक्रेन्द्र ने सोचा 'देख लेने दो इसे भी भगवान् की शक्ति। भगवान् तो स्वयं उपसर्गों के सम्मुख होने वाले हैं। वे किसी की सहायता चाहते ही नहीं। इस दुर्बुद्धि को भी भगवान् के बल का पता लग जायगा'--इस प्रकार सोच कर शक्रेन्द्र ने उपेक्षा कर दी।

संगम के भयानक उपसर्ग

क्रोध में धमधमाता हुआ संगम भगवान् को विचलित करने के लिए चला। वह उग्र रूप धारण कर के देव-देवियों को लांघता हुआ और मार्ग में रहे हुओं को भयभीत करता हुआ तथा ग्रहमंडल को विचलित करता हुआ प्रभु के निकट आया। भगवान् को

ध्यानस्थ खड़े देख कर विशेष क्रुद्ध हुआ और घोर दुःख देने वाले आक्रमण करने लगा।

१ सर्वप्रथम उसने जोरदार धूलिवर्षा की—इतनी अधिक कि जिससे भगवान् के सभी अंग ढक गए। नासिका, कान, मुंह आदि सभी में धूल भर गई, जिससे श्वासोच्छ्वास लेना दूभर हो गया। इतना घोर कष्ट होते हुए भी भगवान् तिलमात्र भी विचलित नहीं हुए और पर्वत के समान अडोल रहे।

२ प्रथम उपसर्ग में निष्फल होने के बाद संगम ने धूल को दूर कर दी और वज्र-मुखी चींटियों की विकुर्वणा की। वे चींटियाँ अपने वज्रमय मुख से प्रभु के शरीर में छेद कर के घुसी और दूसरी ओर निकल गई। सभी अंगों में इसी प्रकार चींटियों का उपद्रव होने लगा। अंग छेद और जलन से उत्पन्न घोर दुःख भी भगवान् की अडोलता में अन्तर नहीं ला सके। इसमें भी संगम निष्फल ही रहा।

३ अपनी वैक्रिय शक्ति द्वारा संगम ने बड़े-बड़े डाँस छोड़े, जो भगवान् के अंग-प्रत्यंग को विंध कर छेद करने लगे। उन छेदों में से रक्त झरने लगा और असह्य जलन होने लगी। परन्तु भगवान् तो हिमालय के समान अडोल ही रहे। संगम की शक्ति व्यर्थ गई।

४ अब उसने दीमकों का उपद्रव खड़ा किया। वे सारे शरीर में मुख गड़ा कर चिपक गईं और असह्य वेदना उत्पन्न करने लगी। ज्यों-ज्यों संगम निष्फल होता गया, त्यों-त्यों उसकी उग्रता बढ़ने लगी।

५ अब उसने बिच्छुओं की विकुर्वणा की और भगवान् के शरीर पर चढ़ाये। वे बिच्छु भगवान् के अंग-प्रत्यंग पर वज्र के समान डंक मार-मार कर विष छोड़ने लगे। बिच्छुओं की घोर वेदना, अग्नि के समान असह्य जलन भी उन महावीर प्रभु को चलायमान नहीं कर सकी।

६ अब नकुलों का उपद्रव चलाया। नेवले 'खी-खी' शब्द करते हुए भगवान् के शरीर से मांस तोड़-तोड़ कर छिन्न-भिन्न करने लगे, परन्तु भगवान् की अडिगता तो यथावत् रही।

(७ बिच्छुओं और नकुलों का उपद्रव निष्फल जाने पर, भयंकर सर्पों की विकुर्वणा की। वे फणीधर विषभरी फुत्कार करते हुए भगवान् के शरीर पर लिपटने लगे। पाँवों से लगा कर मस्तक तक लिपटे और अपनी फणों से अंगों पर जोरदार प्रहार कर दंस देने लगे। अपना समस्त विष भगवान् के शरीर में उतार कर उग्रतम वेदना करने लगे, परन्तु वे भी ढीले हो कर रस्सी के समान लटक गए। संगम के वे नाग भी पराजित हो गए,

परन्तु भगवान् की ध्यान-मग्नता में किञ्चित् मात्र भी अन्तर नहीं आया।

८ तत्पश्चात् संगम ने मूसक-सेना खड़ी की। वे अपने मुँह, दाँत और नख से भगवान् के शरीर को कुतरने और बिल बनाने जैसे छेद करने लगे और उन घावों पर मूत्र कर के उग्र वेदना उत्पन्न करने लगे।

९ अब संगम प्रचण्ड गजराज बना कर लाया। उसके बड़े-बड़े दाँत थे। अपने पाँव को भूमि पर पछाड़ कर वह भूमि को धँसाने और दीर्घ सूँड ऊँची कर के आकाशस्थ नक्षत्रों को ग्रहण करने जैसी चेष्टा करने लगा। वह हाथी, भगवान् पर झपटा और भगवान् को सूँड से पकड़ कर आकाश में उछाल दिया। फिर अपने दाँतों पर झेला। इसके बाद भूमि पर डाल कर दाँतों से ऐसे प्रहार करने लगा कि जिससे हड्डियाँ चूर-चूर हो जाय। परन्तु यह यत्न भी व्यर्थ हुआ।

१० हथिनी उपस्थित की। उसने भी वैरिणी की भाँति मस्तक से धक्का मार कर गिराने और दाँतों से घायल कर, घावों पर मूत्र कर के महान् जलन उत्पन्न कर दी।

११ एक भयानक पिशाच की विकुवर्णा कर के उपस्थित किया। उसका मुँह गुफा के समान था और उसमें से ज्वालामुखी के समान लपटें निकल रही थीं। उसके मुँह पर अत्यन्त विकरालता छाई हुई थी। मस्तक के केश सूखे घास के समान खड़े थे। हाथ तोरणथंभ जैसे लम्बे थे। उसकी जंघा ताड़वृक्ष के समान लम्बी थी। नेत्र अंगारे के समान लाल थे, जिनमें से अग्नि की चिनगारियाँ निकल रही थी और नासिका के छिद्र चूहों के बिल के समान थे जिनमें से धूआँ निकल रहा था। दांत पीले और कुदाल के समान लम्बे थे। वह अट्टहास करता था और 'किल-किल' शब्द कर के फुत्कार करता हुआ भगवान् की ओर बढ़ा। उसके हाथ में खड्ग था। उसने भी भगवान् को घोर दुःख दिया, परन्तु परिणाम वही निकला जो अब तक निकलता रहा।

१२ अब विकराल सिंह सामने आया। वह इस प्रकार भूमि पर पूंछ पछाड़ रहा था कि जैसे पृथ्वी को फाड़ रहा हो। उसकी घोर गर्जना से सारा प्रदेश भयाक्रांत हो गया था। वह अपने त्रिशूल जैसे नखों और वज्र जैसी दाढ़ों से भगवान् के शरीर को विदीर्ण करने लगा। अन्त में वह भी हार कर ढीला हो गया।

१३ अब संगम भगवान् के स्वर्गीय पिता श्री सिद्धार्थ नरेश का रूप धर कर उपस्थित हुआ और कहने लगा—

"हे पुत्र! यह अत्यन्त दुष्कर साधना तुम क्यों कर रहे हो? यह व्यर्थ का

कायकष्ट है। इससे कोई लाभ नहीं होगा। मैं दुःखी हो रहा हूँ। नन्दीवर्धन मुझे छोड़ कर चला गया है। मैं वृद्ध हूँ और भयंकर रोग मुझे सता रहे हैं। इस वृद्धावस्था में मेरी सेवा करना तुम्हारा परम धर्म है।"

पिता बोलते बन्द हुए, तो माता सम्मुख आ कर विलाप करती हुई, अपनी व्यथा-कथा सुना कर घर चलने का आग्रह करने लगी। परन्तु भगवान् पर किसी भी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ा और संगम का यह प्रयत्न भी व्यर्थ गया।

१४ पथिकों के विशाल पड़ाव की रचना की। उनका एक रसोइया भोजन पकाने के लिए चूल्हा बनाने को पत्थर खोजने लगा। पत्थर नहीं मिले, तो भगवान् के दोनों पाँवों के बीच अग्नि जला कर भात सिझाने के लिए भाजन रख दिया। वह आग भी देव-निर्मित अत्यन्त उष्ण थी। प्रभु को अत्यन्त वेदना हुई, परन्तु उनकी धीरता, शान्ति एवं अडोलता निष्कम्प रही।

१५ अब एक चाण्डाल उपस्थित होता है। उसके पास पक्षियों के कुछ पिंजरे हैं। उसने अपने पक्षी भगवान् के हाथ, कान, नासिका, मस्तक, स्कन्ध आदि अवयव पर बिठाये। पक्षियों ने अपनी चोंच और नख से शरीर पर सैकड़ों घाव कर दिये। उन घावों में से रक्त बहने लगा और असह्य वेदना होने लगी।

१६ अब भयंकर आँधी खड़ी कर के भगवान् पर धूल और पत्थरों की वर्षा की और भगवान् को उड़ा-उड़ा कर भूमि पर पछाड़ा।

१७ कलंकलिका वायु उत्पन्न कर के भगवान् को आकाश में उठाया और चक्राकार घुमा कर भूमि पर पछाड़ा।

१८ बड़े-बड़े पर्वतों को विदारण कर दे ऐसे कालचक्र की विकुर्वणा की जो लोहमय था और अत्यन्त भारी था। उसमें से ज्वालाएँ निकल रही थी। देव ने अत्यन्त क्रोधित हो कर उस कालचक्र का प्रहार भगवान् पर किया, जिससे भगवान् घुटने तक भूमि में धँस गए। परन्तु फिर भी संगम सर्वथा निष्फल ही रहा।

१९ जब प्रतिकूल परीषह सभी व्यर्थ हो गए तो संगम हताश हो गया। वह समझ गया कि इन्द्र ने प्रशंसा की, वह सर्वथा सत्य थी। अब वह पराजित हो कर इन्द्र को अपना मुँह कैसे दिखावे? सोचने पर अब उसे अनुकूल उपाय ध्यान में आया। वह देवरूप से विमान में बैठ कर भगवान् के निकट आया और बोला;--

"हे महर्षि! आपकी साधना सफल है। आपका धैर्य एवं दृढ़ता अडोल है। मैं आपकी साधना से संतुष्ट हूँ। अब आपको कष्ट उठाने की आवश्यकता नहीं है। आपकी

जो इच्छा हो, वह मुझसे माँग लें। यदि आप चाहें, तो मैं आपको स्वर्ग के सम्पूर्ण सुख प्रदान कर दूं। मैं आपको मुक्ति भी प्रदान कर सकता हूँ। कहिये, क्या दूं आपको ? संसार का साम्राज्य चाहिये, तो वह भी दे सकता हूँ।'

इस प्रकार का लोभ भी भगवान् को डिगा नहीं सका।

२० अब संगम ने काम-वर्द्धक प्रसंग उपस्थित किया। सारा वातावरण मोहक बना दिया। सारा वन-प्रदेश सुगन्धित पुष्पों से सुवासित बनाया और सभी प्रकार की मोहोन्मत्त बना देने वाली सामग्री के साथ देवांगनाओं को उपस्थित की। वे भगवान् के सम्मुख आ कर नृत्य करने लगी। संगीतादि अनेक प्रकार से प्रभु को रिझाने की चेष्टा करने लगी। हाव-भाव, अंगचेष्टा और मधुर-वचनादि सभी प्रकार के प्रयत्न वे कर चुकी। परंतु भगवान् को किञ्चित् मात्र भी विचलित नहीं कर सकी।

इस प्रकार एक ही रात में बीस प्रकार के महान् एवं घोर उपसर्ग दिये। परन्तु उसके सभी प्रयत्न निष्फल हुए और भगवान् अपनी साधना में पूर्ण सफल रहे।

संगम पराजित हो कर भी दुःख देता रहा

अब संगम के सामने एक उलझन खड़ी हो गई। वह एक मनुष्य से पराजित हो कर इन्द्र-सभा में कैसे जाय ? हँसी का पात्र बन कर सभा में उपस्थित होना उसे स्वीकार नहीं था। उसने सोचा—'कुछ भी हो, यदि यह अपने निश्चय से नहीं हटता, तो मैं क्यों हटूं ? क्या एक रात में ही परीक्षा पूरी हो गई ? नहीं, यह तो पहले दिन की परीक्षा हुई। अब जम कर दीर्घकाल तक प्रयत्न करना होगा।

एक बार भगवान् तोसली गाँव के उद्यान में ध्यानस्थ थे। संगम साधु बन कर उस गाँव में सेंध लगाने लगा। लोगों ने उसे पकड़ लिया और मारा, तो उसने कहा—"मैं निर्दोष हूँ। मेरे गुरु के आदेश से मैं चोरी करने आया हूँ।" लोगों ने पूछा—"कहाँ है तेरा गुरु ?" उसने कहा—"उद्यान में ध्यान कर रहे हैं।" लोग उद्यान में पहुँचे और भगवान् को पकड़ कर रस्सियों से बाँधा, फिर गाँव में ले जाने लगे। उस समय महाभूतल नामक एन्द्रजालिक ने भगवान् को पहिचान लिया। उसने भगवान् को पहले कुण्ड ग्राम में देखा था। उसने लोगों को भगवान् का परिचय दिया और बन्धन-मुक्त कराया। लोगों ने प्रभु से क्षमा-याचना की। उन्होंने झूठा कलंक लगाने वाले उस नकली साधु—संगम की खोज की, परन्तु वह अन्तर्धान हो चुका था।

तोसली गांव से भगवान् मोसलि गांव पधारे। संगम ने वहां भी इसी प्रकार का उपद्रव खड़ा किया। भगवान् को पकड़ कर लोग राज्य-सभा में ले गये। वहां सुमागध नामक प्रान्ताधिकारी भगवान् को पहिचान गया। वह सिद्धार्थ नरेश का मित्र था और प्रभु को जानता था। उसने भगवान् की वन्दना की और मुक्त करवाया। प्रपंची संगम खोज करने पर भी नहीं मिला।

एक स्थान पर भगवान् के पास घातक शस्त्रास्त्रों का ढेर लगा दिया और स्वयं शस्त्रागार में सेंध लगा कर शस्त्र निकालते हुए पकड़ा गया। वहां कहा कि मेरे गुरु को राज्य प्राप्त करने के लिए शस्त्रास्त्रों की आवश्यकता है। ये शस्त्र में उन्हीं की आज्ञा से ले जा रहा हूं। आरक्षकों ने भगवान् को बन्दी बना लिया और फांसी चढ़ाने ले गये। फांसी पर लटकाने पर फन्दा टूट गया। बार-बार फाँसी पर लटकाया गया और फन्दा टूटता गया। अधिकारी स्तंभित रह गये और भगवान् को कोई अलौकिक महात्मा जान कर छोड़ दिया। असली अपराधी तो खोज करने पर भी नहीं मिला।

प्रातःकाल होने पर भगवान् ने वालुक ग्राम की ओर विहार किया। संगम तो शत्रुता करने पर तुला ही था। उसने उस मार्ग को रेतीले सागर के समान दुर्लंघ्य एवं दीर्घ बना दिया। उस मार्ग पर चलना ही कठिन था। घुटने तक पाँव रेती में घुस जाते थे। उस निर्जन मार्ग पर उसने लुटेरों का एक विशाल समूह उपस्थित कर दिया। वे चोर भगवान् के शरीर पर 'मामाजी, मामाजी'—कहते हुए झूम गये और उन्हें अपने बाहुपाश में इतने जोर से जकड़ने लगे, जिससे पत्थर हो तो भी टूट जाय और श्वास रूँध जाय। परन्तु भगवान् तो गृहत्याग के समय ही यह प्रतिज्ञा लिये हुए थे कि "मैं किसी भी प्रकार के भयंकरतम उपसर्ग को शान्ति से सहन करूँगा।" भगवान् अडोल ही रहे और वह उपसर्ग भी दूर हुआ। भगवान् वालुक गाँव पधारे। संगम तो शत्रु हो कर पीछे लगा हुआ ही था। भगवान् वन, उपवन, ग्राम, नगर जहाँ भी पधारते, संगम अनेक प्रकार के उपसर्ग उत्पन्न करता और दुःखों के पहाड़ ढाता ही रहता। इस प्रकार लगातार छह महीने तक उपसर्ग देता रहा। भगवान् के यह छहमासी तप चल रहा था। छः महीने पूर्ण होने पर भगवान् एक गोकुल (अहिरों की बस्ती) में पधारे। उस समय वहाँ कोई उत्सव मनाया जा रहा था। भगवान् भिक्षार्थ पधारे, तो वे जिस घर में पधारते, संगम वहाँ के आहार को अनेषणीय (दूषित) बना देता। भगवान् ने ज्ञानोपयोग से संगम की शत्रुता जान ली। वे उद्यान में आ कर प्रतिमा धारण कर के ध्यानस्थ हो गए।

संगम क्षमा माँग कर चला गया

संगम ने देखा कि भगवान् तो अब भी प्रथम-दिन की भाँति दृढ़ अडोल और परम शान्त हैं। चलायमान होना तो दूर रहा, एक अंशमात्र भी ढिलाई नहीं। वही दृढ़ता, वही शान्ति और अपने परम शत्रु के प्रति किञ्चित् भी रोष नहीं। वास्तव में यह महात्मा महावीर ही है और परम अजेय है। इन्हें समस्त लोक की सम्मिलित शक्ति भी अपनी दृढ़ता से अंशमात्र भी नहीं हटा सकती। इन्द्र का कथन पूर्ण रूप से सत्य था। मैंने व्यर्थ ही रोष किया और अपनी सुख-शान्ति छोड़ कर छः मास पर्यंत इनके पीछे भटकता रहा और निष्फल ही रहा। विशेष में हँसी का पात्र भी बना। अब हठ छोड़ कर अपनी पराजय स्वीकार करना ही एकमात्र मार्ग है और यही करना चाहिए।

संगम भगवान् के सामने झुका और हाथ जोड़ कर बोला;—

"हे महात्मन् ! शक्रेन्द्र ने अपनी देवसभा में आपकी जो प्रशंसा की थी, वह पूर्णरूपेण सत्य थी। मैंने इन्द्र के वचन पर श्रद्धा नहीं की और उनके वचन को मिथ्या सिद्ध करने के लिए आपके पास आया। मैंने आपको छः मास पर्यन्त घोरतम कष्ट दिया, असह्य उपसर्ग किये और घोरातिघोर दुःख दिये। परन्तु आप तो महान् पर्वत के समान अडोल निष्कम्प और शान्त रहे। मेरा प्रण पूरा नहीं हुआ। मैं प्रतिज्ञा-भ्रष्ट हुआ। मैंने यह अधमाधम कार्य किया। हे क्षमासिन्धु ! मेरा घोर अपराध क्षमा कर दीजिये। मैं अब यहाँ से जा रहा हूँ। आप अब इस गाँव में पधारें और निर्दोष आहार ग्रहण कर के छः मास की तपस्या का पारणा करें। पहले आपकी भिक्षाचरी में मैं ही दोष उत्पन्न कर रहा था।"

भगवान् ने कहा—"संगम ! तुम मेरी चिन्ता मत करो। मैं किसी के आधीन नहीं हूँ। मैं अपनी इच्छानुसार ही विचरता हूँ।"

प्रभु को वन्दना-नमस्कार कर के पश्चात्ताप करता हुआ संगम स्वस्थान गया। दूसरे दिन भगवान् पारणा लेने के लिए गोकुल में पधारे और एक वृद्ध वत्सपालिका अहिरन ने भगवान् को भक्तिपूर्वक परमान्न प्रदान किया। छः मासिक दीर्घ तपस्या का पारणा होने से देवों ने पंचदिव्य की वर्षा की और जय-जयकार किया।

संगम का देवलोक से निष्कासन

संगम देव जब तक भगवान् पर घोरातिघोर उपसर्ग करता रहा, तब तक स्वर्ग में इन्द्र और उसकी सभा के सदस्य अन्यमनस्क एवं चिन्तित हो कर देखते रहे। स्वयं शक्रेन्द्र

भी रंग-राग और हास्य-विलासादि छोड़ कर खेदित रहा। वह सोचता—"भगवान् को इतने घोर उपसर्ग का कारण मैं स्वयं ही बना हूँ। यदि मैं सभा में भगवान् की प्रशंसा नहीं करता, तो संगम क्रोधित नहीं होता और प्रभु पर घोर उपसर्ग नहीं करता †।

पापपंक से म्लान, लज्जित, निस्तेज एवं अपमानित बना हुआ संगम, नीचा मुँह किये हुए सभा में गया, तो इन्द्र ने मुँह मोड़ कर कहा--

"देवगण ! यह संगम महापापी है। इसका मुंह देखना भी पाप है। इसने भगवान् पर घोरातिघोर अत्याचार किये हैं। यह महान् अपराधी है। हमारी देवसभा में बैठने के योग्य यह नहीं रहा। इसलिये इसको इस देवसभा से ही नहीं, देवलोक से भी निकाल देना चाहिए।"

इतना कह कर इन्द्र ने अपने बायें पांव से संगम पर प्रहार किया और सैनिकों ने उसे धक्का दे कर सभा से बाहर निकाल दिया। देव-देवी अनेक प्रकार के अपशब्दों एवं गालियों से उसका अपमान करने लगे। देवलोक से निकाला हुआ संगम अपने विमान में बैठ कर स्वर्ग छोड़ कर मेरुपर्वत की चूलिका पर गया और अपना शेष जीवन वहीं व्यतीत करने लगा। संगम की देवियों ने इन्द्र से प्रार्थना की और इन्द्र से अनुमति ले कर वे भी मेरुपर्वत पर संगम के साथ रहने के लिये चली गई। अन्य पारिवारिक देव-देवियों को जाने की अनुमति नहीं मिली। वे वहीं रहे। संगम अब तक निर्वासित जीवन बिता रहा है।

---

† इन्द्र का अपने को दोषित मानना तो योग्य नहीं है। यदि किसी साधु को देख कर कोई पापी डाह करे, और भगवान् महावीर के निमित्त से गोशालक ने महा मोहनीय-कर्म और अन्य कर्मों का प्रगाढ़ बन्ध कर लिया, तो इसका दोष भगवान् पर नहीं आ सकता। वह पापात्मा ही दोषी है। शक्रेंद्र तो शुभ भावों और शुभ वचनयोग से पुण्य-प्रकृति का बन्धक बना।

यदि इन्द्र चाहता, तो संगम को प्रारंभ में या मध्य में ही रोक सकता था। संगम इन्द्र के आधीन था। इन्द्र एवं इन्द्रसभा के सदस्य उसे रोक सकते थे। उन्हें असहाय के समान विवश होने की आवश्यकता ही नहीं थी। छः मास तक संगम को भगवान् पर उपद्रव करते रहने देने और चुपचाप देखते रहने का कारण ही क्या था ? इस तर्क का उत्तर यह है कि भगवान् ने स्वयं इन्द्र को पहले ही कह दिया था कि—"मुझे तुम्हारी सहायता की आवश्यकता नहीं है। मैं अपने कर्म-बन्धन स्वयं ही तोड़ूंगा।" इसीलिये भगवान् अनार्य देश में गये थे। और भगवान् के कर्म ही इतने प्रगाढ़ और अधिक थे कि जिन्हें नष्ट करने के लिये ऐसे घोर निमित्त की आवश्यकता थी ही।

विद्युतेन्द्र द्वारा भविष्य-कथन

गोकुल से विहार कर भगवान् आलभिका नगरी पधारे और प्रतिमा धारण कर के ध्यानस्थ हो गए। वहाँ भवनपति जाति का हरि नाम का विद्युतेन्द्र प्रभु के पास आया और प्रदक्षिणा तथा वन्दन-नमस्कार कर के बोला—"प्रभो! आपने जो भयंकरतम उपसर्ग सहन किये हैं, उन्हें सुन कर तो हमारे भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। वास्तव में आपका हृदय, वज्र से भी अधिक दृढ़ है। आपने अब तक बहुत कर्म क्षय कर दिये, परन्तु अभी थोड़े और भी भोगने शेष रहे हैं। इसके बाद आप चारों घातीकर्मों को नष्ट कर के सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन जावेंगे। इतना निवेदन कर के और वन्दन-नमस्कार कर के विद्युतेन्द्र चला गया। इसके बाद भगवान् श्वेताम्बिका नगरी पधारे। वहाँ हरिसह नामक विद्युतेन्द्र आया और उसी प्रकार वन्दनादि कर के तथा भविष्य निवेदन कर के चला गया।

शक्रेन्द्र ने कार्तिक स्वामी से वन्दन करवाया

श्वेताम्बिका से चल कर भगवान् श्रावस्ति नगरी पधारे और प्रतिमा धारण कर स्थिर हो गए। उस दिन नगरजन कार्तिक स्वामी का महोत्सव मना रहे थे। रथयात्रा की तैयारी हो रही थी। उधर शक्रेन्द्र ने ज्ञानोपयोग से भगवान् को देखा और साथ ही इस महोत्सव को भी देखा। लोगों के अज्ञान पर शक्रेन्द्र को खेद हुआ। उन्हें समझाने और प्रभु की वन्दना के लिए शक्रेन्द्र, स्वर्ग से चल कर श्रावस्ति आया और कार्तिक स्वामी की प्रतिमा में प्रवेश कर के चलने लगा। सम्मिलित जनसमूह ने देखा तो जय-जयकार करते हुए परस्पर कहने लगे—"भगवान् कार्तिक स्वामी स्वयं चल कर रथ में विराजमान होंगे। हमारी भक्ति सफल हो रही है।" गगन-भेदी घोष होने लगे। जब रथ छोड़ कर मूर्ति आगे बढ़ने लगी, तो लोग निराश हुए और मूर्ति के पीछे चलने लगे। वह मूर्ति नगर के बाहर उद्यान में—जहाँ भगवान् ध्यानस्थ थे—आई और भगवान् को प्रदक्षिणा कर के वन्दना की। जनसमूह दिग्मूढ़ रह गया। उसने सोचा कि—'यह महात्मा तो हमारे इष्टदेव के लिए भी पूज्य है। हमने इनकी उपेक्षा की, यह अच्छा नहीं किया। सभी ने भगवान् को वन्दना की और महिमा गाई।

श्रावस्ति से चल कर भगवान् कोशाम्बी नगरी पधारे। वहाँ सूर्य और चन्द्रमा ने

आ कर भगवान् की वन्दना की। वहाँ से भगवान् वाराणसी पधारे। वाराणसी से राजगृही पधारे और प्रतिमा धारण कर के स्थिर हो गए। वहाँ ईशानेन्द्र ने आ कर भगवान् की वन्दना की। वहाँ से भगवान् मिथिला पधारे। वहाँ धरणेन्द्र आया और भगवान् को वन्दन-नमस्कार किया। मिथिला से विशाला पधारे और यहाँ ग्यारहवाँ चातुर्मास किया। इस चातुर्मास में भगवान् ने चार मास का तप किया। यहाँ भूतेन्द्र और नागेन्द्र ने आ कर भगवान् की भक्तिपूर्वक वन्दना की।

जीर्ण सेठ की भावना

विशाला में जिनदत्त नाम का एक उत्तम श्रावक था। वह धर्म-प्रिय, दयालु और श्रमणों का उपासक था। धन-सम्पत्ति का क्षय हो जाने से वह जीर्ण (जूना-जर्जर) सेठ के नाम से प्रसिद्ध था। एकबार वह किसी कारण से उद्यान में गया। वहाँ बलदेव के मन्दिर में भगवान् प्रतिमा धारण किये हुए थे। भगवान् को देख कर उसने समझ लिया कि "ये चरम तीर्थंकर हैं।" उसने भक्तिपूर्वक वन्दना की और मन में भावना करने लगा कि "इन महर्षि के आज उपवास होगा। यदि ये कल मेरे यहाँ पधारें और मुझे इन्हें आहार-पानी देने का सुयोग प्राप्त हो, तो बहुत अच्छा हो।" इस प्रकार भावना करता हुआ वह प्रतिदिन भगवान् के दर्शन-वन्दन करता और भगवान् के भिक्षार्थ पधारने की प्रतीक्षा करता रहा, परन्तु भगवान् के तो चौमासी तप था। इस प्रकार वर्षाकाल के चार महीने व्यतीत हो चुके। भगवान् का चौमासी तप पूरा हो गया। भगवान् पारणे के लिये पधारे।

उस नगर में एक नवीन-श्रेष्ठी भी था, जो वैभव सम्पन्न था। वह ऐश्वर्य के मद में चूर, तथा मिथ्यादृष्टि था। भगवान् उस नवीन सेठ के घर भिक्षार्थ पधारे। सेठ ने अपनी दासी को पुकार कर कहा--"इस भिक्षुक को भोजन दे कर चलता कर।" दासी एक काष्ठपात्र में सिझाये हुए कुल्माष लाई और भगवान् के फैलाये हुए हाथों में डाल दिये। भगवान् ने पारणा किया। देवों ने प्रसन्न हो कर पंच-दिव्य की वृष्टि कर के दान की प्रशंसा की। इससे प्रभावित हो कर राजा सहित सारा नगर नवीन सेठ के यहाँ आया और उसके भाग्य एवं दान की सराहना करते हुए उसे धन्यवाद देने लगे। उधर जीर्ण सेठ पूर्ण मनोयोग से भगवान् के पधारने की प्रतीक्षा कर रहा था। जब उसके कानों में देव-दुंदुभि और

दान की महिमा के घोष की ध्वनि आई, तो वह निराश हो कर अपने-आपको धिक्कारने लगा।

जीर्ण और नवीन सेठ में बढ़ कर भाग्यशाली कौन ?

पारणा करने के पश्चात् भगवान् विहार कर गए। उसके बाद उसी उद्यान में मोक्ष-प्राप्त भगवान् पार्श्वनाथजी की परम्परा के एक केवली भगवान् पधारे। नरेश और नागरिक वन्दन करने गये। भ० महावीर के आहारदान की ताजी ही घटना थी। नरेश ने केवली भगवान् से पूछा—"भगवन्! इस नगर में विशेष पुण्योपार्जन करने वाला महाभाग कौन है ?"

"जीर्ण-श्रेष्ठी महान् पुण्यशाली है"—भगवान् ने कहा। "भगवन्! जीर्ण-श्रेष्ठी ने तो भगवान् को दान भी नहीं दिया और कोई पुण्य का कार्य भी नहीं किया। दूसरी ओर नवीन सेठ ने भगवान् को महादान दिया और देवों ने उसके घर पाँच दिव्य वस्तुओं की वर्षा की, तथा उसका गुणगान किया था। फिर नवीन से बढ़ कर जीर्ण कैसे हो गया ?"—नरेश और श्रोताओं ने पूछा।

"नवीन सेठ के यहाँ भगवान् को आहारदान हुआ, वह द्रव्य-दान हुआ—उपेक्षा पूर्वक। देवों ने भगवान् की दीर्घ तपस्या का पारणा होने की प्रसन्नता में हर्ष व्यक्त किया तथा पारणे का निमित्त नवीन सेठ हुआ था, इसलिये उसकी प्रशंसा भी हुई। उसे इस दान का फल द्रव्य-वर्षा से अर्थप्राप्ति रूप ही हुआ। परन्तु जीर्ण-श्रेष्ठी की भावना बहुत उत्तम थी। वह आहारदान की उच्च भावना से बारहवें स्वर्ग के महान् ऋद्धिशाली देव होने का पुण्य प्राप्त कर चुका है। यदि उसकी भावना बढ़ती ही रहती और देवदुंदुभि नाद के कारण विक्षेप नहीं होता, तो उसकी आत्मा, केवलज्ञान प्राप्ति तक बढ़ सकती थी।" केवली भगवान् का उत्तर सुन कर सभी लोग विस्मित हुए।

पूरन की दानामा साधना और उसका फल

विंध्याचल पर्वत की तलहटी में 'विभेल' नामक गांव में, पूरन नाम का एक गृहपति रहता था। वह धनधान्यादि से सम्पन्न एवं शक्तिशाली था। एकबार रात्रि के

अन्तिम प्रहर में पूरन के मन में विचार उत्पन्न हुआ कि—"मेरे पूर्वभव के शुभकर्मों का फल है कि मेरे यहां धनधान्य सोना-चांदी और मणि-मुक्तादि तथा सभी प्रकार की सुख-सामग्री निरंतर बढ़ती रही है। मैं पौद्गलिक विपुल सम्पदा का स्वामी हूँ। मेरे कौटुम्बिक और मित्र-ज्ञातिजन मेरा आदर-सत्कार करते हैं और मुझे अपना नायक--स्वामी मानते हुए सेवा करते हैं। किन्तु मैं जानता हूँ कि पूर्वोपार्जित पुण्य का क्षय हो रहा है। यदि मैं अपनी सुख-समृद्धि में मग्न रह कर शुभकर्मों को समाप्त होने दूंगा, तो भविष्य में दुःखद स्थिति उत्पन्न हो जायगी। उस समय मैं क्या कर सकूंगा? इसलिये मुझे अभी से सावधान हो जाना चाहिए। शुभोदय की दशा में ही मुझे अपना सुखद भविष्य बना लेना चाहिए।"

इस प्रकार निश्चय कर के उसने दूसरे दिन एक प्रीतिभोज का आयोजन किया और अपने मित्र-ज्ञाति स्वजनादि को आमन्त्रित कर, आदरयुक्त भोजन कराया, वस्त्रा-भूषण प्रदान किये और उनके समक्ष अपने ज्येष्ठ पुत्र को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। इसके बाद उसने अपने भावी जीवन के विषय में कहा—"मैं संसार से विरक्त हूँ। अब मैं 'दानामा प्रव्रज्या' † स्वीकार कर के तपस्यायुक्त साधनामय जीवन व्यतीत करूँगा।"

पूरन गृहस्वामी ने चार खण्ड वाला लकड़ी का एक पात्र बनवाया और दानामा दीक्षा अंगीकार की। उसने प्रतिज्ञा की कि मैं निरन्तर बेले-बेले तपस्या करता रहूँगा और आतापना भूमि पर सूर्य के सम्मुख खड़ा रह कर ऊँचे हाथ किये हुए आतापना लूँगा। पारणे के दिन बेभेल गाँव में ऊँचनीच और मध्यम कुल में भिक्षाचरी के लिये जाऊँगा। भिक्षा-पात्र के प्रथम खण्ड में जो आहार आवे, उसे मार्ग में मिलने वाले पथिकों को दूँगा। दूसरे खण्ड में आई हुई भिक्षा कुत्तों-कौओं को, तीसरे खण्ड की मच्छियों और कछुओं को दूँगा तथा चौथे खण्ड में आई हुई भिक्षा स्वयं खाऊँगा।"

इस प्रकार प्रतिज्ञा कर के वह दीक्षित हो गया और उसी प्रकार साधना करने लगा। इस प्रकार के उग्र तप से पूरन तपस्वी का शरीर बहुत दुर्बल एवं मांस-रहित हो गया। वह अशक्त हो गया। उसने अब अन्तिम साधना करने का निश्चय किया और अपनी

चमरेन्द्र का शक्रेन्द्र पर आक्रमण और पलायन

उस समय भवनपति देवों की चमरचंचा राजधानी, इन्द्र से शून्य थी। वहां का इन्द्र मर चुका था। और कोई नया इन्द्र उत्पन्न नहीं हुआ था। पूरन तपस्वी बारह वर्ष की साधना और एक मास का अनशन पूर्ण कर, आयु समाप्त होने से मर कर चमरचंचा राजधानी में 'चमर' नामक इन्द्रपने उत्पन्न हुआ और सभी पर्याप्तियों से पूर्ण होने के बाद उसने अपने अवधिज्ञान के उपयोग से ऊपर देखा। अपने स्थान से असंख्येय योजन ऊँचे, ठीक अपने ऊपर ही प्रथम स्वर्ग के अधिपति सौधर्मेन्द्र--शक्र को दिव्य भोग भोगते हुए देखा। शक्रेन्द्र को देखते ही उसे क्रोध उत्पन्न हुआ। उसने अपने सामानिक देवों से पूछा--"मैं स्वयं देवेन्द्र हूँ, फिर मेरे ऊपर यह कौन निर्लज्ज दिव्य भोग भोग रहा है। सका जीवन अब समाप्त होने ही वाला है। मैं इसकी यह धृष्टता सहन नहीं कर सकता।"

"महाराज! वह प्रथम स्वर्ग का स्वामी देवेन्द्र शक्र है। महान् ऋद्धि और पराक्रम वाला है--आपसे भी बहुत अधिक। उसकी ईर्षा नहीं करनी चाहिए। यदि आप साहस करेंगे, तो सफल नहीं होंगे। इसलिये आप उधर नहीं देख कर अपनी प्राप्त समृद्धि में संतुष्ट रहें और सुखोपभोगपूर्वक जीवन सफल करें।" सामान्य परिषद के देवों ने विनयपूर्वक कहा।

चमरेन्द्र को इस उत्तर से संतोष नहीं हुआ। उसका रोष तीव्र हुआ। उसने क्रोध में दांत पीसते हुए कहा--

"हाँ, देवेन्द्र देवराज शक्र कोई है, और महान् ऋद्धि सम्पन्न है और असुरेन्द्र चमर अन्य है और अल्प ऋद्धि का स्वामी है, क्यों? इन्द्र एक ही हो सकता है, दो नहीं। मैं अभी जाता हूँ और शक्रेन्द्र को पदभ्रष्ट कर के उसकी समस्त ऋद्धि तथा देवांगनाओं को अपने अधिकार में लेता हूँ। तुम डरते हो तो यहीं रहो।

थे। तत्काल के उत्पन्न हुए चमरेन्द्र ने अपने अवधिज्ञान के उपयोग से भगवान् महावीर को सुंसुमारपुर के अशोकवन में, भिक्षु-महाप्रतिमा धारण किये हुए देखा। उसे विश्वास हो गया कि इस महाशक्ति का आश्रय ले कर, सौधर्म-स्वर्ग जाना और अपना मनोरथ सफल करना उचित होगा।

चमरेन्द्र अपनी शय्या से उठा, देवदुष्य पहिना और उपपात-सभा से पूर्व की ओर चल कर शस्त्रागार में पहुँचा और 'परिघ' शस्त्र-रत्न ले कर अकेला ही शक्रेन्द्र को पद-दलित करने के लिये चल दिया। उसने उत्तरवैक्रिय से संख्येय योजन ऊँचा रूप बनाया और शीघ्रगति से सुंसुमारपुर के अशोकवन में, भगवान् के निकट आया। वन्दन-नमस्कार किया और इस प्रकार बोला--

"भगवन्! मैं आपका आश्रय ले कर शक्रेन्द्र को पददलित करने के लिए सौधर्म स्वर्ग जा रहा हूँ। मुझे आपका शरण हो।"

इस प्रकार निवेदन कर के चमरेन्द्र एक ओर गया और वैक्रिय-समुद्घात कर के एक लाख योजन प्रमाण महाभयानक एवं विकराल रूप बनाया और घोर गर्जना करता हुआ वह ऊपर जाने लगा। उसके घोर रूप, भयंकर गर्जना और अनेक प्रकार के उत्पात से सभी जीव भयभीत हो गए। वह कहीं बिजलियाँ गिराता, कहीं धूलिवर्षा करता और कहीं अन्धकार करता हुआ आगे बढ़ता गया। मार्ग के व्यन्तर देवों को त्रासित करता, ज्योतिषियों को इधर-उधर हटाता और परिघ-रत्न को घुमाता हुआ वह सौधर्म स्वर्ग की सुधर्मा-सभा में पहुँचा। उसने हुंकार करते हुए इन्द्रकील पर अपने परिघ-रत्न से तीन प्रहार किये और क्रोधपूर्वक बोला;--

"कहाँ वह देवेन्द्र देवराज शक्र? कहाँ है, उसके चौरासी हजार सामानिक देव? उसके तीन लाख छत्तीस हजार आत्म-रक्षक देव कहाँ चले गए? और वे करोड़ों अप्सराएँ कहाँ है? मैं उन सब का हनन करूँगा। अप्सराएँ सब मेरे आधीन हो जावें। शेष सब को मैं समाप्त कर दूँगा।"

देवेन्द्र शक्र ने चमरेन्द्र के अप्रिय शब्द सुने और अशिष्टता देखी, तो उसे रोष आ गया। वह क्रोध पूर्वक बोला;--

"असुरेन्द्र चमर! तेरा दुर्भाग्य ही तुझे यहाँ ले आया है। परंतु अब तेरा अन्त आ गया है। इस अधमाचरण का फल तुझे भोगना ही पड़ेगा।"

इस प्रकार कह कर शक्रेन्द्र ने अपने पास रखा हुआ वज्र उठाया और सिंहासन पर बैठे हुए ही चमरेन्द्र पर फेंका। उस वज्र में से हजारों चिनगारियाँ, ज्वालाएँ, उल्काएँ

और विजलियाँ निकलने लगी। चमरेन्द्र इस महास्त्र को अपनी ओर आता हुआ देख कर डरा, भयभीत हुआ। उसके मन में विचार हुआ—"यदि ऐसा महास्त्र मेरे पास होता, तो कितना अच्छा होता ?" भयभीत चमरेन्द्र नीचा सिर और ऊपर पाँव किये हुए नीचे की ओर भागा। उसका मुकुट आदि वहीं गिर गये। आगे चमरेन्द्र और पीछे वज्र।

शक्रेन्द्र को विचार हुआ कि—'चमर यहाँ आया किस प्रकार ? इसकी इतनी शक्ति नहीं कि बिना किसी महाशक्ति का आश्रय लिये, वह यहाँ तक आ सके।" ज्ञानोपयोग से उसने जान लिया कि भगवान् महावीर का आश्रय ले कर ही चमरेन्द्र यहाँ आया है और यहाँ से लौट कर वह भगवान् की शरण में ही जायगा।" इतना विचार आते ही शक्रेन्द्र के हृदय में आघात लगा। सहसा उसके उद्गार निकल पड़े;—

"हाय ! मैंने यह क्या कर डाला। मैंने ऐसा दुष्कृत्य क्यों किया। हाय ! मैं मारा गया। मेरे फैंके हुए वज्र से जिनेश्वर भगवान् की महान् आशातना होगी।"

वह तत्काल वज्र के पीछे भागा। आगे चमरेन्द्र, पीछे वज्र और उसके पीछे शक्रेन्द्र।

चमरेन्द्र सीधा अशोकवन में भगवान् महावीर के समीप आया और वैक्रिय से शरीर संकुचित कर कुंथुए के समान बना कर भगवान् के पाँवों में छुपते हुए बोला—"भगवान् ! मैं आपकी शरण में आया हूँ। आप ही मेरे रक्षक हैं।"

भगवान् से चार अंगुल दूर रहते ही शक्रेन्द्र ने अपने वज्र को पकड़ लिया। वज्र को झपट कर पकड़ते समय वायुवेग से भगवान् के बाल हिलने लगे।

शक्रेन्द्र ने भगवान् को वन्दन-नमस्कार किया और अनजान में हुए अपराध की क्षमा माँगी। फिर चमरेन्द्र से बोला;—

"असुरेन्द्र ! भगवान् महावीर के प्रभाव से आज तू मेरे कोप से बच गया है। अब तू प्रसन्नतापूर्वक जा ! मेरी ओर से अब तुझे किसी प्रकार का भय नहीं रहा।"

भगवान् को वन्दना-नमस्कार कर के शक्रेन्द्र और चमरेन्द्र अपने-अपने स्थान गये।

चमरेन्द्र की पश्चात्ताप पूर्ण प्रार्थना

शक्रेन्द्र के चले जाने के बाद चमरेन्द्र प्रभु के चरणों में से निकला और प्रभु को नमस्कार कर के विनीत स्वर में कहने लगा;—

"हे भगवन् ! आप मेरे जीवन-प्रदाता हैं। आपके श्रीचरणों का तो इतना महान् प्रभाव है कि जीव जन्म-मरण से ही मुक्त हो जाता है।

"भगवन् ! इस दुर्घटना से मेरी आत्मा का महान् हित हुआ है। मैं अज्ञानी था। पूर्वभव के अज्ञान-तप के कारण ही मैं असुरेन्द्र हुआ। उस अज्ञान से ही मैंने शक्रेन्द्र को पद-भ्रष्ट करने का दुःसाहस किया और वह दुःसाहस ही मुझे श्रीचरणों में ले आया। इन परम पवित्र चरणों ने मेरे अज्ञान का पर्दा हटा दिया। यदि ये श्रीचरण मुझे पूर्व-भव में मिल जाते, तो मैं असुर क्यों होता ? अच्युतेन्द्र या कल्पातीत ही हो जाता।"

"परम तारक ! अब तो मुझे अहमिन्द्र बनने की भी इच्छा नहीं रही। आप जैसे जगदीश्वर को पा कर ही मैं धन्य हो गया। यह दुःसाहस भी मेरे लिये महा लाभ-दायक हो गया। हे नाथ ! आपका शरण मुझे निरन्तर प्राप्त होता रहे।"

बार-बार नमस्कार कर के चमरेन्द्र स्वस्थान आया। अपनी देवसभा में सिंहासन पर, नीचा मुंह किये बैठा रहा। उसका स्वागत करने एवं क्षेमकुशल पूछने आये हुए सामानिक देवों से बोला; —

"हे देवों ! आपने शक्रेन्द्र के विषय में जो कुछ कहा था, वह वैसा ही है। परन्तु मैं अज्ञानी था। मैंने आपकी बात नहीं मानी। मैं शक्रेन्द्र के कोप को सहन नहीं कर सका और भाग कर भगवान् महावीर के शरण में गया। इसी से मैं बच सका हूँ। अब हम सभी भगवान् के समीप चलें और भक्तिपूर्वक वन्दना-नमस्कार करें।"

चमरेन्द्र अपने परिवार सहित भगवान् के समीप आया और उत्कृष्ट भक्तिपूर्वक भगवान् को नमस्कार किया। गुणगान किया और हर्ष व्यक्त करता हुआ लौट आया।

भगवान् सुंसुमार नगर से विहार कर के, क्रमशः चलते हुए भोगपुर पधारे। महेन्द्र नामक क्षत्रीय जो क्रूर स्वभाव का था, भगवान् को देखते ही क्रुद्ध हुआ और पीटने को उद्यत हुआ। उस समय सनत्कुमारेन्द्र, प्रभु के दर्शन करने आया था। उसने महेन्द्र को भगवान् पर प्रहार करने के लिए जाते देखा, तो उसे तिरस्कार पूर्वक हटा दिया और भक्तिपूर्वक वन्दन-नमस्कार कर के लौट गया। वहाँ से भगवान् नन्दी गाँव होते हुए मेढक गाँव पधारें। वहाँ भी एक ग्वाला भगवान् पर प्रहार करने को तत्पर हुआ, परन्तु इन्द्र की सावधानी से वह भी रुका। मेढक ग्राम से भगवान् कौशाम्बी पधारे।

भगवान् का महान् विकट अभिग्रह

कौशाम्बी नगरी में 'शतानिक' नाम का राजा था। वह महान् योद्धा था। चेटक नरेश की पुत्री मृगावती उसकी रानी थी। वह शीलवती सुश्राविका थी। राज्य के मन्त्री

सुगुप्त की पत्नी नन्दा भी परम श्राविका थी और रानी की सहेली थी। उस नगरी में धनवाह नाम का एक धनाढ्य सेठ रहता था। उसकी पत्नी का नाम मूला था। भगवान ने पौष मास के कृष्णपक्ष की प्रतिपदा के दिन ऐसा अभिग्रह धारण किया कि जो पूरा होना महाकठिन—अशक्य-सा था। भगवान् ने प्रतिज्ञा कर ली कि—

"कोई सुन्दर सुशीला राजकुमारी विपत्ति की मारी दासत्व दशा में हो। उसके पाँवों में लोहे की बेड़ियाँ पड़ी हुई हो, मस्तक मुंडा हुआ हो, तीन दिन की भूखी हो, वह रुदन करती हो, उसका एक पाँव देहली के भीतर और दूसरा बाहर हो, भिक्षा का समय बीत चुका हो, वह यदि सूप के एक कोने में रखे हुए कुल्मास (उड़द) देगी, तो मैं ग्रहण करूँगा।"

भगवान् ने अत्यन्त कठोर ऐसे घातिकर्मों को नष्ट करने के लिए कितना घोर व्रत धारण किया था। ऐसा अभिग्रह पूरा होना असंभव ही लगता था। भगवान् यथासमय भिक्षाचरी के लिए निकलते और शान्तभाव से लौट आते। कोई आहार देने लगता, तो भी वे नहीं ले कर लौट आते। वे अपने अभिग्रह के अनुसार ही ले सकते थे। परन्तु ऐसा अभिग्रह सफल होना सरल नहीं था। भगवान् को बिना आहार लिये लौटते और इस प्रकार होते चार मास व्यतीत हो गए। एक दिन भगवान् राज्य के मन्त्री के यहाँ भिक्षा-चरी के लिए गये। उसकी पत्नी सुश्राविका नन्दा ने भगवान् को दूर से अपनी ओर आते हुए देखा। वह अत्यन्त प्रसन्न हुई और अपने भाग्य की सराहना करती हुई हर्षोल्लासपूर्वक भगवान् के सम्मुख आई और वन्दना-नमस्कार कर के आहार ग्रहण करने की विनती की। परन्तु भगवान् बिना आहार लिये वैसे ही लौट गए। नन्दा उदास हो गई। उसके घर पधारे हुए परम तारक खाली लौट गए। वह अपने भाग्य को धिक्कारने लगी और शोकाकूल हो गई। वह चिन्ता में निमग्न थी कि उसकी दासी ने आ कर उससे उदासी का कारण पूछा। स्वामिनी की बात सुन कर सेविक बोली—"देवी! आप चिन्ता क्यों करती हैं। भगवान् तो लगभग चार महीने से इसी प्रकार बिना आहार-पानी लिये लौटते रहते हैं। नगर में इस बात की चर्चा हो रही है। कई लोग चिन्तित रहते हैं, परन्तु कोई उपाय नहीं सूझता। आपके चिंता करने से क्या होगा?"

नन्दा समझ गई कि भगवान् ने कोई अपूर्व अभिग्रह किया है। परन्तु वह अभि-ग्रह कैसा है? किस प्रकार जाना जाय? वह इसी विचार में थी कि मन्त्री सुगुप्तजी, राज्य-महालय से लौट कर घर आये। पत्नी को चिन्तित देख कर पूछा;—"प्रिये! आज शरद्-चन्द्र पर ग्रहण की कालिमा क्यों छाई हुई है? क्या किसी ने तुम्हारी आज्ञा की अवहेलना की, अपमान किया? या मुझसे कोई भूल हो गई?"

"नहीं, नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है। मुझे खेद इस बात का है कि श्री महावीर प्रभु अपने घर पधारे और बिना पारणा लिये यों ही लौट गए। भगवान् ने कोई ऐसा गूढ़ अभिग्रह लिया है जो चार महीने बीत जाने पर भी पूरा नहीं हुआ। आप बुद्धिनिधान हैं। अत्यन्त गूढ़ राजनीतिज्ञों के मन के भाव, उनका चेहरा देख कर ही आप जान लेते हैं, तो अब अपनी इस बुद्धि से भगवान् के अभिग्रह का पता लगा कर, पारणा कराने की अनुकूलता करें। यदि आप ऐसा कर सकेंगे, तो मैं अपने को धन्य समझूंगी। अन्यथा आपकी बुद्धि का मेरे लिए कोई सदुपयोग नहीं है"--नन्दा ने पति से कहा।

"प्रिये! इच्छा आकांक्षा आकुलता एवं स्वार्थयुक्त हृदय की बात, उनके पूर्व सम्बन्ध आदि को स्मृति में रखते हुए जान लेना सरल भी होता है। परन्तु जिनके हृदय में किसी प्रकार की आकूलता नहीं, भौतिक आकांक्षा नहीं, चञ्चलता नहीं, ऐसे महात्मा का मनोभाव जानने की शक्ति साधारण मनुष्य में नहीं हो सकती। फिर भी मैं भरसक प्रयास करूँगा।"

पति-पत्नी का उपरोक्त वार्तालाप, महारानी मृगावती की विजया नाम की दासी ने भी सुना। वह महारानी का कोई सन्देश ले कर नन्दा देवी के पास आई थी। उसने यह बात महारानी मृगावती से कही। मृगावती भी भगवान् की लम्बे काल की तपस्या और अपूर्व गूढ़ अभिग्रह जान कर चिन्तित हुई। वह इसी विचार में लीन थी कि महाराजा अन्तःपुर में आये और महारानी से खेद का कारण पूछा। महारानी ने कुछ भृकुटी चढ़ा कर कहा; —

"आप कैसे प्रजापालक नरेश हैं? आपको तो सब का पालन करना होता है, फिर आपके इस नगर में ही भ० महावीर जैसे महान् सन्त, चार महीने से आहार-पानी नहीं ले रहे हैं। वे भिक्षाचरी के लिये निकलते हैं और बिना लिये ही लौट जाते हैं। वे आहार-पानी क्यों नहीं लेते? यह तो निश्चित्त है कि उन्होंने कोई लम्बी तपस्या नहीं की है, अन्यथा वे भिक्षाचरी के लिए निकलते ही नहीं। उन्होंने कोई अभिग्रह लिया है, उसकी पूर्ति नहीं हो, तब तक वे आहारादि नहीं लेंगे। आपको किसी भी प्रकार से यह पता लगाना चाहिये कि वह गूढ़ प्रतिज्ञा क्या है? आपके इतने निष्णात भेदिये और बुद्धिमान मन्त्री किस काम के हैं? विश्व-विभूति परमपूज्य भगवान् के अभिग्रह का भी पता नहीं लगा सके, तो वे धिक्कार के पात्र नहीं हैं क्या?"—महारानी का रोष बढ़ता जा रहा था।

"शुभे! तुम्हें धन्य है। तुम्हारा धर्मानुराग प्रशंसनीय है। तुमने मुझ प्रमादी को उचित शिक्षा दी और कर्त्तव्य का भान कराया। मैं शीघ्र ही भगवान् के अभिग्रह की जानकारी प्राप्त कर के कल ही पारणा हो जाय—ऐसा प्रयत्न करूँगा।"

महारानी को शान्त कर के महाराजा बाहर आये और मन्त्री को बुला कर भगवान् का अभिग्रह जानने और शीघ्र ही पारणा करवाने का आदेश दिया। मन्त्री ने कहा-

"महाराज! यह चिन्ता मुझे भी सता रही है। भगवान् के अभिग्रह को जानने का कोई साधन मेरे पास नहीं है। मैं स्वयं भी उस उपाय की खोज में हूँ कि जिससे भगवान् की प्रतिज्ञा जानी जा सके।"

महाराज ने तथ्यकंदी नाम के उपाध्याय को बुलाया। वह सभी धर्मों के आचार आदि शास्त्रों का ज्ञाता था। उससे भगवान् के अभिग्रह के विषय में पूछा। उपाध्याय ने कहा;—

"राजेन्द्र! महर्षियों ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से अनेक प्रकार के अभिग्रह बतलाये हैं। परन्तु भगवान् ने कौन-सा अभिग्रह लिया है, यह तो विशिष्ट ज्ञानी के अतिरिक्त कोई नहीं बता सकता।"

राजा ने हताश हो कर नगर में घोषणा करवाई कि—

"भगवान् महावीर ने किसी प्रकार का अभिग्रह धारण किया है। नगर में जिसके घर भगवान् पधारें, उसे विविध प्रकार की निर्दोष सामग्री भगवान् के सामने उपस्थित कर के पारणा हो जाय--ऐसा प्रयत्न करना चाहिये।'

राजा-प्रजा सभी चिन्तित थे। दिन व्यतीत होते गए। भगवान् भिक्षाचरी के लिए दिन में एक बार निकलते रहे और बिना लिये ही लौटते रहे। भगवान् की शान्ति, धैर्य, क्षमता एवं निराकूलता में कोई अन्तर नहीं आया।

चन्दनबाला चरित्र ×× राजकुमारी से दासी

भगवान् के अभिग्रह से कुछ काल पूर्व की घटना है। चम्पानगरी में 'दधिवाहन' राजा का राज्य था। कौशाम्बी का 'शतानिक' राजा, दधिवाहन राजा से वैर रखता था। एकबार शतानिक राजा ने अचानक विशाल सेना के साथ, रात्रि के समय चम्पानगरी पर आक्रमण कर के घेरा डाल दिया। दधिवाहन इस आकस्मिक आक्रमण से घबड़ाया और राज्य छोड़ कर निकल भागा। राजा के भाग जाने पर रक्षा का कोई प्रयत्न नहीं हुआ। शतानिक ने सैनिकों को आदेश दिया—

--"जाओ, इस नगरी को लूट लो। इस लूट में जिसको जो वस्तु मिलेगा, वह उसी का होगी।"

मूल्य दे कर वसुमती को ले लिया x और उसे पिता के समान वात्सल्यपूर्ण वचनों से संतुष्ट कर घर ले आया। उसने प्रेमपूर्वक उस बाला से माता-पिता का नाम और स्थान पूछा। अपने महत्वशाली कुल एवं माता-पिता को अपनी इस दशा में प्रकट करना योग्य नहीं मान कर वह नीचा मुँह किये मौन खड़ी रही, यहाँ तक कि उसने अपना नाम भी नहीं बताया। सेठ ने अपनी पत्नी से कहा--"यह कन्या किसी उच्च कुल की है। सुशील है। इसका पुत्री के समान स्नेहपूर्वक पालन-पोषण करना है।"

सेठ के घर वसुमती शान्ति से रहने लगी। उसका सब के साथ विनयपूर्वक मिष्ठ व्यवहार, मधुर वचन और शांत तथा चन्दन के समान शीतल स्वभाव से प्रभावित हो कर सेठ ने उसका नाम 'चन्दना' रखा। वह इस नाम से पुकारी जाने लगी। कालान्तर में चंदना यौवन अवस्था को प्राप्त हुई। उसके अंगोपांग विकसित हुए। चन्दना के विकसित यौवन और सौन्दर्य को देख कर गृहस्वामिनी आशंकित हो गई। उसके मनमें सन्देह उत्पन्न हुआ कि 'कहीं मेरा स्थान यह नहीं ले ले।' सेठ के वात्सल्यपूर्ण व्यवहार में वह वैषयिकता देखने लगी। उसे अपने दुर्भाग्य के दर्शन होने लगे। वह उदास रहती हुई पति और चन्दना के प्रत्येक व्यवहार पर दृष्टि रखने लगी। एकबार सेठ दूकान से लौट कर घर आये, तो उस समय उनके पाँव धुलवाने वाला सेवक वहाँ नहीं था। इसलिये चन्दना पानी ला कर सेठ के पाँव धोने लगी। पाँव धोते समय अंग शिथिल होने से उसके मस्तक के बाल खुल कर भूमि पर गिर पड़े, तो सेठ ने उन्हें धूल-कीचड़ से बचाने के लिये एक लकड़ी से ऊपर उठा लिये और बाँध दिये। यह दृश्य ऊपर अट्टालिका पर रही हुई मूला सेठानी ने देखा। इस दृश्य से उसका सन्देह अधिक दृढ़ हो गया। उसने समझ लिया कि "दोनों में स्नेह की गाँठ बन्ध गई है और अब मेरा भाग्य फूटने ही वाला है। लोगों के सामने तो ये बाप-बेटी का नाता बतलाते हैं और मन ही मन पाप की गाँठ बाँध रहे हैं। बड़े धर्मात्मा और व्रतधारी श्रावक हैं ये। परन्तु मैं भी इनका यह खेल प्रारंभ होने के पूर्व ही बिगाड़ दूंगी। इनके मन के मनोरथ नष्ट नहीं कर दूं, तो मेरा नाम मूला नहीं।" वह मन ही मन जलने लगी। फिर उसने एक योजना बनाई और उपयुक्त अवसर की ताक में लगी रही।

उपरोक्त घटना के बाद सेठ घर से बाहर गए। मूला ने तत्काल चंदना को पकड़ी और बड़बड़ाती हुई उसके रेशम के समान अति कोमल बालों को कटवा दिया। चन्दना ने

x वेश्या के हाथ बेचे जाने की घटना--जो अन्य कथा-चोपाई में मिलती है, वह इन प्राचीन ग्रन्थों में देखने में नहीं आई।

सेठ अशान्त एवं उद्विग्न हृदय से भोजन लेने गये, किन्तु उन्हें कुछ मिला नहीं। उनकी दृष्टि में पशुओं के लिये पकाये हुए उड़द का भोजन आया। उन्होंने वहीं रखे हुए एक सूप के कोने में उड़द के बाकुले लिये और शीघ्र ही लौटे। उन्होंने चन्दना को देते हुए कहा—"ले बेटी! अभी तो ये ही मिले हैं। तू थोड़ासा खा ले। मैं लुहार को बुला कर लाता हूँ। पहले तेरी बेड़ियाँ कटवा दूँ, फिर बाहर ले चलूँगा।"

इतना कह कर सेठ लुहार को बुलाने चले गए। चन्दना को विपत्ति के बादल छटते दिखाई दिये। वह आश्वस्त हुई।

भगवान् का अभिग्रह पूर्ण हुआ

चन्दना का चिन्तन चला—"कहाँ मैं राजकन्या, उच्चकुलोत्पन्न, भरपूर वैभव में पली हुई, दास-दासियों द्वारा सेवित। मेरे भोजनालय में रोज सैकड़ों मनुष्य भोजन करते थे और दान पाते थे। और कहाँ आज बन्दीगृह में भूखी पड़ी हुई मैं क्रीतदासी। कर्म के खेल कितने और कैसे-कैसे रूप सजते हैं? वैभव के शिखर से दरिद्रता और दासत्व की भूमि पर गिरने में कितना समय लगा? आज तीन दिन की भूख-प्यास सहन करने के बाद मुझे ये कुल्मास ही मिले हैं। अपनी हीन दशा के विचार से हृदय उमड़ा और आँसू झरने लगे। उसने सोचा--जठर की ज्वाला तो इनसे भी शान्त हो जायगी। परन्तु यदि कोई अतिथि आवे, तो इनमें से कुछ उसे दे कर मैं खाऊँ।"

वह खुले द्वार की ओर देखने लगी। उसी समय दीर्घ-तपस्वी अभिग्रहधारी भ० महावीर भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए वहाँ पधारे। भगवान् को देख कर चन्दना हर्षित हुई—"अहो, कितना उत्तमोत्तम महापात्र! कितना शुभ संयोग।" वह सूपड़ा ले कर द्वार के निकट आई। एक पाँव देहली के बाहर रख कर खड़ी हुई। बेड़ी होने के कारण दूसरा पाँव देहली के बाहर नहीं निकल सका। वह आर्तहृदययुक्त भक्तिपूर्वक बोली--"प्रभो! यद्यपि यह भोजन अत्यन्त तुच्छ है, आपके योग्य नहीं है, तथापि मुझ पर कृपा कर के कुछ ग्रहण कीजिये। आप तो परोपकारी हैं—भगवन्? ये बाकले ले कर मुझ पर अनुग्रह कीजिये।"

भगवान् ने द्रव्यादि की शुद्धि और अभिग्रह की पूर्ति का विचार कर के हाथ लम्बा किया। चन्दना मन में हर्षित होती हुई और अपने को धन्य मानती हुई सूपड़े के बाकले

प्रभु के हाथ में डाले। भगवान् का अभिग्रह पूर्ण हो कर पारना हुआ / देवों ने प्रसन्नतापूर्वक रत्नादि पंचदिव्यों की वर्षा की और "अहोदानं, अहोदानं" का घोष किया। चन्दना की बेड़ियाँ अपनेआप झड़ गई और उनके स्थान पर नूपुर आदि स्वर्णमय आभूषण शोभायमान होने लगे। उसके मुंडित-मस्तक पर पूर्व के समान केश शोभायमान थे। देवों ने चन्दना का सारा शरीर वस्त्रालंकार से सुशोभित कर दिया। देवगण गीतनृत्यादि से हर्ष व्यक्त करने लगे।

दुंदुभि-नाद सुन कर राजा-रानी, मन्त्री आदि तथा नगरजन शीघ्रता से वहाँ आये। देवराज शक्र भी भगवान् को वन्दना करने आया। चम्पा नगरी की लूट के समय बन्दी बनाये हुए मनुष्यों में अन्तःपुर-रक्षक 'संपुल' नामक कंचुकी बन्धन-मुक्त हो कर उस स्थान पर आया। चन्दना को देखते ही वह भीड़ में से निकल कर उसके निकट आया और चन्दना के पाँवों में गिर पड़ा। उसकी छाती भर आई। वह रोने लगा। उसे देख कर चन्दना भी रोने लगी। राजा ने उससे पूछा--"तू क्यों रो रहा है?" उसने कहा--"महाराज! मेरे स्वामी चम्पा नरेश दधिवाहन एवं महारानी मृगावती की यह पुत्री है। 'वसुमती' इसका नाम है। राजकुमारी, माता-पिता से बिछुड़ कर किस दुर्दशा में पड़ी और दासी बनी। यह सब सोच कर मेरा हृदय भर आया और इसीसे मैं रो पड़ा।"

"हे भद्र! यह पवित्र कुमारी तो विश्ववंद्य वीरप्रभु के घोर अभिग्रह को पूर्ण कर के महान् यशस्वी बन गई है। इसने पुण्य का अखूट भण्डार भर लिया है। अब इसके लिये शोक करना व्यर्थ है"--शतानिक राजा ने कहा।

"अरे! यह कुमारी धारिणी की पुत्री वसुमती है? धारिणीदेवी तो मेरी बहिन है। यह तो मेरे लिये भी पुत्री के समान है। अब यह मेरे पास रहेगी"--महारानी मृगावती ने कहा।

भगवान् का पाँच दिन कम छह मास के तप का पारना, धनवाह सेठ के घर हुआ। पारना कर के भगवान् लौट गए। इसके बाद राजा ने दिव्य-वृष्टि में वर्षा हुआ सभी धन राज्य-भण्डार में ले जाने का सेवकों को आदेश दिया, तब शक्रेन्द्र ने कहा--"राजेन्द्र!

/ ऐसा ही कथन त्रि. श. पु. च. में 'चउपन्न महापुरिसचरियं' में और 'महावीर चरियं' में है। इनमें से किसी में भी ऐसा नहीं लिखा कि चन्दना की आँखों में आँसू नहीं देख कर भगवान् लौटे। भगवान् को लौटते देख कर चन्दना खेदित हुई और आँखों में आँसू आये। उसके आँसू देख कर भगवान् पलटे और बाकले लिये। बाद की किसी कथा में लिखा होगा। वैसे आँसू तो उसकी आँखों से बहते ही थे।

इस द्रव्य पर आपका नहीं, इस कुमारी का अधिकार है। भगवान् को पारणा इसने कराया है, आपने नहीं। अतएव इस धन की अधिकारिणी यही है। यह जिसे दे, वही ले सकता है।"

राजा ने चन्दना से पूछा--"शुभे ! तू ये रत्नादि किसे देना चाहती है ?"

--"इस द्रव्य पर स्वामीत्व इन सेठ का है। ये मेरे पालक-पोषक पिता हैं।"

चन्दना के निर्णय के अनुसार समस्त द्रव्य धनावह सेठ ने ग्रहण किया। शक्रेन्द्र ने शतानिक राजा से कहा--

"राजेन्द्र ! यह कुमारिका काम-भोग से विमुख है और चरम-शरीरी है। भगवान् महावीर को केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद यह भगवान् की प्रथम एवं प्रमुख शिष्या होगी। इसलिये जब तक भगवान् को केवलज्ञान नहीं हो जाय, तब तक आप इसका पालन करें।"

शक्रेन्द्र भगवान् को वन्दन कर के स्वर्ग चले गए। शतानिक राजा चन्दना को ले गया और अपनी पुत्रियों के साथ कवँरे अन्तःपुर में रखा और पालन करने लगा। चन्दना भगवान् को केवलज्ञान होने की प्रतीक्षा करती और संसार की अनित्यादि स्थिति का चिन्तन करती हुई रहने लगी।

धनावह सेठ ने अपनी मूला भार्या को घर से निकाल दी। उसके दुष्कर्म का उदय हो गया। वह अनेक प्रकार के रोग-शोकादि दुःखों को भोगती हुई और दुर्ध्यान में सुलगती हुई मर कर नरक में गई।

कौशाम्बी से विहार कर के भगवान् सुमंगल गाँव पधारे। यहाँ तीसरे स्वर्ग के स्वामी सनत्कुमारेन्द्र ने आ कर भगवान् को वन्दन-नमस्कार किया। सुमंगल से चल कर भगवान् सत्क्षेत्र पधारे। वहाँ माहेन्द्र कल्प का इन्द्र आया और भक्तिपूर्वक वन्दन-नमस्कार किया। वहाँ से प्रभु पालक गाँव पधारे। उस गाँव से भायल नामक वणिक यात्रार्थ जा रहा था। उसने भगवान् को सामने आते देखा, तो अपशकुन मान कर क्रोधित हुआ। वह खड्ग ले कर प्रभु को मारने आया। उस समय सिद्धार्थ व्यन्तर ने उसीके खड्ग से उसका मस्तक काट कर मार डाला *।

पालक गाँव से भगवान् चम्पा नगरी पधारे और स्वादिदत्त ब्राह्मण की यज्ञशाला में ठहरे। वहाँ भगवान् ने बारहवाँ चातुर्मास किया और चार महीने की दीर्घ तपस्या कर ली। यहाँ पूर्णभद्र और मणिभद्र नाम के दो यक्षेन्द्र रोज रात्रि के समय आ कर भगवान्

* यह देव भी अजीब है। क्या वह उसे बिना मारे नहीं हटा सकता था ?

को वन्दनादि भक्ति करते रहे। स्वादिदत्त ने सोचा कि ये महात्मा कोई विशिष्ट शक्ति सम्पन्न हैं, इसीसे देव इनकी भक्ति करते हैं। वह जिज्ञासा लिये हुए भगवान् के पास आ कर पूछने लगा;—

"भगवन् ! इस सारे शरीर और अंगोपांग में जीव किस प्रकार है ?"

"शरीर में रहा हुआ जीव "अहं" (मैं) हूँ--ऐसा जो मानता है, वही जीव है"—भगवान् ने कहा।

--"भगवन् ! वह जीव कैसा है"--पुनःप्रश्न

--"हाथ-पाँव और मस्तकादि से भिन्न जीव अरूपी है"--भगवान् का उत्तर

— "वह अरूपी जीव किस स्थान पर रहा है ? मुझे स्पष्ट दिखाइए।"

—"जीव इन्द्रियों से जाना-देखा नहीं जा सकता। यह इन्द्रि का नहीं, अनुभव का विषय है"--भगवान् ने कहा।

स्वादिदत्त ने जान लिया कि भगवान् तत्त्वज्ञ हैं। उसने भगवान् की भक्तिपूर्वक वन्दना की।

वहाँ से भगवान् जृंभक गाँव पधारे। वहाँ इन्द्र आया और वन्दना कर के कहने लगा;—"भगवन् ! अब थोड़े ही दिनों में आपको केवलज्ञान-केवलदर्शन प्रकट हो जायगा।"

वहाँ से भगवान् मेढ़क ग्राम पधारे। वहाँ चमरेन्द्र ने आ कर वन्दना की।

ग्वाले ने कानों में कीलें ठोकी

मेढक ग्राम से विहार कर के भगवान् षणमानी ग्राम पधारे और ग्राम के बाहर उद्यान में प्रतिमा धारण कर के ध्यानस्थ हो गए। यहाँ एक घोर असातावेदनीय कर्म भगवान् के उदय में आया। वासुदेव के भव में भगवान् ने जिस शय्यापालक के कानों में उबलता हुआ शीशा डलवाया था, वह पापकर्म यहाँ उदय में आया। उस शय्यापालक का जीव भव-भ्रमण करता हुआ मनुष्य-भव पाया। वह इसी गाँव में गोपालक था। गोपालक भगवान् के निकट अपने चरते हुए बैल छोड़ कर गायों को दुहने के लिए गाँव में चला गया। दूध दुहने के बाद वह लौटा, तो उसे अपने बैल वहाँ नहीं मिले। उसने भगवान् से पूछा—"मेरे बैल कहाँ है ?" भगवान् तो ध्यानस्थ थे। उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया, तो ग्वाला क्रोधित हो गया। वह आक्रोश पूर्वक बोला—

"अरे ओ पापी ! मेरे बैल कहाँ है ? बोलता क्यों नहीं ? तेरे ये कान है, या खड्डे ?"

जब भगवान् की ओर से कोई उत्तर नहीं मिला, तो उसका क्रोध उग्रतम हो गया। उसने काश की तीक्ष्ण सलाई ले कर भगवान् के दोनों कानों में—इस प्रकार ठोक दी, जिससे दोनों सलाइयों की नोक परस्पर जुड़ गई। इसके बाद कर्णरन्ध्र के बाहर रहे हुए सिरों को काट कर कानों के बराबर कर दिये, जिससे किसी को दिखाई नहीं दे। इतना कर के वह चला गया। इस घोर उपसर्ग से भगवान् को महा वेदना हुई, परन्तु भगवान् अपने ध्यान में मेरु के समान अडोल ही रहे।

वहाँ से विहार कर के प्रभु मध्य अपापा नगरी पधारे और पारणा लेने के लिए 'सिद्धार्थ' नामक व्यापारी के घर में प्रवेश किया। उस समय सिद्धार्थ के यहाँ उसका मित्र 'खरक' नामक वैद्य बैठा था। भगवान् के पधारने पर सिद्धार्थ ने भगवान् की वन्दना की और भक्तिपूर्वक आहार दिया। खरक वैद्य भगवान् की भव्य आकृति देखता ही रहा। उसे लगा कि इन महात्मा के मुखारविंद पर पीड़ा की झांई दिखाई दे रही है। उसने सिद्धार्थ से कहा—"मित्र ! इन महात्मा के शरीर में कहीं कोई शूल लगा हुआ है। उसकी पीड़ा इनके भव्य मुख पर स्पष्ट झलक रही है।"

सिद्धार्थ ने कहा—"यदि शल्य है, तो तुम देखो और बताओ कि किस स्थान पर शल्य लगा है।

वैद्य ने भगवान् के शरीर का सूक्ष्मतापूर्वक अवलोकन किया और बताया कि "किसी दुष्ट ने इन महामुनिश्वर के कानों में कीलें ठोक दी है।"

भगवान् चले गये। उसके बाद वैद्य ने कहा;—

"हा, वह मनुष्य था या राक्षस ?" वैद्य को कीलें ठोकने वाले की नीचता का विचार हुआ।

"मित्र ! तुम उस नीच की बात छोड़ो और ये कीलें निकाल कर इन महर्षि की पीड़ा मिटाओ। इनकी पीड़ा मेरे हृदय का शूल बन गई है। इनकी पीड़ा के निवारण के साथ ही मुझे शान्ति मिलेगी। यदि इस कार्य में मेरा सर्वस्व भी लग जाय तो मुझे चिन्ता नहीं होगी, परन्तु जब तक इन महर्षि की वेदना नहीं मिटेगी, तब तक मेरा हृदय भी अशान्त ही रहेगा। यदि मेरे और तुम्हारे प्रयत्न से भगवान् के दोनों शूल निकल गए और इन्हें शान्ति मिल गई, तो हम दोनों भव-सागर से पार हो जावेंगे।"

वैद्य बोला--"मित्र ! ये महात्मा क्षमा के सागर और परम श्रेष्ठ महामुनि हैं।

इनका शरीर सुदृढ़ एवं महान् बलशाली है। किसी मनुष्य की शक्ति नहीं कि इन पर इस प्रकार का अत्याचार करे। इन्होंने चाह कर शान्तिपूर्वक यह भयानक अत्याचार सहन किया है। इतना ही नहीं, ये इन शूलों को निकलवाने का प्रयत्न भी नहीं करते। हमने इन्हें पकड़ कर निरीक्षण-परीक्षण किया, परन्तु इन्होंने यह तक नहीं पूछा कि--"मेरे ये शूल निकल जावेंगे ? तुम निकाल दोगे ? मेरा कष्ट दूर हो जायगा ?" लगता है कि ये महात्मा शरीर-निरपेक्ष हो गए हैं--आत्म-निष्ठ हैं। इनकी सेवा तो परमोत्कृष्ट सेवा है। इसका लाभ तो लेना ही चाहिए।"

"बस अब बात करने का नहीं, काम करने का समय है। अब विलम्ब नहीं होना चाहिए"—सिद्धार्थ ने कहा।

तेलपात्र औषधी और कुछ सहायक ले कर सिद्धार्थ और वैद्य घर से चले। भगवान् तो उद्यान में पधार कर ध्यानस्थ हो गए थे। सिद्धार्थ और खरक-वैद्य, उपचार की सामग्री के साथ उद्यान में आये। उन्होंने भगवान् के शरीर पर तेल का खूब मर्दन करवाया, जिससे शरीर के सांधे ढीले हो गए। इसके बाद दो संडासे लिये और प्रभु के दोनों कानों से दोनों कीलों के सिरे पकड़ कर एक साथ खींचे, जिससे रक्त के साथ दोनों कीलें निकल गई। इससे भगवान् को महान् वेदना हुई /। इसके बाद रक्त पोंछ कर वैद्य ने संरोहिणी औषधी लगा कर, उन छिद्रों को बन्द कर दिये। भगवान् को शान्ति मिली। सिद्धार्थ श्रेष्ठी और खरक वैद्य ने शुभ अध्यवसाय एवं शुभयोग से देवायु का बन्ध किया और उस अधम ग्वाले ने सातवें नरक का आयु बांधा।

यह भगवान् पर छद्मस्थकाल का अन्तिम उपसर्ग था। भगवान् को जितने उपसर्ग हुए उनमें जघन्य उपसर्गों में कठपूतना का उपद्रव, मध्यम में संगम के कालचक्र का उपद्रव और उत्कृष्ट में कानों में से शूलोद्धार का उपसर्ग सर्वाधिक था। ग्वाले से प्रारंभ हुए उपसर्ग, ग्वाले के उपसर्ग से ही समाप्त हुए।

/ ग्रन्थकार लिखते हैं कि कानों से कीलें निकालते समय भगवान् को इतनी घोर वेदना हुई कि जो सहन नहीं हो सकी और भगवान् के मुँह से जोरदार चीख निकल गई। भगवान् के मुँह से निकले इस भयंकर नाद से उस उद्यान का नाम 'महाभैरव' हो गया। विचार होता है कि भगवान् ने शूलपाणी और संगम आदि के भयंकरतम उपसर्ग सहन किये। वे उस समय तो नहीं डिगे और चिल्लाहट नहीं हुई, फिर यहां कैसे हो गई ? गजसुकुमालजी के मस्तक पर आग जलाते हुए भी चिल्लाहट नहीं हुई और वे दृढ़ एवं अडोल रहे, तब तीर्थंकर भगवान् से कैसे हो गई ? इस पर विचार होना चाहिये। ग्रन्थकारों ने तो लिखा है।

श्रेणी में आरूढ़ हो कर भगवान् ने चारों घातीकर्मों का क्षय कर दिया और केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर लिया।

इन्द्रों के आसन कम्पायमान हुए। वे देव-देवियों के साथ हर्षोत्फुल्ल हो कर भगवान् के समीप आये। समवसरण की रचना हुई। भगवान् ने संक्षेप में धर्मदेशना दी जो इस प्रकार थी;--

धर्म-देशना

13वां चातुर्मास राजगृह नगरी में किया

"यह संसार, समुद्र के समान भयंकर है। इसका कारण कर्मरूपी बीज है। कर्म ही के कारण संसार-परिभ्रमण है। अपने किये हुए कर्मों के कारण विवेक-विकल बना हुआ प्राणी, संसार रूपी समुद्र में गोते लगाता रहता है। इसके विपरीत भव्य प्रासाद का निर्माण करने के समान शुद्ध हृदयवाले मनुष्य अपने शुभ कर्मों के फलस्वरूप ऊर्ध्वगति को प्राप्त होकर सुखी होते हैं।

कर्म-बन्ध का कारण प्राणी-हिंसा है। ऐसी पाप की जननी प्राणीहिंसा कभी नहीं करनी चाहिए। जिस प्रकार अपने प्राणों की रक्षा में जीव तत्पर रहता है, उसी प्रकार दूसरे प्राणियों के प्राण की रक्षा में भी तत्पर रहना चाहिए। जो अपनी पीड़ा के समान दूसरों की पीड़ा समझता है और उसे दूर करने की भावना रखता है, उसे असत्य नहीं बोल कर, सत्य वचन ही बोलना चाहिए। धन को जीव अपने प्राणों के समान प्रिय मानता है। जिसका धन हरण किया जाता है, उसे बड़ा आघात लगता है। कोई-कोई तो धन लूट जाने से प्राण भी खो देते हैं। मनुष्य के लिए धन बाह्य-प्राण है। किसी का धन हरण करना, उसके प्राण हरण करने के समान होता है। इसलिए बिना दी हुई कोई भी वस्तु कभी नहीं लेनी चाहिए। मैथुन में बहुत-से जीवों का मर्दन होता है। इसलिए मैथुन का सेवन कभी नहीं करना चाहिए। बुद्धिमान् पुरुष के लिए तो परब्रह्म (मोक्ष) प्रदाता ब्रह्मचर्य का ही सेवन करना उचित है। जिस प्रकार अधिक भार वहन करने के कारण बैल अशक्त एवं दुखी हो जाता है, उसी प्रकार परिग्रह के कारण जीव दुखी होकर अधोगति में जाता है।

इस प्रकार प्राणातिपातादि पाचों पाप भयंकर होते हैं। इनके दो-दो भेद हैं,--१ सूक्ष्म और २ बादर। यदि सूक्ष्म हिंसादि पाप का त्याग नहीं हो सके, तो सूक्ष्म के त्याग की भावना रखते । ही कर देना चाहिए।

७–संसार रूप महासागर से पार होंगे ।

८–केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त होगा ।

९–भगवान् की कीर्ति समस्त देवलोक और मनुष्यलोक में व्याप्त होगी ।

१०–सिंहासनारूढ़ हो कर देवों और मनुष्यों की महापरिषद में धर्मोपदेश करेंगे ‡ ।

भगवान् को केवलज्ञान-केवलदर्शन की प्राप्ति

छद्मस्थकाल में भगवान् ने इतनी तपस्या की––

छः मासिक तप १, चातुर्मासिक तप ९, दोमासिक ६, मासखमण १२, अर्द्धमासिक ७२, त्रिमासिक २, डेढ़मासिक २, ढ़ाईमासिक २, भद्र, महाभद्र और सर्वोतोभद्र प्रतिमा, पाँच दिन कम छःमासिक तप अभिग्रहयुक्त १, तेले १२, बेले २२९, अन्तिम रात्रि में कायोत्सर्गयुक्त भिक्षुप्रतिमा । कुल पारणे २४९ हुए । इस प्रकार दीक्षित होने के बाद साढ़े बारह वर्ष और एक पक्ष में तपस्या की । भगवान् ने एक उपवास और नित्यभक्त तो किया भी नहीं । सभी तपस्या जल-रहित—चौविहारयुक्त की ।

भगवान् अपापा नगरी से विहार कर के जृंभक गाँव पधारे । उस गाँव के निकट ऋजुवालिका नदी थी । गाँव के बाहर नदी के उत्तर तट पर शामाक नामक गृहस्थ का खेत था । वहाँ किसी गुप्त चैत्य के निकट शालवृक्ष के नीचे बेले के तप सहित उत्कटिक आसन से आतापना लेने लगे । वैशाख-शुक्ला दसमी का दिन था । दिन के चौथे प्रहर में हस्तोत्तर (उत्तरा फाल्गुनी) नक्षत्र एवं विजय-मुहूर्त में शुक्लध्यान में प्रविष्ट हुए, क्षपक-

---

‡ ग्रन्थकारों का मत है कि ये दस स्वप्न भगवान् ने प्रव्रज्या धारण की, उसके बाद—आठ-नौ मास में ही—देखे । किन्तु भगवती सूत्र में लिखा है कि—"**समणे भगवं महावीरे छउमत्थकालियाए अंतिमराइयंसि इमे दस महासुविणे पासित्ता णं पडिबुद्धे**" इसमें 'छद्मस्थकाल की अन्तिम रात्रि' कहा है । ग्रन्थकार अर्थ करते हैं—"छद्मस्थकाल की रात्रि का अन्तिम भाग" परन्तु यह अर्थ उचित नहीं लगता । रात्रि के अन्तिम भाग में आये हुए स्वप्न के फल ग्यारह-बारह वर्ष में मिले-यह मानने में नहीं आता । भगवती सूत्र के फलादेश के शब्द देखते तो शीघ्र फल मिलना ही ज्ञात होता है । सूत्रकार 'मोहमहापिशाच को पराजित कर देना' लिखे और उसका फल वर्षों बाद मिले—यह विश्वसनीय नहीं लगता । इसीलिए हमने इन्हें यहाँ स्थान दिया है । आगे ज्ञानी कहे वही सत्य है ।

इस रात्रि के पिछले प्रहर में मुहूर्तभर रात्रि शेष रहने पर भगवान् ने दस स्वप्न देखे। यथा--

१-एक महान् भयंकर पिशाच को जो तालवृक्ष के समान लम्बा था, इस पिशाच को स्वयं ने पछाड़ कर पराजित करते देखा।

२-एक श्वेतपंख वाले पुंसकोकिल (नर कोयल) को देखा।

३-चित्र-विचित्र पंखों वाले एक महान् पुंसकोकिल को देखा।

४-सर्वरत्नमय युगल (दो) माला देखी।

५-श्वेत वर्ण का महान् गोवर्ग (गायों का झुण्ड) देखा।

६-एक पद्म-सरोवर देखा जो चारों ओर से पुष्पों से सुशोभित था।

७-एक महान् समुद्र को तिर कर अपने को पार होते हुए देखा। जिसमें हजारों तरंगे उठ रही थी।

८-जाज्वल्यमान् सूर्य को देखा।

९-मानुषोत्तर पर्वत को वैडूर्य मणि जैसी अपनी आँतों से आवेष्ठित-परिवेष्ठित देखा।

१०-मेरु पर्वत की मन्दर-चूलिका पर रहे हुए सिंहासन पर अपने आपको बैठे देखा।

उपरोक्त दस स्वप्न भगवान् को आये। संयमी-जीवन के साढ़े बारह वर्षों में भगवान् को प्रथम और अन्तिम बार यह निद्रा--खड़े-खड़े ही--दर्शनावरणीय के उदय से आ गई। वे जाग्रत हुए। इन स्वप्नों और इनके फल का उल्लेख भगवती सूत्र श. १६ उ. ६ में है। फल का उल्लेख इस प्रकार हुआ है;--

१-भगवान् ने एक महान् वलिस्ट पिशाच को पछाड़ कर पराजित किया देखा, इसका फल यह हुआ कि उन्होंने मोहनीय महा-कर्म को समूल नष्ट कर दिया।

२-परम शुक्ल ध्यान प्राप्त करेंगे।

३-स्वसमय-परसमय रूप विचित्र प्रकार के भावों से युक्त द्वादशांगी का उपदेश देंगे।

४-दो प्रकार के धर्म का उपदेश देंगे--अगारधर्म और अनगारधर्म।

५-चार प्रकार का श्रमणप्रधान संघ स्थापित करेंगे--१ श्रमण २ श्रमणी ३ श्रावक और ४ श्राविका।

६-चार प्रकार के देवों से--भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिपी और वैमानिक--सेवित होंगे।

७–संसार रूप महासागर से पार होंगे ।
८–केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त होगा ।
९–भगवान् की कीर्ति समस्त देवलोक और मनुष्यलोक में व्याप्त होगी ।
१०–सिंहासनारूढ़ हो कर देवों और मनुष्यों की महापरिषद में धर्मोपदेश करेंगे ‡ ।

भगवान् को केवलज्ञान-केवलदर्शन की प्राप्ति

छद्मस्थकाल में भगवान् ने इतनी तपस्या की––

छः मासिक तप १, चातुर्मासिक तप ९, दोमासिक ६, मासखमण १२, अर्द्धमासिक ७२, त्रिमासिक २, डेढ़मासिक २, ढ़ाईमासिक २, भद्र, महाभद्र और सर्वोतोभद्र प्रतिमा, पाँच दिन कम छःमासिक तप अभिग्रहयुक्त १, तेले १२, बेले २२९, अन्तिम रात्रि में कायोत्सर्गयुक्त भिक्षुप्रतिमा । कुल पारणे २४९ हुए । इस प्रकार दीक्षित होने के बाद साढ़े बारह वर्ष और एक पक्ष में तपस्या की । भगवान् ने एक उपवास और नित्यभक्त तो किया भी नहीं । सभी तपस्या जल-रहित––चौविहारयुक्त की ।

भगवान् अपापा नगरी से विहार कर के जृंभक गाँव पधारे । उस गाँव के निकट ऋजुवालिका नदी थी । गाँव के बाहर नदी के उत्तर तट पर शामाक नामक गृहस्थ का खेत था । वहाँ किसी गुप्त चैत्य के निकट शालवृक्ष के नीचे बेले के तप सहित उत्कटिक आसन से आतापना लेने लगे । वैशाख-शुक्ला दसमी का दिन था । दिन के चौथे प्रहर में हस्तोत्तर (उत्तरा फाल्गुनी) नक्षत्र एवं विजय-मुहूर्त में शुक्लध्यान में प्रविष्ट हुए, क्षपक-

---

‡ ग्रन्थकारों का मत है कि ये दस स्वप्न भगवान् ने प्रव्रज्या धारण की, उसके बाद––आठ-नौ मास में ही––देखे । किन्तु भगवती सूत्र में लिखा है कि––"**समणे भगवं महावीरे छउमत्थकालियाए अंतिमराइयंसि इमे दस महासुविणे पासित्ता णं पडिबुद्धे**" इसमें 'छद्मस्थकाल की अन्तिम रात्रि' कहा है । ग्रन्थकार अर्थ करते हैं––"छद्मस्थकाल की रात्रि का अन्तिम भाग" परन्तु यह अर्थ उचित नहीं लगता । रात्रि के अन्तिम भाग में आये हुए स्वप्न के फल ग्यारह-बारह वर्ष में मिले––यह मानने में नहीं आता । भगवती सूत्र के फलादेश के शब्द देखते तो शीघ्र फल मिलना ही ज्ञात होता है । सूत्रकार 'मोहमहापिशाच को पराजित कर देना' लिखे और उसका फल वर्षों बाद मिले––यह विश्वसनीय नहीं लगता । इसीलिए हमने इन्हें यहाँ स्थान दिया है । आगे ज्ञानी कहे वही सत्य है ।

श्रेणी में आरूढ़ हो कर भगवान् ने चारों घातीकर्मों का क्षय कर दिया और केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर लिया।

इन्द्रों के आसन कम्पायमान हुए। वे देव-देवियों के साथ हर्षोत्फुल्ल हो कर भगवान् के समीप आये। समवसरण की रचना हुई। भगवान् ने संक्षेप में धर्मदेशना दी जो इस प्रकार थी;--

धर्म-देशना

13वां चातुर्मास राजगृह नगरी में किया

"यह संसार, समुद्र के समान भयंकर है। इसका कारण कर्मरूपी बीज है। कर्म ही के कारण संसार-परिभ्रमण है। अपने किये हुए कर्मों के कारण विवेक-विकल बना हुआ प्राणी, संसार रूपी समुद्र में गोते लगाता रहता है। इसके विपरीत भव्य प्रासाद का निर्माण करने के समान शुद्ध हृदयवाले मनुष्य अपने शुभ कर्मों के फलस्वरूप ऊर्ध्वगति को प्राप्त होकर सुखी होते हैं।

कर्म-बन्ध का कारण प्राणी-हिंसा है। ऐसी पाप की जननी प्राणीहिंसा कभी नहीं करनी चाहिए। जिस प्रकार अपने प्राणों की रक्षा में जीव तत्पर रहता है, उसी प्रकार दूसरे प्राणियों के प्राण की रक्षा में भी तत्पर रहना चाहिए। जो अपनी पीड़ा के समान दूसरों की पीड़ा समझता है और उसे दूर करने की भावना रखता है, उसे असत्य नहीं बोल कर, सत्य वचन ही बोलना चाहिए। धन को जीव अपने प्राणों के समान प्रिय मानता है। जिसका धन हरण किया जाता है, उसे बड़ा आघात लगता है। कोई-कोई तो धन लूट जाने से प्राण भी खो देते हैं। मनुष्य के लिए धन बाह्य-प्राण है। किसी का धन हरण करना, उसके प्राण हरण करने के समान होता है। इसलिए बिना दी हुई कोई भी वस्तु कभी नहीं लेनी चाहिए। मैथुन में बहुत-से जीवों का मर्दन होता है। इसलिए मैथुन का सेवन कभी नहीं करना चाहिए। बुद्धिमान् पुरुष के लिए तो परब्रह्म (मोक्ष) प्रदाता ब्रह्मचर्य का ही सेवन करना उचित है। जिस प्रकार अधिक भार वहन करने के कारण बैल अशक्त एवं दुखी हो जाता है, उसी प्रकार परिग्रह के कारण जीव दुखी होकर अधोगति में जाता है।

इस प्रकार प्राणातिपातादि पाचों पाप भयंकर होते हैं। इनके दो-दो भेद हैं,--१ सूक्ष्म और २ बादर। यदि सूक्ष्म हिंसादि पाप का त्याग नहीं हो सके, तो सूक्ष्म के त्याग की भावना रखते हुए बादर पाप का तो सर्वथा त्याग ही कर देना चाहिए।

प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह, इन पाँच पापों का सर्वथा त्याग कर के पांच महाव्रतों का पालन करना चाहिए। इससे मनुष्य, सभी दुखों का अन्त कर के मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

भगवान् महावीर प्रभु की धर्म-देशना का कुछ स्वरूप 'उववाई' सूत्र में दिया है, जो इस प्रकार है।

"भव्यों! षट् द्रव्यात्मक लोक का अस्तित्व है और आकाशात्मक अलोक का भी अस्तित्व है। जीव है, अजीव है, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, वेदना और निर्जरा भी है। अरिहन्त, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव होते हैं। नरक और नैरियक भी हैं, तिर्यंच जीव हैं। ऋषि, देवलोक, देवता और इन सब से ऊपर सिद्धस्थान तथा उसमें सिद्ध भगवान् भी हैं। मुक्ति है। अठारह प्रकार के पाप-स्थान हैं, और इन पाप-स्थानों में निवृत्तिरूप धर्म भी है। अच्छे आचरणों का फल अच्छा—सुखदायक होता है और बुरे आचरणों का फल दुःखदायक होता है। जीव पुण्य और पाप के परिणाम स्वरूप बन्ध दशा को प्राप्त होता हुआ संसार में परिभ्रमण करता है। पाप और पुण्य, अपनी प्रकृति के अनुसार शुभाशुभ फल देते हैं।

यह निर्ग्रंथ प्रवचन ही सत्य है। यह उत्तमोत्तम, शुद्ध, परिपूर्ण और न्याय सम्पन्न है। माया निदान और मिथ्या-दर्शनरूप त्रिशल्य को दूर करने वाला है। सिद्धि, मुक्ति और निर्वाण का मार्ग है। निर्ग्रंथ-प्रवचन ही सत्य अर्थ का प्रकाशक है, पूर्वापर अविरुद्ध है और समस्त दुःखों को नाश करने का मार्ग है। इस मार्ग पर चलने वाले मनुष्य समस्त दुःखों का नाश कर के सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाते हैं।"

"जो महान् आरंभ करते हैं, अत्यन्त लोभी (परिग्रही) होते हैं, पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा करते हैं और मांस-भक्षण करते हैं, वे नरक-गति को प्राप्त होते हैं।"

"माया चारिता-कपटाई करने से, दांभिकता पूर्वक दूसरों को ठगने से, झूठ बोलने से और कम देने तथा अधिक लेने के लिए खोटा तोल-नाप रखने से, तिर्यञ्च आयु का बन्ध होता है।

'प्रकृति की भद्रता, विनयशीलता, जीवों की अनुकम्पा करने से तथा मत्सरता = अदेखाई नहीं करने से मनुष्य आयु का बन्ध होता है।"

"सराग-संयम से, श्रावक के व्रतों का पालन करने से, अकाम-निर्जरा से और अज्ञान तप करने से देवगति के आयुष्य का बन्ध होता है।"

"नरक में जाने वाले महान् दुःखी होते हैं। तिर्यञ्च में शारीरिक और मानसिक दुःख बहुत उठाना पड़ता है। मनुष्य गति भी रोग, शोक आदि दुःखों से युक्त है। देवलोक में देवता सुख का उपभोग करते हैं। जीव नाना प्रकार के कर्मों से बन्धन को प्राप्त होता है और धर्म के आचरण (संवर-निर्जरा) से मोक्ष प्राप्त करते हैं। राग-द्वेष में पड़ा हुआ जीव महान् दुःखों से भरे हुए संसार-सागर में गोते लगाता ही रहता है—डूबता-उतराता रहता है, किन्तु जो राग-द्वेष का अन्त कर के वीतरागी होते हैं, वे समस्त कर्मों को नष्ट कर के शाश्वत सुखों को प्राप्त कर लेते हैं।"

इस प्रकार परम तारक भगवान् महावीर प्रभु ने श्रुतधर्म = शुद्ध श्रद्धा का उपदेश किया, इसके बाद चारित्र-धर्म का उपदेश करते हुए फरमाया कि--

"चारित्र धर्म दो प्रकार का है—१ पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। इस प्रकार बारह व्रत और अन्तिम संलेखणा रूप अगार धर्म है और २--पाँच महाव्रत तथा रात्रि-भोजन त्याग रूप--अनगार धर्म है। जो अनगार और श्रावक अपने धर्म का पालन करते हैं, वे आराधक होते हैं।" (उववाई सूत्र)

"सभी जीवों को अपना जीवन प्रिय है। वे बहुत काल तक जीना चाहते हैं। सभी जीवों को सुख प्रिय है और दुःख तथा मृत्यु अप्रिय है। कोई मरना अथवा दुखी होना नहीं चाहते हैं।" (इसलिए हिंसा नहीं करनी चाहिए) [आचारांग १-२-३]

"भूतकाल में जितने भी अरिहंत भगवन्त हुए हैं और जो वर्त्तमान में हैं, तथा भविष्य में होंगे, उन सब का यही उपदेश है, यही कहते हैं, यही प्रचार करते हैं कि छोटे-बड़े सभी जीवों को मत मारो, उन्हें अपनी अधीनता (आज्ञा) में मत रखो, उन्हें बन्धन में मत रखो, उन्हें क्लेशित मत करो और उन्हें त्रास मत दो। यह धर्म शुद्ध है, शाश्वत है, नित्य है। ऐसा जीवों के दुःखों को जानने वाले भगवन्तों ने कहा है। इस पर श्रद्धा कर के आचरण करना चाहिए।" (आचारांग १-४-१)

"जीव अपनी पापी वृत्ति से उपार्जन किये हुए अशुभ कर्मों के कारण कभी नरक में चला जाता है, तो कभी एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय होकर महान् दुःखों का अनुभव करता है। शुभ कर्म के उदय से कभी वह देव भी हो जाता है"।

"अपने उपार्जन किये हुए कर्मों से कभी वह उच्चकुलीन क्षत्रीय हो जाता है, तो कभी नीचकुल में चांडाल आदि हो जाता है।"

"कर्म-बन्ध के कारण जीव अत्यन्त वेदनावाली नरकादि मनुष्येतर योनियों में जा कर अनेक प्रकार के दुःख भोगता है और जब पाप-कर्मों से हलका होता है, तो मनुष्य-भव प्राप्त करता है। इस प्रकार मनुष्य-भव महान् दुर्लभ है।"

"यदि मनुष्य-जन्म भी मिल गया, तो धर्म-श्रवण का योग मिलना दुर्लभ है और पुण्य-योग से कभी धर्म सुनने का सुयोग मिल गया, तो सद्धर्म पर श्रद्धा होना महान् दुर्लभ है। बहुत-से लोग तो धर्म सुन कर और प्राप्त करके फिर पतित हो जाते हैं।"

"धर्म-श्रवण करके प्राप्त भी कर लिया, तो उसमें पुरुषार्थ करके प्रगति साधना महान् कठिन है। धर्म वहीं ठहरता है, जिसका हृदय सरल हो।"

"हे भव्य जीवों! मनुष्य जन्म, धर्म-श्रवण, धर्म-श्रद्धा और धर्म में पुरुषार्थ, इन चार अंगों की साधना में बाधक होने वाले पाप-कर्मों को एवं इनके दुराचारादि कारणों को दूर करो और ज्ञानादि धर्म की वृद्धि करो। इससे उन्नत हो सकोगे' (उत्तराध्ययन ३)।

"टूटा हुआ जीवन फिर नहीं जुड़ता, इसलिए सावधान हो जाओ, आलस्य और आसक्ति को छोड़ो। समझ लो कि जब वृद्धावस्था आयगी और शरीर में शिथिलता तथा रोगों का आतंक होगा, तब तुम्हारी कौन रक्षा करेगा? जब मौत आयगी तब सब धन = अनेक प्रकार के पाप से संग्रह किया हुआ धन, यहीं धरा रह जायगा और जीव पाप का फल भुगतने के लिए नरक में जा कर दुखी होगा। जीव अपने दुष्कर्मों से उसी प्रकार नरक में जाता है, जिस प्रकार सेंध लगाता हुआ चोर, पकड़ा जाकर जेलखाने में जाकर दुःख पाता है, क्योंकि किये हुए कर्मों का फल भुगते बिना छुटकारा नहीं होता। जिन बन्धुजनों अथवा पुत्रादि के लिए पाप किये जाते हैं, वे फल-भोग के समय दुःख में हिस्सा नहीं लेते। जो यह सोचते हैं कि 'अभी क्या है, बाद में---पिछली अवस्था में धर्म कर लेंगे,' वे मृत्यु के समय पछतावेंगे। इसलिए प्रमाद को छोड़ कर धर्म का आचरण करो" (उत्तरा० ४)।

"यह निश्चित्त है कि धन-संपत्ति और कुटुम्ब को छोड़ कर परलोक जाना पड़ेगा, तो फिर इस कुटुम्ब और वैभव में क्यों आसक्त हो रहे हो? यह जीवन और रूप बिजली के चमत्कार के समान चंचल है, फिर इस पर क्यों मोहित हो रहे हो? भव्य! स्त्री, पुत्र, मित्र और बान्धव, जीते जी ही साथी होते हैं, मरने पर कोई साथ नहीं जाते। पुत्र के मरने पर पिता बड़े दुःख के साथ उसे घर से निकाल कर जला देता है, इसी प्रकार पिता के मरने पर पुत्र दुखित हो कर पिता को निकाल देता है और मरने के बाद उसकी संप.ति का स्वामी बन कर उपभोग करता है। जिस धन और स्त्री पर मनुष्य मोहित

होता है, उसी धन और स्त्री का उसकी मृत्यु के बाद दूसरे लोग उपभोग करते हैं। इसलिए मोह को छोड़ कर धर्म का आचरण करो"। (उत्तराध्ययन १८)

भगवान् के अपने उपदेश में प्रायः यही विषय रहता है कि--"जीव अपने अज्ञान एवं दुराचार से किस प्रकार वन्धनों में जकड़ता है और परिणाम स्वरूप दुःख भोगता है। समस्त बन्धनों से मुक्त होने का उपाय क्या है। किस रीति से जीव समस्त दुःखों का अन्त करके मुक्त होकर परम सुखी बन जाता है। इस प्रकार के भावों का भगवान् अपने उपदेश में प्रतिपादन करते हैं। (ज्ञाता--१)

उस परिषद में सर्वविरत होने योग्य कोई मनुष्य नहीं था--वह अभावित परिषद थी। इसलिये भगवान् की वह देशना बिना सर्वविरति के खाली ही गई। यह आश्चर्यभूत घटना थी। क्योंकि तीर्थङ्कर भगवन्तों की प्रथम देशना व्यर्थ नहीं जाती, कोई सर्वविरत होता ही है। परन्तु भगवान् महावीर की देशना खाली गई। इन्द्रादि देवों ने केवल-महोत्सव कर के समवसरण की रचना की थी। इसलिये भगवान् ने कल्पानुसार देशना दी।

भगवान् जृंभिका से विहार कर मध्यम-अपापा नगरी पधारे। इस नगरी के सोमिल नामक धनाढ्य ब्राह्मण ने एक महायज्ञ का आयोजन किया था। इस यज्ञ को सम्पन्न करवाने के लिये उसने अपने समय के वेदों के पारगामी, महाविद्वान ऐसे ग्यारह ब्राह्मण उपाध्यायों को आमन्त्रित किया था। उनका परिचय इस प्रकार है;--

१-३ इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति। ये तीनों बान्धव थे। इनका निवास-स्थान गोवर ग्राम था। इनके पिता का नाम 'वसुभूति,' माता का नाम 'पृथ्वी' था। वे 'गौतम गोत्रीय' थे। इनकी उम्र क्रमशः ५०, ४६ और ४२ वर्ष थी।

४ कोल्लाक सन्निवेश के भारद्वाजगोत्रीय ब्राह्मण 'धनमित्र' की भार्या 'वारुणी' के पुत्र थे। उनका नाम 'व्यक्त' था। इनकी अवस्था ५० वर्ष थी।

५ सुधर्मा। ये भी कोल्लाक सन्निवेश के अग्निवेश्यायन-गोत्रीय 'धम्मिल' ब्राह्मण की पत्नी 'भद्दिला' के अंगजात थे। ये भी ५० वर्ष के थे।

६ मंडितपुत्र। मौर्य सन्निवेश के वशिष्ठ गोत्रीय ब्राह्मण, 'धनदेव' पिता और 'विजयादेवी' माता से उत्पन्न हुए थे। ये ५३ वर्ष के थे।

७ मौर्यपुत्र। ये भी मौर्य ग्राम के निवासी काश्यप-गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता

का नाम 'मौर्य' और माता का नाम 'विजया'× था। ये ६५ वर्ष के थे।

× त्रि. श. पु. चरित्रकार लिखते हैं कि "मण्डितपुत्र और मौर्यपुत्र की माता तो एक ही है, परन्तु पिता दो हैं—धनदेव और मौर्य।" उनका कथन है कि धनदेव और मौर्य की माता सगी बहिनें थी। इसलिये ये मौसीपुत्र होने के कारण परस्पर भाई लगते थे। धनदेव की विजया पत्नी से मण्डित का जन्म हुआ। जन्म होने के पश्चात् धनदेव की मृत्यु हो गई। उस समय मौर्य अविवाहित था। वहाँ के लोक-व्यवहार के अनुसार विधवा विजयादेवी का पुनर्विवाह मौर्य के साथ हुआ और उससे मौर्यपुत्र का जन्म हुआ। प्रचलित लोक-व्यवहार के अनुसार विजया का पुनर्विवाह हुआ था। इसलिए यह अनुचित नहीं था।

आवश्यक भाष्य गा. ६४४ में भी लिखा है कि—"**मोरिअ सन्निवेसे दो भायर मंडि-मोरिआजाया**" गाथा ६४७ में इनके पिता का नाम "**धणदेव मोरिए**" लिखा है। इसकी टीका में—"**मंडिकस्स धनदेव, मौर्यस्य मौर्यः**" माता का उल्लेख गा. ६४८ में "**विजया-देवा**" की टीका में—"**मण्डिक-मौर्यपुत्राणां विजयदेवा पितृभेदेन, धनदेवे पञ्चत्वमुपागते मण्डिकपुत्रसहिता मौर्येणधृता, ततोमौर्योजातः अविरोधश्च तस्मिन् देशे इत्यदूषणम्।**"

उपरोक्त उल्लेख परममान्य आगम-विधान से बाधित है। इस उल्लेख में यह बताया गया है कि मंडितपुत्र बड़े और मौर्यपुत्र आयु में छोटे थे। परन्तु समवायांग सूत्र में लिखा है कि—

"**थेरे मंडियपुत्ते तीसंवासाइं सामण्णपरियायं पाउणित्ता सिद्धेबुद्धे जाव सव्वदुक्खप्पहीणे**" (सम. ३०) अर्थात् मंडितपुत्रजी ३० वर्ष की श्रमण-पर्याय पाल कर मुक्ति को प्राप्त हुए। आगे चल कर इसी सूत्र में लिखा है कि—

"**थेरे मंडियपुत्ते तेसीइं वासाउं सव्वाउयं पालइत्ता सिद्धे जावप्पहीणे**" (सम. ८३) अर्थात्—श्री मण्डितपुत्रजी ८३ वर्ष की समस्त आयु भोग कर सिद्ध हुए।

इन दोनों मूलपाठों में मण्डितपुत्रजी की श्रमणपर्याय ३० वर्ष और सर्वायु ८३ वर्ष लिखी है।

अब श्री मौर्यपुत्रजी के विषय में देखिये। इसी समवायांग सूत्र में लिखा है कि—

"**थेरे मोरियपुत्ते पणसट्ठिवासाइं अगारमज्झेवसित्ता मुंडेभवित्ता.........**" (सम. ६५) अर्थात्—श्री मौर्यपुत्रजी ६५ वर्ष गृहस्थवास में रहने के बाद श्रमणदीक्षा अंगीकार की। आगे लिखा कि—

"**थेरे मोरियपुत्ते पंचाणउइवासाइं सव्वाउयं पालइत्ता सिद्धे बुद्धे जावप्प-हीणे**" (सम. ९५) इसमें श्री मौर्यपुत्रजी की सर्वायु ९५ वर्ष की बतलाई है।

यह तो सर्वविदित है एवं सर्व स्वीकार्य है कि सभी गणधरों की दीक्षा एक ही दिन हुई थी और इन दोनों का निर्वाणकाल भी एक ही दिन हुआ था। अतएव दीक्षापर्याय ३० वर्ष थी। उपरोक्त

८ अकम्पित । ये मिथिला के निवासी गोतम-गोत्रीय ब्राह्मण थे । इनके पिता का नाम 'देवशर्म्मा' और माता का नाम 'जयंती' था । ये ४८ वर्ष के थे ।

९ अचलभ्राता । ये कोशला नगरी के हारित-गोत्रीय ब्राह्मण थे । इनके पिता का नाम 'वसु' और माता का नाम 'नन्दा' था । इनकी आयु उस समय ४६ वर्ष की थी ।

१० मेतार्य । ये मत्स्य देश की तुंगिका नगरी के कौडिण्य-गोत्रीय ब्राह्मण थे । पिता का नाम 'दत्त' और माता का नाम 'वरुणा' था । इनकी वय ३६ वर्ष थी ।

११ प्रभास । ये राजगृह के कौडिण्य-गोत्रीय ब्राह्मण थे । इनके पिता का नाम 'बल' और माता का नाम 'अतिभद्रा' था । इनकी वय उस समय सोलह वर्ष की थी ।

ये सभी पंडित अपने समय के प्रकाण्ड विद्वान थे और अपने-अपने सैकड़ों शिष्यों के साथ उस यज्ञ में उपस्थित हुए थे । बड़े समारोह एवं ठाठ से यज्ञ हो रहा था ।

उस समय भगवान् महावीर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो कर अपापा नगरी पधारे और महासेन उद्यान में विराजे । देवों ने भव्य समवसरण की रचना की । भगवान् महावीर ने भव्य जीवों को अपनी अतिशय-सम्पन्न गम्भीर वाणी से धर्म-देशना दी । भगवान् के समवसरण में देव-देवी भी आ रहे थे । देवों को आते हुए देख कर उपाध्याय इन्द्रभूति ने अपने साथी अन्य ब्राह्मणों से कहा—

"देखो इस यज्ञ का प्रभाव कि हमने मन्त्रोच्चार कर के देवों का आव्हान किया, तो मन्त्र-बल से आकर्षित हो कर देवगण साक्षात् ही यज्ञ में चले आ रहे हैं ।"

किन्तु जब देवगण यज्ञमण्डप के समीप हो कर, उपेक्षा करते हुए आगे चले गये, तो उस समय वहाँ उपस्थित लोग कहने लगे कि—

"नगर के बाहर उद्यान में सर्वज्ञ-सर्वदर्शी जिनेश्वर भगवान् पधारे हैं । ये देव उन भगवन्त की वन्दना करने जा रहे हैं ।"

लोगों के मुंह से 'सर्वज्ञ' शब्द सुनते ही इन्द्रभूति कोपायमान हो गए और कर्कश स्वर में बोले;—

आगमपाठों से दीक्षित होते समय मण्डितपुत्रजी की वय ५३ वर्ष और मौर्यपुत्रजी की ६५ वर्ष की थी । अर्थात् मण्डितपुत्रजी से मौर्यपुत्रजी वय से १२ वर्ष बड़े थे । ऐसी सूरत में मौर्यपुत्रजी, मण्डितपुत्रजी के छोटेभाई कैसे हो सकते हैं ? और दूसरे पति के योग से बाद में उत्पन्न होने की बात सत्य कैसे हो सकती है ?

लगता है कि गाँव और माता का एक नाम होने के कारण भ्रम हुआ होगा और इसीसे ग्रन्थकारों ने वैसा उल्लेख किया होगा । समवायांग ६५ की टीका में श्री अभयदेवसूरि भी टीका लिखते समय आश्चर्य में पड़ गए थे ।

"धिक्कार है इन देवों को ! क्या मेरे सामने और मुझ-से भी बढ़ कर कोई सर्वज्ञ है--इस संसार में ? सत्य ही कहा है कि--मरुदेश के लोग अमृत समान मधुर फल देने वाले आम्रवृक्ष को छोड़ कर केरड़ा के झाड़ के पास जाते हैं। अरे मनुष्य मूर्खता करे, तो वे अज्ञानी होने के कारण उपेक्षणीय हो सकते हैं, परन्तु देव भी उस पाखण्डी के प्रभाव में आ कर, उसके पास जाने की मूर्खता कर रहे हैं। लगता है कि यह पाखण्डी कोई महान् दंभी एवं धूर्त है। मैं इन मनुष्यों और उन देवों के देखते ही उस पाखण्डी की सर्वज्ञता का दंभ खुला करके उसके घमण्ड को छिन्नभिन्न कर दूंगा।

इस प्रकार कहते और कोप में सुलगते हुए इन्द्रभूतिजी अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ उस उपवन में गए।

इन्द्रभूति आदि गणधरों की दीक्षा

समवसरण की दैविक रचना और इन्द्रों द्वारा वंदित, अतिशय-सम्पन्न भगवान् महावीर को देखते ही इन्द्रभूतिजी आश्चर्यान्वित हो गये। सहसा उनके हृदय ने कहा-- "अहो, कितनी भव्यता ? कैसा अलौकिक व्यक्तित्व ! सहसा उनके कानों में भगवान् का सम्बोधन गुंजा—

"इन्द्रभूति गौतम ! तुम आये। तुम्हारा आगमन श्रेयस्कर होगा।" इन्द्रभूति ने सोचा—"क्या ये मेरा नाम और गोत्र जानते हैं ?" फिर अपने-आप ही समाधान हो गया--"मैं तो जगत्-प्रसिद्ध हूँ, इसलिये मुझे ये जानते ही होंगे। परन्तु यदि ये मेरे मन में रहे हुए गुप्त सन्देह को जान ले और उसका अपनी ज्ञान-गरिमा से निवारण कर दे, तब मैं इन्हें सर्वज्ञ-सर्वदर्शी मानूं।" दर्शन मात्र से गर्व नष्ट होने और महान् विभूति स्वीकार करते हुए भी सर्वज्ञता का परिचय पाने के लिए इन्द्रभूतिजी ने विचार किया। उनके संशय को नष्ट करने वाली मधुर वाणी पुनः सुनाई दी;—

"हे गौतम ! तुम्हारे मन में जीव के अस्तित्व में ही सन्देह है। जीव के अरूपी होने के कारण तुम सोचते हो कि यदि जीव होता, तो वह घट-पटादिवत् प्रत्यक्ष दिखाई देता। अत्यंत अप्रत्यक्ष होने के कारण तुम जीव का आकाश-कुसुमवत् अभाव मानते हो। किन्तु तुम्हारा विचार असत्य है। जीव है, वह चित्त, चेतन, ज्ञान, विज्ञान और संज्ञा आदि लक्षणों से अपना अस्तित्व प्रकट कर रहा है। तुम्हें श्रुतियों में आये शब्द कि—"विज्ञान-

घन आत्मा भूतसमुदाय से ही उत्पन्न होती है और उसी में तिरोहित हो जाती है *" इस पर से तुम जीव का अस्तित्व नहीं मानते। किन्तु यदि जीव नहीं हो, तो पुण्य-पाप का पात्र ही कौन हो और यज्ञ आदि करने की आवश्यकता ही क्या है ? तुमने 'विज्ञानघन' आदि श्रुति का अर्थ ठीक नहीं समझा। विज्ञान-घन का अर्थ 'भूत-समुदायोत्पन्न चेतन-पिण्ड' नहीं, किन्तु जीव की उत्पाद-व्यय युक्त ज्ञानपर्याय है। आत्मा की ज्ञान-पर्याय का आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। 'भूत' शब्द का अर्थ---'पृथिव्यादि पंच महाभूत' नहीं कर के जीव-अजीव रूप समस्त ज्ञेय पदार्थों से है," इत्यादि।

गौतम समझ गये। उनका सन्देह नष्ट हो गया। वे भगवान् के चरणों में नत-मस्तक हो कर बोले—"भगवन् ! मैं अज्ञान रूपी अन्धकार में भटक रहा था और अपने को समर्थ मान रहा था। आज आपकी कृपा से मेरा अज्ञान नष्ट हो गया। आपने मेरा भ्रम दूर कर दिया। आप समर्थ हैं, सर्वज्ञ हैं। मैं आपका शिष्य हूँ। मुझे स्वीकार कीजिये--प्रभो !"

इन्द्रभूतिजी के साथ उनके ५०० छात्र शिष्य भी प्रव्रजित होकर निर्ग्रंथ-श्रमण बन गए। उन्हें कुबेर ने धर्मोपकरण ला कर दिये। ये इन्द्रभूतिजी भगवान् के प्रथम गणधर हुए।

२ इन्द्रभूति के दीक्षित होने की बात अग्निभूति के कानों तक पहुँची तो वे चकराये-- "अरे, इन्द्रभूतिजी जैसा समर्थ एवं अद्वितीय विद्वान भी उस इन्द्रजालिक के प्रभाव में आ कर ठगा गये ? मैं जाता हूँ और देखता हूँ कि वह कैसे ठग सकता है ?" अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ अग्निभूति भी समवसरण में आये और ये भी इन्द्रभूतिजी के समान आश्चर्य से चकित रह गए। वे कल्पना भी नहीं कर सके कि इतना लोकोत्तम व्यक्तित्व भी किसी मनुष्य का हो सकता है। भगवान् ने उन्हें पुकारा—

"हे गौतम-गोत्रीय अग्निभूति ! तुम्हारे मन में कर्म के अस्तित्व के विषय में सन्देह है। जिस प्रकार जीव आँखों से दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार कर्म भी दिखाई नहीं देते। किन्तु जीव अरूपी और कर्म रूपी कहे जाते हैं और अमूर्त जीव को रूपी कर्मों का बन्धन माना जाता है। क्या कहीं अरूपी भी रूपी कर्मों से बन्ध सकता है ? और मूर्त

* विशेषावश्यक गा. १५४९ आदि और उसकी वृत्ति पर से। इसमें गणधर-वाद बहुत विस्तार से दिया है। यह पृथक से देने का विचार है। लगता है कि आचार्य श्री ने यह विस्तार किया है। संकेत मात्र से समझने वाले गणधरों को भगवान् ने थोड़े में ही समझाया होगा।

कर्म, अमूर्त जीव को पीड़ित कर सकता है ?" इस प्रकार का सन्देह तुम्हारे मन में बसा हुआ है। परन्तु तुम्हारी शंका व्यर्थ है, क्योंकि कर्म मूर्त ही है—अतिशय ज्ञानियों के प्रत्यक्ष है। तुम्हारे जैसे छद्मस्थ नहीं देख सके, इसलिए कर्म अरूपी नहीं हो सकते। किन्तु छद्मस्थ भी जीवों की विभिन्नता एवं विचित्रता देख कर अनुमान से कर्म का अस्तित्व एवं कार्य प्रत्यक्ष देख सकते हैं। कर्म के कारण ही सुख-दुःखादि विचित्रता होती है। कई जीव मनुष्य हैं और कई पशु-पक्षी आदि, कोई मनुष्य समृद्ध हैं, तो कोई दरिद्र आदि प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। इन सब का कारण कर्म है। तथा अमूर्त आकाश का मूर्त घट आदि से सम्बन्ध के समान अमूर्त आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध जाना जा सकता है। जिस प्रकार मूर्त औषधी एवं विष से अमूर्त आत्मा का अनुग्रह और उपघात होना प्रत्यक्ष है। इस प्रकार अमूर्त आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध जाना जा सकता है।"

अग्निभूतिजी का समाधान हो गया। वे भी अपने पाँच सौ विद्यार्थियों के साथ दीक्षित हो गए। अग्निभूतिजी भगवान् के दूसरे गणधर हुए।

३ जब इन्द्रभूति और अग्निभूति दोनों ही निर्ग्रंथ-श्रमण बन गए, तो वायुभूति ने सोचा—"मेरे दोनों समर्थ-बन्धुओं पर कुछ क्षणों में ही विजय प्राप्त कर के अपना शिष्य बना लेने वाला अवश्य ही सर्वज्ञ होगा। मैं भी जाऊँ और अपने दीर्घकालीन सन्देह को दूर करूँ।" इस प्रकार विचार कर वे भी अपने पाँच सौ छात्रों के साथ समवसरण में आये। भगवान् ने कहा—

वायुभूति ! तुम भी एक भ्रम में उलझ रहे हो। तुम्हें शरीर से भिन्न जीव का अस्तित्व स्वीकार नहीं है। तुम मानते हो कि जिस प्रकार जल में बुलबुला प्रकट हो कर पुनः उसी में लय हो जाता है, उसी प्रकार शरीर से ही चेतना प्रकट होती है और शरीर में ही विलीन हो जाती है, शरीर से भिन्न जीव नहीं हो सकता। किन्तु तुम्हारा ऐसा विचार सत्य से वंचित है। क्योंकि जीव सभी प्राणियों को कुछ अंशों में प्रत्यक्ष भी है। इच्छा, आकांक्षा आदि गुण प्रत्यक्ष है। इच्छा, जीव—चेतना में ही होती है, जड़ शरीर में नहीं। जीव में संवेदना है और वह अनुभव करता है। यह अनुभव शरीर नहीं करता। जीव, शरीर और इन्द्रियों से भिन्न है। किसी अंग या इन्द्रिय का छेदन हो जाने पर भी उसके द्वारा पूर्व में हुआ अनुभव नष्ट नहीं होता, स्मृति में बना रहता है।

भगवान् की सर्व सन्देह नष्ट करने वाली वाणी सुन कर वायुभूतिजी भी अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ दीक्षित हो गए। वायुभूतिजी तीसरे गणधर हुए।

४ व्यक्त पंडित ने सोचा—"सचमुच वह सर्वज्ञ-सर्वदर्शी ही है—जिसने तीनों

महाविद्वानों को संतुष्ट कर अपने में मिला लिया। अब मैं क्यों चूकूँ। मैं भी अपना भ्रम मिटा कर सत्य का आदर करूँ।" वे भी अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ भगवान् के समीप पहुँचे। भगवान् ने कहा--

"हे व्यक्त ! तुम तो सर्वत्र शून्य ही देखते हो। तुम्हें तो पृथिव्यादि पाँच भूत भी मान्य नहीं है। ये सब तुम्हें 'जल-चन्द्र-बिम्बवत्' लगते हैं। परन्तु तुम्हारा विचार मिथ्या है। क्योंकि जिनका अभाव ही है--अस्तित्व ही नहीं है--सब शून्य ही है, तो फिर संशय किस बात का ? सद्भाव के विषय में संशय होता है। जैसे--रात्रि में ठूंठ देख कर, मनुष्य होने का संशय होता है, आकाश-कुसुम, शश-शृंग, के अभाव का संशय भी आकाश और कुसुम तथा शशक और शृंग का भिन्न अस्तित्व तो बतलाते ही हैं।"

व्यक्त याज्ञिक भी अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ दीक्षित हो गए। ये चौथे गणधर हुए।

५ सुधर्मा भी अपना सन्देह निवारण करने के लिये अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ भगवान् के समीप आये। भगवान् ने पूछा,—

"हे सुधर्मा ! तुम मानते हो कि जीव की अवस्था परभव में भी एक-सी रहती है। जो इस भव में पुरुष है, वह आगे के भव में भी पुरुष ही होगा, क्योंकि कारण के अनुरूप ही कार्य होता है। शालि के बीज से शालि ही उत्पन्न होती है, जौ, गेहूँ आदि नहीं।" तुम्हारा यह विचार भी ठीक नहीं है। मनुष्य मृदुता, सरलतादि से मनुष्यायु का उपार्जन करता है, परन्तु जो मायाचारितादि पापों का आचारण करे, वह भी मनुष्य ही हो, ऐसा नहीं हो सकता। कारण के अनुरूप ही कार्य होने का कथन भी एकान्त नहीं है, क्योंकि शृंग आदि में से शर आदि की उत्पत्ति भी होती है।"

सुधर्मा भी संशयातीत होकर शिष्यों सहित भगवान् के शिष्य बन गए और पाँचवें गणधर हुए।

६ मंडितपुत्र साढ़े तीन सौ छात्रों सहित आये। भगवान् ने उन्हें संबोधन कर कहा,-

"तुम्हारा भ्रम, बन्धन और मुक्ति से संबंधित है। परन्तु बन्धन और मुक्ति आत्म की होती है। मिथ्यात्व-अविरति आदि से किये हुए कर्म का सम्बन्ध ही बन्धन है। उस बन्धन रूपी रस्सी से खींचा हुआ जीव, नरकादि गतियों में जाता है, और ज्ञान-दर्शनादि का आचरण कर के उन बन्धनों का छेदन करता है, उनसे मुक्त होता है। यद्यपि जीव और कर्म का सम्बन्ध प्रवाह रूप से अनादि से है, परन्तु जिस प्रकार अग्नि से पत्थर और स्वर्ण पृथक् हो जाते हैं, उसी प्रकार वे बन्धन सर्वथा कट कर मुक्ति भी हो सकती है।"

मंडितपुत्र भी शिष्यों सहित दीक्षित हो कर छठे गणधर हुए।

७ मौर्यपुत्र भी अपने साढ़े तीन सौ छात्रों के साथ उपस्थित हुए। भगवान् ने कहा—

"तुम्हें देवों के अस्तित्व में सन्देह है। परन्तु देव तो यहाँ तुम्हारे समक्ष उपस्थित हैं। तुमने पहले देवों को साक्षात् नहीं देखा। इसका कारण यह कि एक तो मनुष्यलोक की दुर्गन्ध बाधक है, दूसरे देवलोक के पाँचों इन्द्रियों के वादिन्त्रादि विलास में रत रहने से वे देवलोक से यहाँ प्रायः नहीं आते। इससे अभाव नहीं मानना चाहिए। यों अरिहंतादि के प्रभाव से देव आते भी हैं।"

मौर्यपुत्र समझगए और अपने साढ़े तीन सौ छात्रों के साथ दीक्षित हो कर सातवें गणधर वने।

८ अकंपित को भगवान् ने कहा,—तुम नरक गति नहीं मानते। परन्तु नरक गति भी है। नारक जीव अत्यंत पराधीन हैं। इसलिए वे यहाँ नहीं आ सकते और तुम्हारे जैसे मनुष्य नारक तक पहुँच नहीं सकते। वे प्रत्यक्ष ज्ञानी के अतिरिक्त अन्य मनुष्यों के देखने में नहीं आते। हां, युक्तिगम्य हैं। क्षायिक ज्ञानवाले उन्हें प्रत्यक्ष देखते हैं। क्षायिक ज्ञानी इस मनुष्य लोक में भी हैं। मैं स्वयं तुम्हारी शंका प्रकट कर रहा हूँ। अतएव तुम्हें सन्देहातीत होना चाहिये।"

अकंपितजी अपने तीन सौ शिष्यों के साथ प्रव्रजित होकर भगवान् के आठवें गणधर हुए।

९ अचलभ्राता को भगवान् ने कहा——"तुम्हें पुण्य और पाप में सन्देह नहीं करना चाहिए। पुण्य और पाप का फल तो संसार में प्रत्यक्ष दिखाई देता है। दीर्घ आयुष, आरोग्यता, धन, रूप, उत्तम कुल में जन्म आदि पुण्य-फल और इनके विपरीत पापफल प्रत्यक्ष है। इसमें सन्देह नहीं करना चाहिये।"

अचलभ्राता अपने तीन सौ शिष्यों सहित दीक्षित हुए। वे नौवें गणधर हुए।

१० मेतार्य से भगवान् ने कहा—"तुम्हें भवान्तर में प्राप्त होने रूप परलोक मान्य नहीं है। तुम देहविलय के साथ ही जीव को भी नष्ट होना मानते हो, इसलिए परलोक नहीं मानते। तुम्हारी मान्यता असत्य है। जीव की स्थिति एवं स्वरूप सभी भूतों से भिन्न है। सभी भूतों को एकत्रित करने पर भी उनमें से चेतना उत्पन्न नहीं होती। विना चेतना के जीव कैसे हो? चेतना जीव का धर्म है। यह भूतों से भिन्न है। चेतनावंत जीव परलोक प्राप्त करता है और जातिस्मरणादिज्ञान से पूर्वभव का स्मरण होता है।"

मेतार्यजी भी तीन सौ छात्रों के साथ दीक्षित हुए। ये दसवें गणधर हुए।

११ प्रभासजी से भगवान् ने कहा—"तुम्हें मोक्ष में सन्देह है। परन्तु वन्धनों के

कट जाने पर मोक्ष हो जाता है। वेद से और जीवों की विविध प्रकार की अवस्था से, कर्म का अस्तित्व सिद्ध है। शुद्ध ज्ञान-दर्शन और चारित्र से कर्म-बन्धन कटते हैं। इससे मुक्ति होती है। अतिशयज्ञानी के लिए मुक्ति प्रत्यक्ष है।"

प्रभासजी दीक्षित हो कर ग्यारहवें गणधर हुए। इनके तीन सौ शिष्य भी दीक्षित हो गए।

इस प्रकार उत्तम कुल में उत्पन्न ग्यारह महान् विद्वान् पंडित, प्रतिबोध पा कर अपने छात्र-समूह के साथ भगवान् महावीर प्रभु के शिष्य एवं गणधर हुए।

चन्दनबाला की दीक्षा और तीर्थ-स्थापना

भगवान् के समवसरण में देवी-देवता आकाश-मार्ग से आ रहे थे। उन्हें जाते हुए शतानिक राजा के भवन में रही हुई चन्दना ने देखा। उसे निश्चय हो गया कि भगवान् को केवलज्ञान हो गया है। उसमें भगवान् के समवसरण में जा कर दीक्षित होने की उत्कट इच्छा हुई। जिसके पुण्य का प्रवल उदय हो, उसकी इच्छा तत्काल सफल होती है। निकट रहे हुए देव ने चन्दना को ले जा कर भगवान् के समवसरण में रखा। उस समय भगवान् के उपदेश से प्रभावित हो कर समवसरण में उपस्थित अनेक राजकुमारियाँ आदि भी प्रव्रज्या ग्रहण करने को तत्पर हुई। भगवान् ने चन्दना की प्रमुखता में सभी को प्रव्रज्या प्रदान की। हजारों नर-नारी देश-विरत श्रावक बने। इस प्रकार चतुर्विध संघ की स्थापना हुई।

ये ग्यारह प्रमुख शिष्य भगवान् से 'उत्पाद व्यय और ध्रौव्य' रूप त्रिपदी—बीजभूत सिद्धांत—सुन कर सम्पूर्ण श्रुत के ज्ञाता हो गए। बीजभूत ज्ञान उचित आत्म-भूमि के योग से अन्तर्मुहूर्त में ही महान् कल्पवृक्ष जैसा बन कर, समस्त श्रुतरूप महाफल प्रदायक हुआ। इन महान् आत्माओं में 'गणधर नामकर्म' का उदय था। इन्होंने भगवान् के उपदेश का आश्रय ले कर आचारांगादि द्वादशांग श्रुत की रचना की ×।

भगवान् के मुख्य गणधर तो इन्द्रभूतिजी थे, परन्तु भगवान् ने गण की अनुज्ञा

× त्रि. श. पु. में भगवान् के ग्यारह गणधर और ९ गण होने का उल्लेख है। कारण यह बताया है कि—श्री इन्द्रभूतिजी आदि सात गणधरों की सूत्रवाचना पृथक्-पृथक् हुई, सो इनके सात गण हुए। अकंपित और अचलभ्राता की एक तथा मेतार्य और प्रभास गणधर की एक सम्मिलित वाचना हुई। इन चार गणधरों की दो वाचना हुई। इस प्रकार ग्यारह गणधरों के नौ गण और नौ वाचना—सूत्र रचना—हुई।

पंचम गणधर श्री सुधर्मा स्वामी को दी। इसका कारण यह हुआ कि श्री इन्द्रभूतिजी तो भगवान् के निर्वाण के पश्चात् ही केवलज्ञानी होने वाले थे और अन्य गणधर भगवान् के निर्वाण के पूर्व ही मुक्ति प्राप्त करने वाले थे। इसलिए धर्मशासन का चिरकाल संचालन करने वाले प्रथम उत्तराधिकारी पंचम गणधर श्री सुधर्मास्वामी ही थे। इसी से भगवान् ने गण की अनुज्ञा इन्हीं को दी। और साध्वियों की शिक्षा-दीक्षा के लिए प्रवर्तिनी पद पर आर्या चन्दनाजी को स्थापित किया। भगवान् कुछ दिन वहीं विराजे। इसके बाद अन्यत्र विहार किया।

श्रेणिक चरित्र

श्रेणिक कुणिक का पूर्वभव ×× तपस्वी से वैर

भरत-क्षेत्र के वसंतपुर नगर में जितशत्रु राजा राज्य करता था। अमरसुन्दरी उसकी पटरानी थी। 'सुमंगल' उनका पुत्र था। मन्त्री-पुत्र 'सेनक' राजकुमार सुमंगल का मित्र था। परन्तु दोनों का रूप समान नहीं था। राजकुमार सुरूपवान् तथा कामदेव के समान सुन्दर था, तो मन्त्रीपुत्र सेनक सर्वथा कुरूप कुलक्षणा एवं बेडौल था। उसके बाल पीले, नाक चपटी, बिल्ली जैसी आँखें, ऊँट जैसी लम्बी गर्दन और ओष्ठ, चूहे जैसे, छोटे कान, कन्द के अंकुर जैसी दंतपंक्ति मुँह से बाहर निकली हुई, जलोदर रोगवाले जैसा पेट, जंघा छोटी और टेढ़ी तथा सूप के समान पाँव थे। वह लोगों की हँसी का पात्र था। जब-जब यह कुरूप अपने मित्र राजकुमार सुमंगल के समीप आता, तब-तब कुमार उसकी हँसी करता रहता। इससे सेनक अपने को अपमानित मानता। अपने को सर्वत्र हँसी का पात्र समझ कर वह ऊब गया और संसार से विरक्त हो कर वन में चला गया। वह भटकता हुआ तापसों के आश्रम में पहुँच गया। कुलपति के उपदेश से वह भी तपस्वी बन गया और औष्ट्रिका व्रत ग्रहण कर के उग्र तप से आत्मदमन करने लगा। कालान्तर में वह बसंतपुर आया।

राजकुमार सुमंगल को राज्याधिकार प्राप्त हो गये थे और वह राज्य का संचालन

कर रहा था। उसी के राज्यकाल में सेनक तापस बसंतपुर आया। लोग उसके पास जाने लगे। लोगों ने पूछा--"आप तो मन्त्रीजी के पुत्र थे, तपस्वी क्यों बने ?" उसने कहा--"तुम्हारा राजा सुमंगल हर समय मेरी हँसी उड़ा कर अपमानित करता रहता था। इससे दुखी हो कर ही मैं तपस्वी बना हूँ।" यह बात राजा तक भी पहुँची। राजा तपस्वी को नमन करने के लिये आया और वन्दन कर के बारबार क्षमा याचना की, तथा तपस्या का पारणा अपने यहाँ करने का निवेदन किया। सेनक तापस ने स्वीकार किया। राजा को प्रसन्नता हुई कि तपस्वी ने क्षमा कर के उसका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। मासखमण के पारणे के दिन तपस्वी राजभवन के द्वार पर आया। उस समय राजा अस्वस्थ था। इसलिए किसी बाहरी व्यक्ति के मिलने पर प्रतिबन्ध था। तपस्वी को किसी ने पूछा तक नहीं। इसलिए वह लौट कर अपने स्थान चला आया और दूसरा मासखमण कर लिया। जब राजा स्वस्थ हुआ तो उसे तपस्वी याद आया। उसने द्वारपाल से पूछा, तो तपस्वी के आने और लौट जाने की बात ज्ञात हुई। वह तत्काल तपस्वी के पास पहुँचा और पश्चात्ताप करता हुआ क्षमा माँगी। और पुनः आमन्त्रण दिया। तपस्वी शांत था। उसके मन में किसी प्रकार का खेद नहीं था। उसने राजा की अस्वस्थता के कारण हुई उपेक्षा समझ कर आगे का आमन्त्रण स्वीकार कर लिया। अब राजा तपस्वी के पारणे के दिन गिनने लगा। दुर्भाग्य के उदय से राजा फिर रोग-ग्रस्त हो गया और तपस्वी को फिर यों ही लौट जाना पड़ा। राजा फिर तपस्वी के पास गया और अपने-आपको पापी, अधर्मी एवं दुर्भागी कहता हुआ क्षमा माँगने लगा। तपस्वी को भी राजा का अस्वस्थ होना ज्ञात हो चुका था। उसने क्षमा कर दिया और अगले पारणे का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। तीसरे पारणे के दिन भी राजा अस्वस्थ हो गया। तपस्वी राज-भवन के द्वार पर पहुँचा, तो अधिकारियों ने सोचा कि "जब-जब यह तपस्वी यहाँ आता है, तबतब महाराज के शरीर में रोग उत्पन्न हो जाता है। लगता है कि इसका यहाँ आगमन ही अशुभ का कारण है। इस पापात्मा को यहाँ आने ही नहीं देना चाहिए।" उन्होंने द्वार-रक्षकों को आदेश दिया कि इस तपस्वी को यहाँ से निकाल कर बाहर कर दें।" रक्षकों ने तपस्वी को निकाल दिया। अब तपस्वी को क्रोध चढ़ा। उसे विश्वास हो गया कि 'राजा कपटी है'। वह पहले के समान मुझे दुःखी करना चाहता है। "मैं संकल्प करता हूँ कि अपने तपोबल से मैं राजा का वध करने वाला बनूँ।"

तापस मृत्यु पा कर अल्प ऋद्धिवाला व्यंतर देव हुआ। राजा भी तापसी साधना कर के व्यन्तर हुआ। राजा का जीव देव-भव पूर्ण कर के कुशाग्रपुर नगर के प्रसेनजित

की धारिणी रानी की कुक्षि से पुत्र हो कर उत्पन्न हुआ। उसका नाम 'श्रेणिक' ।

पुत्र-परीक्षा

राजा प्रसेनजित ने सोचा—'मेरी प्रौढ़ अवस्था बीत चुकी और वृद्धावस्था चल है। मेरे इन पुत्रों में ऐसा कौन योग्य है कि जो पड़ोसी राज्यों के मध्य रहे हुए मगध शाल राज्य को सुरक्षित रख सके। पुत्र तो सभी प्यारे हैं, परन्तु राज्य-संचालन और ण की योग्यता सब में नहीं हो सकती। अतएव योग्यता की परीक्षा कर के अधिकार ही उत्तम होगा।'

राजा ने परीक्षा का पहला आयोजन किया। सभी राजकुमारों को एकसाथ भोजन बिठाया और खीर के पात्र सब के सामने रखवा दिये। राजा गवाक्ष में बैठा हुआ रहा था। भोजन करना प्रारम्भ करते ही व्याघ्र के समान भयंकर कुत्ते लपकते हुए और राजकुमारों के भोजन-पात्र पर झपटे। एक श्रेणिक को छोड़ कर सभी राज-र, कुत्तों से डर कर भाग गए। श्रेणिक ने भाइयों की छोड़ी हुई थालियाँ कुत्तों की खिसका दी और स्वयं शान्ति के साथ भोजन करता रहा। कुत्ते थालियें चाट रहे थे श्रेणिक भरपेट भोजन कर के तृप्ति का अनुभव कर रहा था। नरेश ने देखा—एक णक ही ऐसा है जो आसपास के शत्रुओं को अपनी युक्ति से दूर ही उलझाये रख राज्यश्री का निराबाध उपभोग कर सकेगा, दूसरे तो सभी अयोग्य हैं। जो अपने जन की भी रक्षा नहीं कर सके, वे विशाल राज्य को कैसे सम्भाल सकेंगे ?"

एक परीक्षा से संतुष्ट नहीं होते हुए राजा ने दूसरी परीक्षा का आयोजन किया। ड्डूओं से भरे हुए करंडिये और जल से भरे हुए मिट्टी के कलश--जिन के मुँह मुद्रित के बंद कर दिये थे। एक करंडिया और एक कलश प्रत्येक राजकुमार को—इस देश के साथ दिया कि "वे बिना ढक्कन खोले और छिद्र किये लड्डू खाए और पानी ये।"

कुमारों के सामने उलझन खड़ी हो गई। वे सोचने लगे--"पिताजी ने तो उलझन डाल दिया। क्या ऐसा हो सकता है ? खावें-पीवें, किन्तु ढक्कन भी नहीं खोलें और छिद्र नहीं करें। नहीं, यह दैविक-शक्ति हम में नहीं, न हम मन्त्रवादी हैं।" उन करंडियों र घड़ों को छोड़ कर अन्य सभी कुमार चले गये। एक श्रेणिक ही बचा जो शान्ति से

हो ?" तो जाने वाला कहता—"राजा के गृह (घर) जा रहा हूँ।" इससे नगर का नाम "राजगृह" हो गया।

राजगृह नगर की रचना भव्यता से परिपूर्ण और रमणीय थी। सभी प्रकार की सुविधाओं और दर्शनीयता से वह नगर संसार के अन्य नगरों से श्रेष्ठ था।

श्रेणिक का विदेश-गमन

प्रसेनजित नरेश ने सोचा—"एक श्रेणिक ही राज्य का भार उठाने के योग्य है। परन्तु श्रेणिक की योग्यता इसके भाइयों को खटकेगी। वे सभी अपने को योग्य और राज्य पाने का अधिकारी मानते हैं। मेरा झुकाव श्रेणिक की ओर होना, अन्य कुमारों को ज्ञात हो जायगा, तो वे सब इसके शत्रु हो जावेंगे।" इस प्रकार सोच कर राजा ने श्रेणिक की उपेक्षा की और अन्य कुमारों को राज्य के विभिन्न प्रदेश, जागीर में दे कर वहाँ के शासक बना दिये। श्रेणिक की उपेक्षा में राजा का यह हेतु था कि शेष सारा राज्य तो श्रेणिक का ही होगा।

अपने भाइयों को तो राज्य मिला और स्वयं उपेक्षित रहा। यह स्थिति श्रेणिक को अपमानकारक लगी। अब उसने यहाँ रहना भी उचित नहीं समझा। वह राज्यभवन ही नहीं, नगर का भी त्याग कर के निकल गया।

श्रेणिक का नन्दा से लग्न

वन-उपवन और ग्रामादि में भटकता हुआ श्रेणिक एकदिन वेणातट नगर में आया और 'भद्र' नाम के एक श्रेष्ठी की दुकान पर बैठा। उस समय उस नगर में कोई महोत्सव हो रहा था। इसलिये सेठ की दुकान पर ग्राहकों की भीड़ लग रही थी। सेठ भी ग्राहकों को वस्तु देते-देते थक गये थे। उन्हें सहायक की आवश्यकता थी। श्रेणिक, सेठ की कठिनाई समझ गया। वह सेठ के स्थान पर जा बैठा। सेठ वस्तु ला कर देते और वह पुड़िया बाँध कर ग्राहक को देता। इस प्रकार सेठ का काम सरल हो गया और लाभ भी विशेष हुआ। ग्राहकों को निपटाने के बाद सेठ ने पूछा—"आप यहाँ किस महानुभाव के यहाँ अतिथि हुए हैं ? 'श्रेणिक ने कहा—"आप ही के यहाँ।" सेठ चौंका। उसे आज स्वप्न में अपनी पुत्री के योग्य वर दिखाई दिया था। वह इस युवक जैसा ही था। सेठ ने

श्रेणिक से कहा--"यह मेरा सौभाग्य है कि आप मेरे अतिथि बने।" दुकान बन्द कर के सेठ, श्रेणिक को साथ ले कर घर आये। श्रेणिक को स्नान कराया, अच्छे वस्त्र पहनने को दिये और अपने साथ भोजन कराया। अब श्रेणिक वहीं रह कर सेठ के व्यापार में सहयोगी बना। कुछ दिनों के बाद एकदिन सेठ ने कुमार से कहा--"मैं अपनी प्रिय पुत्री आपको देना चाहता हूँ। कृपया स्वीकार कीजिये।"

"श्रेणिक ने कहा--"आपने मेरा कुल-शील तो जाना ही नहीं, फिर अनजान व्यक्ति को अपनी प्रियपुत्री कैसे दे रहे हैं ?"

--"मैंने आपके गुणों से ही आपका कुल और शील जान लिया है। अब विशेष जानने की आवश्यकता नहीं रही।"

सेठ के अनुरोध को स्वीकार कर के श्रेणिक ने नन्दा के साथ लग्न किये और भोग भोगता हुआ रहने लगा।

श्रेणिक को राज्य प्राप्ति

प्रसेनजित राजा रोग-ग्रस्त हो गए। उन्होंने श्रेणिक को खोज कर के लाने के लिए बहुत-से सेवक दौड़ाये। खोज करते-करते कुछ सेवक वेणातट पहुँचे और श्रेणिक से मिले। पिता के रोगग्रस्त होने तथा राजा द्वारा बुलाया जाने का सन्देश श्रेणिक को मिला। श्रेणिक ने अपनी पत्नी नन्दा को समझा कर अनुमत किया और सेठ से आज्ञा ले कर चल दिया। चलते समय श्रेणिक ने वहाँ के भवन की भीत्ति पर "मैं राजगृह नगर का गोपाल हूँ।" ये परिचयात्मक अक्षर लिख कर आगे बढ़ा। राजगृह पहुँचने पर रुग्ण पिता के चरणों में प्रणाम किया। पिता के हर्ष का पार नहीं रहा। उन्होंने तत्काल श्रेणिक का अपने उत्तराधिकारी के रूप में राज्याभिषेक किया। अब प्रसेनजित राजा शान्तिपूर्वक भगवान् पार्श्वनाथ एवं नमस्कार महामन्त्र तथा चार शरण चितारता हुआ आयु पूर्ण कर स्वर्गवासी हुआ।

तेरा बाप कौन है-अभयकुमार से प्रश्न

श्रेणिक के राजगृह जाने के बाद सगर्भा नन्दा को दोहद उत्पन्न हुआ--"मैं हाथी पर आरूढ़ हो कर धूमधाम से विचरूँ और जीवों को अभयदान दूं।" सुभद्र सेठ प्रभाव-

शाली था। उसने राजा से मिल कर नन्दा का दोहद पूर्ण करवाया। राज्य के हाथी पर आरूढ़ हो कर उसने याचकों को दान दिया और जीवों को अभयदान दे कर मृत्यु के भय से मुक्त करवाया। गर्भकाल पूर्ण होने पर नन्दा ने एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। मातामह ने दोहद के अनुसार दोहित्र का नाम 'अभयकुमार' रखा। अभयकुमार के लालन-पालन और शिक्षण का समुचित प्रबन्ध हुआ। आठ वर्ष की वय में ही वह पुरुषोचित बहत्तर कला में प्रवीण हो गया। एकबार बच्चों के साथ खेलते हुए अभयकुमार का किन्हीं बच्चों से विवाद छिड़ गया। एक ने कहा—

"अरे तू ऊँचा हो कर क्यों बोलता है ? तेरे बाप का तो पता ही नहीं है। हम सब के बाप हैं, फिर तेरे बाप क्यों नहीं है ? बता तेरा बाप कौन है ?"

उपरोक्त वचनों ने अभय के हृदय को भाले के समान वेध दिया। वह तत्काल घर आया और माता से पूछा;—

"माता ! मेरे पिता कौन है, और कहाँ है ?"

—"तेरे पिता ये सुभद्र सेठ हैं। यही तो तेरा पालन-पोषण करते हैं"—नन्दा ने पुत्र को बहलाया।

—"नहीं माता ! सुभद्र सेठ तो आपके पिता हैं। मेरे पिता कोई अन्य ही है। आप मुझे उनका परिचय दें।"

नन्दा को रहस्य खोलना ही पड़ा। वह उदास हो कर बोली;--"वत्स ! कोई विदेशी भव्य पुरुष आ कर यहाँ रहे थे। उनकी भव्यता, कुलीनता और बुद्धिमत्तादि देख कर मेरे पिताश्री ने उनके साथ मेरा लग्न कर दिया। वे यहीं रह गये। कालान्तर में एक दिन कुछ ऊँट-सवार उन्हें खोजते हुए आये। उनसे कुछ बातें की और वे उनके साथ चले गये। उस समय तू गर्भ में था। उसके बाद उनके कोई समाचार नहीं मिले।"

—"क्या जाते समय पिताजी ने कुछ कहा था"--अभय ने पूछा।

—"हां, मुझे आश्वासन दिया था और ये कुछ शब्द लिख कर दिये थे"—नन्दा ने श्रेणिक के लिखे शब्द बताये।

उन शब्दों को पढ़ कर अभय प्रसन्नता से खिल उठा और उत्साह पूर्वक बोला—

"माता ! मेरे पिता तो राजगृह नगर के राजा--मगध साम्राज्य के अधिपति हैं। चलिये, हम अपने राज्य में चलें।"

वेणातट से राजगृह की ओर

नन्दा का हृदय प्रसन्नता से भर गया। माता और पुत्र आवश्यक सामग्री और सेवक-दल साथ ले कर चले। वे क्रमशः आगे बढ़ते हुए राजगृह पहुँचे और उद्यान में ठहरे। अभयकुमार अपनी माता को उद्यान में ही छोड़ कर, कुछ अनुचरों के साथ नगर में पहुँचा।

अभयकुमार की बुद्धि का परिचय

श्रेणिक नरेश के मन्त्री-मण्डल में ४९९ मन्त्री थे। इन पर प्रधान-मन्त्री का पद रिक्त था। उस पद को पूर्ण करने के लिये नरेन्द्र किसी ऐसे पुरुष की खोज में था कि जो योग्यता में इन सब से श्रेष्ठ हो। ऐसे बुद्धिनिधान पुरुष की परीक्षा करने के लिए राजा ने एक निर्जल कूप में अपनी अंगूठी डलवा दी और नगर में उद्घोषणा करवाई कि--

"जो बुद्धिमान् पुरुष कूएँ में उतरे बिना ही, किनारे खड़ा रह कर, मेरी अंगूठी निकाल देगा, उसे महामन्त्री पद पर स्थापित किया जायगा।"

ढिंढ़ोरा सुन कर लोग कहने लगे--"यह कैसा आदेश है ? क्या राजा सनकी तो नहीं है ? कहीं निर्जल ऊँडे कूएँ में गिरी हुई अंगूठी, को किनारे खड़ा रह कर भी कोई मनुष्य निकाल सकता है ?" कोई कहता--"हाँ, निकाल सकता है, जो पुरुष पृथ्वी पर खड़ा रह कर आकाश के तारे तोड़ सकता है, वही कूएँ में से अंगूठी निकाल सकता है।"

अभयकुमार ने भी यह घोषणा सुनी। वह कूएँ के पास आया और उपस्थित मनुष्यों के समक्ष बोला--"यह अंगूठी राजाज्ञानुसार निकाली जा सकती है।"

लोगों ने देखा--एक भव्य आकृतिवाला नवयुवक आत्म-विश्वास के साथ खड़ा है। उसके मुखमण्डल पर गंभीरता बुद्धिमत्ता और तेजस्विता झलक रही है।

"कहाँ है राज्याधिकारी ! मैं महाराजाधिराज की आज्ञानुसार मुद्रिका निकाल सकता हूँ"--अभयकुमार ने कहा।

राज्याधिकारी उपस्थित हुआ। कुमार ने आर्द्र गोमय मँगवाया और कूएँ में रही अंगूठी पर डाला। अंगूठी गोमय में दब गई। उसके बाद उस गोमय पर घास का ढेर डाल कर उसे आग से जला दिया। घास जलने पर गोमय सूख गया। तत्पश्चात् अभयकुमार ने निकट के कूएँ पानी इस कूएँ में भरवाया। ज्यों-ज्यों पानी कूएँ में भरता गया, त्यों-त्यों

गोमय में खूंची हुई मुद्रिका ऊपर आती गई। कुआँ पूरा भर जाने पर मुद्रिका किनारे आ पहुँची, जिसे अभयकुमार ने हाथ बढ़ा कर निकाल लिया।

पितृ-मिलन और महामन्त्री पद

अधिकारी ने महाराजा श्रेणिक से निवेदन किया--"महाराज! एक विदेशी नवयुवक ने निर्जल कूप के किनारे खड़े रह कर मुद्रिका निकाल ली है।" उसने मुद्रिका निकालने की विधि भी वतला दी। राजा ने कुमार को समक्ष उपस्थित करने की आज्ञा दी। अभय को देखते ही नरेश की प्रीति बढ़ी, आत्मीयता उत्पन्न हुई। उन्होंने उसे वाहों में भर लिया, फिर पूछा;--

"वत्स! तुम कहाँ के निवासी हो?"

--"महाराज! मैं वेणातट नगर से आया हूँ।"

--"वेणातट में तो सुभद्र सेठ भी रहते हैं और उनके नन्दा नाम की पुत्री है। क्या वे सब स्वस्थ एवं प्रसन्न हैं?" राजा को वेणातट का नाम सुनते ही अपनी प्रिया नन्दा का स्मरण हो आया।

--"हां, स्वामिन्! वे सब स्वस्थ एवम् प्रसन्न हैं"--अभय ने कहा।

"सुभद्र सेठ की पुत्री के कोई सन्तान भी है क्या"--श्रेणिक ने नन्दा की गर्भावस्था का परिणाम जानने के लिए पूछा।

"नन्दा के एक पुत्र है, जिसका नाम अभयकुमार है"--अभय ने सस्मित उत्तर दिया।

--"तुमने उस पुत्र को देखा है? वह कैसा दिखाई देता है? उसमें क्या-क्या विशेषताएँ हैं"--नरेश ने पूछा।

--"पूज्यवर! वह पितृ-वात्सल्य से वंचित अभय, श्री चरणों में प्रणाम करता है"--कह कर अभयकुमार पिता के चरणों में झुक गया।

राजा के हर्ष का पार नहीं रहा। उसने अभय को आलिंगनवद्ध कर लिया। कुछ समय पिता-पुत्र आलिंगनवद्ध रहे, फिर राजा ने पुत्र का मस्तक चूमा और उत्संग में विठाया।

"पुत्र! तुम्हारी माता स्वस्थ है"--पत्नी का कुशल-क्षेम जानने के लिए नरेश ने पूछा।

" --पूज्य ! आप का निरन्तर स्मरण करने वाली मेरी माता आपके इस नगर के बाहर उद्यान में है ।"

अभय के शब्दों ने महाराजा श्रेणिक पर आनन्द की वर्षा कर दी । वह हर्षावेग से भर उठा । उसने महारानी नन्दा को पूर्ण सम्मान के साथ राज्य-महालय में लाने की आज्ञा दी । राज्य के सर्वोत्कृष्ट-सम्मान के प्रतीक हाथी, घोड़े, वादिन्त्र, छत्र-चामरादि युक्त सभी सामग्री ले कर अभयकुमार उद्यान में आया । महाराजा भी उत्साहपूर्वक उद्यान में पहुँचे । उन्होंने देखा--नन्दा वियोग दुःख से दुर्बल, निस्तेज और शरीर शुश्रूषा से वंचित म्लान-वदन बैठी है । राजा, महारानी के दुःख से दुःखी हुआ । रानी नन्दा को पतिदर्शन से अत्यंत हर्ष हुआ । उस हर्ष ने उसकी म्लानता दूर कर दी । प्रसन्नता ने उत्तम रसायन का काम किया । विना किसी उपचार के ही उसमें शक्ति उत्पन्न कर दी । वह उठी और पति को प्रणाम किया । महाराजा ने पूर्ण स्नेह एवम् सम्मान के साथ पत्नी का राज्यमहालय में प्रवेश कराया और 'महारानी' पद प्रदान किया । अभयकुमार का अपनी बहिन सुसेना की पुत्री के साथ लग्न किया । उसे महामन्त्री पद और आधे राज्य की आय प्रदान की । अभयकुमार तो अपने को महाराजा का एक सेवक ही मानता रहा । थोड़े ही समय में उसने अपने बुद्धिचातुर्य से बड़े दुर्दान्त राजाओं को वश में कर लिया ।

महाराजा चेटक की सात पुत्रियाँ

उस समय वैशाली नगरी की विशालता सर्वत्र प्रसिद्ध थी । महाराजा "चेटक" वहाँ के अधिपति थे । वे निर्ग्रंथोपासक थे । उनके "पृथा" नामकी रानी की कुक्षि से सात पुत्रियाँ जन्मी थी । उनका नाम अनुक्रम से--प्रभावती, पद्मावती, मृगावती, शिवा, ज्येष्ठा, सुज्येष्ठा और चिल्लना था । महाराजा चेटक ने चतुर्थ व्रत की मर्यादा में अपने पुत्र-पुत्री का विवाह करने का भी त्याग कर दिया था । इसलिये उन्होंने स्वयं अपनी पुत्रियों का सम्बन्ध किसी के साथ नहीं किया, महारानी पृथा देवी ने ही प्रयत्न कर के सम्बन्ध किये । उन्होंने सम्बन्ध करने के पूर्व महाराजा को वर के विषय में पूरी जानकारी दी और उनकी कोई आपत्ति नहीं होने पर पाँच पुत्रियों के सम्बन्ध कर के लग्न कर दिये । यथा--

१ प्रभावती के लग्न 'वितभय नगर' के अधिपति 'उदायन नरेश' के साथ किये ।
२ पद्मावती 'चम्पा नगरी' के शासक महाराजा 'दधिवाहन' को दी ।

३ मृगावती के लग्न 'कौशाम्बी नगरी' के राजा 'शतानिक' के साथ किये।

४ शिवा कुमारी 'उज्जयिनी' के शासक महाराज 'चण्डप्रद्योत' को व्याही।

५ कुमारी ज्येष्ठा के लग्न 'क्षत्रीयकुण्ड नगर' के नरेश 'नन्दीवर्द्धन' के साथ किये, जो भगवान् महावीर प्रभु के ज्येष्ठ-भ्राता थे।

उपरोक्त पांच कुमारियों के लग्न करने के वाद शेप सुज्येष्ठा और चिल्लना कुँवारी रही थी। ये दोनों वहिने अनुपम सुन्दर थी। उनकी दिव्य आकृति और वस्त्रालंकार से सुसज्जित छटा मनोहारी थी। वे दोनों प्रेमपूर्वक साथ ही रहती थी। वे सभी कलाओं में निपुण थी। विद्याओं और गूढ़ार्थों की ज्ञाता थी। विद्या-विनोद में उनका समय व्यतीत हो रहा था। धर्म-साधना में उनकी रुचि थी और वे सभी कार्यों में साथ रहती थी।

चेटक ने श्रेणिक की माँग ठुकराई

एकबार एक शौचधर्म की प्रवर्तिका अन्तःपुर में आई और अपने शुचि-मूल धर्म का उपदेश करने लगी। राजकुमारी सुज्येष्ठा ने उसके उपदेश की निस्सारता वता कर खण्डन किया। प्रवर्त्तिका अपना प्रभाव नहीं जमा सकी। वह अपने को अपमानित मानती हुई द्वेष पूर्ण हृदय हो कर चली गई। उसने निश्चय किया कि इस कुमारी का किसी विधर्मी से सम्वन्ध करवा कर इसके धर्म को परिवर्तित करवाऊँ तथा अनेक सपत्नियों में जकड़ा दूँ, तभी मुझे शांति मिल सकती है। उसने सुज्येष्ठा का रूप ध्यान में जमा कर एक वस्त्र-पट पर आलेखित किया और राजगृह पहुँची। उसने वह चित्र-पट महाराजा श्रेणिक को वताया। श्रेणिक की दृष्टि उस चित्र में गढ़-सी गई। वह लीनतापूर्वक उसे देखता रहा। अन्त में श्रेणिक ने चित्रांगना का परिचय जान कर, एक दूत वैशाली भेजा और चेटक नरेश से सुज्येष्ठा की माँग की। चेटक नरेश ने दूत से कहा; —

"मैं 'हैयय' कुल का हूँ और तुम्हारे स्वामी 'वाही' कुल के हैं। कुल की विषमता के कारण यह सम्वन्ध नहीं हो सकता।"

दूत से चेटक का उत्तर सुन कर श्रेणिक खिन्न हो गया। निष्फल-मनोरथ के साथ अपमानकारी वचनों ने भी उसे उदास वना दिया, जैसे वह शत्रु से पराजित हो गया हो।

अभय की बुद्धिमत्ता से श्रेणिक सफल हुआ

अभयकुमार ने पिता की खिन्नता का कारण जान कर कहा--"पूज्य ! खेद क्यों करते हैं। मैं आपका मनोरथ सफल करूँगा।" पिता को आश्वासन दे कर अभय स्वस्थान आया और पिता का चित्र एक पट पर आलेखित किया। फिर गुटिका के प्रयोग से अपना स्वर तथा रूप परावर्त्तन एवं आकृति पलट कर एक वणिक के वेश से वैशाली पहुँचा। राजा के अन्तःपुर के निकट एक स्थान भाड़े से ले कर दूकान लगा ली। अन्तःपुर की दासियाँ कोई वस्तु लेने आवे, तो उन्हें कम मूल्य में--सस्ती--देने लगा। उसने श्रेणिक राजा के चित्र को दूकान में दर्शनीय स्थान पर लगाया और बारबार प्रणाम करने लगा। उसे प्रणाम करते देख कर दासियाँ पूछने लगी;--"यह किस का चित्र है?" उसने कहा "--यह चित्र मगध देश के स्वामी महाराजाधिराज श्रेणिक का है। ये महाभाग मेरे लिये देवतुल्य हैं।" श्रेणिक का देवतुल्य रूप दासियों ने देखा और उन्होंने राजकुमारी सुज्येष्ठा से कहा। राजकुमारी ने अपनी विश्वस्त दासी से कहा--"तू जा और दूकानदार से वह चित्र ला कर मुझे बता।" दासी अभयकुमार के पास आई और चित्र माँगा। अति आग्रह और मिन्नत करवाने के बाद अभयकुमार ने वह चित्र दिया। सुज्येष्ठा चित्र देख कर मुग्ध हो गई और एकाग्रता पूर्वक देखने लगी। राजकुमारी के हृदय में श्रेणिक ने स्थान जमा लिया। उसने अपनी सखी के समान दासी से कहा;--

"हे सखी ! यह चित्रांकित देव पुरुष तो मेरे हृदय में बस गया है। अब यह निकल नहीं सकता। इससे मेरा योग कैसे मिल सकता है? ऐसा कौन विधाता है जो मुझे इस प्राणेश से मिला दे? यदि मुझे इस अलौकिक पुरुष का सहवास नहीं मिला, तो मेरा हृदय स्थिर नहीं रह सकेगा। मुझे तो इसका एक ही उपाय दिखाई देता है कि किसी प्रकार उस व्यापारी को तू प्रसन्न कर। वह चित्र को प्रणाम करता है, इसलिए चित्रवाले तक उसकी पहुँच होगी ही। यदि वह प्रसन्न हो जायगा, तो कार्य सिद्ध हो जायगा। तू अभी उसके पास जा और शीघ्र ही उसकी स्वीकृति सुना कर मेरे मन को शान्त कर।"

दासी के आग्रह को अभयकुमार ने स्वीकार किया और कहा--"तुम्हारी स्वामिनी का कार्य में सिद्ध कर दूंगा। परन्तु इसमें कुछ दिन लगेंगे। मैं एक सुरंग खुदवाऊँगा और उस सुरंग में से महाराज श्रेणिक को लाऊँगा। चित्र के अनुसार उन्हें पहिचान कर तुम्हारी स्वामिनी उनके साथ हो जायगी। सुरंग के बाहर रथ उपस्थित रहेगा। इस प्रकार उनका संयोग हो सकेगा।"

स्थान समय दिन आदि का निश्चय कर के तदनुसार महाराजा के आने का आश्वासन दे कर दासी को विदा की। दासी ने राजकुमारी से कहा। राजकुमारी की स्वीकृति दासी ने अभयकुमार को सुनाई।

अभयकुमार का वैशाली का काम बन गया। दूकान समेट कर वह राजगृह लौट आया और अपने कार्य की जानकारी नरेश को दी, तत्पश्चात् वन से लगा कर वैशाली के भवन तक सुरंग बनवाने के कार्य में लग गया। उधर सुज्येष्ठा आकुलता पूर्वक श्रेणिक के ही चिंतन में रहने लगी। मिलन का निर्धारित दिन निकट आ रहा था और सुरंग भी खुद कर पूर्ण हो चुकी थी। निश्चित्त समय पर श्रेणिक नरेश अपने अंग-रक्षकों के साथ सुरंग के द्वार पर पहुँच गए। सुज्येष्ठा उनके स्वागत के लिए पहले से ही उपस्थित थी। चित्र के अनुसार ही दोनों ने अपने प्रिय को देखा और प्रसन्न हुए।

सुज्येष्ठा रही चिल्लना गई

सुज्येष्ठा ने अपने प्रणय और तत्संबंधी प्रयत्न आदि का वर्णन अपनी सखी के समान प्रिय बहिन चिल्लना को सुनाई और प्रिय के साथ जाने की अनुमति माँगी, तो चिल्लना बोली;-- "बहिन ! मैं तेरे बिना यहाँ अकेली नहीं रह सकूँगी। तू मुझे भी अपने साथ ले चल।"

सुज्येष्ठा सहमत हो गई और उसे श्रेणिक के साथ कर के स्वयं अपने रत्नाभूषण लेने भवन में आई। उधर श्रेणिक और चिल्लना, सुज्येष्ठा की प्रतीक्षा कर रहे थे। सुज्येष्ठा को लौटने में विलम्ब हो रहा था, तब अंगरक्षकों ने कहा—"महाराज ! भय का स्थान है। यहाँ अधिक ठहरना विपत्ति में पड़ना है। अब चलना ही चाहिये।" राजा चिल्लना को ले कर सुरंग में घुस गया और बाहर खड़े रथ में बैठ कर राजगृह की ओर चल दिया।

सुज्येष्ठा को लौटने में विलम्ब हो गया था। जब वह उस स्थान पर आई, तो उसका हृदय धक से रह गया। वहाँ न तो उसका प्रेमी था और न बहिन। उसे लगा-- 'श्रेणिक मुझे ठग गया और मेरी बहिन को ले कर चला गया।' निष्फल-मनोरथ सुज्येष्ठा उच्च स्वर में चिल्लाई--"दौड़ो, दौड़ो, मेरी बहिन का अपहरण हो गया।"

सुज्येष्ठा की चिल्लाहट सुन कर चेटक नरेश शस्त्र-सज्ज हो कर निकलने लगे, तो उनके वीरांगक नामक रथिक ने नरेश को रोका और स्वयं सुरंग में घुसा। आगे चलने पर

श्रेणिक के अंग-रक्षकों (जो सुलसा के बत्तीस पुत्र थे) से सामना हुआ। श्रेणिक तो प्रयाण कर चुका था। अंगरक्षक वीरांगक दल से (राजा को सकुशल राजगृह पहुँचाने के उद्देश्य से) जूझने लगे। श्रेणिक के रक्षक वीरता पूर्वक लड़ कर एक-एक कर के मरने लगे। क्रमशः वे सब कट-मरे।

सुज्येष्ठा को इस दुर्घटना से संसार से ही विरक्ति हो गई। उसने पिता की आज्ञा ले कर महासती चन्दनाजी से प्रव्रज्या स्वीकार कर ली।

श्रेणिक राजा ने रथ में बैठी हुई चिल्लना को 'सुज्येष्ठा' के नाम से संबोधित किया, तो चिल्लना ने कहा—"सुज्येष्ठा तो वहीं रह गई। मैं सुज्येष्ठा की छोटी बहिन चिल्लना हूँ।"

"प्रिये ! भले ही तुम सुज्येष्ठा नहीं होकर चिल्लना हो। मैं तो लाभ में ही रहा। तुम सुज्येष्ठा से कम नहीं हो"—श्रेणिक ने हँसते हुए कहा।

चिल्लना को वहिन से बिछुड़ने का दुःख होते हुए भी पति-लाभ के हर्ष ने उसे आश्वस्त किया।

राजगृह पहुँच कर श्रेणिक और चिल्लना गंधर्व-विवाह कर प्रणय-बन्धन में बंध गए।

सुलसा श्राविका की कथा

कुशाग्रपुर नगर में 'नाग' नाम का रथिक रहता था। वह राजा प्रसेनजित का अनन्य सेवक था। वह दया, दान, शील आदि कई सद्गुणों का धारक और परनारी-सहोदर था। उसके 'सुलसा' नाम की भार्या थी। वह भी शील सदाचार और अनेक सद्गुणों से युक्त थी और पुण्यकर्म में तत्पर रहती थी। वह पति-भक्ता और समकित में दृढ़ जिनो-पासिका थी। पति-पत्नी सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे थे, किन्तु पुत्र के अभाव में पति चिन्तातुर रहता था। सुलसा ने पति को अन्य कुमारिका से लग्न कर के सन्तान उत्पन्न करने का आग्रह किया, परन्तु नाग ने अस्वीकार कर दिया और कहा—"प्रिये ! इस जन्म में तो मैं तुम्हारे सिवाय किसी अन्य को अपनी प्रिया नहीं बना सकता। मैं तो तुम्हारी कुक्षि से उत्पन्न पुत्र की ही आकांक्षा रखता हूँ। एक तुम ही मेरे हृदय में विराजमान हो। अब जीवन-पर्यंत किसी दूसरी को स्थान नहीं मिल सकता। तुम ही किसी देव की आराधना अथवा मन्त्रसाधना कर के पुत्र प्राप्ति का यत्न करो।"

सुलसा ने कहा "स्वामी ! मैं अरिहंत भगवान् की आराधना करूँगी। जिनेश्वर भगवंत की आराधना से सभी प्रकार के इच्छित फल प्राप्त होते हैं।"

सुलसा ब्रह्मचर्य युक्त आचाम्ल आदि तप कर के भगवान् की आराधना करने लगी।

सौधर्म-स्वर्ग में देवों की सभा में शक्रेन्द्र ने कहा--"अभी भरत-क्षेत्र में सुलसा श्राविका, देव-गुरु और धर्म की आराधना में निष्ठापूर्वक तत्पर है।' इन्द्र की बात पर एक देव विश्वास नहीं कर सका और वह सुलसा की परीक्षा करने चला आया। सुलसा आराधना कर रही थी। वह साधु का रूप बना कर आया। मुनिजी को आया जान कर सुलसा उठी और वन्दना की। मुनिराज ने कहा—"एक साधु रोगी है। वैद्य ने उसके उपचार के लिए लक्षपाक तेल बताया। यदि तुम्हारे यहाँ हो, तो मुझे दो, जिससे रोगी साधु का उपचार किया जाय।" सुलसा हर्षित हुई। उसके मन में हुआ कि मेरा तेल साधु के उपयोग में आवे, इससे बढ़ कर उसका सदुपयोग और क्या होगा। वह उठी और तेल-कुंभ लाने गई। कुंभ ले कर आ रही थी कि देव-शक्ति से कुंभ उसके हाथ से छूट कर गिर पड़ा और फूट गया। सारा तेल ढुल गया। वह दूसरा कुंभ लेने गई। दूसरा कुंभ भी उसी प्रकार फूट गया, किन्तु उसके मन में रंचमात्र भी खेद नहीं हुआ। वह तीसरा कुंभ लाई और उसकी भी वही दशा हुई। अब उसे खेद हुआ। उसने सोचा—"मैं कितनी दुर्भागिनी हूँ कि मेरा तेल रोगी साधु के काम नहीं आया।" उसे बहुमूल्य तेल नष्ट होने की चिन्ता नहीं हुई। दुःख इस बात का हुआ कि साधु की याचना निष्फल हुई।" देव ने जब सुलसा के भाव जाने, तो वह अपने वास्तविक रूप में प्रकट हुआ और बोला--

"भद्रे ! शक्रेन्द्र ने तुम्हारी धर्मदृढ़ता की प्रशंसा की। मैं उस पर विश्वास नहीं कर सका और तुम्हारी परीक्षा के लिए साधु का वेश बना कर आया। अब मैं तुम्हारी धर्मदृढ़ता देख कर संतुष्ट हूँ। तुम इच्छित वस्तु माँगो। मैं तुम्हारी मनोकामना पूर्ण करूँगा।"

सुलसा ने कहा—"देव ! आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो मुझे पुत्र दीजिये। मैं अपुत्री हूँ। इसके अतिरिक्त मुझे कुछ भी नहीं चाहिए।"

देव ने उसे बत्तीस गुटिका दी और कहा--"तू इन्हें एक के बाद दूसरी, इस प्रकार अनुक्रम से लेना। तेरे बत्तीस पुत्र होंगे। इसके अतिरिक्त जब तुझे मेरी सहायता की आवश्यकता हो, तब मेरा स्मरण करना। मैं उसी समय आ कर तेरी सहायता करूँगा।" देव अदृश्य हो कर चला गया।

सुलसा ने सोचा—अनुक्रम से गुटिका लेने पर अनुक्रम से एक के बाद दूसरा पुत्र हो और जीवनभर उनका मलमूत्र साफ करती रहूँ। इससे तो अच्छा है कि एकसाथ ही सभी

गुटिकाएँ खा लूँ, जिससे बत्तीस लक्षण वाला एक ही पुत्र हो जाय।" इस प्रकार सोच कर वह सभी गुटिकाएँ एकसाथ निगल गई। भवितव्यता के अनुसार ही बुद्धि उत्पन्न होती है। उसके गर्भ में बत्तीस जीव उत्पन्न हुए। उनको सहन करना दुःखद हो गया। उसने कायोत्सर्ग कर के उस देव का स्मरण किया। स्मरण करते ही देव आया। सुलसा की पीड़ा जान कर उसने कहा--"भद्रे! तुझे ऐसा नहीं करना था। अब तू निश्चिंत रह। तेरी पीड़ा दूर हो जायगी और तेरे बत्तीस पुत्र एक साथ होंगे। देव ने उसे 'गूढ़गर्भा' कर दिया। गर्भकाल पूर्ण होने पर सुलसा ने शुभ-दिन शुभमुहूर्त में बत्तीस लक्षण वाले बत्तीस पुत्रों को जन्म दिया। ये बत्तीस कुमार, यौवन-वय प्राप्त होने पर महाराजा श्रेणिक के अंग-रक्षक बने। ये ही अंग-रक्षक श्रेणिक के साथ वैशाली गये और चिल्लना-हरण के समय श्रेणिक की रक्षा करते हुए मारे गये। श्रेणिक को अपने सभी अंग-रक्षक मारे जाने से खेद हुआ। वह स्वयं और महामात्य अभयकुमार यह महान् आघात-जनक सम्वाद सुनाने नाग रथिक के घर गए। अपने सभी पुत्रों के एकसाथ मारे जाने का दुर्वाद उस दम्पति के लिए अत्यंत शोकजनक हुआ। वे हृदयफाट रुदन करने लगे। उनकी करुणाजनक दशा दर्शकों को भी रुला देती थी। अभयकुमार ने उन्हें तात्त्विक उपदेश दे कर शान्त किया। राजा और महामात्य ने उन्हें उचित वचनों से आश्वासन दिया और लौट गए।

चिल्लना को पति का मांस खाने का दोहद

नव-परणिता रानी चिल्लना के साथ श्रेणिक भोग में आसक्त हो कर निमग्न रहने लगा। कालान्तर में चिल्लना के गर्भ रह गया। श्रेणिक के पूर्वभव में जिस औष्ट्रिक तापस ने वैरभाव से निदान कर के अनशन कर लिया था और मर कर व्यंतर हुआ था ‡ वही चिल्लना के गर्भ में आया। कुछ कालोपरान्त चिल्लना के मन में पति के कलेजे का मांस खाने का दोहद उत्पन्न हुआ*। गर्भ के प्रभाव से इस प्रकार की इच्छा हुई थी। उसके मन में हुआ--'धन्य है वह स्त्री जो महाराजा के कलेजे का माँस तल-भुन कर खाती है और मदिरापान करती है। उसका ही जीवन सफल है।' चिल्लना की ऐसी उत्कट इच्छा तो हुई, परन्तु इस इच्छा का पूरा होना असंभव ही नहीं, अशक्य लगा। वह अपनी इच्छा किसी के सामने प्रकट भी नहीं कर सकती थी। वह मन-ही-मन घुलने लगी। चिन्ता रूपी प्रच्छन्न अग्नि में जलते-छीजते वह दुर्बल निस्तेज एवम् शुष्क हो गई। उसका मुखचन्द्र

‡ पृष्ट २३५। * निरयावलियासूत्रानुसार।

म्लान, कान्तिहीन और पीतवर्णी हो गया। उसने वस्त्र, पुष्प, माला, अलंकार तथा श्रृंगार के सभी साधन त्याग दिये। वह निरन्तर घुलने लगी।

चिल्लना महारानी की ऐसी दशा देख कर उसकी परिचारिका चिन्तित हुई और महाराजा श्रेणिक से निवेदन किया। महाराजा तत्काल महारानी के निकट आये और स्नेहपूर्वक चिन्ता एवं दुर्दशा का कारण पूछा। पति के प्रश्न की प्रिया ने उपेक्षा की और मौन बनी रही, तब महाराजा ने आग्रह पूर्वक पूछा, तो बोली;—

"स्वामिन्! आपसे छुपाने जैसी कोई बात मेरे हृदय में नहीं हो सकती। परन्तु यह बात ऐसी है कि कही नहीं जा सके। एक अत्यंत क्रूर राक्षसी के मन में भी जो इच्छा नहीं हो, वह मेरे मन में उठी है। ऐसी अधमाधम इच्छा सफल भी नहीं हो सकती। गर्भ-काल के तीन मास पश्चात् मेरे मन में आपके कलेजे का मांस खाने का दोहद उत्पन्न हुआ। यह दोहद नितान्त दुष्ट, अपूरणीय, अप्रकाशनीय एवं अधमाधम है। इसकी पूर्ति नहीं होने के कारण ही मेरी यह दशा हुई है।"

श्रेणिक महाराज ने महारानी को आश्वासन देते हुए कहा—"देवी! तुम चिन्ता मत करो। मैं तुम्हारा दोहद पूर्ण करूँगा।"

चिल्लना का दोहद पूर्ण हुआ

महारानी को प्रिय वचनों से संतुष्ट कर महाराजा सभाकक्ष में आये और सिंहासन पर बैठ कर प्रिया की दोहद पूर्ति का उपाय सोचने लगे। उन्होंने बहुत सोचा, परन्तु कोई उपाय नहीं सूझा। वे चिन्तामग्न ही थे कि महामात्य अभयकुमार उपस्थित हुए और पिता को चिन्तित देख कर पूछा;—

"पूज्य! आप चिन्तित क्यों हैं? क्या कारण है उदासी का?

"पुत्र! तेरी छोटी माता का विकट दोहद ही मेरी चिन्ता का कारण बना है"—राजा ने दोहद की जानकारी देते हुए कहा।

"पिताश्री! आप चिन्ता नहीं करें। मैं माता की इच्छा पूर्ण करूँगा।"

पिता को आश्वस्त कर अभयकुमार स्वस्थान आये और अपने विश्वस्त गुप्तचर को बुला कर कहा—"तुम कसाई के यहां से रक्त-झरित ताजा मांस गुप्त रूप से लाओ।" गुप्तचर ने आज्ञा का पालन किया। अभयकुमार पिता के समीप आया और उन्हें शयनागार में ले जाकर

शय्या पर सुला दिया और वह मांस, नरेश की छाती पर बांध दिया। उधर माता को ला कर सामने की उच्च अट्टालिका पर बिठा दिया - जहाँ से वह पति का मांस कटते देख सके। इसके बाद अभयकुमार शस्त्र लेकर मांस काट कर एक पात्र में रखने लगा। ज्यों-ज्यों मांस कटता गया, त्यों-त्यों राजा कराहते-चिल्लाते रहे। मांस कट चुकने पर उनके छाती पर पट्टा बांध दिया और वे मूछित होने का ढोंग कर के अचेत पड़े रहे। अभयकुमार ने वह मांस चिल्लना को दिया और उसने अपना दोहद पूर्ण किया। खाते समय वह संतुष्ट हुई। दोहद पूण होने के पश्चात् महारानी को पति-घात का विचार हुआ। उसके हृदय को गंभीर आघात लगा और वह आक्रन्दपूर्ण चिल्लाहट के साथ मूच्छित हो कर ढल पड़ो। दासियाँ उपचार करने लगी। उपचार से वह चेतना प्राप्त करती, परन्तु पति-घात का विचार आते ही वह पुनः मूच्छित हो जाती। राजा स्वयं रानी के पास आया। उसे सान्त्वना दी और अपना अक्षत वक्षस्थल दिखा कर संतुष्ट किया। उसकी प्रसन्नता का पार नहीं रहा। उसका आरोग्य सुधरने लगा और वह पूर्ववत् स्वस्थ हो गई। तत्पश्चात् चिल्लना को विचार हुआ कि 'गर्भस्थ जीव अपने पिता का शत्रु है। इसलिये इसे गर्भ में ही नष्ट कर के गिरा देना ही हम सब के लिए हितकारी होगा।' इस प्रकार उसने गर्भ गिराने के अनेक उपाय किये, परन्तु सभी निष्फल हुए और बिना किसी हानि के गर्भ बढ़ता रहा।

रानी ने पुत्र जन्मते ही फिकवा दिया

गर्भकाल पूर्ण होने पर महारानी ने एक सुन्दर एवं स्वस्थ पुत्र को जन्म दिया। पुत्र का जन्म होते ही माता ने परिचारिका को आज्ञा दी—"यह दुष्ट अपने पिता का ही शत्रु है, कुलांगार है। इसे दूर ले जा कर फेंक आ। हटा मेरे पास से।" परिचारिका सद्यजात शिशु को स्वामिनी की आज्ञानुसार अशोकवन में उकरड़े पर फेंक आई। शिशु के पुण्य प्रबल थे। लौटती हुई परिचारिका को देख कर राजा ने पूछा—

"कहाँ गई थी तू ? तेरा काम तो देवी की सेवा में रहने का है और तू इधर-उधर फिर रही है ?'

"स्वामिन् ! मैं स्वामिनी की आज्ञा से नवजात शिशु को फेंकने गई थी"—दासी ने पुत्र-जन्मादि सारी बात बता दी।

राजा स्वयं चल कर अशोक वन में गया और पुत्र को हाथों में उठा कर ले आया, फिर रानी को देते हुए कहा—

"तुम कैसी माता हो ? अपने प्रिय बालक को फिकवाते तुम्हारे मन में तनिक भी दया नहीं आई ? एक चाण्डालिनी, दुराचारिणी और क्रूर स्त्री भी अपने पुत्र को नहीं फेंकती, फिर भले ही वह गोलक (सधवा अवस्था में जार-पुरुष द्वारा उत्पन्न) अथवा कुंड (विधवा अवस्था में जार-पुरुष के संयोग से उत्पन्न) हो। लो अब इसका पालन-पोषण करो।"

चिल्लना पहले तो लज्जित हुई और नीचा मुंह कर के पति की भर्त्सना सुनती रही, फिर बोली:—

"हे नाथ ! यह पुत्र रूप में आपका शत्रु है। इसके गर्भ में आते ही आप की घात हो जाय—ऐसा दोहद उत्पन्न हुआ था। जब गर्भ में ही यह आपके कलेजे के मांस का भूखा था, तो बड़ा होने पर क्या करेगा ? पति का हित चाहने वाली पत्नी यह नहीं देखती कि वैरी पुत्र है या पुत्री ? वह एकमात्र पति का हित ही देखती है। आपके भावी अनिष्ट को टालने के लिये ही मैंने इसे फिकवाया था। आप इस शत्रु को फिर उठा लाये। कदाचित् भवितव्यता ही ऐसी हो"—कह कर चिल्लना ने पुत्र को लिया और एक सर्प को पाले, इस प्रकार विवशतापूर्वक स्तन-पान कराने लगी।

उकरड़े पर पड़े हुए बालक की अंगुली कुकड़े के पंख की रगड़ से कट गई थी। इससे अंगुली पक गई और पीड़ित करने लगी। इससे वह रोता बहुत था। राजा ने गोदी में ले कर उसकी अंगुली चूस-चूस कर पीप थूकने लगा। इस प्रकार बालक की अंगुली ठीक की। कुर्कुट द्वारा अंगुली कटने से बालक का नाम 'कुणिक' दिया। अशोक वन में ही राजा ने उसे प्रथम बार देखा था, इसलिये उसे 'अशोकचन्द्र' भी कहते थे।

कुणिक के बाद चिल्लना महारानी के दो पुत्र हुए—विहल्ल और वेहाश × चिल्लना इन दो पुत्रों के प्रति पूर्ण अनुराग रखती थी और उत्तम रीति से पालन करती थी, परन्तु कुणिक के प्रति उसका भाव विपरीत था।

महारानी चिल्लना पुत्रों को कुछ वस्तु देतो थी, तो कुणिक को कम और तुच्छ वस्तु देती थी और दोनों छोटे पुत्रों को अधिक और अच्छी वस्तु देती थी। कुणिक उसका प्रिय नहीं था। किन्तु कुणिक इस भेदभाव का कारण अपनी माता को नहीं, पिता को ही मानता रहा। वास्तव में श्रेणिक के मन में द्विधा नहीं थी। पूर्वभव का वैरोदय ही इसका मूल कारण था। श्रेणिक ने राजकुमारी पद्मावती के साथ कुणिक के लग्न कर दिये।

× ग्रन्थकार दो भाइयों का नाम "हल्ल और विहल्ल" लिखते हैं, परन्तु अनुत्तरोववाई सूत्र में "विहल्ल और वेहास" नाम लिखा है।

मेघकुमार का जन्म

महाराजा श्रेणिक के 'धारिणी' नाम की रानी थी। वह धारिनी देवी श्रेणिक को अत्तिप्रिय थी। किसी रात्रि में धारिनो देवी ने स्वप्न में एक विशाल गजराज को आकाश से उत्तर कर अपने मुँह में प्रवेश करते हुए देखा। स्वप्न देख कर वह जाग्रत हुई और उठ कर श्रेणिक के शयनकक्ष में आई। उसने अत्यंत मधुर, प्रिय एवं कल्याणकारी शब्दों से पति को जगाया। रानी के मधुर वचनों से जाग्रत हो कर राजा ने प्रिया को रत्नजड़ित भद्रासन पर बिठाया और इस समय आने का कारण पूछा। रानी ने विनय पूर्वक हाथ जोड़ कर स्वप्न सुनाया। स्वप्न सुन कर राजा अत्यंत प्रसन्न हुआ और स्वप्न-फल का विचार कर के कहने लगा;--

"देवाणुप्रिये! तुमने शुभ स्वप्न देखा है। इसके फल स्वरूप अनेक प्रकार के लाभ के अतिरिक्त एक उत्तम पुत्र की प्राप्ति होगी। वह अपने कुल का दीपक होगा और राज्याधिपति होगा।"

पति से स्वप्न-फल सुन कर रानी हर्षित हुई और आज्ञा ले कर अपने स्थान पर आई। शेष रात्रि उसने देवगुरु सम्वन्धी धर्म-जागरण में व्यतीत की। प्रातःकाल महाराजा ने सभाभवन को विशेष अलंकृत कराया और सभा के भीतरी भाग में यवनिका (परदा) लगवा कर उसके पीछे उत्तम भद्रासन रखवाया। धारिणी देवी को आमन्त्रित कर यवनिका के भीतर भद्रासन पर विठाया। तत्पश्चात् महाराजा ने स्वप्नपाठकों को बुला कर, रानी का देखा हुआ स्वप्न सुनाया और उसका फल पूछा। स्वप्न-पाठकों ने स्वप्न का फल बताया। राजा ने उनका बहुत सत्कार किया, धन दिया और संतुष्ट कर के बिदा किया। धारिणीदेवी सावधानी से नियम पूर्वक गर्भ का पालन करने लगी।

गर्भ का तीसरा मास चल रहा था कि धारिणी देवी के मन में अकाल मेघवर्षा का दोहद उत्पन्न हुआ। यथा;—

इस वसंत-ऋतु में आकाश-मण्डल में मेघ छाये हों, विजलियाँ चमक रही हो, गर्जना हो रही हो, छोटी-छोटी बूंदे बरस रही हो, पृथ्वी पर हरियाली छाई हुई हो और सारा भूभाग एवं वृक्ष-लताएँ, सुन्दर पुष्पादि से युक्त हो, ऐसे मनोरम समय में मैं सुन्दर वस्त्रालंकारों से सुसज्जित हो कर महाराज के साथ राज्य के प्रधान गजराज पर चढ़ कर, बड़े समारोह पूर्वक नगर में निकलूं और नागरिकजन का अभिवादन स्वीकार करती हुई वन-विहार करूँ।

धारिणी देवी का यह दोहद, ऋतु की अनुकूलता नहीं होने के कारण पूर्ण नहीं हो रहा था। अपनी उत्कट मनोकामना पूर्ण नहीं होने से वह उदास एवं चिन्तित रहने लगी। उसकी शोभा कम हो गई और वह दुर्बल हो गई। परिचारिका ने कारण पूछा, तो वह मौन रह गई। परिचारिका ने महारानी की दशा महाराज को सुनाई। राजा तत्काल अन्तःपुर में आया। उसने रानी से इस दुर्दशा का कारण पूछा। बार-बार पूछने पर भी रानी ने नहीं बताया, तो राजा ने शपथ पूर्वक पूछा। रानी ने अपना दोहद बतलाया। राजा ने उसे पूर्ण करने का आश्वासन दे कर सतुष्ट किया। अब राजा को रानी की मनोकामना पूर्ण करने की चिन्ता लग गई। अभयकुमार ने आश्वासन दे कर राजा को संतुष्ट किया। अब अभयकुमार सोचने लगा कि छोटी माता का दोहद, मनुष्य की शक्ति के परे है। उसने पौषधशाला में जा कर तेला किया और अपने पूर्वभव के मित्र देव का आराधन किया। देव आया और अकाल मेघवर्षा करना स्वीकार कर के चला गया। देव ने अपनी वैक्रिय-शक्ति से बादल बनाये और सारा आकाश-मण्डल आच्छादित कर दिया। गर्जना हुई, बिजलियाँ चमकी और शीतल वायु के साथ वर्षा होने लगी। दोहद के अनुसार रानी सुसज्ज हो कर सेचानक गंध-हस्ति पर बैठी। उस पर चामर डुलाये जाने लगे। तत्पश्चात् श्रेणिक राजा, गजारूढ़ हो कर धारिणी देवी के पीछे चला। धारिणी देवी आडम्बर पूर्वक नगर में घूमती हुई और जनता से अभिवंदित होती हुई उपवन में पहुँची और अपना मनोरथ पूर्ण किया।

गर्भकाल पूर्ण होने पर पुत्र का जन्म हुआ। दोहले के अनुसार उसका नाम 'मेघकुमार' दिया। योवन-वय में आठ राजकुमारियों के साथ उसका लग्न किया। वह भोग-मग्न हो कर जीवन व्यतीत करने लगा।

मेघकुमार की दीक्षा और उद्वेग

कालान्तर में श्रमण-भगवान् महावीर प्रभु राजगृह पधारे। मेघकुमार भी भगवान् को वन्दन करने गए। भगवान् का धर्मोपदेश सुन कर मेघकुमार भोग-जीवन से विरक्त हो गया और त्यागमय जीवन अपनाने के लिए आतुर हुआ। माता-पिता की अनुमति प्राप्त कर मेघकुमार भगवान् के समीप दीक्षित हो गया। दीक्षित होने के पश्चात् रात्रि को शयन किया। इनका संथारा, क्रमानुसार द्वार के निकट हुआ था। रात्रि के प्रथम एवं अन्तिम प्रहर में श्रमण-गण, वाचना, पृच्छना, परावर्त्तना, तथा परिस्थापना-

के लिये जाने-आने लगे। इससे उन श्रमणों में से किसी का पाँच आदि अंग, मेघमुनि के अंग से स्पर्श होते, उन संतों के पाँवों में लगी हुई रज, मेघमुनि के अंगों और संस्तारक के लग गई, और चलने-फिरने से उड़ी हुई धूल से सारा शरीर भर गया। इससे उन्हें ग्लानि हुई, वे अकुला गए और रातभर नींद नहीं ले सके। उन्होंने सोचा;—

"जब मैं गृहस्थ था राजकुमार था, तब तो श्रमण-निर्ग्रंथ मेरा आदर-सत्कार करते थे, किन्तु मेरे श्रमण बनते ही इन्होंने मेरी उपेक्षा कर दी और मैं ठुकराया जाने लगा। अब प्रातःकाल होते ही भगवान् से पूछ कर अपने घर चला जाऊँ। मेरे लिए यही श्रेयस्कर है।" प्रातःकाल होने पर मेघमुनि भगवान् के निकट गए और वन्दना-नमस्कार कर के पर्युपासना करने लगे।

मेघमुनि का पूर्वभव

देखा और उसमें पानी पीने के लिए वेगपूर्वक घुसे, किंतु किनारे के दलदल में ही धँस गए। तुमने पांव निकालने के लिये जोर लगाया, तो अधिक धँस गए। तुमने पानी पीने के लिए सूंड़ आगे बढ़ाई, परन्तु वह पानी तक पहुँची ही नहीं। तुम्हारी पीड़ा बढ़ गई। इतने में तुम्हारा एक शत्रु वहां आ पहुँचा--जिसे तुमने कभी मार-पीट कर यूथ से निकाल दिया था। तुम्हें देखते ही उसका वैर जाग्रत हुआ। वह क्रोधपूर्वक तुम पर झपटा और तुम्हारी पीठ पर अपने दन्त-मूसल से प्रहार कर के चला गया। तुम्हें तीव्र वेदना हुई और दाहज्वर हो गया। सात दिन तक उस उग्र वेदना को भोग कर और एक सौ बीस वर्ष की आयु पूर्ण कर, आर्त्तध्यान युक्त मर कर इस दक्षिण भरत में गंगा नदी के दक्षिण किनारे, एक हथिनि के गर्भ में आये और हाथी के रूप में जन्मे। इस भव में तुम रक्त वर्ण के थे। तुम चार दांत वाले 'मेरुप्रभ' नाम के हस्ति-रत्न हुए। युवावस्था में युवती एवं गणिका के समान कामुक हथिनियों के साथ क्रीड़ा करते हुए विचर रहे थे। एकबार वन में भयंकर आग लगी। उसे देख कर तुम्हें विचार हुआ कि ऐसी आग मैंने पहले भी कहीं-कभी देखी है।' तुम चिन्तन करने लगे। तदावरणीय कर्म के क्षयोपशम से तुम्हें जातिस्मरण-ज्ञान हुआ और तुमने अपने पूर्व का हाथी का भव तथा दावानल-प्रकोपादि देखा। अब तुमने यूथ की रक्षा का उपाय सोचा और उस संकट से निकल कर वन में तुमने अपने यूथ के साथ एक योजन प्रमाण भूमि के वृक्ष-लतादि उखाड़ कर फेंक दिये और रक्षा-मण्डल बनाया। इसी प्रकार आगे भी वर्षाकाल में जो घास-फूस उगता, उसे उखाड़ कर साफ कर दिया जाता। कालान्तर में वन में आग लगी और वन-प्रदेश को जलाने लगी। तुम अपने यूथ के साथ उस रक्षा-मण्डल में पहुँचे, किंतु इसके पूर्व ही अनेक सिंह, व्याघ्र, मृग, शृगाल आदि आ कर बिलधर्म के अनुसार (जैसे एक बिल में अनेक कीड़े-मकोड़े रहते हैं) जम गये थे। गजराज ने यह देखा, तो वह भी बिलधर्म के अनुसार घुस कर एक स्थान पर खड़ा हो गया। तुम्हारे शरीर में खाज चली। खुजालने के लिए तुमने एक पाँव उठाया और जब पाँव नीचे रखने लगे, तब तुम्हें पाँव उठाने से रिक्त हुए स्थान में एक शशक बैठा दिखाई दिया। तुम्हारे हृदय में अनुकम्पा जाग्रत हुई। प्राणियों की अनुकम्पा के लिए तुमने वह पाँव उठाये ही रखा। प्राणियों की अनुकम्पा करने से तुमने संसार परिमित कर दिया और फिर कभी मनुष्यायु का बंध किया। वह दावानल ढ़ाई दिन तक रहा और बूझ गया। मण्डल में रहे सब पशु चले गये। [illegible] भी गया। तुम पाँव नीचे रखने लगे, तुम भूख-प्यास, थकान, जरा, आदि से अशक्त हो गए थे। पाँव अकड़ गया था, अतः गिर पड़े। तुम्हारे शरीर में तीव्र वेदना हुई। दाहज्वर

हो गया। दुस्सह वेदना तीन दिनरात सहन करते हुए, सौ वर्ष की आयु पूर्ण कर तुम मेघकुमार के रूप में उत्पन्न हुए।

"मेघ मुनि ! तिर्यंच के भव में --तुम्हें पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ ऐसा 'सम्यत्व-रत्न' प्राप्त हुआ। उस समय इतनी घोर वेदना सहन की और मनुष्य-भव पा कर निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या अंगीकार की, तो अब तुम यह सामान्य कष्ट भी सहन नहीं कर सके ? सौचो कि तुम्हारा हित किस में है ?"

भगवंत से अपना पूर्व-भव सुन कर मेघमुनि विचारमग्न हो गए। शुभ भावों की वृद्धि से उन्हें जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ और उन्होंने स्वयं ही अपने पूर्वभव देख लिये। उनका संवेग पहले से द्विगुण बढ़ गया। उनकी आँखों से आनन्दाश्रु बहने लगे। उन्होंने भगवान् को वन्दना कर के कहा--

"भगवन् ! मैं भटक गया था। आपश्री ने मुझे संभाला, सावधान किया। अब आज से मैं अपने दोनों नेत्र (ईर्या-शोधन के लिए) छोड़ कर शेष सारा शरीर श्रमण-निर्ग्रंथों को समर्पित करता हूँ। अब मुझे पुनः दीक्षित करने की कृपा करें।"

पुनः चारित्र ग्रहण कर के मेघमुनि आराधना करने लगे। उन्होंने आचारांगादि ग्यारह अंगों का अध्ययन किया, तपस्या भी करते रहे। फिर उन्होंने भिक्षु की बारह प्रतिमा का पालन किया, तत्पश्चात् गुणरत्न-सम्वत्सर तप किया और भी अनेक प्रकार की तपस्या करते रहे। अंत-समय निकट जान कर भगवान् की आज्ञा से विपुलाचल पर्वत पर चढ़ कर अनशन किया और एक मास का अनशन तथा बारह वर्ष की साधु-पर्याय पूर्ण कर काल को प्राप्त हुए। वे विजय नामक अनुत्तरविमान में देव हुए। वहाँ का तेतीस सागरोपम का आयु पूर्ण कर महाविदेह-क्षेत्र में मनुष्य-भव प्राप्त करेंगे और संयम-तप की आराधना कर के मुक्त हो जावेंगे।

महाराजा श्रेणिक को बोध-प्राप्ति

[महाराजा श्रेणिक के चरित्र की कई कहानियाँ--श्रेणिक-चरित्र और रास-चौपाई में प्रचलित है। उनमें लिखा है कि श्रेणिक पहले विधर्मी था और महारानी चिल्लना जिनोपासिका थी। महाराजा चेटक जिनोपासक थे। इसलिए महारानी भी जिनोपासक होगी ही। महारानी को अपने पति का मिथ्यात्व खटकता था। वे चाहती थीं कि पति भी जिनोपासक हो जाय। इस विषय में उनमें वार्त्तालाप होता रहता। राजा ने रानी को जिन-धर्म से विमुख करने का विचार किया। एकबार राजा ने अपने गुरुवर्ग की महत्ता

और अलौकिक शक्ति की बहुत प्रशंसा की और उन्हें भोजन का निमन्त्रण दे कर रानी को व्यवस्था करने का कहा। रानी ने उनकी सर्वज्ञता और महत्ता की परीक्षा करने के लिए गुप्त रूप से विश्वस्त सेवकों द्वारा फटे-पुराने जुते मँगवाये। उनके छोटे-छोटे टुकड़े करवा कर धुलवाये और पका कर बहुत नरम बना दिये, फिर रायता बना कर उसमें डाल दिये और अनेक प्रकार के मसाले डाल कर अति स्वादिष्ट बना दिया। भोजन के समय वह रायता रुचिपूर्वक प्रशंसा करते हुए खूब खाया। उनके चले जाने के बाद रानी ने राजा को बताया कि आपके गुरु कैसे सर्वज्ञ हैं? इन्हें यह तो ज्ञात ही नहीं हो सका कि मैं क्या खा रहा हूँ? रानी ने भेद बताया, तो राजा को विश्वास नहीं हुआ। उसने गुरु से वमन करवा कर परीक्षा की, तो रानी की बात सत्य निकली। उनकी आँखे तो खुल गईं, परन्तु रानी के गुरु की भी वैसी दशा कर के उसे लज्जित करने (बदला लेने) की भावना जगी। उन्होंने रानी को भी उसके गुरु के साथ वैसा ही कर दिखाने की प्रतिज्ञा की। रानी सावधान हो गई। उसने ऐसा प्रबन्ध किया कि जो अतिशय ज्ञानी सन्त हों, वेही इस नगर में आवें। एकबार चार ज्ञान के धारक महात्मा पधारे। उन्हें उपवन के एक मन्दिर में ठहराया गया। राजा ने गुप्त रूप से उस मन्दिर में एक वेश्या को प्रवेश कराया और बाहर से द्वार बन्द करवा दिये। वेश्या अपनी कला दिखाने लगी। महात्मा ने ज्ञान-बल से सारा षड्यन्त्र जान लिया। फिर उन्होंने वेश्या को भयभीत कर के एक ओर हट जाने पर विवश किया और दीपक की लो से अपने वस्त्र जला कर उसकी राख शरीर पर चुपड़ ली। प्रातःकाल राजा ने रानी को उसके गुरु के कारनामे दिखाने उपवन में लाया और हजारों नागरिकों को भी इकट्ठा कर लिया। द्वार खोलने पर राजा को ही लज्जित होना पड़ा। क्योंकि वे रानी के गुरु के बदले उसीके गुरु दिखाई दे रहे थे। इस प्रकार की कुछ कथाएँ प्रचलित है। अन्त में रानी का प्रयत्न सफल हुआ। इन कथाओं का प्राचीन आधार जानने में नहीं आया।]

महाराजा श्रेणिक जिनधर्म से परिचित नहीं थे। एकबार मण्डिकुक्षि उद्यान में वन-विहार करने गए। वहाँ उन्होंने एक वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ़ श्री अनाथी मुनि को देखा। उनका देदीप्यमान् तेजस्वी शरीर एवं महान् पुण्यात्मा के समान आकर्षक सौम्य मुख देख कर नरेश चकित रह गए। महात्मा की साधना ने भी राजेन्द्र को प्रभावित किया। परन्तु राजा सोच रहा था कि ऐसी सुघड़ देह वाला आकर्षक युवक, अभावों से पीड़ित होगा, भोग के साधन इसे उपलब्ध नहीं हुए होंगे और माता-पितादि किसी स्नेही के वरद-हस्त की छाया इस पर नहीं रही होगी। इसलिये यह साधु बना है। परन्तु इसका व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली है। यह तो मेरा पार्श्ववर्ती होने योग्य है। यदि यह मान जाय, तो मैं इसे भोग के सभी साधन दे कर अपना मित्र बना लूं। राजेन्द्र ने मुनि को साधु बनने का कारण पूछा। महात्मा ने बताया—"राजेन्द्र! मैं अनाथ था। इसीलिए साधु बना हूँ।"

राजेन्द्र ने कहा—"हो सकता है कि आपके माता-पितादि रक्षक नहीं रहे हों और अभावों से पीड़ित हो कर आपने साधुत्व स्वीकार किया हो। क्योंकि साधुओं के लिए पेट

भरना कठिन नहीं होता। अब आप इस कष्ट-क्रिया को छोड़ दें। मैं आपका नाथ बनूंगा और आपको ऐसे भोग-साधन अर्पण करूँगा कि जो सामान्य मनुष्यों को उपलब्ध नहीं होते। चलिये मेरे साथ।"

"नरेन्द्र ! तू स्वयं ही अनाथ है। पहले अपनी रक्षा का प्रबन्ध तो कर ले। जो स्वयं अनाथ है, वह दूसरों का नाथ कैसे बन सकता है'—महात्मा ने स्पष्ट शब्दों में कहा।

"मुनिजी ! आपने मुझे पहिचाना नहीं। इसीलिए आप बिना विचारे सहसा झूठ बोल गए। मैं मगध-देश का स्वामी हूँ। मेरा भण्डार बहुमूल्य रत्नों से भरा हुआ है। विशाल अश्व-सेना, गज-सेना, रथवाहिनी और पदाति-सेना मेरे अधीन है। एक-एक से बढ़ कर सैकड़ों सुन्दरियों से सुशोभित मेरा अन्तःपुर है। मुझे उत्तमोत्तम भोग उपलब्ध है और समस्त राज्य मेरी आज्ञा के अधीन है। इतने विशाल साम्राज्य एवं समृद्धि के स्वामी को 'अनाथ' कहना असत्य नहीं है क्या ? अब तो आप मुझे पहिचान गए होंगे। चलिये, मैं आपको सभी प्रकार के उत्तम भोग प्रदान करूँगा।"—श्रेणिक ने अपनी सनाथता बतलाते हुए पुनः अनुरोध किया।

"राजेन्द्र ! तुम भ्रम में हो। तुम्हें सनाथता और अनाथता का पता नहीं है। मैं अपनी जीवनगाथा सुना कर तुम्हें सनाथ-अनाथ का स्वरूप समझाता हूँ।"

"मैं कोशाम्बी नगरी में रहता था। 'प्रभुत धनसंचय' मेरे पिता थे—विपुल वैभव के स्वामी। यौवनावस्था में मेरी आँखों में अत्यन्त उग्र वेदना उत्पन्न हुई, जैसे कोई शत्रु शूल भोंक रहा हो। सारा शरीर दाहज्वर से जल रहा था। मेरा मस्तक फटा जा रहा था, जैसे—इन्द्र का वज्र मेरे मस्तक पर गिर रहा हो।"

"मेरे पिता ने अत्यन्त कुशल एवं निष्णात वैद्य बुलाये और प्रकाण्ड मन्त्रवादी और तान्त्रिकों से भी सभी प्रकार के उपचार कराये। मैं अपने पिता का अत्यन्त प्रिय था। वे मेरे स्वास्थ्य-लाभ के लिए समस्त सम्पत्ति अर्पण करने पर तत्पर थे। किन्तु मेरे पिता के समस्त प्रयत्न और वह वैभव मेरा दुःख दूर नहीं कर सके। यह मेरी अनाथता है।

मेरी ममतामयी माता मेरे दुःख से दुःखी और शोकसंतप्त थी। मेरे छोटे-बड़े भाई, बहिने, ये सभी मेरे दुःख से दुःखी थे। मुझ में पूर्णरूप से अनुरक्त मेरी स्नेहमयी पत्नी ने तो खान-पान एवं स्नान-मंजनादि सब छोड़ कर मेरे पास ही बैठी रोती रही। वह मुझ-से एक क्षण के लिए भी दूर नहीं हुई। इस प्रकार समस्त अनुकूल परिवार, धन-वैभव, निष्णात वैद्याचार्य और उत्तमोत्तम औषधी। ये सभी उत्तम साधन मुझे दुःख से मुक्त कर के शांति पहुँचाने में समर्थ नहीं हुए। सभी के प्रयत्न व्यर्थ गए। यही मेरी अनाथता है।

"जब सभी अपना-अपना प्रयत्न कर के हताश हो गए और मेरी व्याधि जैसी की तैसी बनी रही, तब मैं समझा कि मेरा रक्षक कोई नहीं है। उस समय मैंने धर्म की शरण ली और संकल्प किया कि—"यदि मैं इस महावेदना से मुक्त हो गया, तो इन सभी का त्याग कर के अनगार-धर्म का पालन करूँगा और क्षमावान् दमितेन्द्रिय हो कर दुःख के मूल को नष्ट करता हुआ विचरण करूँगा।" मेरा संकल्प प्रभावशाली हुआ। उसी क्षण से मेरी वेदना कम होने लगी। ज्यों-ज्यों रात्रि बीतती गई, त्यों-त्यों मेरा रोग नष्ट होता गया और प्रातःकाल होते ही मैं पूर्ण निरोग हो गया। अपने माता-पिता को अनुमत कर मैंने निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या स्वीकार की। अब मैं अपना, दूसरों का और सभी त्रस-स्थावर प्राणियों का नाथ हो गया हूँ (मैं अपनी आत्मा का रक्षक बन गया हूँ। दूसरा कोई रक्षक बनना चाहे, तो उसकी आत्म-रक्षा में सहायक हो सकता हूँ और समस्त प्राणियों को अभयदान देता हुआ विचर रहा हूँ)।"

'राजेन्द्र ! अपनी आत्मा ही दुःख-सुख की कर्त्ता है। अनाथ और सनाथ बनना आत्मा के दुःकृत्य-सुकृत्य पर आधारित है, भौतिक सम्पत्ति या परिवार नहीं। अब तुम्हीं सोचो कि तुम अनाथ हो या सनाथ ?"

"महाराजा ! वैभवशाली नरेश ही अनाथ नहीं है। वे वेशोपजीवी भी अनाथ हैं, जो निर्ग्रंथ धर्म ग्रहण कर और महाव्रतादि का विशुद्धता पूर्वक पालन करने की प्रतिज्ञा कर के भी धर्म-भ्रष्ट हो जाते हैं। रसों में गृद्ध, सुखशीलिये और अनाचारी बन जाते हैं। वे कुशीलिये × तो पोली मुट्ठी, खोटे सिक्के और काच के टुकड़े के समान निःसार ही है। वे वेशोपजीवी अनाथ ही रहेंगे। उनका संसार से निस्तार नहीं हो सकता।"

महात्मा के वचन सुन कर श्रेणिक सन्तुष्ट हुआ और विनयपूर्वक हाथ जोड़ कर बोला—

"हे महर्षि ! आपने सनाथ-अनाथ का स्वरूप अच्छा बताया। वस्तुतः आप ही सनाथ हैं। अनाथों के भी नाथ हैं। आप जिनेश्वर भगवंत के सर्वोत्तम मुक्ति-मार्ग के आराधक हैं। मैंने आपके ध्यान में विघ्न किया। इसकी क्षमा चाहता हुआ आपका धर्मानुशासन चाहता हूँ।"

× यह 'कुशील' विशेषण 'दुराचारी' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। भगवती २५-६ के 'निग्रन्थ' अर्थ में नहीं।

महाराजा श्रेणिक विनय एवं भक्ति पूर्वक धर्म अनुरक्त हो कर महात्मा की स्तुति करता हुआ वन्दना करता है / ।

नन्दीसेन कुमार और सेचनक हाथी

एक ब्राह्मण ने यज्ञ किया। उसे यज्ञ में कार्य करने के लिये एक सेवक की आवश्यकता हुई। उसने एक दास से कहा, तो दास ने माँग रखी—"यदि ब्राह्मणों के भोजन कर लेने के बाद बचा हुआ भोजन मुझे दो, तो मैं आपके यज्ञ में काम कर सकता हूँ।' ब्राह्मण ने माँग स्वीकार कर ली। वह सेवक स्वभाव का भद्र था। उसने जैन मुनियों की चर्या देखी थी। उन्हें बड़े-बड़े लोगों द्वारा भक्ति और बहुमान पूर्वक आहार देते देखा था। इन साधुओं में तपस्वी सन्त भी होते हैं। ऐसे निर्लोभी पवित्र सन्तों को दान देने की भावना उसके मन में कभी की बसी हुई थी। परन्तु वह दरिद्र था। उसका पेट भरना भी कठिन हो रहा था। यज्ञ के कार्य में सेवा देने से उसे बचा हुआ बहुत-सा भोजन मिलता था। उसे अब अपनी भावना सफल होने का अवसर मिला था। प्राप्त भोजन अपने अधिकार में करने के बाद वह मुनियों के उधर निकलने की गवेषणा करने लगा। उसकी भावना सफल हुई। सन्त उसके यहाँ पधारे और उसने भावोल्लास पूर्वक सन्तों को आहार-दान किया। आज उसकी प्रसन्नता का पार नहीं था। इस प्रकार वह प्रतिदिन किसी निर्ग्रंथ सन्त या सती को दान करता रहा। शुभ भावों में देव-आयु का बन्ध किया और मृत्यु पा कर स्वर्ग में गया। देवायु पूर्ण कर वह महाराजा श्रेणिक का 'नन्दीसेन' नामक पुत्र हुआ।

एक महावन में हाथियों का झुण्ड था। एक विशालकाय बलवान युवक गजराज उस यूथ का अधिपति था। यूथ में अन्य सभी हथनियाँ थी। वह उन सब का स्वामी था और उनके साथ भोग भोगता हुआ विचर रहा था। हथनियाँ गर्भवती होती और उनके

/ उत्तराध्ययन अ. २० से स्पष्ट होता है कि श्रेणिक नरेश महात्मा श्री अनाथी मुनिजी के उपदेश से प्रतिबोध पाया था। किन्तु त्रि. श. चरित्र आदि में भ. महावीर से प्रतिबोधित होना लिखा है। यह उत्तराध्ययन के आधार से अविश्वसनीय लगता है।

आचार्य पूज्य श्री हस्तीमलजी म. सा. ने 'जैन-धर्म का मौलिक इतिहास' भाग १ पृ. ४०३ में त्रि. श. पु. च. और 'महावीर चरियं' के आधार से भ. महावीर द्वारा सम्यक्त्व-लाभ का लिखा। परन्तु आपने ही पृ ५१३ में अनाथी मुनि द्वारा बोध-प्राप्ति का भी लिखा, सो यही ठीक लगता है।

गर्भ से नारी ही उत्पन्न होती, तो जीवित रह सकती थी। परन्तु नर-बच्चा होता, तो यूथपति उसे मार डालता। वह नहीं चाहता था कि उसकी हथिनियों का भोक्ता कोई दूसरा उत्पन्न हो और उसके लिये बाधक बने। उसके यूथ की एक हस्तिनी के गर्भ में, यज्ञ-कर्त्ता ब्राह्मण का जीव भी. अनेक भव-भ्रमण करता हुआ आया। हथिनी को विचार हुआ— 'यह पापी यूथपति मेरे बच्चे को मार डालेगा। पहले भी मेरे कई बच्चे इसने मार डाले। इसलिये मैं इसका साथ छोड़ कर अन्यत्र चली जाऊँ"--इस प्रकार सोच कर वह लंगड़ाती हुई चलने लगी, जैसे पाँव में कोई काँटा लगा हो, या रोग हो। इस प्रकार वह यूथ से पीछे रह कर विलम्ब से आने लगी। यूथपति ने सोचा--'यह अस्वस्थ है, इसलिये रुकती और विश्राम लेती हुई विलम्ब से स्वस्थान आती है। इस प्रकार कभी एक प्रहर दो प्रहर और एक दिन विलम्ब से आ कर यूथ में मिलती। उसे विश्वास हो गया कि अब दो दिन का विलम्ब भी स्वामी को शंकास्प्रद नहीं होगा। वह यूथ छोड़ कर अन्य दिशा में वेगपूर्वक चली। आगे चल कर वह लंगड़ाती हुई तपस्वियों के आश्रम तक पहुँची और वहीं रह गई। उसके बच्चा हुआ। कुछ दिन उसका पालन कर के वह अपने यूथ में लौट गई। तपस्वी उस गजपुत्र का पालन करने लगे। वह कलभ भी तपस्वियों से हिल गया। वह सूंड में कलश पकड़ कर तपस्वियों को स्नान कराता, उनके पास बैठ कर, सूंड उनकी गोद में रखता और उनका अनुकरण करता हुआ वह सूंड में जल भर कर वृक्षों और लताओं को सिंचन करता। इस प्रकार सिंचन करने से तापसों ने उसका नाम 'सेचनक' दिया। वह बड़ा हुआ, उसके बड़े-बड़े दाँत निकले, सभी अंग पुष्ट हुए और वह ऊँचा पूरा मदमस्त गजराज हुआ। उसके गंडस्थल से मद झरने लगा।

एकबार वह नदी पर जल पीने गया। वहां उसने उस यूथपति हाथी को देखा। दोनों क्रुद्ध हुए और भिड़ गए। युवक सेचनक ने वृद्ध यूथपति (पिता) को मार डाला और स्वयं उस यूथ का स्वामी बन गया। उसे विचार हुआ कि 'जिस प्रकार मेरी माता ने गुप्त रूप से तापसों के आश्रम में मुझे सुरक्षित रखा और मैंने बड़ा हो कर अपने पिता को मार डाला, उसी प्रकार भविष्य में कोई हथिनी अपने बच्चे को इस आश्रम में रख कर गुप्त रूप से पालन करे, तो वह मेरे लिए भी घातक हो सकता है। इसलिए इस आश्रम को ही नष्ट कर देना चाहिए, जिससे गुप्त रहने का स्थान ही नहीं रहें।" उसने उस आश्रम को नष्ट कर दिया। तपस्वियों ने भाग कर महाराजा श्रेणिक से निवेदन किया— "महाराज ! एक बहुत ही ऊँचा सुन्दर एवं सुलक्षण सम्पन्न हाथी, हमारे आश्रम के निकट है। वह आपकी गजशाला की शोभा होने के योग्य है। आप उसे पकड़वा कर मँगवा

लीजिये। राजा ने उस गजराज को पकड़वा कर मँगवालिया और पाँवों में भारी सांकल डाल कर थम्बे से बांध दिया। तपस्वियों ने उसे बन्धन में देख कर रोषपूर्वक कहा—"कृतघ्न! हमने तेरा पालन-पोषण किया। इसका बदला तेने हमारा आश्रम नष्ट कर के दिया। अब भोग अपने पाप का फल।"

हाथी उन्हें देख कर और रोषपूर्ण वचन सुन कर समझ गया कि 'मुझे बन्धन में डलवाने का काम इन तपस्वियों ने ही किया है।' वह क्रोधित हुआ और बलपूर्वक आलान-स्तंभ को तोड़ डाला, साँकले तोड़ दी, तापसों को उठा कर एक ओर फेंक दिया और बन की ओर दौड़ गया। जब सेचनक के बन में चले जाने का समाचार महाराजा को मिला, तो स्वयं अश्वारूढ़ हो, अपने कुमारों तथा अन्य लोगों के साथ उसे पकड़ने बन में पहुँचे और हाथी को चारों ओर से घेर लिया। हस्तिपाल भी उस रुष्ट गजराज से डर रहे थे। उन्होंने उसके सामने रसीले खाद्य-पदार्थ डाले, परन्तु उसने उपेक्षा कर दी। सभी लोग घेरा डाले उसे पकड़ने का उपाय सोच रहे थे। कुमार नन्दीसेन हाथी को देखते ही आकर्षित हुए। उनका सम्बोधन सुन कर हाथी उन्हें देखने लगा। नन्दीसेन को देखते ही हाथी शांत हो गया। उसे वह व्यक्ति परिचित लगा। उसके मन में ऊहापोह हुआ। गम्भीर चिन्तन के फल स्वरूप उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया और अपना ब्राह्मण का भव दिखाई दिया। उसे नन्दीसेन का वह परिचय भी ज्ञात हुआ, जब वह यज्ञ में सेवक का कार्य करता था।'

हाथी स्तब्ध, शान्त और निष्पन्द हो गया। नन्दीसेन के मन में हाथी के प्रति प्रेम जगा। वह हाथी को सम्बोधन करता हुआ उसके निकट पहुँचा और दाँत पकड़ कर ऊपर चढ़ गया। हाथी चुप-चाप स्वस्थान आया और खूंटे से बंध गया। राजा ने उसे सभी हाथियों में प्रधान बनाया। यह सेचनक हाथी महाराजा का प्रीतिपात्र हुआ।

महाराजा श्रेणिक के महारानी काली आदि से कालकुमार आदि अनेक पुत्र हुए।

नन्दीसेनजी की दीक्षा और पतन

ग्रामानुग्राम विचरते और भव्य जीवों को प्रतिबोध देते हुए त्रिलोकपूज्य भगवान् महावीर प्रभु राजगृह पधारे। महाराजा श्रेणिक, राजकुमार, महारानियां और नागरिकजन भगवान् को वन्दन करने गुणशीलक उद्यान में आये। भगवान् ने धर्मोपदेश दिया। परिषद्

लौट गई। नन्दीसेन कुमार पर भगवान् के उपदेश का गहरा रंग लगा। वह माता-पिता की अनुमति ले कर भगवान् के पास दीक्षित हो गया। जब वह दीक्षा लेने जा रहा था, तब एक देव ने उस से कहा कि—"तुम्हें अभी भोगजीवन जीना है। कर्म-फल-भोगने के बाद दीक्षित होना *।" नन्दीसेन पर क्षयोपम की विशिष्टता मे निर्वेदभाव की प्रबलता थी। उसने देव-वाणी की उपेक्षा करदी और भगवान् के सान्निध्य में दीक्षित हो गया और ज्ञानाभ्यास और तपस्यापूर्वक संयम की साधना करने लगा। कालान्तर में उदयभाव प्रबल हुआ और कामना जाग्रत होने लगी, तो वे उग्र तप कर के वासना को क्षय करने में जुट गये और श्मशान-भूमि जा कर आतापना लेने लगे। जब घोर तपस्या से भी इन्द्रियों की उच्छृंखलता नहीं मिटी, तो उन्होंने आत्म-घात करने का प्रयत्न किया, किन्तु वह भी सफल नहीं हुआ। शस्त्र से देह को छेद कर मरना चाहा, तो शस्त्र कुण्ठित हो गया, मारक विष बलवृद्धक बन गया, अग्नि बूझ गई, फाँसी टूट गई और पर्वत पर से गिरे, तो कहीं भी चोट नहीं आई। देव सर्वत्र रक्षा करता रहा। अन्त में देव ने कहा—"नन्दीसेन ! तुम्हारे भोग योग्य कर्मों का प्रबल उदय है। वह सफल होगा ही। तुम उसे व्यर्थ नहीं कर सकोगे।" उन्होंने फिर उपेक्षा की और तपस्या करते रहे।

एकबार वे पारणा लेने के लिए निकले और अनायास एक वेश्या के घर चले गये। वेश्या ने देखा कि एक साधु आ रहा है। इसके पास मुझे देने के लिये क्या होगा ? वेश्या ने पूछा—"गाँठ में कुछ ले कर आये हो ?'

"भद्रे ! मैं तो साधु हूँ। मेरे पास तो धर्म है"- नन्दीसेन बोले।

"तो फिर चलते बनो। यहाँ धर्म नहीं, अर्थ चाहिये। यदि अर्थ हो तो आओ"—वेश्या ने अपनी जात बता दी।

नन्दीसेन मुनि को तपस्या से कुछ लब्धियाँ प्राप्त हो गई थी। उन्होंने एक तिनका उठा कर फेंका और रत्नों का ढेर हो गया। मुनि वहाँ से चल दिये। वेश्या ऐसे रत्न-भण्डार को कैसे छोड़ सकती थी। वह आगे बढ़ी और मुनिजी से लिपट गई। नन्दीसेन अपने को

---

* ग्रन्थकार लिखते हैं कि भगवान् ने उसे मना करते हुए कहा—' अभी तेरे चारित्र-मोहनीयकर्म का भोग करना शेष है। तू अभी त्याग मत कर।" यह बात समझ में नहीं आती। इससे भगवान् की सर्वज्ञता में सन्देह उत्पन्न होता है। सर्वज्ञ तो जानते हैं कि यह दीक्षित होगा ही, फिर मेरे निषेध करने का महत्व ही क्या रहेगा ? तथा पतित हो जाने पर भी पाली हुई दीक्षा लाभकारी तो रहेगी ही, जिससे पुनः दीक्षित होना सरल हो जायगा। जमाली को विहार की मना नहीं करने वाले भगवान् ने नन्दीसेन को मना क्यों किया ? इस बात की प्रामाणिकता में सन्देह होता है।

छुड़ाने का प्रयत्न करने लगे, तो वह उनके अंगों से चिपक गई और कहा—"यदि मुझे छोड़ कर चले गये, तो प्राण देदूँगी।" उदयभाव वाले के लिए तो उसका क्षणिक स्पर्श ही पर्याप्त था। उदयभाव सफल हो गया। वे संयम छोड़ना नहीं चाहते थे, परन्तु उदय-भाव ने रास्ता बता दिया। उन्होंने संयम छोड़ने के बदले यह प्रतिज्ञा की कि—"मैं उप-देश दे कर प्रतिदिन दस व्यक्तियों को भगवान् के समीप दीक्षित करवाता रहूँगा। यदि कभी दस पूरे नहीं होंगे, तो मैं स्वयं दीक्षित हो जाऊँगा।"

उन्होंने साधु का वेश उतार कर एक ओर रख दिया और वेश्या के साथ भोग भोगने लगे। तथा नित्य उपदेश दे कर दस या अधिक व्यक्तियों को भगवान् के पास दीक्षा लेने के लिए भेजते रहे। कितना ही काल इसी प्रकार व्यतीत हो गया और उदयभाव का जोर भी क्षीण हुआ।

नन्दीसेनजी पुनः प्रव्रजित हुए

एक दिन नन्दीसेनजी के उपदेश से नौ व्यक्ति ही प्रव्रजित हुए। दसवाँ व्यक्ति एक स्वर्णकार था। वह समझ ही नहीं रहा था। नन्दीसेनजी का प्रयत्न निष्फल हुआ। उसे समझाने में बहुत समय लगा, तो वेश्या ने भोजनार्थ बुलाने के लिये सेवक को भेजा। सेवक के बारबार आग्रह करने पर भी वे नहीं गए, तो वेश्या स्वयं आई। नन्दीसेनजी स्वर्णकार को नहीं समझा सके, तो अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वे स्वयं पुनः दीक्षित होने के लिए तत्पर हो गए और भगवान् के समीप जा कर दीक्षित हो गए। कितने ही काल तक उन्होंने संयम-तप की विशुद्ध आराधना की और अनशन करके आयुपूर्ण कर स्वर्ग में देव हुए।

श्रेणिक को रानी के शील में सन्देह

महारानी चिल्लना के साथ महाराजा श्रेणिक अत्यन्त आसक्त हो कर भोगी जीवन व्यतीत कर रहा था। शीतकाल चल रहा था। पौष-माघ की भयंकर शीत और साथ ही शूल के समान छाती मे चुभने वाली वायु की हिम-सी शीतल लहरें अत्यन्त दुस्सह हो रही थीं। श्रमण भगवान् महावीर प्रभु ग्रामानुग्राम विचरते हुए राजगृह पधारे और गुणशील उद्यान में विराजे। भगवान् का पदार्पण सुन कर राजा श्रेणिक महारानी के साथ वन्दना करने गया। दिन के तीसरे पहर का समय था। लौटते समय जलाशय के निकट एक

प्रतिमाधारी मुनि को उत्तरीय वस्त्र से रहित ध्यानस्थ खड़े देखा। राजा-रानी वाहन से नीचे उतरे और मुनि को भक्तिपूर्वक वन्दन किया। वन्दना कर के उनकी साधना की प्रशंसा करते हुए स्वस्थान आये। रात के समय नींद में महारानी का हाथ दुशाले से बाहर निकल गया, तो उस पर ठण्ड का तीव्र स्पर्श हुआ। महारानी की नींद उचट गई। अपने हाथ को दुशाले में ढकती हुई महारानी के मुंह से ये शब्द निकले—"ऐसी असह्य शीत को वे कैसे सहन करते होंगे।" महारानी की नींद के साथ ही महाराजा की नींद भी खुल गई थी। राजा ने महारानी के शब्द सुने, तो उनके मन में प्रिया के चरित्र में सन्देह उत्पन्न हुआ। उन्होंने सोचा—"रानी को अपना गुप्त प्रेमी स्मरण में आया है, जिसकी चिन्ता रानी को नींद में बनी रहती है।" श्रेणिक के मन ने यही अनुमान लगाया और अपने भ्रम को सत्य मान लिया, जब कि महारानी के मुंह से—उन प्रतिमाधारी महात्मा का विचार आने से शब्द निकले थे। राजा और रानी दोनों ने दिन को ही एक साथ महात्मा के दर्शन किये थे और उनकी यह उग्रतर साधना देखी थी। रानी के मन पर उसी साधना का प्रभाव छाया हुआ था। उन महात्मा का स्मरण इस कड़कड़ाती तनतोड़ शीत में उसे हुआ और अपने हाथ में लगी ठण्ड की असह्यता से उसे विचार हुआ कि—"मैं भवन के भीतर शीत-लहर एवं ठण्डक से सुरक्षित शयनागार में भी हाथ के खुले रहने से ठिठुर गई, तब वे महात्मा जलाशय के निकट अनावरित शरीर से, शूल के समान हृदय और पसलियों में पेठती हुई ठण्ड को कैसे सहन कर रहे होंगे।" उदयभाव की विचित्रता से मनुष्य भ्रम में पड़ कर अनर्थ कर बैठता है। राजा ने इन भ्रमित विचारों में ही रात व्यतीत की।

प्रातःकाल राजा ने अभयकुमार को आदेश दिया—"ये सभी रानियाँ चरित्रहीन दुराचारिणी हैं। इनके भवनों में आग लगा कर जला दो।" आदेश दे कर महाराज भगवान् को वन्दना करने चले गए।

भगवान् ने भ्रम मिटाया

अभयकुमार पिता का आदेश सुन कर स्तब्ध रह गए। उन्होंने सोचा—'पिताश्री को किसी प्रकार का भ्रम हुआ होगा। अन्यथा मेरी सभी माताएँ शीलवती हैं। इनकी रक्षा करनी ही होगी। कुछ काल व्यतीत होने पर पिताश्री का कोप शान्त हो सकता है, फिर भी मुझे आदेश पालन का कुछ उपाय करना ही होगा।' उन्हें एक उपाय सूझ गया। अन्तःपुर के निकट हस्तीशाला की जीर्ण एवं टूटी हुई खाली कुटियाँ थी। उसे विश्वस्त

सेवक भेज कर जलवाया और नगर में अन्त:पुर जलने की बात प्रचारित करवा दी।

धर्मदेशना पूर्ण होने के बाद अवसर देख कर श्रेणिक ने भगवान् से पूछा;—"भगवन् ! रानी चिल्लना मुझ से ही सम्बन्धित है, या किसी अन्य पुरुष से भी उसका गुप्त स्नेह-सम्बन्ध है ?"

"राजन् ! रानी चिल्लना सती है और तुम में ही अनुरक्त है। उसके शील पर सन्देह नहीं करना चाहिए। तुम्हें भ्रम हुआ है। रानी के शब्द प्रतिमाधारी मुनि की शीत-वेदना के विचार से निकले थे।"—भगवान् ने भ्रम मिटाया।

प्रभु का उत्तर सुन कर श्रेणिक को अपनी भूल खटकी। वह पश्चात्ताप से तप्त होता हुआ उठा और भगवान् को वन्दना कर के वाहनारूढ़ हो शीघ्रता से दौड़ा। उसे भय था कि मेरी आज्ञा के पालन में अनर्थ नहीं हो गया हो। अभयकुमार भी भगवान् को वन्दना करने आ रहा था। सामना होते ही श्रेणिक ने पूछा—"मैंने तुझे जो आज्ञा दी थी, उसका पालन हुआ ?"

"आज्ञा का पालन उसी समय किया गया। देखिये, आग की लपटें और धूआँ अब तक दिखाई दे रहा है"—अभयकुमार ने कहा।

"अरे अधम ! अपनी माताओं को जला कर मार डालते हुए तुझे कुछ भी संकोच नहीं हुआ ? और मातृ-हत्या कर के तू अब तक जीवित रहा ? उनके साथ तू भी क्यों नहीं जल-मरा ?"—रोषपूर्वक राजा बोला।

"पूज्य ! मैं जिनेश्वर भगवन्त का उपासक हूँ। भगवन्त का उपदेश सुनने वाला आत्मघात कर के बाल-मरण नहीं मरता। समय आने पर मैं स्वयं त्यागी बन कर अन्तिम साधना करते हुए शरीर का त्याग करूँगा"—अभय ने कहा।

"तेने बिना विचार किये सहसा मेरी आज्ञा का पालन क्यों किया ? तू तो समझदार था। तुझे सोच-समझ कर कार्य करना था। हाय.....राजा मूच्छित हो कर गिर गया।

अभय ने शीतल जल से उपचार कर के राजा की मूर्च्छा हटाई और विनयपूर्वक बोला—"तात ! आपको जो आग की लपटें और धूआँ दिखाई दे रहा है, वह अन्त:पुर का नहीं, हस्तीशाला की पुरानी कुटियों का है। अन्त:पुर में तो सभी यथावत् है। मैंने आपके चेहरे पर झलकता रोष देखा था और समझ गया था कि किसी निमित्त से आवेश के वश हो, सहसा आपने यह अनिष्ट आदेश दिया है। मेरी माताएँ तो पवित्र हैं। मैं उनकी घात कैसे कर सकता था ? मैं जानता था कि भ्रम मिटने पर आपका कोप भी शान्त हो जायगा। उस समय आपके हृदय पर कितना आघात लगेगा और आप पश्चा-

ताप की आग में जीवनभर जलते ही रहेंगे। इस विपत्ति को टालने और आपकी आज्ञा का तत्काल पालन करने के लिये मैंने वे टूटी-फूटी जीर्ण झोंपड़ियें जला दी। मैं बिना हिताहित का विचार किये इतना महान् अनर्थ कैसे कर सकता था।"

अभयकुमार की बात ने राजा के हृदय पर मानो अमृत का सिंचन किया हो। वह हर्षावेग में उठा और पुत्र को छाती से लगाता हुआ बोला--

"पुत्र ! मैं धन्य हुआ तुझे पा कर। तू सचमुच बुद्धिनिधान है। मेरी मूर्खता से मेरे मस्तक पर लगने वाले महाकलंक और जीवनभर के सन्ताप से तेने मुझे बचा लिया है।"

पुत्र को पुरस्कृत कर के राजा अन्तःपुर में आया और महारानी चिल्लना और सभी रानियों को स्वस्थ एवं प्रसन्न देख कर सन्तुष्ट हुआ।

चिल्लना के लिए देव-निर्मित भवन

श्रेणिक चिल्लना पर अत्यन्त आसक्त था। इस घटना और उसकी चरित्रशीलता, पवित्रता से वह विशेष कृपालु बन गया। उसने चिल्लना के लिए पृथक् एक भव्य भवन—एक स्तंभ वाला भवन निर्माण करवाने की अभयकुमार को आज्ञा दी। अभयकुमार ने निपुण सूत्रधार को आदेश दिया—"तुम एक स्तंभ वाला भवन बनाने के योग्य उत्तम काष्ठ लाओ और कार्य प्रारंभ करो।"

सूत्रधार वन में गया। खोज करने पर उसे एक वैसा वृक्ष दिखाई दिया जो बहुत ऊँचा पत्रपुष्पादि से सघन सुशोभित सुन्दर एवं सुगन्धित था। उसका तना पुष्ट और भवन के लिये उपयुक्त था। बढ़ई ने सोचा—ऐसे मनोहर वृक्ष पर देव का निवास होता है। इसे सहसा काटने लगना दुःखदायक हो सकता है। इसलिए प्रथम देव की आराधना कर के उसे प्रसन्न करूँ। उसने उपवास किया और भक्तियुक्त गन्ध-दीप आदि से वृक्ष को अर्चित कर आराधना करने लगा। उस वृक्ष पर एक व्यंतर देव का निवास था। व्यंतर ने आराधक का भाव समझा और अभयकुमार के पास आ कर बोला—"मैं आपके लिये एक भव्य भवन निर्माण कर दूंगा। उसके आसपास एक उद्यान भी होगा जो सभी ऋतुओं में उत्तम प्रकार के फूल और फल युक्त वृक्षों लताओं और गुल्मों से सुशोभित नन्दन वन के समान हो। आप उस बढ़ई को वृक्ष काटने से रोक दें।"

अभयकुमार ने बढ़ई को बुलवा लिया। व्यंतर ने अपने वचन के अनुसार भवन

और उपवन का निर्माण कर दिया। उत्तम भवन के साथ उपवन देख कर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ। महारानी चिल्लना उस भवन में निवास कर अत्यन्त प्रसन्न हुई। अब राजा-रानी उसी भवन में रह कर क्रीड़ा करने लगे।

मातंग ने फल चुराये

राजगृह में एक विद्यासिद्ध मातंग रहता था। उसकी सगर्भा पत्नी को आम्रफल खाने का दोहद हुआ। मातंगिनी ने पति से आम लाने का कहा, तो पति बोला--"मूर्खा! विना ऋतु के आम कहाँ से लाऊँ?" पत्नी ने कहा--"महारानी के नये प्रासाद के उपवन में आम्रवृक्ष हैं। उन पर फल लगे हुए मैंने देखें हैं। आप किसी भी प्रकार आम ला कर मेरा दोहद पूरा करें।"

मातंग उपवन में आया। उसने फलों से भरपूर आम्रवृक्ष देखें, किन्तु वे बहुत ऊँचे थे। उनके फल तोड़ लेना अशक्य था। वह रात्रि के समय उद्यान में आया। उसने 'अवनामिनी' विद्या से वृक्ष की शाखा झुकाई और यथेच्छ फल तोड़ कर ले गया। प्रातःकाल रानी उपवन में गई और वाटिका की शोभा देखते उसकी दृष्टि उस आम्रवृक्ष की फल-शून्य डाली पर पड़ी। वह समझ गई कि इसके फल किसी ने चुराये हैं। उसने राजा से कहा। राजा ने अभयकुमार से कहा:--"फलों के चोर को पकड़ो। वह कोई विशिष्ट शक्तिशाली मनुष्य होना चाहिये, जो इस सुरक्षित वाटिका के अति ऊँचे वृक्ष पर से फल तोड़ गया और अपना कोई भी चिन्ह नहीं छोड़ गया। ऐसा चोर तो कभी राज्यभण्डार और अन्तःपुर में भी प्रवेश कर सकता है।"

अभयकुमार ने आज्ञा शिरोधार्य की और चोर पकड़ने के लिए सतत प्रयत्न करने लगा।

अभयकुमार ने कहानी सुना कर चोर पकड़ा

"बन्धुओं ! नाटक होने में विलम्ब हो रहा है और हम सब अकुला रहे हैं। इस समय आपका मनोरंजन करने के लिए मैं एक कहानी आपको सुनाऊँगा। आप शान्ति-पूर्वक सुने।

वसंतपुर नगर में एक निर्धन सेठ रहता था। उसके एक रूपवती पुत्री थी। वह यौवन-वय प्राप्त कर चुकी थी। उत्तम वर प्राप्त करने के उद्देश्य से वह युवती कामदेव की पूजा करने लगी। पूजा के लिए एक पुष्पाराम से वह पुष्प चुराती रही। एक दिन उद्यानपालक चोर पकड़ने के लिए छुप कर बैठा। सुन्दरी को फूल तोड़ते देख कर निकला और निकट जा पहुँचा। उद्यानपालक चोर पर क्रुद्ध था और कठोर दण्ड देने के उद्देश्य से छुपा था। परन्तु रूपसुन्दरी को देख कर मोहित हो गया। उसने सुन्दरी से कहा—"तू चोर है। मैं नगरभर के सामने तेरा पाप रख दूंगा और राज्य से दण्डित भी करवाऊँगा। यदि तू मेरी कामेच्छा पूरी करे, तो मैं तुझे क्षमा कर दूंगा। इसके सिवाय तेरे छुटने का अन्य कोई मार्ग नहीं है।"

युवती की स्थिति बड़ी संकटापन्न बन गई। उसने विनयपूर्वक कहा—"मैं कुमारी हूँ और पुरुष के स्पर्श के योग्य नहीं हूँ। इसलिये तुम्हारी माँग स्वीकार नहीं कर सकती।"

"यदि तू सच्चे हृदय से मुझे वचन दे कि लग्न होने के बाद सर्व प्रथम मेरे पास आएगी और मेरी इच्छा पूरी करने के बाद पति को समर्पण करेगी, तो मैं तुझे अभी छोड़ सकता हूँ"--उद्यानपालक ने शर्त रखी।

युवती ने उसकी शर्त स्वीकार की और मुक्त हो गई। कालान्तर में उसका लग्न एक योग्य एवं उत्तम वर के साथ हो गया। वह पति के शयनकक्ष में गई और पति से निवेदन किया;--

"प्राणेश्वर ! मैं आपकी ही पत्नी हूँ। मेरा कौमार्य सुरक्षित है। परन्तु एक संकट से बचने के लिये मैंने उद्यानपालक को वचन दिया था कि लग्न होने के पश्चात्—पति को समर्पित होने के पूर्व—तुम्हें समर्पित हूँगी। ऐसा वचन देने के पश्चात् ही मैं उस संकट से उबर सकी थी। आज उस वचन को पूरा करने का अवसर उपस्थित हो गया है। मुझे मेरा वचन निभाने की आज्ञा प्रदान करने की कृपा करें। बस एकबार के लिये ही मैं वचन-बद्ध हूँ।"

पत्नी की सत्यप्रियता एवं स्वच्छ हृदय देख कर पति ने दिये हुए वचन का पालन करने की अनुमति दे दी। पति की अनुमति प्राप्त कर वह सुन्दरी उद्यानपालक से मिलने चल निकली। वह युवती सद्य परिणता थी। उसके अंग पर बहुमूल्य रत्नाभरण पहिने

हुए थे। मार्ग में उसे चोर मिले और लूटने लगे। युवती ने कहा--"बन्धुओं! इस समय मैं अपने वचन का पालन करने जा रही हूँ। जब लौट कर मैं आऊँ, तब तुम मेरे आभूषण ले लेना। अभी मुझे वैसी ही जाने दो।" चोरों ने उसके स्वच्छ हृदय की बात पर विश्वास किया और बिना स्पर्श किये ही जाने दिया।

आगे बढ़ने पर उसे एक क्षुधातुर मनुष्यभक्षी राक्षस मिला और उसे मार कर खाने को तत्पर हुआ। नवोढ़ा ने उस से कहा--"पहले मुझे अपने वचन का पालन करने दो। लौटने पर खा लेना। चोरों ने भी मुझ पर विश्वास कर के छोड़ दिया है।" राक्षस भी मान गया। वहाँ से आगे बढ़ कर वह बगीचे में पहुँची। उद्यानपालक भरनींद सोया हुआ था। उसने उसे जगाया और बोली--"मैं अपना वचन निभाने के लिए आई हूँ।"

अचानक नींद से उठा हुआ माली उसे देख कर स्तब्ध रह गया। उसने पूछा--"इतनी रात गये तू अकेली कैसे आई?"

"मैं अपने धर्म पर निर्भर एवं निर्भय हूँ। मुझे किस का डर है। मुझ पर विश्वास कर के मेरे पति ने, चोरों ने और राक्षस ने भी मुझे छोड़ दिया और तुम्हारे पास आने दिया। मेरी बात पर किसी ने अविश्वास नहीं किया। यदि मेरा मन शुद्ध नहीं होता, तो समागम की प्रथम रात्रि में मेरे पति मुझे पर-पुरुष के पास आने देते। उन्होंने बिना किसी हिचक के प्रसन्नतापूर्वक मुझे अनुमति प्रदान कर दी।"

अप्सरा के समान सुन्दर नवोढ़ा की बात सुन कर उद्यानपालक सन्न रह गया। उसका विवेक जाग उठा। उसने उस युवती को देवी के समान पवित्र मान कर प्रणाम किया और आदरपूर्वक लौटा दी। लौटते समय वह भूखा राक्षस प्रतीक्षा करता हुआ मिला। उसने पूछा--"माली को संतुष्ट कर आई?"--"नहीं, माली के मन में मेरे पति, चोरों और आपके विश्वास का प्रभाव पड़ा। उसके मन में सोया हुआ विवेक जाग्रत हुआ। उसने मुझे बहिन के समान आदर किया और सम्मानपूर्वक लौटा दी।"

राक्षस ने कहा--"जब माली ने इसकी सच्चाई का आदर किया और सम्मानपूर्वक लौटा दी, तो क्या मैं उससे भी गयाबीता हूँ? नहीं, जा बहिन! मैं भी तेरे सत्याचरण से संतुष्ट हूँ।"

राक्षस से सुरक्षित महिला आगे बढ़ी। चोर भी उससे प्रभावित हुए और बिना लूटे आदर पूर्वक घर पहुँचाई। प्रतीक्षारत पति सारा वृत्तांत सुन कर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और अपने को सौभाग्यवन्त मानने लगा। उसने पत्नी को अपने सर्वस्व की स्वामिनी बनाई। उनका जीवन सुखशान्ति और धर्मपूर्वक व्यतीत होने लगा।"

कहानी पूर्ण करते हुए महामन्त्री अभयकुमार ने सभाजनों से पूछा—"बन्धुओं ! इस कथा से मैं आपके विवेक का परिचय प्राप्त करना चाहता हूँ। कहिये, इस कहानी के पात्रों में सर्वश्रेष्ठ पात्र कौन है—उस नवपरिणिता का पति, चोर, राक्षस या उद्यानपालक ? किसका त्याग सब से बढ़कर है ?"

अभयकुमार के प्रश्न के उत्तर में कुछ लोगों ने कहा—"सर्वोत्तम तो उस नवपरिणिता का पति है, जिससे अपनी चीर उत्कट अभिलाषा और कामावेग का शमन कर, उसे पर-पुरुष के पास जाने दिया। जिस सुशीला का वह पति है, वह परम श्रेष्ठ है। ऐसा पति भाग्यशालिनी को ही मिलता है।"

अभयकुमार समझ गए कि यह वर्ग स्त्रियों से संतुष्ट नहीं है। दूसरे वर्ग के कहा—"प्राप्त इच्छित भक्ष्य का त्याग करने वाला भूखा राक्षस श्रेष्ठ है।" अभयकुमार ने निष्कर्ष निकाला—ये कंगाल लोग हैं। इन्हें इच्छित भोजन दुर्लभ होता है। तीसरे वर्ग ने कहा—"सब से श्रेष्ठ तो वह उद्यानपालक है, जिसने प्राप्त उत्तमोत्तम एवं दुर्लभ सुन्दरी को बिना भोगे ही जाने दिया।" यह वर्ग पर-स्त्री-प्रिय जार लोगों का था।

अन्त में एक व्यक्ति बोला—"क्या वे चोर सर्वश्रेष्ठ नहीं हैं जिन्होंने सरलता से प्राप्त लाखों रुपयों के रत्नाभरण का बात-की-बात में त्याग कर दिया ?" अभयकुमार ने समझ लिया कि इस सभा में एक यही चोर का पक्षकार है। बस यही चोर है। उसने उसे पकड़ लिया और पूछा—

"बता, तेने राजोद्यान में से आम्रफलों की चोरी किस प्रकार की ?"

मातंग को बताना पड़ा—"मैंने विद्या के बल से आम चुराये।"

मातंग राजा का गुरु बना

अभयकुमार ने मातंग को ले जा कर राजा के सामने खड़ा किया और कहा;—"यही चोर है—आम्रफल का। इसीने अपनी विद्या की शक्ति से फल तोड़े थे।"

श्रेणिक ने कहा—"ऐसे शक्तिशाली चोर बड़े दुःखदायक होते हैं। इसका वध करवाना चाहिए।"

अभयकुमार बोला—"पहले इसके पास से विद्या ग्रहण करनी चाहिए। विद्या लेने के बाद अपराध के दण्ड का विचार उत्तम रहेगा।"

"हाँ, यह तो ठीक है। अच्छा मातंग ! नीचे बैठ और मुझे विद्या सिखा"—राजा ने कहा।

मातंग राजा के सामने बैठ गया और राजा को विद्यामन्त्र पढ़ाने लगा। परन्तु राजा का परिश्रम व्यर्थ रहा। उसे विद्या आई ही नहीं। राजा चिढ़ कर बोला--"तू मायावी है। अपनी विद्या मुझे देना नहीं चाहता, इसलिए कुछ छुपा रहा है। इसी से मेरे हृदय में विद्या नहीं उतरती।"

"नहीं, महाराज ! मैं विद्या छुपा कर क्या करूँगा ? आप तो प्रजापालक हैं। आपके पास रही हुई विद्या सफल होगी और मेरे पास तो अब जीवन के साथ ही नष्ट होने वाली है"---मातंग बोला।

अभयकुमार बोला—"देव ! विधिपूर्वक ग्रहण की हुई विद्या ही हृदय में स्थान पाती है। विद्यादाता तो गुरु के समान है और विद्यार्थी शिष्य है। शिष्य गुरु का विनय कर के ही विद्या प्राप्त करता है। आप यदि इस मातंग को अपने सिंहासन पर आदरपूर्वक बिठावें और स्वयं नीचे बैठ कर विनयपूर्वक सीखें, तो विद्या प्राप्त हो सकेगी।"

राजा सिंहासन पर से नीचे उतरा और मातंग को आदरपूर्वक अपने राज्यासन पर बिठा कर उसके सम्मुख हाथ जोड़े हुए नीचे बैठा। इस बार मातंग की 'उन्नामिनी' और 'अवनामिनी' विद्या दोनों श्रेणिक नरेश को प्राप्त हो गई।

अभयकुमार के निवेदन से विद्यागुरु का पद पाया हुआ मातंग, चोरी के दण्ड से मुक्त हो कर अपने घर लौट गया।

दुर्गन्धा का पाप और उसका फल

श्रमण भगवान् महावीर प्रभु राजगृह पधारे। महाराजा श्रेणिक भगवान् को वन्दन करने चले। नगर के बाहर, मार्ग के निकट एक तत्काल की जन्मी बालिका पड़ी थी और उसके अंग से असह्य दुर्गन्ध निकल रही थी। राजा के साथ रहे हुए सेवक, दुर्गन्ध से बचने के लिए मुँह पर कपड़ा लगाये चल रहे थे। राजा ने दुर्गन्ध का कारण पूछा, तो ज्ञात हुआ कि सद्यजात परित्यक्ता बालिका की देह से गंध आ रही है। महाराजा ने अशुचि-भावना का स्मरण कर मध्यस्थ भाव रखा। समवसरण में पहुँच कर भगवान् को वन्दना की और धर्मोपदेश सुनने के बाद पूछा---

"भगवन् ! मैंने अभी आते समय एक सद्यजात परित्यक्ता कन्या देखी। उसके शरीर से तीव्र दुर्गन्ध निकल रही थी। क्या कारण है—प्रभु ! इस दुर्गन्ध का ?"

"देवानुप्रिय ! तुम्हारे इस प्रदेश में शालीग्राम में धनमित्र नाम का एक श्रेष्ठि रहता था। उसके धनश्री नाम की पुत्री थी। यौवनवय में उसका विवाहोत्सव हो रहा था। ग्रीष्म-ऋतु थी। ग्रामानुग्राम विहार करते कुछ साधु उस ग्राम में आये और धनमित्र के घर में भिक्षार्थ प्रवेश किया। सेठ ने पुत्री को आहार-दान करने का आदेश दिया। धनश्री का शरीर चन्दनादि सुगन्धित द्रव्य से लिप्त था। उसके आसपास सुगन्ध फैल रही थी। वह ज्यों ही आहार-दान करने मुनियों के समीप आई। उनका शरीर और वस्त्र प्रस्वेद से मलिन और दुर्गन्धयुक्त थे। वह दुर्गन्ध धनश्री की नासिका में प्रवेश कर गई। अंगराग एवं शृंगार में अनुरक्त धनश्री उस दुर्गन्ध को सहन नहीं कर सकी और सोचने लगी—"संसार के सभी धर्मों से जिनधर्म श्रेष्ठ है, परन्तु इसमें एक यही बुराई है कि साधु-साध्वियों को प्रासुक जल से भी स्नान करने का निषेध किया गया है। यदि प्रासुक जल से स्नान करने एवं वस्त्र धोने की आज्ञा होती, तो कौनसा दोष लग जाता ?' इस प्रकार जुगुप्सा कर के कर्मों का बन्धन कर लिया। इस पापकर्म की आलोचनादि किये बिना ही कालान्तर में मृत्यु पा कर वह राजगृह की एक वेश्या की कुक्षि में उत्पन्न हुई। गर्भकाल में वेश्या अति पीड़ित रही। उसने गर्भ गिराने का प्रयत्न किया, परन्तु सफल नहीं हुई। इसका जन्म होते ही वेश्या ने इसे फिकवा दिया। वही तुम्हारे देखने में आई है।

"भगवन् ! उस बालिका का भविष्य कैसा है ?"—श्रेणिक ने पूछा।

—"वह किशोर वय में ही तुम्हारी पटरानी बन जाएगी और तुम पर सवारी भी करेगी" भगवान् ने भविष्य बताया। राजा को इस भविष्यवाणी से बड़ा आश्चर्य हुआ।

दुर्गन्धा महारानी बनी

एक वन्ध्या अहीरन ने दुर्गन्धा को देखा, तो उठा कर अपने यहाँ ले आई और पालन करने लगी। दुर्गन्धा का अशुभगन्ध-नामकर्म क्षीण होते-होते नष्ट हो गया और वह रूप-लावण्ययुक्त आकर्षक सुन्दरी हो गई। किशोर अवस्था में ही उसके अवयव विकसित हो गये और युवती दिखाई देने लगी। एकबार कौमुदी महोत्सव का मेला लगा। उस मेले को देखने के लिए वह किशोरी भी माता के साथ गई। वह स्वाभाविक चंचलता

एवं अल्हड़पन से हर्षोत्साहपूर्वक निःसंकोच इधर-उधर घूमती और देखती हुई उत्सव में लीन हो गई थी। इस उत्सव में महाराजा श्रेणिक और अभयकुमार भी श्वेत वस्त्रों से सुसज्ज हो कर पहुँचे। संयोग ऐसा हुआ कि मेले की भीड़ में अचानक महाराज का हाथ आभीरकन्या के वक्ष पर पड़ा। वे आकर्षित हुए और देखते ही उस पर मुग्ध हो गए। उदयभाव से प्रेरित हो कर उन्होंने अपनी मुद्रिका उस अहीरकन्या के पल्ले में बांध दी और अभयकुमार से कहा; —'किसी ने मेरी नामांकित मुद्रिका चुरा ली है। मुद्रिका सहित चोर को पकड़ कर मेरे सामने उपस्थित करो।"

अभयकुमार ने महोत्सव-स्थल का एक द्वार खुला रख कर शेष सभी बन्द करवा दिये और खुले द्वार पर योग्य अधिकारियों के साथ स्वयं उपस्थित रह कर निकलने वालों के वस्त्रादि में मुद्रिका की खोज करवाने लगा। क्रमशः खोजते आभीर-पुत्री के पल्ले से मुद्रिका मिली। उससे पूछा, तो वह बोली--

—"मैं नहीं जानती कि मेरे आंचल में यह मुद्रिका किसने बांधी। मैं निर्दोष हूँ। मैंने पहले यह मुद्रिका देखी ही नहीं।"

बुद्धिमान् अभयकुमार समझ गए कि कुमारी निर्दोष है। महाराज ने रागांध हो कर स्वयं अपनी मुद्रिका इसके आंचल में बांधी होगी। वे उस कुमारी को ले कर महाराज के सामने आये और निवेदन किया; —

--"महाराज ! मुद्रिका इस कन्या के पास से मिली। किन्तु मुझे यह मुद्रिका की चोर नहीं लगती। अनायास ही अनजाने आपके चित्त की चोर अवश्य लगती है। क्या दण्ड दिया जाय इसे ?"

राजा हँसा और बोला--"इसे आजीवन अंतःपुर की वन्दिनी रहना पड़ेगा।"

श्रेणिक राजा ने उसके साथ लग्न किये और महारानी पद दिया।

कालान्तर में राजा अपनी रानियों के साथ कोई खेल खेलने लगा। पहले से यह शर्त कर ली कि 'जो जीते, वह हारने वाले पर सवार होगा।' खेल में जो रानियें जीती, उन्होंने तो राजा की पीठ पर अपना वस्त्र डाल कर ही शर्त पूरी कर ली, परन्तु आभीर कुल की रानी तो राजा की पीठ पर चढ़ कर ही रही। राजा को भगवान् के वचन का स्मरण हुआ और बोल उठा—"है तो वेश्या-पुत्री ही न ?'

"मैं तो आभीर-पुत्री हूँ। आपने वेश्यापुत्री कैसे कहा"—

श्रेणिक ने भगवान् महावीर द्वारा वताया हुआ पूर्वजन्म, उत्पत्ति और भविष्य में

घटने वाली घटना कह सुनाई। अपनी भुगती हुई विडम्बना सुन कर आभीर महारानी संसार से ही विरक्त हो गई और महाराजा की आज्ञा प्राप्त कर भगवान् के पास प्रव्रजित हो कर साध्वी बन गई।

आर्द्र कुमार चरित्र

समुद्र के मध्य में आर्द्रक नामक देश के आद्रिक नरेश और आर्द्रका रानी का पुत्र 'आर्द्र' नाम का राजकुमार था। वह यौवनवय प्राप्त करुणापूर्ण हृदय वाला कुमार भोग-भोगता हुआ विचरता था। आर्द्रक नरेश का मगध नरेश महाराजा श्रेणिक के साथ पूर्व-परम्परा प्राप्त मैत्री सम्बन्ध था। एक बार मगधेश ने बहुमूल्य उपहार ले कर अपने एक मन्त्री को आर्द्रक नरेश के पास भेजा। मन्त्री ने प्रणाम पूर्वक आर्द्रक नरेश को अपने स्वामी की ओर से स्नेह सन्देश एवं कुशल पृच्छा के साथ ही उपहार समर्पित किये। आर्द्रक नरेश ने मागधीय मन्त्री का सत्कार किया और मगधेश की कुशल-क्षेम पूछी। राजकुमार आर्द्र भी सभा में उपस्थित था। उसने अपने पिता से मगधेश का परिचय और उनसे स्नेह-सम्बन्ध विषयक प्रश्न पूछा। आर्द्रक नरेश ने कहा—"मगधेश से हमारा स्नेह-सम्बन्ध अपनी और उनकी कुल-परम्परा से चला आ रहा है।"

आर्द्र कुमार मगधेश के साथ अपनी कुल-परम्परा के सम्बन्ध में सोचने लगा। उसके मन में विचार हुआ कि मगध नरेश के कोई राजकुमार हो, तो मैं भी उनके साथ अपना मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करूँ। उसने मागधमन्त्री से पूछा--"आपके महाराजा के कोई ऐसा गुणनिधान पुत्र है कि जिससे मैं भी सम्बन्ध जोड़ सकूँ।"

"युवराजश्री ! महाराजाधिराज श्रेणिक के 'अभयकुमार' नामक पुत्र सर्व-गुण सम्पन्न है और मेरे जैसे पाँच सौ मन्त्रियों का अधिक्षक है। बुद्धि का निधान, दक्ष, दयालु एवं समस्त कलाओं में निपुण है। अभयकुमार बुद्धि, पराक्रम, वीरता, निर्भयता, धर्मज्ञतादि अनेक उत्तम गुणों का धाम है। राजनीति का पण्डित है और विश्वविश्रुत है। क्या आप अभयकुमार को नहीं जानते ?"

अभयकुमार के आदर्श गुण और विशेषताएँ सुन कर आर्द्रक नरेश ने अपने पुत्र से कहा--"पुत्र ! तुम स्वयं गुणज्ञ हो। तुम्हें अभी से अभयकुमार से भ्रातृभाव जोड़ लेना चाहिये।"

मागध-मन्त्री की विदाई के समय आर्द्रकुमार ने अभयकुमार के लिए आदरयुक्त स्नेहसिक्त शब्दों के साथ बहुमूल्य मणि-मुक्तादि भेंट स्वरूप दिये। राजगृह पहुँच कर मन्त्री ने आर्द्रक नरेश का सन्देश और भेंट श्रेणिक महाराज को समर्पित किये और राजकुमार आर्द्र का भ्रातृभाव पूर्ण सन्देश एवं भेंट अभयकुमार को अर्पण की। आर्द्रकुमार का मनोभाव जान कर अभयकुमार ने सोचा--आर्द्रकुमार कोई प्रशस्त आत्मा लगता है। कदाचित् वह संयम की विराधना करने के कारण अनार्य देश में उत्पन्न हुआ है, किन्तु वह आसन्न भव्य होगा। इसीलिये उसने मुझ-से सम्बन्ध जोड़ा। अब मेरा कर्त्तव्य है कि उस भव्यात्मा को सन्मार्ग पर लाने का कुछ प्रयत्न करूँ। मैं ऐसा निमित्त उपस्थित करूँ कि, जो उसके पूर्व-संस्कार जगाने और जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न करने का निमित्त बने। उन्होंने साधुता का स्वरूप बताने वाले उपकरण रजोहरण-मुखवस्त्रिकादि भेजे ×। अन्य बहुमूल्य आभूषणादि रख कर पेटिका बन्द कर दी और ताला लगा कर मन्त्री के साथ आये हुए आर्द्रक के रक्षकों को दी और राजकुमार को सूचित कराया कि वे इस पेटिका को एकान्त स्थान में खोले। महाराजा श्रेणिक ने भी आर्द्रक नरेश के लिए मूल्यवान् भेंट दे कर उन्हें विदा किया। स्वस्थान पहुँच कर महाराजा और राजकुमार को उपहार समर्पित किये और राजकुमार को अभयकुमार का सन्देश सुनाया। आर्द्रकुमार उपहार पेटिका लेकर एकान्त कक्ष में गए और पेटिका खोल कर उपहार देखने लगे। धर्मोपकरण देख कर उन्हें आश्चर्य हुआ। वे सोचने लगे--"यह क्या है? यह कोई आभूषण है? इनका उपयोग क्या हो सकता है? ऐसी वस्तु इस प्रदेश में कहीं होती है क्या? ऐसी वस्तु पहले कभी मेरे देखने में आई है क्या?" इस प्रकार चिन्तन करते हुए उन्हें मूर्च्छा आ गई। और अध्यवसाय विशुद्ध होने पर जातिस्मरण उत्पन्न हुआ। वे सावधान हो कर अपना पूर्वभव देखने लगे।

× त्रि. श. पु. च. में भगवान् ऋषभदेवजी की रत्नमय प्रतिमा भेजने का उल्लेख है। किन्तु मुनि-स्वरूप के दर्शन या उपकरण का निमित्त लगता है। जब उनके पूर्वभव में चारित्र पालने का अनुमान अभयकुमार ने लगाया, तो साधुत्व की स्मृति दिलाने वाली वस्तु भेजना ही उपयुक्त लगता है। मृगापुत्रजी ने भी--**साहुस्स दरिसणे तस्स अज्झवसाणम्मि सोहणे**" (उत्तरा. १९) साधु को देख कर जातिस्मरण पाया था। तीर्थंकर का चित्र या मूर्ति देखी हो, तो भी आश्चर्य नहीं, क्योंकि चित्रकला अनादि से है। इससे पूजनीयतादि का सम्बन्ध नहीं जुड़ सकता, तथा उस समय तीर्थंकरों की मूर्तिपूजा जैनियों में प्रचलित रही हो--ऐसा कोई प्रामाणिक आधार भी नहीं है। अतएव साधुता के उपकरण भेजना उचित लगता है।

आर्द्रकुमार का पूर्वभव

आर्दकुमार ने जातिस्मरण ज्ञान से देखा कि मैं पूर्व के तीसरे भव में 'सामयिक' नामक गृहपति था। वंधुमती मेरी भार्या थी। सुस्थित आचार्य से धर्मोपदेश सुन कर पति-पत्नी दीक्षित हो गए। गुरु के साथ ग्रामानुग्राम विचरते हुए, मैं एक नगर में आया। वन्धुमती-साध्वी भी अपनी गुरुणी के साथ उस समय उसी नगर में आई। उसे देख कर मुझे मोह उत्पन्न हुआ। गृहस्थवास में उसके साथ भोगे हुए भोग की स्मृति एवं चिंतन ने मुझे विचलित कर दिया। मैं साध्वियों के उपाश्रय पहुँचा। गुरुणी से वन्धुमती से मिलने की इच्छा प्रदर्शित की। गुरुणी मेरे मनोभाव समझ गई। उन्होंने वन्धुमती से कहा। वन्धुमती ने खेदपूर्वक कहा—"ऐसे गीतार्थ साधु भी मोहवश हो कर मर्यादा नष्ट करने पर तुल गये हैं और अपने उज्ज्वल भविष्य को विगाड़ रहे हैं। यदि मैं उनके समक्ष गई, तो अनर्थ हो सकता है। मुझे उनका और अपना जीवन सफल करना है। यदि मैं अन्यत्र चली जाती हूँ, तो कदाचित् ये मेरा पीछा करेंगे। इसलिए मैं अव अनशन कर के देह त्यागने के लिए तत्पर हूँ।"

सती वन्धुमती ने तत्काल अनशन कर लिया और श्वास रोक कर प्राण त्याग दिये। वह देवलोक में उत्पन्न हुई। जब मुझे ज्ञात हुआ कि सती वन्धुमती ने ब्रह्मचर्य रक्षा के लिए प्राण त्याग दिये, तो मुझे भी विचार हुआ कि—'मैं कितना पतित हूँ। मैंने अपना साधुव्रत भंग कर दिया, फिर भी जीवित हूँ। अव मुझे भी मर जाना चाहिए।' मैंने भी अनशन कर के मृत्यु प्राप्त की और देवलोक में उत्पन्न हुआ। देवलोक से च्यव कर मैं इस अनार्य-क्षेत्र में उत्पन्न हुआ हूँ। अभयकुमार ने मुझे अपने पूर्वभव में पाले हुए संयम की स्मृति जाग्रत करने के लिए ही ये उपकरण भेजे हैं। अभयकुमार मेरे उपकारी हैं, गुरु के समान हैं। उनकी कृपा से मैं सद्मार्ग प्राप्त कर सकूँगा।

आर्द्रकुमार की विरक्ति पिता का अवरोध

अव आर्द्रकुमार विरक्त रहने लगे। उनकी संसार एवं भोग में उदासीनता हो गई। एक दिन उन्होंने पिता से भारत (मगध) जा कर मित्र से मिलने की आज्ञा माँगी। आर्द्रक नरेश ने कहा—"श्रेणिक नरेश से अपना मैत्री-सम्वन्ध दूर रह कर निभाना ही

अच्छा है। वहां जाना हितकारी नहीं होगा। अपना कोई भी पूर्वज वहां नहीं गया। इसलिए मैं तुम्हें भारत जाने की अनुमति नहीं दे सकता।"

कुमार निराश हो गया। हताशा ने शोक एवं उद्वेग को जन्म दिया। वह दिन-प्रतिदिन दुर्बल होने लगा। उसे भारत के मगध देश, राजगृह नगर और अभयकुमार की बातों में ही रस आने लगा। जो राजगृह जा कर आये थे, उनसे वह बार-बार पूछता। उनकी गतिविधि जान कर राजा को सन्देह हुआ कि कहीं पुत्र चुपके से भारत नहीं चला जाय। इसलिए राजा ने अपने पुत्र की रखवाली में पांच सौ सामंत लगा दिये और सावधान करते हुए कहा--"ध्यान रहे कि कुमार अपनी सीमा लांघ कर बाहर नहीं निकले।' कुमार के गमनागमन, वन-विहार आदि में वे सामन्त साथ रह कर रखवाली करने लगे।

आर्द्रकुमार अपने को बन्दी मानने लगा। उसने भारत पहुँचने के लिए, इस सैनिक पराधीनता से मुक्त होने की योजना बनाई। वह अश्वारूढ़ हो वनविहार में कुछ आगे बढ़ने लगा। कुमार कुछ दूर निकल जाता और फिर लौट आता। सैनिक इतने दिन की चर्या से आश्वस्त हो गये थे। कुमार को विश्वास हो गया कि अब मेरा यहाँ से निकल कर भारत जाना सरल हो गया है। उसने अपने विश्वस्त सेवक द्वारा समुद्र पर एक जलयान की व्यवस्था करवाई और उसमें बहुत-सा धन और अन्य आवश्यक सामग्री रखवा ली। रक्षकों को भुलावा दे कर घोड़ा दौड़ाता हुआ कुमार समुद्र पर पहुँचा और जहाज में बैठ कर भारत आ पहुँचा। अपने आप साधुवेश धारण कर के संयम स्वीकार करते समय किसी देव ने उससे कहा—"हे महासत्व ? अभी आपको भोग-जीवन व्यतीत करना है। उदय आने वाले कर्म को भोग कर बाद में दीक्षित होना।" किन्तु आर्द्रकुमार की त्यागभावना तीव्र थी और क्षयोपशम-भाव की प्रबलता थी। इसलिये उन्होंने देववाणी की उपेक्षा की और संयमी बन कर विचरने लगे।

आर्द्रमुनि का पतन

स्वयं-दीक्षित आर्द्रकुमार मुनि संयम साधना करते हुए वसंतपुर आये और नगर के बाहर उद्यान के एक देवालय में ध्यान लगा कर समाधिस्थ हो गए। इस नगर में देवदत्त नाम का एक सेठ रहता था। वह उच्चकुल का सम्पत्तिशाली था। धनवती नामकी उसकी पत्नी थी। बन्धुमती साध्वी का जीव देवलोक से च्यव कर धनवती की कुक्षि में

आया और पुत्री के रूप में उत्पन्न हुआ। उसका नाम 'श्रीमती' रखा। वह रूप सम्पन्न थी। यौवन-वय में उसकी सुन्दरता विशेष विकसित हुई। एकवार वह सखियों के साथ उसी उद्यान में आ कर खेलने लगी। उनका खेल पति-पत्नी का था। अन्य सहेलियों के तो जोड़े वन गए, परन्तु श्रीमती अकेली रह गई। उसने मन्दिर में ध्यानस्थ रहे हुए आर्द्रमुनि को देखा और शीघ्र बोल उठी--

"मैं तो इस महात्मा को अपना पति वनाती हूँ।" देवमन्दिर से देववाणी हुई--"तुने ठीक किया। यही तेरा वर है।" देव ने रत्नों की वर्षा भी की। देववाणी से डर कर श्रीमती आर्द्रमुनि के चरणों में लिपट गई। पूर्वभव के स्नेह सम्वन्ध ने अनायास ही मिला दिया। इस अचानक आये हुए अनुकूल उपसर्ग से मुनि स्तंभित रह गए। उन्होंने सोचा--"अव मेरा यहाँ रुकना उचित नहीं है।" वे अन्यत्र चले गए।

रत्नवर्षा की वात सुन कर वहाँ का राजा अपने सेवकों के साथ वहाँ आया और उन रत्नों पर राज्य का अधिकार मान कर ग्रहण करवाने लगा। तब देव-माया से वहाँ अनेक सर्प दिखाई दिये और ये शब्द गुंजने लगे--

"यह द्रव्य इस कन्या के अकिंचन वर के लिये है। इसे कोई अन्य नहीं ले सकता।" देववाणी सुन कर वे रत्न, देवदत्त सेठ ने लिये और पुत्री के लिये पृथक् रख दिये।

श्रीमती को विवाह योग्य जान कर पिता, वर की खोज में लगा। श्रीमती को प्राप्त करने के लिये अनेक वर आये, किंतु श्रीमती ने किसी को देखा भी नहीं और स्पष्ट कह दिया--"पिताजी! मैं तो उसी दिन उस मुनि की पत्नी हो चुकी हूँ। अव किसी अन्य वर को देखना मेरे लिये उचित नहीं है।"

पिता ने कहा--"पुत्री! अब वे मुनि कहाँ मिलेंगे? उनकी पहिचान क्या है?"

"पिताजी! उस देवालय में हुई देववाणी से भयभीत हो कर मैंने उन मुनिजी के चरण पकड़ लिये थे। उस समय उनके चरण पर रहा हुआ एक चिन्ह मैंने देखा था। वह चिन्ह देख कर मैं उन्हें पहिचान लूँगी। अव इस नगरी में जो मुनि आवें, उन्हें मैं भिक्षा दूँगी और उनके चरण देखती रहूँगी। इस निमित्त से वे मुनि पहिचाने जा सकेंगे।"

श्रीमती नगर में आने वाले संत-महात्माओं को दान देने लगी। इस प्रकार करते वारह वर्ष व्यतीत हो गये। अचानक एक सन्त को आहार देते समय श्रीमती को मुनि के चरण में वह चिन्ह दिखाई दिया। वह पहिचान कर बोली--"नाथ! उस देवालय में मैंने आपको वरण किया था, तभी से आप मेरे पति वन चुके हैं। उस समय मैं मुग्धा थी, और आप मुझे छोड़ कर चले गये थे, परन्तु अब आप नहीं जा सकेंगे। इतने वर्ष मैंने चिंता

एवं शोक-संताप में बिताये। आज आपके दर्शन हुए हैं। अब प्रसन्न हो कर मुझे स्वीकार करिये। यदि अब आपने मेरी क्रूरता पूर्ण अवज्ञा की, तो मैं अग्नि में जल कर आत्महत्या कर लूंगी, जिससे आपको स्त्री-हत्या का पाप लगेगा।"

सेठ को जामाता मिलन का समाचार मिला। वे दौड़े आये। अन्य लोग और राजा तक आ कर मुनिजी को समझाने लगे। अब उदयभाव भी अपना कार्य करने लगा। मुनिजी को विचार हुआ--"देव ने उस समय मुझे कहा था, वह सत्य ही था।" उन्होंने सभी का आग्रह स्वीकार किया और साधुता का वेष तथा उपकरण एक ओर रख कर श्रीमती को स्वीकार की। श्रीमती के साथ चिरकाल भोग भोगते हुए उन्हें एक पुत्र की प्राप्ति हुई। पुत्र कुछ बड़ा हुआ। वह चलने-फिरने और तुतलाता हुआ बोलने लगा, तब आर्द्रकुमार ने पत्नी से कहा--"अब तुम पुत्र को सम्भालो। बड़ा हो कर यह तुम्हारी सेवा करेगा। अब मैं पुनः श्रमणधर्म का पालन करूँगा।"

श्रीमती उदास हो गई। उसने रुई और चरखा मँगवाया और सूत कातने लगी। पुत्र ने माता को सूत कातते देख कर पूछा--"यह क्या कर रही हो—माँ ?"

"पुत्र ! तुम्हारे पिताजी हमें छोड़ कर, निराधार बना कर साधु बनने जा रहे हैं। इनके चले जाने के बाद मेरा आश्रय यह चरखा ही रहेगा। इसी के सहारे मैं जीवन व्यतीत कर सकूंगी।"

माता की बात सुन कर पुत्र विचार में पड़ गया। उसने कुछ सोच कर कहा--"माता ! तुम चिन्ता मत करो। मैं पिताजी को बाँध कर पकड़ रखूंगा। फिर वे कैसे जा सकेंगे ? लाओ मुझे तुम्हारा काता हुआ यह धागा दो। मैं उन्हें अभी बाँध देता हूँ।"

उस समय आर्द्रकुमार वहीं लेटे हुए पुत्र की तोतली बोली से निकली हुई बात--आँखें मुंदे हुए सुन रहे थे। पुत्र ने सूत्र का धागा लिया और दोनों पाँव पर लपेटने लगा। सूत लपेटने के बाद बोला--

"लो, माँ ! मैंने पिताजी को बाँध दिया है। अब वे नहीं जा सकेंगे।"

पुत्र की स्नेहोत्पादक वाणी ने पिता के मोह को जगा दिया। वे मोहमहिपति से फिर पराजित हो गए। उन्होंने निश्चय किया कि मैं उतने ही वर्ष फिर संसार में रहूँगा, जितने सूत के बन्धन इस लाड़ले ने मेरे पाँवों में बाँधे हैं।' गिनने पर बारह बन्धन हुए। वे बारह वर्ष के लिये फिर गृहवास में रह गए। कुल चौबीस वर्ष पूर्ण होने पर उन्होंने रात्रि के अन्तिम पहर में विचार किया—"मैंने इस संसार रूपी कूप में से निकलने

के लिये संयम रूपी रस्से का अवलम्बन लिया। किन्तु मध्य में ही उस रस्से को छोड़ कर फिर कूएँ में गिर पड़ा। पूर्वभव में तो मैंने मात्र मन से ही व्रत का भंग किया था, परन्तु इस भव में तो मैं पूर्ण रूप से पतित हो गया। अब जो भी समय रहा है, उसे सफल करना ही चाहिए।" उन्होंने पत्नी को समझाया और संयमी बन कर निकल गए।

आर्द्रकुमार की रक्षा के लिए जो सैनिक नियत थे, उन्हें आर्द्रकुमार के भारत चले जाने का पता लगा, तो वे स्तब्ध रह गए। अब वे राजा के पास कौन-सा मुँह ले कर जावें ?" वे भी किसी प्रकार भारत आये और कुमार की खोज की। जब कुमार नहीं मिले, तो वे हताश हो गए और जीवन चलाने के लिए चोरी-डकैती करने लगे। जब आर्द्रकुमार पुनः संयमी हो कर वसंतपुर से चले, तो मार्ग में उन रक्षकों का टोला मिला--जो लुटेरे हो गए थे। आर्द्रमुनि ने उन्हें प्रतिबोध दिया। वे सभी संयमी बन कर उनके शिष्य हो गए। अब पाँच सौ शिष्यों के साथ आर्द्रमुनि, भगवान् महावीर को वन्दन करने राजगृह जाने लगे *।

आर्द्रमुनि की गोशालक आदि से चर्चा

मुनिराज आर्द्रकुमारजी अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ विहार करते हुए राजगृह की ओर जा रहे थे। मार्ग में उन्हें गोशालक मिला। उसने आर्द्रकमुनि से कहा;—

"तुम जिस महावीर के पास जा रहे हो, वह तो ढोंगी है। पहले तो वह अकेला ही तपस्या करता हुआ विचरता था और एकान्त में रहता था। परन्तु अब तो उसने हजारों शिष्य बना लिये हैं और उनको साथ ले कर धर्म का प्रचार करने लगा है। अस्थिर चित्त वाले महावीर ने अपना प्रभाव बढ़ाने और आजीविका चलाने के लिये यह सब पाखण्ड खड़ा किया है। यदि एकान्तवास कर के तपस्या करना ही श्रेष्ठ था, तो वर्त्तमान में समूह में रहना बुरा है और वर्त्तमान चर्या ठीक है, तो पहले का एकान्तवास बुरा था। दो में एक तो बुरा है ही। इसलिये महावीर का विचार और आचार विश्वास के योग्य नहीं है। तुम उसके पास क्यों जा रहे हो ?"

मुनिराज आर्द्रकुमारजी गोशालक का आक्षेप सुन कर उत्तर देते हैं—"हे गोशालक ! तुम्हारा आक्षेप सम्यक् विचार युक्त नहीं है। भगवान् महावीर प्रभु की दोनों

* यहाँ तक का वर्णन त्रि. श. पु. च. से लिया है। आगे का सूत्रकृतांग श्रु. २ अ. ६ से लिया जायगा।

अवस्थाएँ आत्म-परिणति से समान हैं। पहले वे जिस एकान्त-वास में रहते थे, अब भी वे श्रमण-समूह में रहते हुए भी राग-द्वेष रहित होने के कारण एकान्तवास के समान ही है। घाती-कर्मों को नष्ट करने के लिये उन्होंने एकान्तवास अपनाया था। घातीकर्म नष्ट हो जाने के बाद एकान्तवास साधने की आवश्यकता ही नहीं रही। जब मोह नष्ट हो गया, तो राग-द्वेष की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। और जो राग-द्वेष रहित वीतराग हैं, उनके लिए एकान्तवास और समूह के मध्य रहना एक समान है। सभा में धर्मोपदेश देना और भव्यजनों को दीक्षित कर के मोक्षमार्ग के साधक बनाना, तो उनके तीर्थंकर नामकर्म के उदय से होता है। इसमें कोई दोष नहीं है। वे परम तारक हैं। उनमें आडम्बर देखना और आजीविकार्थ पाखण्ड चलाने की कल्पना करना, तुम्हारी विकृत बुद्धि का परिणाम है। भगवान् तो अब भी क्षांत-दांत और जितेन्द्रिय हैं। भाषा के समस्त दोषों से रहित उनकी वाणी भव्य जीवों के लिए परम हितकारिणी है। उनके धर्मोपदेश से पाँच महाव्रत, पाँच अणुव्रत और पाँच आस्रव को रोक कर संवर रूप विरति के महान् गुणों की साधना होती है ×।

गोशालक कहता है--"जिस प्रकार तुम्हारे धर्म में शीतल जल और बीजकाय आदि तथा आधाकर्म वस्तु तथा स्त्री सेवन का साधुओं के लिये निषेध किया है, वैसा मेरे धर्म में नहीं है। मेरा सिद्धांत है कि एकांतचारी तपस्वी शीतल (सचित्त) जल, बीजकाय, आधाकर्म युक्त आहारादि तथा स्त्री-सेवन करे, तो पाप नहीं लगता।

आर्द्रमुनि उत्तर देते हैं--तुम्हारा सिद्धांत दूषित है। सचित्त जल, बीजकाय, आधाकर्मी दोषयुक्त वस्तु के सेवन करने वाले को साधु माना जाय, तो गृहस्थ और साधु में अन्तर ही कौनसा रहा? जो हिंसा, मृषा, अदत्त, मैथुन और परिग्रह का सर्वथा त्याग करे, वही 'श्रमण' होता है।

घर छोड़ कर विदेश जाने पर और अन्य कारणों से गृहस्थ भी अकेले रहते हैं। विशेष प्रसंग पर भूखे भी रहते हैं, निर्धन और स्त्री-रहित भी होते हैं, परन्तु इतने मात्र से वे श्रमण नहीं माने जाते। आजीविकार्थ भिक्षा करने वाले भी कर्म के बन्धन में ही बँधे रहते हैं। जो अनगार भिक्षु हैं, उन्हें तो सम्पूर्ण रूप से अहिंसादि महाव्रतों का पालन करना ही चाहिए। अतएव तुम्हारा सिद्धांत दूषित है।

गोशालक--"आर्द्र! तुम तो अपने सिवाय उन सभी दार्शनिकों की निन्दा करते

× गोशालक और आर्द्रमुनि की चर्चा का स्वरूप सूत्रकृतांग में इसी आशय का है, परन्तु त्रि. श. पु. च. में नियतिवाद और पुरुषार्थवाद से सम्बन्धित चर्चा होना बताया है।

हो, जो सचित्त जल, बीज आदि का सेवन करते हैं और अपने सिद्धांतानुसार आचरण कर के मुक्ति प्राप्त करना मानते हैं। अपने मत के अतिरिक्त सभी के मत को असत्य कह कर उनका अपमान करते हो, क्यों ?"

आर्द्रकमुनि—"मैं किसी व्यक्ति की उसके रूप-रंग और वेश आदि की निन्दा नहीं करता, परन्तु जो दृष्टि—मन्तव्य-दोष युक्त है, उसी का यथार्थ दर्शन कराता हूँ। मैं वही सिद्धांत प्रकट करता हूँ जिसे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी वीतराग महापुरुषों ने कहा है। वैसे तुम और अन्य मत वाले भी अपने दर्शन की प्रशंसा और दूसरों की निन्दा करते हो। हम तो वस्तु-स्वरूप बतलाते हैं, जिससे जीवों का विवेक जाग्रत हो और वे अपना हित साधें।"

"जिस प्रकार मनुष्य आँखों से देख कर पत्थर, कंटक, विष्ठा, सर्पादि तथा गड्ढे आदि से बचता हुआ उत्तम मार्ग पर चलता है और सुखी होता है, उसी प्रकार विवेकी पुरुष कुज्ञान, कुदृष्टि, कुमार्ग और दुराचार का त्याग कर सम्यक् ज्ञानादि का आश्रय लेते हैं और सम्यक् मार्ग का प्रकाश करते हैं। यह किसी की निन्दा नहीं है। वस्तु स्वरूप का ज्ञान कराना निन्दा नहीं है। अतएव तुम्हारा आरोप असत्य है।"

गोशालक फिर कहता है—"तुम्हारा महावीर डरपोक है। जहाँ बहुत-से दक्ष बुद्धिमान् और तार्किक लोग रहते हैं, उन धर्मशालाओं और उद्यानगृहों में वह नहीं ठहरता। वह डरता है कि वे बुद्धिमान् मेधावी लोग कहीं सूत्र और अर्थ के विषय में मुझ से कुछ पूछ नहीं ले। इस भय के कारण वे एकान्तवास करते रहे हैं।"

आर्द्रकमुनि—"तुम्हारा यह आरोप भी असत्य है। भगवान् निष्प्रयोजन और बालक के समान व्यर्थ कार्य नहीं करते। भगवान् सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हैं। वे अपने तीर्थंकर नामकर्म के उदय से प्राणियों के हित में तत्पर रहते हैं। जिस कार्य से प्राणियों का हित होता है, वही करते हैं। जहाँ किसी का हित नहीं हो, उसमें वे प्रवृत्त नहीं होते। उपदेश-दान और प्रश्न का उत्तर भी वे तभी देते हैं कि जब उससे किसी का हित होता हो, अन्यथा वे मौन रह जाते हैं। भगवान् का उपदेश भी राग-द्वेष रहित होता है, चाहे चक्रवर्ती नरेन्द्र हो, या कोई दरिद्र। वे सभी को समान रूप से प्रतिबोध देते हैं। भगवान् राजा-महाराजा से भी नहीं डरते। वे भयातीत हैं। जो अनार्य हैं, दर्शन-भ्रष्ट हैं, उनके निकट जाना व्यर्थ है। इसलिए भगवान् धर्मोपदेश उन्हीं को देते हैं जिनका हित होने वाला हो। यह भगवान् के तीर्थंकर नामकर्म के उदय का परिणाम है।"

गोशालक—"लगता है कि तुम्हारा महावीर वणिक के समान स्वार्थी है। वह वहीं जाता है, जहाँ उसे लाभ दिखाई देता है ?"

प्रकार प्राणीहिंसा कर के पाप का अभाव बताना और ऐसा उपदेश देना ही पाप है। ऐसी बातों पर अज्ञानीजन ही श्रद्धा करते हैं।"

"जो पुरुष ऊर्ध्व अधो और तिर्यक् लोक में स्थित त्रस और स्थावर प्राणियों को जान कर, लक्षणों से पहिचान कर, उनकी रक्षा के लिए निर्दोष वचन बोलते हैं और निरवद्य प्रवृत्ति करते हैं, ऐसे पुरुष ही पाप से वंचित रहते हैं। ऐसे धर्म के वक्ता और श्रोता ही उत्तम है।"

"खली-पिण्ड में पुरुष की कल्पना या पुरुष में खली की कल्पना करना सम्भव नहीं है। इस प्रकार का वचन भी मिथ्या है। अनार्य व्यक्ति ही ऐसी मिथ्या कल्पना करते हैं। जो वचन पापपूर्ण है, उसे आर्यजन नहीं बोलते। वचन-विवेक आर्यजनों का आचार है।"

"अहो शाक्य भिक्षुओं! क्या कहना आपके तत्त्वज्ञान का? कैसी है आपकी बुद्धि? और कैसा है आपका दर्शन, जो कल्पना मात्र से मनुष्य को खली मान कर खा जाता है? हमारे जिनशासन में इस प्रकार की मिथ्या-कल्पना को कोई स्थान नहीं है। हम जीवों की पीड़ा को भली प्रकार से समझते हैं। इसलिये शुद्ध एवं निर्दोष-आहार ग्रहण करते हैं। ऐसे मायापूर्ण वचन हम नहीं बोलते।"

"इस प्रकार के दो हजार भिक्षुओं को प्रतिदिन भोजन करा कर जो धर्म मानता है, वह असंयम—पाप का पोषक है। उसके हाथ रक्त से लिप्त रहते हैं। इस प्रकार पाप-प्रवृत्ति वाला लोक में निन्दित होता है।"

"तुम भिक्षुओं के लिए वह मोटी-ताजी भेड़ मार कर मांस पकता है और तेल नमक आदि से स्वादिष्ट बना कर तुम्हें खिलाता है और तुम उसे भरपेट खा कर अपने को पाप से अलिप्त मानते हो। यह तुम्हारे धर्म की अनार्यता है और रस-लोलुपता है। अज्ञानी-जन ही ऐसा पाप करते हैं। ज्ञानीजन न तो ऐसा भोजन करते हैं और न अनुमोदन ही करते हैं।"

"ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर प्रभु ने समस्त जीवों की दया के उद्देश्य से हिंसादि दोषों से बचने के लिए, साधुओं के लिए बनाये हुए भोजन को त्याज्य कहा है। इस प्रकार हिंसादि दोष से वंचित, निर्दोष आचरण करने वाले निर्ग्रन्थ-भिक्षु अत्यन्त उच्च है और प्रशंसनीय होते हैं।"

वैदिकों से चर्चा

बौद्ध-भिक्षुओं के मत का निराकरण कर के आगे बढ़ते हुए मुनिराज को वेदवादी मिले और बोले—"आपने गोशालक और बौद्ध मत का निराकरण किया, यह अच्छा किया।

हस्ति-तापस से चर्चा

आगे बढ़ने पर हस्तितापस मिले। उन्होंने कहा—

"मुनिजी ! जिस प्रकार आप दयालु हैं, और दयाधर्म का पालन करते हैं, उसी प्रकार हम भी दयाधर्म का पालन करते हैं। दूसरे लोग छोटे-छोटे अनेक जीवों को मार कर पेट भरते हैं, वैसा हम नहीं करते। हम केवल एक हाथी को मार कर उसका मांस सुखा कर रख लेते हैं और उसीसे वर्षभर अपनी क्षुधा शान्त करते हैं। इस एक के बदले अनेक जीवों की दया पलती है।"

मुनिराज उत्तर देते हैं—"आप वर्षभर में एक प्राणी की घात करते हुए निर्दोष नहीं माने जाते, भले ही दूसरे जीवों के आप अहिंसक बने। हाथी के मांस में सम्मूर्च्छिम असंख्य जीव उत्पन्न होते हैं। पकाने आदि में भी त्रसस्थावर जीवों की हिंसा होती है। आपकी मान्यता के अनुसार तो गृहस्थ भी निर्दोष माना जा सकता है। जो श्रमण-व्रत के पालक हैं, वे यदि वर्ष में एक जीव की भी हिंसा करते हैं, तो अनार्य हैं। वे अपना अहित करते हैं। केवलज्ञानी ऐसे नहीं होते।"

"जो सर्वज्ञ भगवान् महावीर की आज्ञा से इस परमोत्तम धर्म को स्वीकार कर के मन, वचन और काया से मिथ्यात्वादि का त्याग कर, आराधना करता है, वह अपनी और दूसरी आत्मा की रक्षा करता है। संसार रूपी घोर समुद्र को पार करने के लिए विवेकी जनों को सम्यग्दर्शनादि की आराधना करनी चाहिए। मोक्ष प्राप्ति का एक मात्र यही उपाय है।

आर्द्रक मुनिराज आगे बढ़े। वे हस्ति-तापसों के आश्रम के निकट पहुँचे। वहाँ हाथी का मांस सुखाया जा रहा था। एक विशालकाय हाथी वहाँ बंधा हुआ दिखाई दिया। आर्द्रक मुनि को देख कर उस हाथी ने सोचा—"यदि मैं बन्धन-मुक्त हो जाऊँ, तो इन महात्मा को वन्दन कर के जीवन सफल करूँ।" हाथी की उत्कट भावना से उसके बन्धन टूट गए और वह मुनिराज के समीप पहुँचा। हाथी को बन्धन तुड़ा कर आते हुए देख कर अन्य दर्शक भागे, परन्तु मुनिराज स्थिर खड़े रहे। गजराज ने कुंभस्थल झुका कर प्रणाम किया और सूंड से चरण स्पर्श कर अपने को धन्य मानने लगा। मुनिराज को एक दृष्टि से देखने के बाद गजराज बन में चला गया। इससे हस्ति-तापस क्रुद्ध हुए। मुनिराज के धर्मोपदेश से वे प्रतिबोध पाये। उन्हें भगवान् के समवसरण में भेज कर दीक्षित करवाया।

आभूषण तंग हो गए, शरीर प्रफुल्लित हुआ और स्तन पयपरिपूर्ण हुए । वह निर्निमेष दृष्टि से भगवान् को देखने लगी ।

देवानन्दा को हर्षावेग युक्त एकटक निहारती देख कर श्री गौतम स्वामीजी ने भगवान् से पूछा; —

"भगवन् ! आपको देख कर देवानन्दा इतनी हर्षित क्यों हुई कि आपको एकटक देखे ही जा रही है । इसको इतना हर्ष हुआ कि शरीर एवं रोमकूप तक विकसित हो गए ?"

"गौतम ! देवानन्दा मेरी माता है और मैं देवानन्दा का पुत्र हूँ । पुत्र-स्नेह के कारण ही देवानन्दा अत्यधिक हर्षित हुई है ।"

भगवान् ८२ रात्रि-दिन देवानन्दा के गर्भ में रहे थे । उसके बाद शक्रेन्द्र की आज्ञा से हरिणैगमेषी देव ने गर्भ का साहरण कर त्रिशलादेवी के गर्भ में स्थापित किया था ।

भगवान् ने धर्मोपदेश दिया । ऋषभदत्त और देवानन्दा संसार से विरक्त हुए । उन्होंने वहीं भगवान् से प्रव्रज्या स्वीकार कर ली । वे घर से भगवान् को वन्दन करने निकले थे और दीक्षित हो गए । लौट कर घर गये ही नहीं । दीक्षित होने के बाद उन्होंने तप और संयम की खूब साधना की और सिद्धगति को प्राप्त हुए ।

जमाली चरित्र

ब्राह्मणकुण्ड के पश्चिम में क्षत्रियकुण्ड नगर था । उस नगर में 'जमाली' नाम का क्षत्रिय कुमार रहता था •। वह सम्पत्तिशाली समर्थ एवं शक्तिशाली था । वह अपने विशाल भव्य-भवन में सुन्दर सुलक्षणी पत्नियों के साथ, पांचों इन्द्रियों के उत्तम भोग भोग रहा था । छहों ऋतुओं की उत्तम वस्तुओं से सुखभोग करता हुआ वह जीवन व्यतीत कर रहा था ।

श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ब्राह्मणकुण्ड नगर के बाहर बहुशाल उद्यान में विराज रहे थे । क्षत्रियकुण्ड नगर की जनता ने जब यह जाना कि भगवान् ब्राह्मणकुण्ड के उपवन में विराज रहे हैं, तो लोग भगवान् की वन्दना करने के लिए ब्राह्मणकुण्ड की ओर जाने लगे । नगर में हलचल मच गई । कोलाहल की ध्वनि भोग-रत जमालीकुमार

• ग्रन्थकार जमाली को भगवान् का भानेज और जामाता लिखते हैं ।

के कानों में पड़ी, तो उसने सेवकों से कोलाहल का कारण पूछा। भगवान् का ब्राह्मणकुण्ड पदार्पण जान कर जमाली भी निकला/। भगवान् का धर्मोपदेश सुन कर वह प्रभावित हुआ। वैराग्य-रंग की तीव्रता से उसने संसार का त्याग कर संयमी बनने का निश्चय किया। भगवान् को वन्दना कर के जमाली क्षत्रियकुण्ड में अपने भवन में आया और माता-पिता से दीक्षा की अनुमति मांगी। माता-पिता ने पुत्र को रोकने का अथक प्रयत्न किया। परन्तु जमाली की दृढ़ता के कारण उन्हें अनुमत होना पड़ा। भव्य-महोत्सव पूर्वक जमाली क्षत्रिय-कुमार का अभिनिष्क्रमण हुआ और ब्राह्मणकुण्ड पहुँच कर जमाली ने पांच-सौ विरागियों के साथ दीक्षा ग्रहण की। भगवान् की पुत्री और जमाली की पत्नी प्रियदर्शना भी एक हजार महिलाओं के साथ प्रव्रजित हो कर महासती चन्दनबाला की शिष्या हुई। जमाली अनगार तप-संयम का पालन करते हुए ज्ञानाभ्यास करने लगे। उन्होंने ग्यारह अंगसूत्रों का अध्ययन किया और तपस्या भी बहुत की।

जमाली अनगार के मिथ्यात्व का उदय

अन्यदा जमाली अनगार ने भगवान् को वन्दना कर के निवेदन किया—

"भगवन् ! यदि आपकी आज्ञा हो, तो मैं अपने पांच-सौ श्रमणों के साथ पृथक् विहार कर ग्रामानुग्राम विचरना चाहता हूँ।"

भगवान् ने जमाली की मांग स्वीकार नहीं की और मौन रहे। जमाली अनगार ने अपनी मांग दो-तीन बार दुहराई, परन्तु भगवान् ने अनुमति नहीं दी, और मौन ही रहे। जमाली का भविष्य में पतन होना अनिवार्य था। भगवान् के मौन को भी जमाली ने अनुमति मानी और अपने पांच-सौ साधुओं के साथ विहार कर चल दिया।

जमाली अनगार सपरिवार विचरते हुए श्रावस्ती नगरी के कोष्ठक उद्यान में आये। गृहस्थ-पर्याय में सरस एवं पौष्टिक आहारादि से पोषित और राजसी वैभव में सुखपूर्वक पला हुआ शरीर, श्रमण-पर्याय में अरस-विरस-रूक्ष-तुच्छ और असमय तथा अपूर्ण आहारादि तथा शीत-तापादि कष्टों और तपस्या से उनका शरीर रोग का घर बन गया। उन्हें

/ ग्रन्थकार भगवान् का क्षत्रियकुण्ड में पधार कर जमाली को दीक्षित करना लिखते हैं। परन्तु भगवतीसूत्र श. ९ उ. ३३ में ब्राह्मणकुण्ड में ही भगवान् का विराजने और जमाली का क्षत्रियकुण्ड से ब्राह्मणकुण्ड आ कर दीक्षित होने का उल्लेख है।

पितज्वर हो गया और दाहज्वर से शरीर जलने लगा। उनका स्थिरतापूर्वक बैठना कठिन हो गया। उन्होंने श्रमणों से कहा--"मेरे लिये बिछौना-बिछाओ। मैं बैठ नहीं सकता।" श्रमणों ने आज्ञा सिरोधार्य की और विधिपूर्वक प्रमार्जना कर के संथारा बिछाने लगे। जमाली घबरा रहा था, उसे अति शीघ्र सोना था। उसने संतों से पूछा--"देवानुप्रिय! मेरे लिए संथारा बिछा दिया, या बिछाया जा रहा है?" संतों ने कहा--"देवानुप्रिय! अभी बिछाया नहीं, बिछाया जा रहा है।"

श्रमणों की बात सुन कर जमाली अनगार को विचार हुआ--श्रमण भगवान् महावीर का यह कथन मिथ्या है कि--'जो चलायमान है, वह चलित है, उदीर्यमाण उदीरित है, वेदिज्यमान वेदित है, गिर रहा है, वह गिरा, छेदायमान छिदा, भिदाता हुआ भिदा, जलता हुआ जला, मरता हुआ मरा, और निर्जरता हुआ निर्जरित है। मैं यहाँ प्रत्यक्ष देख रहा हूँ कि मेरे लिये शय्यासंस्तारक बिछाया जा रहा है, अभी बिछा नहीं है। जब तक बिछाने की क्रिया चल रही है, तब तक वह 'बिछाया' ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसलिये भगवान् का कथन असत्य है, मिथ्या है। जो चलायमान है, उसे चलित आदि कहना सरासर मिथ्या है। क्रियमाण को कृत कहना सत्य नहीं हो सकता × ।"

जमाली ने श्रमण-निर्ग्रन्थों को बुलाया और कहा--

"देवाणुप्रिय! श्रमण भगवंत महावीर स्वामी का सिद्धांत है कि 'चलायमान' चलित है, यावत् निर्जीयमान निर्जीर्ण है, यह मिथ्या है, असत्य है। मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ

× जमाली ने अनर्थ कर दिया। टीकाकार और ग्रन्थकार ने लिखा है कि जो कार्य किया जाता है, वह प्रथम समय में हुआ, तभी तो आगे भी हुआ और पूर्णता को प्राप्त हुआ। यदि प्रारम्भ ही नहीं, तो अन्त किसका? वस्त्र बुनने में प्रथम सूत का बुनना बुनियादी निर्माण है। यदि प्रथम तंतु नहीं तो वस्त्र ही नहीं, इत्यादि।

मैं सोचता हूँ कि भगवान् का सिद्धांत कर्म के चलितादि स्वरूप सम्बन्धी है और वह अनिवार्य है। उसमें किसी प्रकार की रोक नहीं हो सकती। चलित कर्म चला ही है। परन्तु बिछौने की क्रिया वैसी नहीं है। वह बिछाते-बिछाते रुक भी सकती है। संतों ने जमाली को उत्तर दिया, वह इस व्यावहारिक क्रिया सम्बन्धी था कि--"णो खलु देवाणुप्पिया! णं सेज्जासंथारए कडे, कज्जइ।" अर्थात्--बिछौना किया नहीं, कर रहे हैं। भगवान् का सिद्धांत निश्चय से सत्य है। जो कर्म चलता हुआ--बद्ध दशा से खिसका वह चला ही है, रुका नहीं, रुकता भी नहीं, वेदन में आते ही वेदा गया--फलभोग हुआ। उसमें से खिसका वह चला ही, रुका नहीं, वेदन में आते ही वेदा गया--फलभोग हुआ। उसमें अन्तर नहीं पड़ा। कर्म की अवस्था से सम्बन्धित सिद्धांत का बिछौने की मनुष्य-कृत क्रिया से तुलना कर के खण्डित करना ही जमाली की भूल थी। मिथ्यात्व के उदय से वह भ्रमित हो गया था।

कि 'क्रियमान' 'कृत' नहीं हो सकता। अतएव इस मत को स्वीकार करना चाहिए।"

जमाली की बात जिन श्रमणों को असत्य लगी, वे उसे छोड़ कर भगवान् के पास चले गए और शेष जमाली के साथ रहे।

साध्वी प्रियदर्शना भी अज्ञान एवं मोह के उदय से जमाली की समर्थक हो कर उसके पक्ष में चली गई। जमाली अपने मत का प्रचार करने लगा। वह लोगों को भगवान् की भूल बता कर अपना मत चलाने लगा और अपने आप को सर्वज्ञ बताता हुआ विचरने लगा।

भगवान् चम्पा नगरी के पूर्णभद्र चैत्य में विराज रहे थे। उस समय जमाली भी विचरता हुआ चम्पा नगरी में भगवान् के समीप आया और भगवान् के समक्ष खड़ा रह कर बोला—

"आपके बहुत-से शिष्य छद्मस्थ हैं और छद्मस्थ ही विचर रहे हैं, तथा छद्मस्थ ही काल करते हैं, परन्तु मैं छद्मस्थ नहीं हूँ। मैं आपके पास से छद्मस्थ गया था, परन्तु मैंने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया और केवली-विहार से विचर रहा हूँ।"

जमाली की बात सुन कर गणधर भगवान् गौतम स्वामी ने कहा—

"जमाली ! केवलज्ञानी का ज्ञान तो किसी पर्वत आदि से अवरुद्ध नहीं होता। यदि तू सर्वज्ञ है, तो मेरे दो प्रश्नों का उत्तर दे;—

प्रश्न—१ लोक शाश्वत है, या अशाश्वत ? और २ जीव शाश्वत है या अशाश्वत ?

गौतम स्वामी के प्रश्न सुन कर जमाली स्तब्ध रह गया। वह उत्तर नहीं दे सका। भगवान् महावीर प्रभु ने जमाली से कहा;—

"जमाली ! इन प्रश्नों का उत्तर तो मेरे छद्मस्थ शिष्य भी मेरे समान दे सकते हैं, परन्तु वे अपने को केवलज्ञानी नहीं बताते। तू तो अपने को केवलज्ञानी बता रहा है, फिर मौन क्यों रह गया ? सुन;—लोक शाश्वत भी है और अशाश्वत भी। ऐसा नहीं कि लोक कभी नहीं था, वर्त्तमान में नहीं है और भविष्य मे नहीं रहेगा। लोक था, है और भविष्य में भी रहेगा। लोक ध्रुव है, नियत है, शाश्वत है, अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित है और नित्य है।

लोक अशाश्वत भी है, क्योंकि अवसर्पिणी काल हो कर उत्सर्पिणी काल होता है और उत्सर्पिणी काल के बाद अवसर्पिणी काल होता है। लोक की पर्याय पलटती रहती है।"

"जीव शाश्वत भी है। लोक के समान जीव पहले भी था, अभी भी है और

भविष्य में भी रहेगा। जीव अशाश्वत भी है—नैरयिक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव-गति आदि पर्याय से परिवर्तित होता रहता है।"

भगवान् महावीर प्रभु की बात पर जमाली ने श्रद्धा नहीं की और चला गया और कई प्रकार की मिथ्या प्ररूपणा करता हुआ वह अन्य जीवों को भी भ्रमित करता रहा।

एकबार जमाली अपने साधुओं के साथ श्रावस्ति नगरी में गया और उद्यान में ठहरा। साध्वी प्रियदर्शना भी उसी नगरी में 'ढंक' नाम के कुँभकार की शाला में थी। ढंक ऋद्धि सम्पन्न श्रमणोपासक था। ढंक ने सोचा कि 'किसी युक्ति से प्रियदर्शना साध्वी का भ्रम दूर करूँ'। उसने पके हुए मिट्टी के पात्र, निभाड़े की अग्नि में से निकालते हुए चुपके से एक छोटा-सा अंगारा प्रियदर्शना के वस्त्र पर रख दिया। वस्त्र को जलता हुआ देख कर प्रियदर्शना बोली--"ढंक! तुम्हारे प्रमाद से मेरा वस्त्र जल गया।" तत्काल ढंक बोला--"आप झूठ बोलती हैं। आपके मत से वस्त्र जला नहीं, जल रहा है। भगवान् के मत से जला है, आपके मत से नहीं।" प्रियदर्शना का भ्रम मिट गया। उसको पश्चात्ताप हुआ। वह साध्वियों के परिवार सहित भगवान् के समीप गई और प्रायश्चित्त ले कर शुद्ध हुई। यह प्रसंग जब जमाली के साधुओं के जानने में आया, तो वे भी जमाली को छोड़ कर भगवान् के पास चले गये और जमाली अकेला रह गया। जमाली ने कई वर्षों तक श्रमणपर्याय का पालन किया। फिर अन्तिम समय निकट जान कर उसने अनशन किया और पन्द्रह दिन का अनशन पाल कर विना आलोचना किये ही मर कर लांतक देवलोक में १३ सागरोपम की स्थिति वाला किल्विषी (चाण्डाल के समान अछूत घृणित) देव हुआ।

जमाली अनगार अरस-निरस-तुच्छ एवं रूक्ष आहार करने वाला और उपशांत जीवन वाला था। परन्तु आचार्यादि का विरोधी, द्वेषी, निन्दक एवं मिथ्या-प्ररूपक था। इससे वह निम्न कोटि का देव हुआ। अब वह तिर्यञ्च मनुष्य और देव के चार-पाँच भव कर के सम्यक्त्व सहित चारित्र पाल कर मुक्त हो जायगा।

चित्रकार की कला-साधना

साकेतपुर नगर में सुरप्रिय यक्ष का देवालय था। इस यक्ष का प्रतिवर्ष उत्सव मनाया जाता था। लोग भक्तिपूर्वक महापूजा करते। यक्ष देव का सुन्दर चित्र बनाया

उस समय साकेत नगर कला में प्रसिद्ध था। दूर-दूर के कलार्थी शिक्षा लेने वहाँ आते और वहीं रह कर शिक्षा पाते। कौशाम्बी नगरी के एक चित्रकार का पुत्र भी वहाँ गया और एक बुढ़िया के यहाँ रह कर अध्ययन करने लगा। बुढ़िया के एक पुत्र था और वह भी चित्रकार था। दोनों के परस्पर मैत्री-सम्बन्ध हो गया। एक वर्ष बुढ़िया के पुत्र के नाम की परची निकली। अपने पुत्र का मृत्यु-पत्र पा कर बुढ़िया की छाती बैठ गई। वह गलाफाड़ रुदन करने लगी। उसका रुदन सुन कर वह युवक घबराया और वृद्धा के पास आया। वृद्धा ने अपने एकाकी पुत्र के नाम आया हुआ मृत्यु-पत्र बताया, तो युवक ने कहा—"माँ! चिंता मत करो। मैं स्वयं मेरे मित्र के बदले जाऊँगा। आपका पुत्र नहीं जायगा।"

वृद्धा ने कहा—"नहीं, बेटा! मैं दूसरों के पूत को अपने बेटे के बदले यमराज का भक्ष्य नहीं बनने दूंगी। तेरे भी माँ-बाप, भाई-बहिन हैं। इतने लोग रोवें, इससे तो मैं अकेली रोऊँ, यही अच्छा है, और तू भी मेरा बेटा है। मेरे बेटे को तूने भाई माना, तो मैं तेरी भी माँ हुई। नहीं, नहीं, मैं मेरे बेटे की मौत से तुझे नहीं मरने दूंगी।"

"नहीं, माँ! मैं अपने मित्र का विरह सहन नहीं कर सकूंगा और आपका कहना नहीं मानूंगा। मैं ही जाऊँगा। मेरा निश्चय अटल है। अब आप मुझे आशीर्वाद दे कर मौन हो जाइये"—युवक ने दृढ़ता से कहा।

कौशाम्बी के उस युवक चित्रकार ने बेले की तपस्या की, स्नान किया, शरीर पर

चन्दन का विलेपन किया और मुंह पर आठ पट वाला वस्त्र बांधा। फिर शान्त चित्त हो यक्ष का चित्र बनाया। चित्र पूर्ण कर के उसने यक्ष को प्रणाम किया और स्तुति करते हुए प्रार्थना की; —

"हे सुरप्रिय-देव श्रेष्ठ ! अत्यन्त निपुण चित्रकार भी आपके भव्य रूप का आलेखन करने में समर्थ नहीं हो सकता, फिर मैं तो बालक हूँ। मेरी शक्ति ही कितनी ? फिर भी मैंने भक्ति पूर्वक आपका चित्र अंकित किया है। इसमें कितनी ही त्रुटियाँ होगी, किन्तु आप तो महान् हैं, क्षमा के सागर हैं, मेरी त्रुटियों के लिए मुझे क्षमा कर के इस चित्र को स्वीकार करें।"

चित्रकार का भक्तिपूर्ण शान्त मानस और एकाग्रता पूर्ण साधना से यक्ष प्रसन्न हुआ और बोला; —"वत्स ! मैं तुझ पर प्रसन्न हूँ। बोल क्या चाहता है तू ?"

"देव ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो सभी चित्रकारों को अभयदान दीजिये। बस यही याचना है आपसे"—युवक ने कहा।

"वत्स ! मैंने तुझे अभयदान दिया, तो यह सब के लिए हो गया। अब किसी को भी नहीं मारूँगा। यह निश्चय तो मैंने तेरी साधना से ही कर लिया है।"

"कृतार्थ हुआ, प्रभो ! आपने चित्रकारों और नगरजनों का भय सदा के लिए समाप्त करके निर्भय बना दिया। इससे बढ़ कर और महालाभ क्या हो सकता है ? मैं तो इसी से महालाभ पा गया।"

युवक की परोपकार-प्रियता से यक्ष अति प्रसन्न हुआ और बोला—"अब तक तुने दूसरों के लिए माँगा। अब अपने लिये भी माँग ले।"

"यदि आप मुझ पर विशेष कृपा रखते हैं, तो मुझे ऐसी शक्ति प्रदान कीजिये कि मैं किसी स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी या किसी भी वस्तु को अंशमात्र भी देख लूं, तो उसका सारा चित्र यथार्थ रूप में अंकित कर दूं।"

देव ने 'तथास्तु' कह कर उसकी माँग स्वीकार कर ली। युवक को जीवित लौटता देख कर नागरिकों के हर्ष का पार नहीं रहा। उसे धूमधाम पूर्वक वृद्धा के घर लाये। राजा और प्रजा ने युवक का बहुत सम्मान किया और उसे अपना उद्धारक माना। अब उसे शिक्षा प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं रही थी। वह वृद्धा को प्रणाम कर और मित्र की अनुमति ले कर अपने घर कौशाम्बी आया।

सती मृगावती चरित्र

कौशाम्बी नरेश शतानीक अपनी ऋद्धि-सम्पत्ति से गर्वित था। वह सोचता था कि जितनी सम्पत्ति और उत्तमोत्तम वस्तुएँ मेरे पास है, वैसी अन्यत्र नहीं है। वह अपने यहाँ आने-जाने वालों से पूछता रहता कि—"तुमने अन्यत्र कोई ऐसी वस्तु देखी है जो यहाँ नहीं है।" एक ने कहा—"महाराज! आपकी कौशाम्बी में कोई भव्य चित्रशाला दिखाई नहीं देती।" शतानीक ने यह त्रुटि मानी और तत्काल चित्रशाला बनवाने का काम प्रारंभ कर दिया। चित्रशाला बन जाने पर अच्छे निपुण एवं कुशल कलाकारों को नियुक्त कर दिये और कार्य चालू किया। कलाकारों ने कार्य का विभाजन कर लिया। उन कलाकारों में वह युवक भी था, जिसे साकेतपुर में यक्ष से चित्रकला की अद्भुत शक्ति प्राप्त हुई थी। उसे अंतपुर का भाग मिला। वह अपना कार्य तन्मयता से करता रहा। महाराज स्वयं भी चित्रशाला में विशेष रुचि लेते थे और स्वयं भी आ कर देखते रहते थे। अन्तपुर की चित्रशाला में महारानी मृगावती ‡ देवी की भी रुचि थी। वह स्वयं चित्रकार को चित्र बनाते हुए परदे (चिक) के पीछे से देख रही थी। अचानक चित्रकार की दृष्टि उधर पड़ी और महारानी के पाँव का अंगूठा—अंगूठी पहिने हुए—दिखाई दिया। उसने सोचा--'महारानी मृगावती देवी होगी।' वह महारानी का चित्र बनाने लगा। जब वह महारानी के नेत्र बना रहा था, तो पींछी में से रंग की बूंद जंघा पर गिरी। उसने उसे पोंछा और अपने कार्य में लगा, परन्तु पुनः उसी स्थान पर बूंद टपकी, फिर पोंछा और फिर टपकी। उसने सोचा--'महारानी की जंघा पर अवश्य ही लांछन होगा। इसीलिये ऐसा हो रहा है। देवकृपा से चित्र यथावत् बनेगा।' उसने उस चित्र को पूरा किया। महाराजा चित्रकार का काम देख रहे थे। महारानी का चित्र वे तन्मयता से देख रहे थे। उनकी दृष्टि जंघा पर रहे बिन्दु पर पड़ी और माथा ठनका --'महारानी की जंघा के लाञ्छन का पता चित्रकार को कैसे लगा? अवश्य ही इनका अनैतिक सम्बन्ध होगा और चित्रकार ने वह लांछन देखा होगा।' राजा का क्रोध उभरा। चित्रकार को पकड़वा कर बन्दी बनाया गया। अन्य चित्रकारों ने महाराजा से निवेदन किया—"स्वामिन्! युवक निर्दोष है। इस पर देव की कृपा है। देव-प्रदत्त शक्ति से यह

‡ कौशाम्बी नरेश शतानीक की रानी मृगावती, बहिन जयंती और पुत्र उदयन का नामोल्लेख भगवती सूत्र श. १२ उ. २ में भी हुआ है।

किसी भी मनुष्य के शरीर का एक अंश देख ले, तो पूरा चित्र यथावत् बना सकता है।" राजा ने परीक्षा करने के लिए कुब्जा दासी का केवल मुंह ही दिखाया और चित्रकार को उसका पूरा चित्र बनाने का कहा। चित्रकार ने चित्र बना दिया। राजा को चित्रकार की शक्ति पर विश्वास हो गया, फिर भी ऐसा चित्र बनाने के दण्ड स्वरूप उस चित्रकार के दाहिने हाथ का अंगूठा कटवा दिया। चित्रकार दुःखी हुआ। वह यक्ष के मन्दिर में गया और उपवास पूर्वक आराधना की। यक्ष ने उसके वामहस्त में वही शक्ति उत्पन्न कर दी। अब चित्रकार ने राजा से अपना वैर लेने का निश्चय किया। उसने पुनः देवी मृगावती का चित्र एक पट्ट पर बनाया और अनेक प्रकार के आभूषणों से सुसज्जित किया। उसने सोचा—'किसी स्त्री-लम्पट बलवान राजा को दिखा कर शतानीक को अपने कुकृत्य का फल चखाऊँगा।' उसने उज्जयिनी के चण्डप्रद्योत को वह चित्र दिखाया। चण्डप्रद्योत चित्र देखते ही मोहित हो गया।

पत्नी की माँग

चण्डप्रद्योत ने चित्रकार से पूछा—"चित्रकार! तुम कल्पना करने और उसे चित्र में अंकित करने में अत्यन्त कुशल हो। तुम्हारी कल्पना एवं कला उत्कृष्ट है। तुम अनहोनी को भी कर दिखाते हो।"

"नहीं, महाराज! यह कल्पना नहीं, साक्षात् का चित्र है और इस मानव-सृष्टि का शृंगार है"—कलाकार ने कहा।

"क्या कहा? साक्षात् है? कोई देवी है क्या? मानुषी तो नहीं हो सकती"—राजा ने आश्चर्य पूर्वक पूछा।

"महाराज! यह देवी कौशाम्बी नरेश शतानीक की महारानी मृगावती है। वह साक्षात् लक्ष्मी के समान है और चित्र से भी अधिक सुन्दर है।"

बस, चण्डप्रद्योत की आकांक्षा प्रबल रूप से भड़क उठी। उसने तत्काल एक दूत कौशाम्बी भेजा और शतानीक से उसकी प्राणवल्लभा मृगावती की माँग की। यद्यपि चण्डप्रद्योत शतानीक का साढ़ू था। मृगावती की बहिन शिवा उसकी रानी थी और शिवा भी सुन्दर थी। फिर भी कामान्ध चण्डप्रद्योत ने अपने साढ़ू से उसकी पत्नी और अपनी साली की माँग--निर्लज्जता पूर्वक कर दी। उसके सामने न्याय-नीति और धर्म तथा लोकलाज उपेक्षित हो गई।

चित्रकार ने आग लगा दी और भरपूर पुरस्कार ले कर चला गया। शतानीक के अविवेक ने चित्रकार को शत्रु बनाया। जब उसे विश्वास हो गया था कि चित्रकार ने दैवी-शक्ति से मृगावती का चित्र बनाया है, तो दण्ड देने का औचित्य ही क्या था ? अपने राज्य के उत्कृष्ट कलाकार का उसे सम्मान करना था। वह चित्र सार्वजनिक प्रदर्शन का तो था ही नहीं। उसके अन्तःपुर के एक निजी कक्ष का था। भवितव्यता का निमित्त, शतानीक का अविवेक बना। फिर तो चित्रकार और चण्डप्रद्योत भी जुड़ गये।

दूत ने कौशाम्बी आ कर चण्डप्रद्योत का सन्देश राजा को सुनाया, तो शतानीक के हृदय में क्रोध की आग भभक उठी। उसने कहा—

"तू दूत है, इसलिए अवध्य है, अन्यथा तत्काल तेरी जीभ खिंचवा ली जाती। तेरा स्वामी इतना अधम है कि वह अपने राज्य के बाहर, अपने जैसे दूसरे राजा से पत्नी की माँग करता है, तो प्रजा की बहु-बेटियों के लिए कितना अत्याचार करता होगा ? जा भाग यहाँ से"—शतानीक ने उसका तिरस्कार कर के निकाल दिया। दूत ने उज्जयिनी आ कर अपने स्वामी को शतानीक का उत्तर सुनाया। चण्डप्रद्योत ने तत्काल सेना सज्ज की और कौशाम्बी पर चढ़ाई कर दी। शतानीक को विश्वास नहीं था कि चण्डप्रद्योत एकदम चढ़ाई कर देगा। शतानीक की सेना तैयार नहीं थी। वह घबराया। उसे इतना आघात लगा कि वह गम्भीर अतिसार रोग से ग्रस्त हो गया और मृत्यु का ग्रास बन गया।

सती की सूझबूझ

पति की मृत्यु का आघात मृगावती ने साहसपूर्वक सहन किया। पति का वियोग तो हो ही चुका था। अब अपना शील, बालक पुत्र और उसके राज्य को सुरक्षित रखने का विकट प्रश्न मृगावती के समक्ष था। उसने सोच-समझ कर कर्त्तव्य निश्चित्त किया। मृगावती ने अपना विश्वस्त दूत चण्डप्रद्योत की छावनी में भेजा। दूत ने राजा को प्रणाम कर निवेदन किया—

"मेरी स्वामिनी ने आपसे निवेदन कराया है कि—मेरे स्वामी तो स्वर्गवासी हुए। अब हमें आपका ही सहारा है। मेरा पुत्र अभी बालक है। मैं इसे असुरक्षित नहीं छोड़ सकती। निकट के राजा मेरे पुत्र का राज्य हड़पने को तत्पर हैं। अब आप कौशाम्बी की रक्षा लिए एक सुदृढ़ प्रकोट का निर्माण करा कर सुरक्षित बना दीजिये, फिर कोई भय

नहीं रहेगा। प्रकोट बनाने के लिये ईंटें भी यहां नहीं हैं। ये ईंटें भी आपको उज्जयिनी से ही लानी पड़ेगी।"

कामान्ध चण्डप्रद्योत मृगावती की चाल नहीं समझ सका। उसके अनुकूल विचार से वह संतुष्ट हो गया और उसने उसकी माँग स्वीकार कर ली। उसने सुदूरस्थ उज्जयिनी से ईंटें मँगवा कर प्राकार बनवाने का काम प्रारम्भ किया। सेना और साथ के सामन्त इसी कार्य में लग गये और कुछ दिनों में ही किला बन कर तैयार हो गया। उधर राजमाता मृगावती, पुत्र को सुशिक्षित और राज्य-व्यवस्था को सुदृढ़ करने लगी थी। किला बनने के बाद राजमाता ने चण्डप्रद्योत से कहलाया—"आपकी कृपा से किला तो बन चुका है। अब इस खाली और दरिद्र राज्य को धन-धान्य और उत्तम शस्त्रों से परिपूर्ण भर दें, तो सारी चिंता मिटे।'--प्रद्योत के मन में तो मृगावती को प्राप्त करने की ही धुन थी। उसने उज्जयिनी का धन-धान्य और शस्त्र निकाल कर कौशाम्बी पहुँचा दिया। राजमाता ने अपनी शक्ति बढ़ा कर शत्रु को निर्बल कर दिया। अब किले के द्वार बन्द करवा कर सुभटों को मोर्चे पर जमा दिये और शत्रु का सामना करने के लिए वह तत्पर हो गई। चण्डप्रद्योत ने समझ लिया कि मृगावती ने उसे मूर्ख बना दिया। वह उदास-निरास हो कर पड़ा रहा।

मृगावती और चण्डप्रद्योत को धर्मोपदेश

मृगावती को सुखभोग की आकांक्षा नहीं थी। वह पुत्र और उसके राज्य की रक्षा के लिए संसार में रुकी थी। अब उसने भगवान् महावीर प्रभु के पधारने पर निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या ग्रहण करने की भावना की। सती की भावना एवं पुण्य-बल से भगवान् कौशाम्बी पधारे और चन्द्रावतरण उद्यान में बिराजे। भगवान् का पदार्पण जान कर मृगावती देवी ने नगर के द्वार खोल दिये और स्वजन-परिजन तथा सेना सहित भगवान् को वन्दन करने उपवन में पहुँची और भगवान् को वन्दना कर के बैठ गई। उधर राजा चण्डप्रद्योत भी गया और भगवान् को वन्दना कर के बैठ गया। भगवान् ने धर्मोपदेश दिया।

यासा सासा का रहस्य × × स्वर्णकार की कथा

भगवान् का पदार्पण जान कर एक धनुषधारी सुभट भगवान् के समीप आया और मन से ही प्रश्न पूछा। भगवान् ने कहा—"भद्र! तू अपना प्रश्न बोल कर कह, जिससे

सुनने वालों का भी हित हो।'' परन्तु लज्जावश उसने इतना ही कहा--"यासा, सासा" ? भगवान् ने भी संक्षेप में कहा--"एव-मेव।" वह चला गया। गौतमस्वामी के पूछने पर भगवान् ने कहा;--

"पूर्वकाल में चम्पा नगरी में एक स्त्रीलम्पट धनाढ्य स्वर्णकार रहता था। वह जहाँ सुन्दर युवती कन्या देखता, वहाँ उनके माता-पिता को स्वर्णमुद्राएँ दे कर प्राप्त कर लेता और उत्तम वस्त्रालंकार से सुसज्जित कर के उनके साथ क्रीड़ा करता। इस प्रकार उसने पाँच-सौ पत्नियाँ कर ली। वह क्रूर भी इतना था कि यदि कोई स्त्री उसकी इच्छा के विपरीत होती और तनिक भी चूक जाती, तो वह उसे बहुत पीटता। वह न तो उन्हें छोड़ कर कहीं बाहर जाता और न किसी को अपने घर आने देता। वह स्वयं सभी स्त्रियों की रखवाली करता। स्त्रियाँ उसके दुष्ट स्वभाव से दुःखी थी। वे उसका अनिष्ट चाहती थी। एक दिन उसके एक प्रियमित्र ने उसे भोजन करने का न्योता दिया। स्वर्णकार के अस्वीकार करने पर भी वह नहीं माना और आग्रहपूर्वक उसे ले ही गया। उसके जाते ही पत्नियों ने सोचा--"आज अच्छा अवसर मिला है। चलो, नगर की छटा देख आवें।" वे सब वस्त्राभूषण पहिन कर शृंगार करने लगी। सभी के हाथ में दर्पण थे। सोनी शीघ्रतापूर्वक भोजन कर के लौट आया। उसने पत्नियों का ढंग देखा, तो भभक उठा और मारने दौड़ा। स्त्रियों ने परस्पर संकेत किया और हाथ के दर्पण, पति पर एकसाथ फेंक कर सभी ने प्रहार किया। अकेला पति क्या कर सकता था। उसकी मृत्यु हो गई। स्वर्णकार के मरते ही स्त्रियाँ डरी। राज्य-भय से वे भयभीत हो गई। "राजा मृत्यु-दण्ड देगा, इससे तो स्वतः मरना ठीक है"--सोच कर आग जला कर सभी जल मरी। अकाम-निर्जरा से वे सभी मर कर पुरुष हुई। वे सभी पुरुष एकत्रित हो कर अरण्य में एक किला बना कर रहने और चोरी-डकैती करने लगे। सोनी मर कर तिर्यञ्च हुआ और उसके पूर्व मरी हुई एक पत्नी भी तिर्यञ्च हुई। वह स्त्री तिर्यञ्च-भव में मर कर एक ब्राह्मण के यहाँ पुत्र रूप में उत्पन्न हुई। उसके पाँच वर्ष पश्चात् सोनी का जीव भी मर कर उसी ब्राह्मण के यहाँ पुत्रीपने उत्पन्न हुआ। माता-पिता गृहकार्य आदि में लगे रहते और पुत्री को पुत्र सम्भालता। वह लड़की रोती बहुत थी। बालक उसे थपथपाता और चुप करने का प्रयत्न करता, परन्तु उसका रोना नहीं रुकता। एकबार बालक अपनी बहिन का पेट सहला रहा था कि उसका हाथ उसकी योनि पर फिर गया। योनि पर हाथ फिरते ही बालिका चुप हो गई। बालक ने छोटी बहिन को चुप रखने का यह अच्छा उपाय समझा। वह जब भी रोती, वह मूत्रस्थान सहला कर चुप कर देता। एकबार उसके पिता ने पुत्र

को पुत्री का गुह्यस्थान सहलाते देखा, तो क्रोधित हो गया और मार-पीट कर घर से निकाल दिया। उसे इस पुत्र से भविष्य में अपना कुल कलंकित होना दिखाई दिया। घर से निकाला हुआ वह भटकता-भटकता उस चोर-समूह में मिल गया। इधर उसकी बहिन यौवन वय में अति कामुक हो कर कुलटा बन गई। वह स्वेच्छाचारिणी किसी प्रकार एक चोर के हाथ लग गई और चोर उसे अपनी पल्ली में ले आया। अब वह सभी के साथ दुराचार का सेवन करने लगी। सारी चोरपल्ली में वह अकेली थी। इसलिये चोर एक दूसरी स्त्री का हरण कर लाये। किन्तु दूसरी स्त्री उसे खटकी। उसने उसे मारने का संकल्प कर लिया। एक दिन सभी चोर चोरी करने गये, तो उसने अपनी सौत को छल से कूएँ के निकट ले जा कर झांकने का कहा। वह झाँकने लगी, तो इस दुष्टा ने उसे धक्का दे कर गिरा दिया। वह मर गई। चोरों ने लौट कर दूसरी स्त्री को नहीं देखा, तो कूलटा से पूछा और खोज करने लगे। उस समय उस ब्राह्मणपुत्र की दृष्टि उस पर जमी और उसके मनमें सन्देह उठा--"यह स्त्री मेरी बहिन तो नहीं है?" वह मन ही मन घुलने लगा। इतने में उसे कौशाम्बी जाना पड़ा। वहाँ उसने सुना कि--"यहाँ सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् पधारे हैं।" वह अपना सन्देह मिटाने के लिए मेरे निकट आया और मन से ही पूछा। मैंने बोल कर पूछने का कहा, तो उसने संकेताक्षरों का उच्चारण किया--"यासा सासा?" अर्थात् "वह वही (मेरी बहिन) है?" मैंने उत्तर दिया--"एवमेव"--हाँ वही है। इस उत्तर से उसके हृदय में संसार के प्रति विरक्ति बढ़ी और वहीं दीक्षित हो गया। फिर वह पल्ली में आया और सभी चोरों को प्रतिबोध दिया। वे भी निर्ग्रंथ-श्रमण बन गए।"

भगवान् का उपदेश पूर्ण होते ही मृगावती देवी उठी और भगवान् की वन्दना कर के बोली--"प्रभो! मैं चण्डप्रद्योत राजा की आज्ञा ले कर श्रीमुख से प्रव्रज्या लेना चाहती हूँ।" और चण्डप्रद्योत के निकट आ कर बोली--"राजन्! अनुमति दीजिये। मैं भगवान् से प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहती हूँ। मुझे अब संसार में नहीं रहना है। मेरा पुत्र उदयन तो अब आपके रक्षण में है ही।" भगवान् के प्रभाव से चण्डप्रद्योत भी शान्त हो गया था। उसने उदयन को कौशाम्बी का अधिपति स्वीकार किया और मृगावती को दीक्षा लेने की अनुमति दी। मृगावती और उसके साथ चण्डप्रद्योत की अंगारवती आदि आठ रानियों ने भी दीक्षा अंगीकार की। भगवान् ने उन्हें दीक्षित कर के महासती चन्दनबाला को प्रदान की।

आदर्श श्रावक आनन्द

'वाणिज्य ग्राम' नामक नगर में 'जितशत्रु' नामक राजा था। उस नगर में 'आनन्द' नाम का एक महान् ऋद्धिशाली गृहस्वामी था। उसकी पत्नी का नाम 'शिवानन्दा' था। जो सुरूपा सुलक्षणी और गुणसम्पन्न थी। पति-पत्नी में परस्पर प्रगाढ़ स्नेह था। आनन्द के चार कोटि स्वर्णमुद्रा भण्डार में सुरक्षित थी, चार कोटि स्वर्णमुद्रा व्यापार में लगी थी और चार कोटि स्वर्णमुद्रा का धन, गृह सम्बंधी वस्तुओं में लगा हुआ था। उसके चालीस हजार गौओं के चार गो-वर्ग थे। आनन्द का व्यापार-क्षेत्र बहुत विस्तीर्ण था। पाँच सौ गाड़ियें तो व्यापार सम्बन्धी वस्तुओं के लाने ले जाने में ही लगी रहती थी, पाँच सौ गाड़ियाँ गो-वर्ग के घास-दाना गोमय आदि ढोने में लगी रहती थी। चार जलयान विदेशों में व्यापार के काम में आते थे। वह वैभवशाली तो था ही, साथ ही बुद्धिमान्, उदार और लोगों का विश्वासपात्र था। राजा, प्रधान, सेठ, सेनापति, ठाकुर, जागीरदार और सामान्य जनता के महत्वपूर्ण कार्यों में, उलझन भरे विषयों में और गुप्त-मन्त्रणाओं में आनन्द-श्रेष्ठि पूछने और सलाह लेने योग्य था। वह सब को उचित परामर्श देता था। सभी लोग उस पर विश्वास करते थे। वह दूसरों के सुख-दुःख में सहायक होता था। वह सभी के लिए आधारभूत था।

एकदा भगवान् महावीर प्रभु वाणिज्य ग्राम नगर के दूतिपलास उद्यान में पधारे। राजा आदि भगवान् को वन्दन करने गये। आनन्द भी भगवान् का आगमन और राजा का वन्दनार्थ जाना सुन कर भगवान् को वन्दन करने गया। भगवान् का उपदेश सुन कर आनन्द ने प्रतिबोध पाया। उसकी आत्मा में सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ। उसने श्रावक के बारह व्रत धारण किये। तत्पश्चात् आनन्द ने भगवान् से प्रश्न पूछ कर अपने ज्ञान में वृद्धि की और भगवान् के सम्मुख प्रतिज्ञा की कि--

"भगवन् ! अब मैं अन्य यूथिकों को, अन्य यूथिक देव और अन्य यूथिक गृहीतों को वन्दना-नमस्कार नहीं करूँगा। उनके बोलने से पहले उनसे मैं बोलूंगा भी नहीं, विशेष सम्पर्क भी नहीं रखूंगा और बिना किसी दबाव के उन्हें धर्म-भावना से आहारादि दान भी नहीं दूंगा। क्योंकि अब यह मेरे लिए, अकरणीय हो गया है। अब मैं श्रमण-निर्ग्रंथों को भक्तिपूर्वक आहारादि प्रतिलाभता रहूँगा।"

आनन्द श्रमणोपासक उठा और भगवान् को वन्दना-नमस्कार कर के घर की ओर चला। उसका हृदय हर्षोल्लास से परिपूर्ण था। आज उसकी आँखें खुल गई थी। वह

आत्मोद्धार का मार्ग पा गया था। वह अपने को धन्य मानता हुआ और इस महालाभ से पत्नी को भी लाभान्वित करने का विचार करता हुआ घर पहुँचा और सीधा पत्नी के समीप पहुँच कर बोला;—

"प्रिये ! आज का दिन हमारे लिये परम कल्याणकारी है। आज जैसा महालाभ मुझे कभी नहीं मिला। हमारे नगर में त्रिलोकपूज्य, जगदुद्धारक जिनेश्वर भगवंत महावीर स्वामी पधारे हैं। मैं उन तीर्थंकर भगवान् को वन्दन करने गया था। उनके धर्मोपदेश ने मेरी आँखें खोल दी। मैं भगवान् का उपासक हो गया और मैंने भगवान् से श्रमणोपासक के योग्य व्रत धारण किये हैं। जाओ, प्रिये ! तुम भी शीघ्र दूतिपलास उद्यान में जा कर भगवान् की वन्दना करो और भगवान् की उपासिका बन जाओ। आज हमारे जीवन का महा परिवर्त्तन है। मानव-जन्म सफल करने की शुभ वेला है। जाओ, इस महालाभ को पा कर तुम भी धन्य बन जाओ।"

शिवानन्दा पति के पावन वचन सुन कर अत्यंत प्रसन्न हुई। वह रथारूढ़ हो कर दासियों के साथ भगवान् के समवसरण में पहुँची और भगवान् का धर्मोपदेश सुन कर वह भी श्रमणोपासिका बन गई।

जीव-अजीवादि तत्त्वों के ज्ञाता श्रमणोपासक आनन्द को अपने व्रतों का पालन करते हुए चौदह वर्ष व्यतीत हो कर पन्द्रहवाँ वर्ष चल रहा था। उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र को गृहभार सौंपा और कोल्लाक सन्निवेश की ज्ञातृकुल की पौषधशाला में पहुँचा। वहाँ तपपूर्वक उपासक की ग्यारह प्रतिमा की आराधना करने लगा। ग्यारह प्रतिमाओं की आराधना में साढ़े पाँच वर्ष लगे। आनन्द का शरीर तपस्या के कारण अत्यधिक शुष्क दुर्बल और अशक्त हो गया। उसकी हड्डियाँ और नसें दिखाई देने लगी। उससे उठना-बैठना कठिन हो गया।

एक रात धर्मचिन्तन करते हुए उसने सोचा—'मैं अत्यंत दुर्बल हो गया हूँ, फिर भी मुझ में कुछ शक्ति अवशेष है और जब तक मेरे धर्मगुरु धर्माचार्य भ० महावीर प्रभु गंध-हस्ति के समान इस आर्यभूमि पर विचर रहे हैं, तबतक मैं अपनी अंतिम साधना भी कर लूँ। उसने अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना की, और आहारादि खाने-पीने का सर्वथा त्याग कर, मृत्यु प्राप्त होने की इच्छा नहीं रखता हुआ, शुभ भावों में रमण करने लगा। शुभभाव, प्रशस्त परिणाम एवं लेश्या की विशुद्धि से तदावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उसे अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ। इस ज्ञान से वह पूर्व, पश्चिम और दक्षिण-दिशा में लवणसमुद्र में पाँच-पाँच सौ योजन तक और उत्तर में क्षुल्लहिमवंत पर्वत तक

जानने-देखने लगा। उर्ध्व में सौधर्मकल्प तक और अधो-दिशा में रत्नप्रभा पृथ्वी के लोलुपाच्युत नरकावास तक देखने लगा।

उस समय भगवान् महावीर प्रभु वाणिज्य ग्राम-नगर पधारे और द्रुतिपलास चैत्य में विराजे। भगवान् के प्रथम गणधर श्री इन्द्रभूतिजी अपने बेले की तपस्या के पारणे लिए भगवान् की आज्ञा ले कर वाणिज्य ग्राम में प्रवेश किया और आहार ले कर लौटते हुए कोल्लाक सन्निवेश के समीप लोगों को परस्पर बात करते हुए सुना कि—

"देवानुप्रिय ! भगवान् महावीर का अंतेवासी आनन्द श्रमणोपासक, पौषधशाला से संथारा कर के धर्मध्यान में रत हो रहा है।"

श्री गौतम स्वामी ने ये शब्द सुने, तो उनके मन में आनन्द को देखने की भावना हुई। वे पौषधशाला में आनन्द के निकट आये। गौतम स्वामी को देखते ही आनन्द हर्षित हुआ। लेटे-लेटे ही उन्होंने गौतम स्वामी की वन्दना की, नमस्कार किया और बोला—

"भगवन् ! बड़ी कृपा की—मुझे दर्शन दे कर। अब कृपया निकट पधारने का कष्ट कीजिये, जिससे मैं श्री चरणों की वन्दना कर लूँ। मुझ में इतनी शक्ति नहीं कि जिससे स्वत: उठ कर चरण-वन्दना कर सकूँ।"

आनन्द की प्रार्थना पर भगवान् गौतम उसके निकट गये। आनन्द ने भगवान् गौतम को तीन बार वन्दना कर के नमस्कार किया। नमस्कार करने के पश्चात् आनन्द ने भगवान् गौतम से पूछा;—

"भगवन् ! गृहवास में रहने वाले मनुष्य को अवधिज्ञान हो सकता है ?"

"हाँ, आनन्द ! हो सकता है।"

"भगवन् ! मुझे अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है। मैं लवणसमुद्र में पूर्व में पाँच सौ योजन तक यावत् नीचे लोलुप्याचुत नरकावास तक जान-देख सकता हूँ।"

"आनन्द ! गृहस्थ को अवधिज्ञान उत्पन्न हो सकता है, परन्तु इतना विस्तिर्ण नहीं होता। इसलिए तुम्हें असत्य-वचन की आलोचना कर के तपाचरण से शुद्धि करनी चाहिए।'

गौतम स्वामी की बात सुन कर आनन्द बोले;—

"भगवन् ! जिन-प्रवचन में सत्य, तथ्य, उचित एवं सद्भूत कथन के लिये भी आलोचना एवं प्रायश्चित्त रूप तप किया जाता है क्या ?"

"नहीं आनन्द ! सत्य एवं सद्भूत कथन की आलोचना प्रायश्चित्त नहीं होता"— श्री गौतम भगवान ने कहा।

"भगवन् ! यदि जिन-प्रवचन में सत्य-कथन का प्रायश्चित्त नहीं होता, तो आप ही अपने कथन की आलोचना कर के तप रूप प्रायश्चित्त स्वीकार करें"--आनन्द ने निर्भयता पूर्वक स्पष्ट कहा।

गणधर भगवान् ने क्षमापना की

आनन्द श्रमणोपासक की बात सुन कर श्री गौतम स्वामीजी को सन्देह उत्पन्न हुआ। उन्हें भगवान् महावीर प्रभु से निर्णय लेने की इच्छा हुई। वे वहाँ से चल कर भगवान् के समीप आये। गमनागमन का प्रतिक्रमण किया, आहार-पानी प्राप्त करने संबंधी आलोचना की और आहार-पानी दिखाया। तत्पश्चात् वन्दना-नमस्कार कर आनन्द श्रमणोपासक सम्बन्धी प्रसंग निवेदन कर पूछा--"भगवन् ! उस प्रसंग की आलोचना आनन्द को करनी चाहिये, या मुझे ?"

भगवान् ने कहा;--"गौतम ! तुम स्वयं आलोचना कर के प्रायश्चित्त लो। आनन्द सच्चा है। तुम उसके समीप जा कर उससे इस प्रसंग के लिए क्षमा याचना करो।"

भगवान् का निर्णय गौतम स्वामी ने "तहत्ति" कह कर विनय पूर्वक स्वीकार किया। लगे हुए दोष की आलोचना की और तप स्वीकार कर आनन्द से क्षमा याचना करने गये।

आनन्द श्रमणोपासक बीस वर्ष की श्रमणोपासक पर्याय एवं एक मास का संथारा-संलेखना का पालन कर, मनुष्यायु पूर्ण होने पर सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ उसकी स्थिति चार पल्योपम की है। देवायु पूर्ण कर वह महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य रूप में उत्पन्न होगा और श्रमण-प्रव्रज्या स्वीकार कर मुक्ति प्राप्त करेगा।

श्रमणोपासक कामदेव को देव ने घोर उपसर्ग दिया

चम्पा नगरी में 'कामदेव' गाथापति रहता था। 'भद्रा' उसकी पत्नी थी। कामदेव के पास छः कोटि स्वर्णमुद्रा भण्डार में थी, छः कोटि व्यापार में और छः कोटि की अन्य वस्तुएँ थी। साठ हजार गायों के छः गोवर्ग थे। कामदेव ने भगवान् महावीर का धर्मोपदेश सुन कर आनन्द के समान श्रावकधर्म स्वीकार किया। कालान्तर में ज्येष्ठ पुत्र को गृहभार

दे कर पौषधशाला में गया और उपासकप्रतिमा की आराधना करने लगा। कालान्तर में मध्यरात्रि में कामदेव के समक्ष एक मायी-मिथ्यादृष्टि देव प्रकट हुआ। वह एक महान् भयंकर पिशाच का रूप धारण किया हुआ था*। उसके हाथ में खड्ग था। वह घोर गर्जना करता हुआ बोला;—

"हे कामदेव ! तू दुर्भागी है। आज तेरे जीवन की अंतिम घड़ी आ गई है। तू बड़ा धर्मात्मा बन गया है और तुझे धर्म और मोक्ष की ही कामना है। तू एकमात्र मोक्ष की ही साधना में लगा रहता है और मेरे जैसे शक्तिशाली देव की अबतक उपेक्षा करता रहा। परन्तु तुझे मालूम नहीं है कि तेरी यह धर्म-साधना व्यर्थ है। छोड़ दे इस व्यर्थ के पाखण्ड को। मेरे कोपानल से बचने का एकमात्र यही उपाय है कि तू अपने स्वीकृत धर्म को छोड़ दे। यदि तुने अपनी हठ-धर्मी नहीं छोड़ी, तो मैं इस तीक्ष्ण खड्ग से तेरे शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दूँगा और तू महान् दुःख को भोगता और रोता-बिलबिलाता हुआ अकाल में ही मर जायगा।"

पिशाच का विकराल रूप, भयानक गर्जना और कर्कश वचन सुन कर कामदेव डरा नहीं, विचलित भी नहीं हुआ, किन्तु शांतिपूर्वक धर्म-ध्यान में लीन हो गया। देव ने दो-तीन बार अपनी कर्कश वाणी में यह धमकी दी, परन्तु कामदेव ने उपेक्षा ही कर दी। जब देव ने देखा कि उसकी धमकी व्यर्थ गई, तो वह क्रुद्ध हो गया और तलवार के प्रहार से कामदेव के शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। कामदेव को घोर वेदना हुई। वेदना सहता हुआ भी वह धर्म-ध्यान से विचलित नहीं हुआ। अपना प्रयत्न निष्फल हुआ जान कर देव वहाँ से पीछे हटा। उसने एक महान् गजराज का रूप बनाया और कामदेव के सम्मुख आ कर पुनः धर्म छोड़ने का आदेश दिया, परन्तु कामदेव ने पूर्ववत् उपेक्षा कर दी। हाथी रूपी देव ने कामदेव को सूंड से पकड़ कर आकाश में उछाल दिया और फिर नीचे गिरते हुए को दांतों पर झेला और नीचे गिरा कर पाँवों से तीन बार रगदोला (रगड़ा)। इससे उन्हें असह्य वेदना हुई, किन्तु उनकी धर्म-दृढ़ता यथावत् स्थिर रही। तदनन्तर देव ने हाथी का रूप छोड़ कर एक महानाग का रूप धारण किया और श्रमणोपासक के शरीर पर चढ़ कर गले को अपने शरीर से लपेटा और वक्ष पर तीव्र दंश दे कर असह्य वेदना उत्पन्न की। किन्तु जिनेश्वर भगवंत का वह परम उपासक, धर्म पर न्योछावर हो गया था। घोर वेदना होने पर भी वह अपनी दृढ़ता एवं ध्यान में अडिग ही रहा।

देव पराजित हुआ

महावीर-भक्त महाश्रावक कामदेवजी की धर्म-दृढ़ता के आगे देव को हारना पड़ा। देव लज्जित हो कर पीछे हटा। उसने सर्प रूप त्याग कर देव रूप धारण किया और कामदेवजी के समक्ष आया। अंतरिक्ष को अपनी दिव्य-प्रभा से आलोकित करता हुआ पृथ्वी से कुछ ऊपर रह कर देव कहने लगा;—

"हे कामदेव ! तुम धन्य हो, तुम कृतार्थ हो, तुम्हारा मानव-भव सफल हुआ। तुम्हें निर्ग्रन्थ-प्रवचन पूर्णतः प्राप्त हुआ है। प्रथम स्वर्ग के देवेन्द्र देवराज शक्र ने तुम्हारी धर्म-दृढ़ता की देवसभा में, हजारों देवों के समक्ष मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हुए कहा कि—

"इस समय भरतक्षेत्र की चम्पा नगरी का कामदेव श्रमणोपासक पौषधशाला में रह कर प्रतिमा का आराधन कर रहा है और संथारे पर बैठ कर धर्म-चिंतन कर रहा है। उसमें धर्म-दृढ़ता इतनी ठोस है कि कोई देव-दानव भी उसे अपने धर्म एवं साधना से किञ्चित् भी चलित नहीं कर सकता।"

देवेन्द्र की इस बात पर मैंने विश्वास नहीं किया और मैं तुम्हें डिगाने के लिए यहाँ आ कर महान् कष्ट दिया। किन्तु तुम्हारी धर्म-दृढ़ता के आगे मुझे पराजित होना पड़ा। धन्य है आपकी दृढ़ता और धन्य है आपकी उत्कट साधना। मैं अपने अपराध की आपसे क्षमा चाहता हूँ और प्रतिज्ञा करता हूँ कि भविष्य में आपके अथवा किसी भी धर्म-साधक के साथ ऐसा क्रूर व्यवहार नहीं करूँगा।"

देव अन्तर्धान हो गया। कामदेवजी ने उपसर्ग टला जान कर ध्यान पाला। उस समय श्रमण भगवान् महावीर प्रभु चम्पा नगरी के बाहर पूर्णभद्र उद्यान में पधारे। कामदेव को भगवान् के पधारने का शुभ संवाद पौषधशाला में मिला। वे हर्षित हुए। उन्होंने विचार किया कि अब भगवान् को वन्दन करने के बाद ही पौषध पालना उत्तम होगा। उन्होंने वस्त्राभूषण पहिने और स्वजन-परिजनों के साथ घर से निकल कर पूर्णभद्र उद्यान में भगवान् की वन्दना की और पर्युपासना करने लगे। भगवान् ने धर्मोपदेश दिया, और तदनन्तर कामदेव से पूछा;—

"हे कामदेव ! गत मध्यरात्रि के समय एक देव ने तुम पर पिशाच, हस्ति और सर्प का रूप बना कर घोर उपसर्ग किया था ?"

"हां, भगवन् ! आपका फरमाना सत्य है।"

साधुओं के सम्मुख श्रावक का आदर्श

भगवान् ने साधु-साध्वियों को सम्बोध कर कहा;—

"आर्यों ! इस कामदेव श्रमणोपासक ने गृहवास में रहते हुए, एक मायी-मिथ्यादृष्टि देव के पिशाच, हाथी और सर्प रूप के अति घोर उपसर्ग को सहन कर के अपनी धर्म-दृढ़ता का पूर्ण निर्वाह किया है, तब तुम तो अनगार हो, निर्ग्रंथ-प्रवचन के ज्ञाता हो और संसार-त्यागी निर्ग्रंथ हो। तुम्हें तो देव-मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी सभी उपसर्ग पूर्ण शान्ति के साथ सहन करते हुए अपने चारित्र में वज्र के समान दृढ़ एवं अटूट रहना चाहिए।"

भगवान् का वचन निर्ग्रंथों ने सिरोधार्य किया। श्राद्ध-श्रेष्ठ कामदेवजी ने भगवान् से प्रश्न पूछे, अपनी जिज्ञासा पूर्ण की और भगवान् को वन्दना कर के लौट आए। कामदेवजी ने उपासक-प्रतिमा का पालन किया और एक मास का संलेखना-संथारा किया, तथा बीस वर्ष श्रावक-पर्याय पाल कर सौधर्म देवलोक में चार पल्योपम की स्थिति वाले देव हुए। ये भी मनुष्य-भव पाएँगे और चारित्र की आराधना कर के मुक्ति प्राप्त करेंगे।

चुलनीपिता श्रावक को देवोपसर्ग

वाराणसी नगरी के 'चुलनीपिता' श्रमणोपासक ने भी भगवान् की देशना सुनी और उपासक हुआ। उसकी भार्या 'श्यामादेवी' उपासिका बनी। यह आनन्द-कामदेव से भी अधिक सम्पतिवान था। इसके आठ-आठ करोड़ स्वर्ण कोषागार, व्यापार और घर-पसारे में लगा था। आठ गो-वर्ग थे। इसने भी प्रतिमा धारण की। मध्य-रात्रि में इसके सम्मुख भी एक देव उपस्थित हुआ और उसके धर्म नहीं छोड़ने पर कहा कि "तेरे ज्येष्ठ-पुत्र को घर से ला कर तेरे समक्ष मारूँगा। उसके टुकड़े कर के कड़ाह में उसका मांस तलूँगा और उस तप्त मांस-रक्त से तेरे शरीर का सिंचन करूँगा, जिससे तू महान् दुःख भोगेगा और रोता-कलापता एवं आर्त्तध्यान करता हुआ मृत्यु को प्राप्त होगा।"

देव के भयावने रूप और क्रूर वचनों से चुलनीपिता नहीं डरा, तो देव उसके पुत्र को सम्मुख लाया। उसे मारा, उसके टुकड़े कर के रक्त-मांस कड़ाव में उबाले और श्रावक के शरीर पर उंडेला। श्रावक को घोर वेदना हुई, परन्तु वह दृढ़ रहा। इसके बाद

देव उसके मझले पुत्र को लाया, यावत् तीसरी बार कनिष्ट पुत्र को मार कर छांटा। इतना होते हुए भी श्रावक चलायमान नहीं हुआ, तो अन्त में देव उसकी माता भद्रादेवी को उठा लाया और बोला--

"देख चुलनीपिता ! यदि अब भी तू अपनी हठ नहीं छोड़ेगा, तो तेरे देव-गुरु के समान पूजनीय तेरी माता को मार कर यावत् सिंचन करूँगा।" फिर भी वह दृढ़ रहा, किन्तु दूसरी-तीसरी बार कहने पर उसे विचार हुआ कि--"यह कोई अनार्य, क्रूर एवं अधर्मी है। इसने मेरे तीन पुत्रों को मार डाला और अब देव-गुरु के समान मेरी पूज्या जननी को मारने पर तुला है। अब मेरा हित इसी में है कि मैं इसे पकड़ कर क्रूरकर्म करते हुए रोकूं।" इस प्रकार सोच कर वह उठा और देव को पकड़ने के लिए चिल्लाता हुआ--"ठहर ओ पापी ! तू मेरी देव-गुरु के समान पूज्या जननी को कैसे मार सकता है"--झपटा, तो उसके हाथ में एक खंभा आ गया। देव लुप्त हो चुका था। पुत्र का चिल्लाना सुन कर माता जाग्रत हुई और पुत्र से चिल्लाने का कारण पूछा। जब पुत्र ने किसी अनार्य द्वारा तीनों पुत्रों की घात और अंत में उसकी (माता की) घात करने को तत्पर होने और माता को बचाने के लिए उसे पकड़ने के लिए उठने की बात कही, तो माता समझ गई और बोली--"पुत्र ! किसी मिथ्यात्वी देव से तुम्हें उपसर्ग हुआ है, या तेने वैसा दृश्य देखा है। तेरे तीनों पुत्र जीवित हैं। तुम आश्वस्त होओ और अपने नियम एवं पौषध के भंग होने की आलोचना कर के प्रायश्चित्त ले कर शुद्ध हो जाओ।"

चुलनीपिता ने आलोचना की और प्रायश्चित्त कर के शुद्ध हुआ। इसने भी प्रतिमाओं का पालन कर के अनशन किया। एक मास का संथारा कर सौधर्म स्वर्ग में, चार पल्योपम आयुवाला देव हुआ, यावत् महाविदेह में मुक्ति प्राप्त करेगा।

सुरादेव श्रमणोपासक

वाराणसी का 'सुरादेव' श्रावक भी सम्पत्तिशाली था। इसके छह-छह कोटि द्रव्य निधान, व्यापार और गृहविस्तार में लगा था। छह गोवर्ग थे। धन्या भार्या थी। यह भी भगवान् का उपासक था। चुलनीपिता के समान उसके समक्ष भी देव उपस्थित हुआ। तीनों पुत्रों को मार कर उनके रक्त-मांस को पका कर उसके देह का सिंचन किया था। अंत में उसके स्वयं के शरीर में एक साथ सोलह महारोग उत्पन्न करने का भय बताया। इस भय

से विचलित हो कर वह उसे पकड़ने के लिए उठा, तो खंभा हाथ में आया। पत्नी धन्या के कहने पर वह आश्वस्त हुआ और प्रायश्चित्त किया। यह भी पूर्ववत् सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ और महाविदेह में मनुष्य होकर मुक्ति प्राप्त करेगा।

चुल्लशतक श्रावक

आलभी में 'चुल्लशतक' गृहपति था। उसकी भार्या का नाम बहुला था। उसके पास भी छः छः कोटि द्रव्य पूर्ववत् था। भ० महावीर से प्रतिबोध पा कर वह भी धर्म-साधक बना और प्रतिमा का पालन करने लगा। उसे भी देवोपसर्ग, पुत्रों के घात तक वैसा ही हुआ। अंत में धन-हरण कर कंगाल बना देने की धमकी पर विचलित हुआ। यह भी सौधर्मकल्प में चार पल्योपम स्थिति वाला देव हुआ और महाविदेह में मनुष्य-भव पा कर सिद्ध होगा।

श्रमणोपासक कुण्डकोलिक का देव से विवाद

कम्पिलपुर में 'कुण्डकोलिक' श्रमणोपासक रहता था। उसकी सम्पत्ति अठारह करोड़ सोनैये की पूर्ववत् तीन भागों में लगी हुई थी। साठ हजार गायों के छह वर्ग थे। भगवान् महावीर प्रभु का उपदेश सुन कर कुण्डकोलिक ने भी श्रावक व्रत धारण किये। उसके 'पूषा' नाम की भार्या थी। कालान्तर में कुण्डकोलिक अशोकवाटिका में आया और अपनी नामांकित मुद्रिका तथा उत्तरीयवस्त्र पाषाण-पट्ट पर रख कर भगवान् महावीर प्रभु से प्राप्त धर्मप्रज्ञप्ति (सामायिक स्वाध्यायादि) स्वीकार कर तन्मय हुआ। उस समय उसके समक्ष एक देव प्रकट हुआ और शिला पर रखी हुई मुद्रिका और उत्तरीय-वस्त्र उठा लिये और पृथ्वी से ऊपर अंतरिक्ष में खड़ा हो कर कुण्डकोलिक से कहने लगा;—

"हे कुण्डकोलिक ! मंखलीपुत्र गोशालक की धर्मप्रज्ञप्ति ही सुन्दर है, अच्छी है, जिस में उत्थान, कर्म, बल, वीर्य एवं पुरुषकार-पराक्रम की आवश्यकता नहीं मानी गई है। यहाँ सभी भाव नियत (भवितव्यता पर निर्भर) है। किन्तु श्रमण भगवान् महावीर की धर्मप्रज्ञप्ति अच्छी नहीं है। क्योंकि उसमें उत्थान यावत् पुरुषार्थ माना गया है और सभी भावों को अनियत माना गया है ?"

देव का आक्षेप सुन कर कुण्डकोलिक बोला;—

"देव ! यदि गोशालक की मान्यता ठीक है, तो बताओ तुम्हें देवत्व और तत्संबंधी ऋद्धि कैसे प्राप्त हो गई ? बिना पुरुषार्थ किये ही तुम देव हो गये क्या ?

"हां, मुझे बिना पुरुषार्थ किये ही—भवितव्यतावश—देवत्व प्राप्त हुआ है"—देव ने उत्तर दिया।

देव का उत्तर सुन कर श्रमणोपासक ने उसे एक विकट प्रश्न पूछ लिया—

"अच्छा, जब तुम्हें बिना पुरुषार्थ किये—मात्र नियति से ही—दिव्यता प्राप्त हो गई, तो जिन जीवों में पुरुषार्थ दिखाई नहीं देता, उन पृथिवी एवं वृक्षादि स्थावर जीवों को देव-भव और दिव्य-ऋद्धि क्यों नहीं प्राप्त हुई ?"

इस तर्क ने देव की बोलती बन्द कर दी। उसका मत डिग गया। अपने स्वीकृत मत में उसे सन्देह उत्पन्न हो गया। वह कुतर्की और हठाग्रही नहीं था। वह पूर्वभव में गोशालक-मति रहा होगा अथवा गोशालक का मत उसे ठीक लगा होगा। अपने मत को ठीक सत्य और सर्वोत्तम मान कर ही वह एक प्रभावशाली मनुष्य को समझाने आया था। अपना मत व्यापक बनाने के विचार से वह भगवान् महावीर के प्रतिष्ठित उपासक के पास आया होगा। किन्तु कुण्डकोलिक श्रमणोपासक के सशक्त तर्क ने उसके विश्वास की जड़ हिला दी। वह शंकित हो गया और चुपचाप मुद्रिका और उत्तरीय-वस्त्र यथास्थान रख कर चलता बना।

त्रिलोकपूज्य परम तारक भगवान् महावीर प्रभु का उस नगर में पदार्पण हुआ। कुण्ड-कोलिक भी भगवान् को वन्दन करने गया। धर्मोपदेश के पश्चात् भगवान् ने कुण्डकोलिक से पूछा—

"कुण्डकोलिक ! कल अशोकवाटिका में तुम्हारे पास गोशालक-मति देव आया था और वह निरुत्तर हो कर लौट गया। क्या यह बात सत्य है ?"

"हां, भगवन् ! सत्य है"—उपासक ने नतमस्तक हो कर कहा।

भगवान् ने निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को सम्बोधित कर कहा—"तुम तो द्वादशांग के ज्ञाता हो। तुम्हें भी प्रसंग उपस्थित होने पर अन्यतीर्थी को अपनी धर्मप्रज्ञप्ति, हेतु एवं युक्तियों से समझा कर प्रभावित करना चाहिए।" निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिनी ने भगवान् के कथन को 'तहत्ति' कह कर शिरोधार्य किया।

कुण्डकोलिक श्रमणोपासक ने भी ग्यारह प्रतिमाओं का पालन किया और बीस वर्ष की श्रावकपर्याय पाल कर अनशन कर सौधर्म स्वर्ग के अरुणध्वज विमान में चार

पम की स्थिति वाला देव हुआ। वहाँ से च्यव कर महाविदेह में मनुष्य होगा और संयम पाल कर मुक्त हो जायगा।

श्रमणोपासक सद्दालपुत्र कुंभकार

पोलासपुर नगर में 'सद्दालपुत्र' नाम का कुंभकार रहता था। वह 'आजीविकोपासक' (गोशालकमति) था। आजीविक सिद्धांत का वह पंडित था। इस मत पर उसकी पूर्ण श्रद्धा थी। वह अपने इस मत को ही परम श्रेष्ठ मानता था। वह तीन कोटि स्वर्ण-मुद्रा का स्वामी था और दस हजार गायों का एक गोवर्ग उसके पास था। नगर के बाहर उसके मिट्टी के बरतनों की पाँच सौ दुकाने थी। उन दुकानों में बहुत-से मनुष्य कार्य करते थे। उन कार्यकर्ताओं में कई भोजन पा कर ही काम करते थे, कई दैनिक पारिश्रमिक पर थे और कइयों को स्थायी वेतन मिलता था। वे लोग घटक, अर्ध घटक, गडुक, कलश, अलिंजर, जम्बूलक आदि बनाते थे और नगर के राजपथ पर ला कर बेचते थे।

सद्दालपुत्र के 'अग्निमित्रा' नाम की सुन्दर पत्नी थी। एकदा सद्दालपुत्र मध्यान्ह के समय अशोकवाटिका में गोशालक की धर्म-प्रज्ञप्ति का पालन कर रहा था, तब उसके समीप अंतरिक्ष में एक देव उपस्थित हुआ और बोला—

"सद्दालपुत्र ! कल यहाँ सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, भूत-भविष्य और वर्त्तमान के समस्त भावों के ज्ञाता त्रिलोक-पूज्य, देवों इन्द्रों और मनुष्यों के लिये वन्दनीय, पूजनीय, सम्माननीय एवं पर्युपासनीय जिनेश्वर भगवंत पधारेंगे। तुम उन महान् पूज्य की वन्दना करना, उनका सत्कार-सम्मान करना और उन्हें पीठ-फलकादि का निमन्त्रण देना।" इस प्रकार दो-तीन बार कह कर देव अन्तर्धान हो गया।

देव का कथन सुन कर सद्दालपुत्र ने सोचा—"कल मेरे धर्माचार्य मंखलीपुत्र गोशालक आने वाले हैं। देव इसी की सूचना देने आया था।" किन्तु दूसरे दिन श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पधारे। सद्दालपुत्र ने सुना, तो वह भगवान् को वन्दन करने—सहस्राम्र वन उद्यान में गया और वन्दना-नमस्कार किया। भगवान् ने धर्मोपदेश दिया तत्पश्चात् गत दिवस देव द्वारा भगवान् के आगमन का भविष्य बता कर वन्दना करने की प्रेरणा देने का रहस्य प्रकट कर पूछा, तो सद्दालपुत्र ने कहा—"हां, भगवन् ! सत्य है। देव ने मुझ-से कहा था।"

भगवान् ने पुनः कहा--"सद्दालपुत्र ! देव ने तुम्हें तुम्हारे धर्मगुरु गोशालक के विषय में नहीं कहा था।"

भगवान् की बात सुन कर सद्दालपुत्र समझ गया कि "देव ने इन भगवान् महावीर स्वामी के विषय में ही कहा था। ये ही सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हैं। मुझे इन्हें पीठ-फलकादि के लिए आमन्त्रण देना चाहिए।" वह उठा वन्दना-नमस्कार कर के बोला;--"भगवन् ! नगर के बाहर मेरी पाँच-सौ दुकाने हैं। वहाँ से आप अपने योग्य पीठ-संस्तारक आदि प्राप्त करने की कृपा करें।" भगवान् ने सद्दालपुत्र की प्रार्थना स्वीकार की और प्रासुक पडिहारे पीठ आदि प्राप्त किये।

भगवान् और सद्दालपुत्र की चर्चा

एकवार सद्दालपुत्र गीले वरतनों को सुखाने के लिए बाहर रख रहा था, तब श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने उससे पूछा--"ये भाण्ड कैसे उत्पन्न हुए ?"

सद्दालपुत्र, देव से प्रेरित हो कर और भगवान् के अतिशय एवं सर्वज्ञतादि गुण देख कर प्रभावित एवं भक्तिमान् तो हुआ ही था, परन्तु अब तक वह अपने नियति-वाद से मुक्त नहीं हुआ था। इसलिए अपने सिद्धांत का बचाव करता हुआ बोला;--

"भगवन् ! पहले मिट्टी थी, फिर पानी से इसका संयोग हुआ, तत्पश्चात् इसमें क्षार (राख) मिलाई गई, तदनन्तर चक्र पर चढ़ कर भाण्ड बने।"

"सद्दालपुत्र ! वरतन बनने में उत्थान यावत् पुरुषार्थ हुआ, या बिना पुरुषार्थ के ही--केवल नियति से--वरतन बन गए"--भगवान् ने पूछा।

"भगवन् ! इसमें उत्थानादि की क्या आवश्यकता है ? सब कुछ जैसा बनना था, वैसा बन गया"--सद्दालपुत्र ने नियतिवाद की रक्षा करते हुए उत्तर दिया।

भगवान् ने सद्दालपुत्र के मिथ्यात्व विष को हटाने के लिए अंतिम हृदयस्पर्शी प्रश्न किया--

"सद्दालपुत्र ! यदि कोई पुरुष तुम्हारे इन बरतनों को चुरावे, हरण करे, तोड़-फोड़ करे और तुम्हारी अग्निमित्रा भार्या के साथ दुराचार सेवन करने का प्रयत्न करे, तो ऐसे समय तुम क्या करोगे ? क्या तुम उसे दण्ड दोगे ?"

"भगवन् ! मैं उस दुष्ट पुरुष की भर्त्सना करूँगा, उसे पीटूंगा, उसके हाथ-पाँव तोड़ दूंगा और अन्त में उसे प्राण-रहित कर के मार डालूंगा"--सद्दालपुत्र ने कहा।

--"ऐसा करना तो तुम्हारे नियतिवाद के विरुद्ध होगा। जब सभी घटनाएँ नियति के अनुसार ही होती है, उनमें मनुष्य का प्रयत्न कारण नहीं बनता, तो तुम उस पुरुष को दण्डित कैसे कर सकते हो ? तुम्हारे मत से तो कोई भी मनुष्य चोरी नहीं करता, न तोड़-फोड़ कर सकता है और न तुम्हारी भार्या के साथ दुराचार सेवन करने का प्रयत्न कर सकता है। जो होता है, वह सब नियति से ही होता है, तब किसी पुरुष को अपराधी मान कर दण्ड देने का औचित्य ही कहाँ रहता है ? यदि तुम उस पुरुष को अपराधी मान कर दण्ड देते हो, तो यह तुम्हारे मत के विरुद्ध होगा और तुम्हारा सिद्धांत मिथ्या ठहरेगा ?"

भगवान् के इन वचनों ने सद्दालपुत्र का मिथ्यात्व रूपी महाविष धो डाला। वह समझ गया। उसने निर्ग्रन्थधर्म स्वीकार कर लिया और आनन्द श्रमणोपासक के समान वह भी व्रतधारी श्रमणोपासक बन गया। उसकी अग्निमित्रा भार्या भी श्रमणोपासिका बन गई। भगवान् ने पोलासपुर से विहार कर दिया।

गोशालक निष्फल रहा

सद्दालपुत्र के आजीविक-मत त्याग कर निर्ग्रन्थधर्मी होने की बात गोशालक ने सुनी, तो उसने सोचा कि यह बहुत बुरा हुआ। मैं जाऊँ और उससे निर्ग्रन्थ-धर्म का वमन करवा कर पुनः आजीविकधर्मी बनाऊँ। वह चल कर पोलासपुर आया और सद्दालपुत्र के निवास की ओर गया। गोशालक को अपनी ओर आता देख कर सद्दालपुत्र ने मुँह फिरा लिया। उसने गोशालक की ओर देखा ही नहीं। जब गोशालक ने उसकी उपेक्षा देखी, तो स्वयं बोला। उसकी उपेक्षा मिटाने के लिए भगवान् महावीर की प्रशंसा करते हुए कहा;--

"सद्दालपुत्र ! यहाँ 'महा माहन' आये थे ?"

"किन महा माहन के विषय में पूछ रहे हैं आप"--सद्दालपुत्र का प्रश्न।

"मैं श्रमण-भगवान् महावीर स्वामी के लिए पूछ रहा हूँ।"

"आप श्रमण-भगवान् महावीर स्वामी को 'महा माहन' किस अभिप्राय से कहते हैं"--सद्दालपुत्र ने स्पष्टीकरण चाहा।

"श्रमण भगवान् महावीर स्वामी केवलज्ञान-केवलदर्शन के धारक हैं। वे तीनों लोक में पूज्य हैं। देवेन्द्र-नरेन्द्रादि उनकी वन्दना करते हैं। अतएव वे महा माहन हैं"--गोशालक ने भगवान् की महानता कह सुनाई।

"देवानुप्रिय सद्दालपुत्र ! यहाँ 'महागोप' पधारे थे क्या"--अब 'महागोप' का दूसरा विशेषण देते हुए गोशालक ने पूछा ।

"महागोप कौन हैं ?"

"श्रमण भगवान् महावीर महागोप (ग्वाल) हैं । वे संसार रूपी भयंकर महा वन में भटक कर दुःखी होते हुए कटते, कुचलते, त्रास पाते और नष्ट होते हुए असहाय जीव रूपी गौओं को अपने धर्ममय दण्ड से रक्षण करते हुए मुक्ति रूपी महान् सुरक्षित वाड़े में पहुँचा देते हैं । इसलिए वे महागोप हैं"--गोशालक ने सद्दालपुत्र को प्रसन्न करने के लिए कहा ।

"यहाँ महासार्थवाह पधारे थे ?"

"आपका प्रयोजन किन महासार्थवाह से है ?"

"श्रमण भगवान् महावीर महा सार्थवाह हैं । संसाराटवी में दुःखी हो कर नष्ट एवं लुप्त होते हुए भव्य जीवों को धर्म-मार्ग पर अपने संरक्षण में चलाते हुए मोक्ष महा-पत्तन में सुखपूर्वक पहुँचाते हैं । इसलिए वे महासार्थवाह हैं"—गोशालक सद्दालपुत्र के हृदय को अपनी ओर खिचना चाहता था ।

"इस नगर में धर्म के 'महाप्रणेता' आये थे ?"

"किन महान् धर्मप्रणेता से प्रयोजन है आपका ?"

"भगवान् महावीर महान् धर्म-प्रणेता (धर्मकथक) हैं । संसार-महार्णव में नष्ट-विनष्ट, छिन्न-भिन्न एवं लुप्त करने वाले कुमार्ग में जाते और मिथ्यात्व के उदय से अष्ट-कर्म रूपी महा वन्धनों में वन्धते हुए पराधीन जीवों को विविध प्रकार के हेतुओं से युक्त धर्मोपदेश दे कर संसार-महार्णव के दुर्गम प्रदेश से पार करते हैं । इसलिए भगवान् महावीर स्वामी महाधर्मकथी हैं ।"

"महान् 'निर्यामक' का पदार्पण हुआ था यहाँ ?"

"आप का अभिप्राय किन महानिर्यामक से है ?"

"श्रमण-भगवान् महावीर स्वामी संसार रूपी महा समुद्र में डूबते, गोते खाते और नष्ट-विनष्ट होते हुए भव्य जीवों को धर्मरूपी महान् नौका में बिठा कर निर्वाण रूपी अनन्त सुखप्रद तीर पर सुरक्षित पहुँचाने वाले हैं । इसलिये महान् निर्यामक हैं ।"

अपने परम आराध्य परम तारक भगवान् का गुण-कीर्तन, उनके प्रतिस्पर्द्धी गोशालक के मुँह से सुन कर सद्दालपुत्र प्रसन्न हुआ । उसने गोशालक की योग्यता, सरलता एवं हार्दिक स्वच्छता नापने के लिए कहा; —

"देवानुप्रिय ! आपका कथन सत्य है। श्रमण भगवान् महावीर प्रभु ऐसे ही हैं, वरन् इससे भी अधिक हैं। और आप समयज्ञ हैं, चतुर हैं, निपुण हैं और अवसर के अनुसार कार्य करने वाले हैं। परन्तु क्या आप श्रमण-भगवान् महावीर स्वामी से धर्मवाद करने के लिए तत्पर हैं ?"

--"नहीं, मैं भगवान् से वाद नहीं कर सकता"--गोशालक ने अपनी अशक्ति बतला दी।

"आप भगवान् से धर्मवाद क्यों नहीं कर सकते ?"

"जिस प्रकार एक महाबलवान् दृढ़ शरीरी निरोग एवं हृष्टपुष्ट मल्ल युवक किसी बकरे, मेढ़े, मुर्गे, तीतर आदि की टांग, गला आदि पकड़ कर निस्तेज, निष्पन्दित और निश्चेष्ट कर देता है, दबोच लेता है, उसे हिलने भी नहीं देता। उसी प्रकार श्रमण-भगवान् महावीर स्वामी अनेक प्रकार के हेतु दृष्टांत व्याकरण और अर्थों से मेरे प्रश्नों को खण्डित कर मुझे निरुत्तर कर देते हैं। इसलिए हे सद्दालपुत्र ! मैं श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से वाद करने में समर्थ नहीं हूँ।"

गोशालक की बात सुन कर सद्दालपुत्र श्रमणोपासक ने कहा--

"आपने मेरे धर्मगुरु धर्माचार्य श्रमण-भगवान् महावीर स्वामी के सत्य-तथ्य पूर्ण एवं यथार्थ गुणों का कीर्तन किया है। इसलिये मैं आपको पाडिहारिक पीठफलकादि ग्रहण करने का निमन्त्रण देता हूँ। किन्तु यह स्मरण रखिए कि मैं जो पीठ-फलकादि दे रहा हूँ, वह धर्म या तप समझ कर नहीं दे रहा हूँ। आप जाइए और मेरी कुम्भकारापण जा कर पीठादि ले लीजिये।"

गोशालक चला गया। वह सद्दालपुत्र के कुम्भकारापण में रह कर उससे सम्पर्क करता रहा और अनेक प्रकार से समझा-बुझा कर अपने मत में लौटाने की चेष्टा करता रहा, परन्तु वह सफल नहीं हो सका। अंत में निराश हो कर चला गया। सद्दालपुत्र जैसे प्रभावशाली उपासक के निकल जाने से गोशालक-मत को विशेष क्षति पहुँची।

सद्दालपुत्र चौदह वर्ष से कुछ अधिक काल तक गृहस्थ सम्बन्धी कार्यों में संलग्न रहते हुए श्रावक-व्रतों का पालन करता रहा। इसके बाद वह पौषधशाला में गया और प्रतिमा का पालन करने लगा। कभी रात्रि में उसके समक्ष भी एक देव उपस्थित हुआ। उसने सद्दालपुत्र श्रमणोपासक को विचलित करने के लिए चुल्लनीपिता श्रावक के समान उसके पुत्रों को मार कर रक्तमांस से देह सिंचने का उपसर्ग दिया। इसके बाद जब देव उसकी 'धर्मसहायिका,' 'धर्म-रक्षिका,' 'सुखदुःख की साथिन' अग्निमित्रा पत्नी को

मारने को तत्पर हुआ, तब वह स्थिर नहीं रह सका और उस अनार्य पुरुष को पकड़ने के लिए उसे ललकारता हुआ उठा। देव अदृश्य हो गया। उसकी ललकार सुन कर अग्निमित्रा जाग्रत हुई। उसने सद्दालपुत्र का भ्रम मिटाया और आलोचनादि से शुद्धि करवाई। शेष वर्णन पूर्ववत् है यावत् मुक्ति प्राप्त करेगा।

महाशतक श्रमणोपासक

राजगृह में 'महाशतक' नाम का गाथापति रहता था। वह चौबीस कोटि स्वर्ण-मुद्राओं के धन का स्वामी था। अस्सी सहस्र गायों के आठ गोवर्ग का उसका गोधन था। उसके रेवती आदि तेरह पत्नियां थीं, जो सर्वांग सुन्दर थी। इनमें से रेवती अपने पितृगृह से आठ करोड़ का स्वर्ण और आठ गोवर्ग लाई थी और शेष बारह पत्नियें एक-एक करोड़ का धन और एक-एक गोवर्ग लाई थी। महाशतक उन सब के साथ भोग-भोगता हुआ विचरता था। भगवान् महावीर प्रभु के उपदेश से महाशतक भी व्रतधारी श्रावक बन गया। उसने चतुर्थव्रत में अपनी तेरह पत्नियों के अतिरिक्त मैथुन सेवन का त्याग किया।

रेवती की भोगलालसा और क्रूरता

रेवती ने सोचा—'मेरी बारह सौतें हैं। मैं पति के साथ इच्छानुसार भोग नहीं भोग सकती। इसलिए मैं किसी भी प्रकार इन्हें मार दूँ, तो इन सब का धन भी मेरा हो जायगा और पति के साथ मैं अकेली ही भोग भोगती रहूँगी।' उसने अपनी छः सौतों को तो शस्त्र-प्रहार से मार डाली और छः को विष-प्रयोग से। और उन सब की सम्पत्ति तथा गोवर्ग अपने अधिकार में ले लिये। फिर महाशतक के साथ अकेली भोग भोगने लगी।

रेवती मांसभक्षिणी और मदिरा-पान करने वाली थी। मांस-मदिरा और विषय सेवन ही उसके जीवन का उद्देश्य और कार्य था। वह इन्हीं में गृद्ध रहती थी।

राजगृह के महाराजाधिराज श्रेणिक ने अमारि (पशु-पक्षी हिंसा का निषेध) घोषणा करवाई। मांस-लोलुपा रेवती के लिए यह घोषणा असह्य हो गई। मांस-भक्षण किये बिना उसे संतोष नहीं होता था। वह अपने मायके के सेवकों द्वारा अपने मायके से प्राप्त गोवर्ग में से दो बछड़े प्रतिदिन मरवा कर मँगवाने लगी और उनका मांस खा कर तृप्त होने लगी।

महाशतक श्रावक भी चौदह वर्ष के बाद अपने ज्येष्ठ पुत्र को गृहभार सौंप कर पौषधशाला में गया और प्रतिमा का पालन करने लगा।

कामासक्त रेवती, पति के पास पौषधशाला में पहुँची और मोह एवं मदिरा की मादकता में डोलती हुई बोली--

"ओ धर्मात्मा ! आप धर्म और पुण्य लाभ के लिये यहाँ आ कर साधना कर रहे हो, परन्तु इससे क्या पाओगे ? सुख ही के लिए धर्म करते हो न ? जो सुख मैं आपको दे रही हूँ, उस प्रत्यक्ष प्रस्तुत सुख से बढ़ कर अधिक क्या पा सकोगे—इस कष्ट-क्रिया से ? चलो उठो। मैं आप को समस्त सुख अर्पण कर रही हूँ।"

उसने दो-तीन बार कहा, परन्तु साधक अपनी साधना में लीन रहे। उन्होंने रेवती की ओर देखा ही नहीं। वह निराश होकर लौट गई।

महाशतक श्रमणोपासक ने आनन्द के समान ग्यारह प्रतिमाओं का पालन किया। जब तपस्या से शरीर जर्जर हो गया, तो उसने भी आमरणान्त संथारा कर लिया। शुभ ध्यान में रत होने से उसके अवधिज्ञानावरणीय कर्मों का क्षयोपशम हुआ और उसे अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया। वह लवण-समुद्र में चारों दिशाओं में एक-एक हजार योजन तक देखने लगा। शेष आनन्दवत्।

श्रमणोपासक महाशतक संथारा किये हुए धर्म-ध्यान में रत था कि रेवती पुनः कामोन्माद युक्त होकर उसके निकट आई और भोग प्रार्थना करने लगी। महाशतक उसकी दुष्टता से क्रोधित हो गया। उसने अवधिज्ञान का उपयोग कर रेवती का भविष्य जाना और बोला--

"रेवती ! तू स्वयं अपना ही अनिष्ट कर रही है। अब तू सात रात्रि में ही रोगग्रस्त एवं शोकाकुल होकर मर जायगी और प्रथम नरक के लोलुपाच्युत नरकावास में, चौरासी हजार वर्ष तक महादुःख भोगती रहेगी।"

रेवती समझ गई कि पति मुझ पर रूष्ट है। अब यह मुझ-से स्नेह नहीं करता। कदाचित् यह मुझे बुरी मौत से मार डालेगा। वह डरी और लौट कर अपने आवास में चली गई। उसके शरीर में रोग उत्पन्न हुए और वह दुर्ध्यान में ही मर कर प्रथम नरक में, चौरासी हजार वर्ष की स्थिति में उत्पन्न हो कर दुःख भोगने लगी।

उस समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी राजगृह पधारे। भगवान् ने गौतमस्वामी को महाशतक के समीप भेज कर कहलाया कि—"तुम्हें संथारे में रहे हुए क्रोधित

होकर किसी को भी अनिष्ट एवं कठोर वचन नहीं कहना चाहिये था। तुमने रेवती पर क्रोधित होकर कठोर वचन कहे। इसकी आलोचना करके प्रायश्चित्त कर लो।"

गौतम स्वामी द्वारा भगवान् का सन्देश सुन कर महाशतक ने आलोचना कर के प्रायश्चित्त लिया। महाशतक ने वीस वर्ष श्रमणोपासक पर्याय का पालन कर एक मास के अनशन युक्त काल करके प्रथम स्वर्ग में चार पल्योपम की स्थिति वाला देव हुआ। देवायु पूर्ण कर के महाविदेह में मनुष्य-जन्म पाएगा और चारित्र का पालन कर मुक्ति प्राप्त कर लेगा।

नन्दिनीपिता श्रमणोपासक

श्रावस्ति नगरी का 'नन्दिनीपिता' गाथापति बारह कोटि स्वर्ण और चार गोवर्ग का स्वामी था। 'अश्विनी' उसकी भार्या थी। भगवान् महावीर स्वामी का धर्मोपदेश सुन कर यह भी श्रमणोपासक बना और आनन्द के समान यह भी उपासक-प्रतिमा का पालन कर वीस वर्ष की श्रावक-पर्याय और एक मास का संथारा करके प्रथम स्वर्ग में चार पल्योपम की स्थिति वाला देव हुआ। यह भी महाविदेह में चारित्र का पालन कर मुक्ति प्राप्त करेगा। इन्हें उपसर्ग नहीं हुआ।

शालेहियापिता श्रमणोपासक

श्रावस्ति नगरी के 'शालिहिया-पिता' गाथापति का चरित्र भी कामदेव श्रावक के समान है। बारहकोटि स्वर्ण और चार गोवर्ग का स्वामी था। 'फाल्गुनी' उसकी भार्या थी। यह भी भगवान् महावीर का उपासक हुआ। परन्तु इसे किसी प्रकार का उपसर्ग नहीं हुआ। यह भी वीस वर्ष श्रावकपन और प्रतिमा का आराधन कर के एक मास के संथारे युक्त काल कर सौधर्म स्वर्ग में चार पल्योपम की स्थितिवाला देव हुआ और महाविदेह में धर्म की आराधना करके मुक्त हो जायगा।

चन्द्र-सूर्यावतरण ×× आश्चर्य दस

त्रिलोक पूज्य भगवान् महावीर प्रभु कौशाम्बी नगरी पधारे। वहां दिन के अंतिम प्रहर में ज्योतिषेन्द्र चन्द्र-सूर्य अपने स्वाभाविक रूप में भगवान् को वन्दन करने

आये उनके तेज से आकाश प्रकाशित रहा। परिषद के कई लोगों को समय व्यतीत होने का भास नहीं हुआ और वहीं बैठे रहे। महासती चन्दनाजी को समय का ज्ञान हो गया था, सो वे उठ कर चले गये। उनके साथ अन्य साध्वियाँ भी चली गई, परन्तु सती मृगावतीजी को दिन होने का भ्रम बना रहा और वे वहीं बैठी रही। जब चन्द्रसूर्य लौट गए और पृथ्वी पर अन्धकार छा गया, तब मृगावतीजी को भान हुआ। वे कालातिक्रम से डरी और समवसरण से उठ कर उपाश्रय आई।

मूल रूप से चन्द्र-सूर्यावतरण अप्रत्याशित होने के कारण श्री गौतम स्वामी को आश्चर्य हुआ। उन्होंने भगवान् से पूछा—

"भगवन् ! चन्द्र-सूर्य का इस प्रकार आगमन अस्वाभाविक है ?

"हां, गौतम ! इसे 'आश्चर्यभूत' कहते हैं। ऐसी आश्चर्यभूत घटनाएँ अनन्तकाल में कभी होती है। इस अवसर्पिणी काल में असाधारण घटनाएँ दस हुई है। यथा—

१ उपसर्ग २ गर्भहरण ३ स्त्री-तीर्थङ्कर ४ अभावित परिषद ५ वासुदेव का अपरकंका गमन ६ चन्द्र-सूर्य अवतरण ७ हरिवंशोत्पत्ति ८ चमरोत्पात ९ अष्टशत सिद्ध और १० असंयत-पूजा।

१ तीर्थङ्कर भगवान् को उपसर्ग नहीं होते। परन्तु भगवान् महावीर प्रभु को गोशालक ने उपसर्ग किया ×।

२ तीर्थङ्कर भगवान् का माता के गर्भ से संहरण नहीं होता। किन्तु भगवान् महावीर के गर्भ का देवानन्दाजी की कुक्षि से हरण कर के महारानी त्रिशलादेवी की कुक्षि में रखा गया।

३ पुरुष ही तीर्थङ्कर होते हैं, स्त्री नहीं होती। परन्तु उन्नीसवें तीर्थङ्कर श्रीमल्लिनाथजी स्त्री-पर्याय से तीर्थङ्कर हुए।

४ तीर्थंकर भगवान् की प्रथम देशना खाली नहीं जाती, कोई सर्वविरत हो कर दीक्षित होता ही है। परन्तु भगवान् महावीर की प्रथम देशना में किसी ने अनगार-धर्म ग्रहण नहीं किया।

५ एक वासुदेव दूसरे वासुदेव से नहीं मिलते। परन्तु श्री कृष्णवासुदेव का धातकी खण्ड के कपिल वासुदेव से ध्वनि-मिलन हुआ। श्रीकृष्ण वासुदेव द्रौपदी को लेने धातकी खण्ड की अपरकंका नगरी गये थे।

६ चन्द्र-सूर्य का स्वाभाविक रूप में अवतरण।

× यह प्रसंग आगे आने वाला है।

७ हरिवंश कुलोत्पत्ति—'हरि' नाम के युगलिक की वंश-परंपरा चलना (यह प्रसंग पहले आ चुका है)।

८ चमरोत्पात– चमरेन्द्र का सौधर्म स्वर्ग में जा कर उपद्रव करना। (यह वर्णन भी आ चुका है)।

९ अष्टशतसिद्ध – एक समय में उत्कृष्ट अवगाहना वाले १०८ मनुष्यों का सिद्ध होना। यह घटना भगवान् ऋषभदेवजी से सम्बन्धित है। वे स्वयं ९८ पुत्र और ९ पौत्र एक साथ सिद्ध हुए थे।

१० असंयत पूजा—नौवें तीर्थंकर भगवान् सुविधिनाथजी के मुक्ति प्राप्त करने के बाद और दसवें तीर्थंकर भगवान् शीतलनाथजी के पूर्व श्रमण-परम्परा का विच्छेद हो गया था और असंयतीजनों की पूजा-सत्कार और द्रव्य भेंट होने लगे। गृहदान, गोदान, अश्वदान, स्वर्णदान, भू-दान, यावत् कन्यादान आदि का प्रचार कर स्वार्थ साधने लगे। इनकी पुष्टि के लिये नये-नये शास्त्र रच लिये। इस प्रकार असंयती पूजा चली।

उपरोक्त बातें अनहोनी नहीं है, किन्तु जिस रूप में घटित हुई, वे अस्वाभाविक है। इसलिये आश्चर्यकारी है। जैसे—

उपसर्ग होना असंभवित नहीं, मनुष्यों पर उपसर्ग होते ही रहते हैं। परन्तु सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवान् पर उपसर्ग होना आश्चर्यजनक है। इसी प्रकार भावी तीर्थंकर के गर्भ का साहरण, आदि सभी अन्य रूप में तो अघटित नहीं, किन्तु उस रूप में अनन्त काल में कभी होने के कारण आश्चर्यकारी होती है।

महासती चन्दनाजी और मृगावतीजी को केवलज्ञान

छत्तीस सहस्र साध्वियों की नायिका आर्या चन्दनबाला महासतीजी ने सती मृगावतीजी को उपालम्भ देते हुए कहा—

"मृगावती ! तुम उच्च जाति-कुल सम्पन्न हो और उत्तम आचार-धर्म का पालन करने वाली मर्यादावंत साध्वी हो। तुम्हें रात के समय अकेली बाहर रहना नहीं चाहिये।'

गुरुणीजी का उपालंभ सुन कर आर्या मृगावतीजी ने अपने को अपराधिनी माना और बार-बार क्षमा याचना करने लगी। सतीजी को अपनी असावधानी पर खेद होने लगा। यद्यपि वे भगवान् की वाणी और उसके चिन्तन में लीन होने के कारण तथा दिन

जैसा प्रकाश बना रहने से उन्हें समय व्यतीत होने की स्मृति नहीं रही थी। इसी से वहाँ बैठी रही थी और अनजान में ही काल व्यतीत हुआ था, फिर भी दोष तो लग ही गया था। वे अपने अज्ञान पर खेद करती हुई धर्मध्यान के 'अपाय विचय' भेद का चिन्तन करती हुई 'विपाक विचय' पर पहुँची। एकाग्रता बढ़ने पर अपूर्वकरण कर के शुक्लध्यान में प्रविष्ट हो गई और घातीकर्मों को क्षय कर के केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर लिया। वे सर्वज्ञसर्वदर्शी बन गई। उस समय महासती आर्या चन्दनाजी निद्रा ले रही थी और उनके निकट हो कर एक विषधर जा रहा था। निकट ही अन्य साध्वी का संथारा था। आर्या चन्दनाजी के हाथ से सर्प का मार्ग रुका हुआ था। यह स्थिति आर्या मृगावतीजी ने केवलज्ञान से जानी और अपनी गुरुणीजी का हाथ उठा कर सर्प के लिए मार्ग बना दिया। महासती चन्दनाजी जाग्रत हो गई। उन्होंने पूछा — "मेरा हाथ किसने उठाया ?"

— "मैंने ! आपके निकट हो कर सर्प जा रहा था। सर्प का मार्ग आपके हाथ से रुका हुआ था। इसलिए मैंने उसे मार्ग देने के लिए आपका हाथ उठाया।"

—"इस घोर अन्धकार में तुमने काले नाग को कैसे देख लिया ? क्या तुम्हें विशिष्ट ज्ञान हुआ है"—विस्मय-पूर्वक महासती चन्दनाजी ने पूछा

—"हां, आपकी कृपा से मुझे केवलज्ञान-केवलदर्शन हुआ है।"

"अहो, मैंने वीतराग केवली की आशातना की। मुझे धिक्कार है"—इस प्रकार वे भी अपने अज्ञान—अपाय, का चिन्तन करती हुई अपूर्वकरण कर के शुक्ल-ध्यान में पहुँची और केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न कर लिया।

जिनप्रलापी गोशालक

श्रावस्ति नगरी में 'हालाहला' नाम की कुंभकारिन रहती थी। वह वैभवशालिनी थी। गोशालक के आजीविक मत की वह परम उपासिका थी और अपने मत में पंडिता थी। आजीवक मत उसके रोम-रोम में बसा हुआ था। अपने मत को वह परम श्रेष्ठ मानती थी और अन्यमतों को अनर्थकारी समझती थी। गोशालक उसके कुंभकारापण में रह कर अपने धर्म का प्रचार कर रहा था *। गोशालक की दीक्षा-पर्याय का यह चौबी-

* इससे पूर्व का वर्णन पृ. १८६ से हुआ है।

गोशालक ने आनन्द स्थविर को देखा और अपने निकट बुला कर कहा--"आनन्द ! तू मेरा एक दृष्टांत सुन; —

"बहुत काल पूर्व वणिकों का एक समूह धन प्राप्ति के लिए विदेश जाने के लिए घर से निकला। एक महा अटवी में चलते हुए उनका साथ लाया हुआ पानी समाप्त हो गया और अटवी में उन्हें कहीं पानी दिखाई नहीं दिया। वे लोग पानी की खोज करने लगे। उन्हें वृक्षों के समूह में एक बाँबी दिखाई दी। उसके पृथक्-पृथक् शिखर के समान चार विभाग ऊँचे उठे हुए थे। उस बाँबी और शिखर को देख कर वणिक प्रसन्न हुए। उन्होंने परस्पर विचार कर निर्णय किया कि "अपन पूर्वदिशा के शिखर को तोड़ डालें। इसमें से अच्छा पानी निकलेगा।" उन्होंने एक शिखर को तोड़ा। उसमें से अच्छा एवं स्वादिष्ट पानी निकला। उन लोगों ने स्वयं पानी पिया, बैलों को पिलाया और अपने पात्र भर लिये। तत्पश्चात् उन्होंने परस्पर विचार कर दक्षिण का शिखर तोड़ा, तो उसमें से उन्हें पर्याप्त स्वर्ण मिला। वे प्रसन्न हुए और जितना ले सकते थे, लिया। उन्होंने तीसरा पश्चिम वाला शिखर तोड़ कर मणि-रत्न प्राप्त किये। उनका लोभ बढ़ता गया। उन्होंने चौथे शिखर को भी तोड़ने का विचार किया। उन्हें विश्वास था कि उसमें से महा मूल्यवान् वज्र-रत्न निकलेंगे। जब वे चौथे शिखर को तोड़ने का निश्चय करने लगे, तो उनमें से एक बुद्धिमान् विचारक बोला;--

"बन्धुओं ! अधिक लोभ हानिकारक होता है। हमें पर्याप्त पानी मिल गया, जिससे हमारा जीवन बच गया, स्वर्ण और मणि-रत्न भी मिल गए। अब इसी से संतोष करना चाहिए। अधिक लोभ अनिष्टकारी होता है।"

साथी नहीं माने। उन्होंने चौथा शिखर तोड़ा। उसमें से भयंकर दृष्टि-विष सर्प निकला। सर्प ने शिखर पर चढ़ कर सूर्य की ओर देखा। उसके बाद उसने व्यापारी वर्ग को महा क्रोधित दृष्टि से देखा। बस, उसकी वह दृष्टि उन वणिकों का काल बन गई। वे सब भस्म हो गये। उनमें से एक मात्र वही वणिक बचा, जिसने चौथा बिंब तोड़ने से उन साथियों को रोका था। देव ने उसे अपने भण्डोपकरण सहित उसके नगर पहुँचा दिया।"

उपरोक्त दृष्टांत पूर्ण करते हुए गोशालक ने आनन्द स्थविर से कहा--"आनन्द ! तेरे धर्म-गुरु धर्माचार्य श्रमण ज्ञातपुत्र बड़े महात्मा बन गए हैं। देवों और मनुष्यों के वे वन्दनीय हो गए हैं। लोगों से वे बहुत प्रशंसित हुए हैं। उन्हें इतने से ही संतुष्ट रहना चाहिए। यदि मुझ-से वे आज कुछ भी कहेंगे, तो मैं उन्हें परिवार सहित उसी प्रकार भस्म कर दूंगा, जिस प्रकार सर्पराज ने वणिकों को किया था। परंतु मैं तुझे नहीं मारूँगा। तेरा

रक्षण करूँगा । जा, तू तेरे धर्माचार्य से मेरी बात कह दे ।"

श्रमणों को मौन रहने का भगवान् का आदेश

गोशालक की बात सुन कर आनन्द स्थविर डरे । वे भगवान् के समीप आये और गोशालक की बात सुना कर पूछा—"भगवन् ! गोशालक में यह शक्ति है कि वह किसी को जला कर भस्म कर दे ?"

"हां, आनन्द ! गोशालक में ऐसी शक्ति है । किन्तु अरिहंत को भस्म करने की शक्ति उसमें नहीं है । हां. वह उन्हें परितापित कर सकता है ।"

गोशालक में जितना तप-तेज है, उससे अनगार भगवंतों में अनन्त गुण तप-तेज है। क्योंकि अनगार भगवत क्षमा करने में सक्षम हैं, और स्थविर भगवंतों से अरिहंत भगवंतों का तप-तेज अनन्त गुण अधिक है । ये भी क्षांतिक्षम हैं ।"

"आनन्द ! तुम जाओ और गौतमादि श्रमण-निर्ग्रंथों से कहो कि गोशालक श्रमण-निर्ग्रंथों के प्रति क्रूर बन गया है । इसलिये उसके साथ उसके मत सम्बन्धी बात नहीं करें ।"

स्थविर महात्मा आनन्दजी ने भगवान् का आदेश सभी श्रमणों को सुना दिया ।

गोशालक का आगमन और मिथ्या प्रलाप

महात्मा आनन्दजी श्रमणों को सावधान कर ही रहे थे कि इतने में क्रोध में धमधमाता हुआ गोशालक आया और भगवान् के निकट खड़ा रह कर बोला;—

"हे आयुष्यमन् काश्यप ! तुम मेरे विषय में प्रचार करते हो कि 'मंखली का पुत्र गोशालक मेरा शिष्य है,'—यह बात मिथ्या है। जो मंखली का पुत्र गोशालक तुम्हारा शिष्य था, वह तो स्वच्छ-एवं पवित्र हो कर देवलोक में देव हुआ है । मैं कौडिन्यायन गौत्रीय उदायी हूँ । मैंने गोतमपुत्र अर्जुन का शरीर त्याग कर के गोशालक के शरीर में प्रवेश किया है । यह मेरा सातवाँ शरीर-प्रवेश है । अतएव तुम्हारा कथन अनुचित है ।'

गोशालक को भगवान् महावीर प्रभु ने कहा,—

"गोशालक ! जिस प्रकार रक्षकों से पराभूत हुआ कोई चोर, छुपने के लिए भाग कर खड्डा, गुफा आदि स्थान प्राप्त नहीं होने पर बाल अथवा तिनके की ओट से अपने

को सुरक्षित समझता है, प्रकट होते हुए भी छुपा हुआ मानता है, इसी प्रकार तू अपनी वास्तविकता छुपाना चाहता है। परंतु तेरा यह प्रयत्न व्यर्थ है। तू वही गोशालक है, जो मेरा शिष्य था, अन्य नहीं।"

भगवान् के वचन गोशालक को सहन नहीं हुए। वह अत्यंत क्रुद्ध हो कर गालियाँ देने लगा और अंत में कहा—"आज तू नष्ट-भ्रष्ट होगा। अब तू जीवित नहीं रह सकता।"

श्रमणों की घात और भगवान् को पीड़ा

सर्वानुभूति अनगार गोशालक के क्रूरतापूर्ण वचन सहन नहीं कर सके। भगवान् का अपमान उन्हें असह्य हुआ। वे उठे और गोशालक के निकट आ कर बोले;—

"हे गोशालक ! जो मनुष्य भगवान् से एक भी आर्य-वचन सुनता है, वह उनका आदर-सत्कार करता है, वन्दना-नमस्कार करता है और पर्युपासना करता है, तो तेरे लिये तो कहना ही क्या ? भगवान् ने तुझे दीक्षित किया, धर्म की शिक्षा दी और तुझे तेजोलेश्या सिखाई, जिसका उपकार मानना तो दूर रहा, तू उन्हीं की भर्त्सना करता है ? तुझे ऐसा नहीं करना चाहिये। तू वही मंखलीपुत्र गोशालक है। तू अपने को छुपा नहीं सकता।"

सर्वानुभूति मुनि के वचन सुन कर गोशालक विशेष भड़का। वह अपने आपको छुपा रहा था, परन्तु सर्वानुभूतिजी ने भी उसे 'गोशालक' ही कहा, तो उस के हृदय में आग लग गई। उसने तेजोलेश्या का प्रयोग कर के मुनि महात्मा को भस्म कर दिया और फिर भगवान् महावीर स्वामी को गालियाँ देने लगा।

गोशालक की क्रूरता सुनक्षत्र अनगार भी सहन नहीं कर सके। उन्होंने भी खड़े होकर सर्वानुभूति अनगार के समान गोशालक से कहा, तो गोशालक ने उन पर भी तेजोलेश्या का प्रहार किया। इस वार उसकी शक्ति न्यून हो गई थी। वह उन्हें तत्काल भस्म नहीं कर सका। महात्मा संभले। उन्होंने भगवान् को वन्दन किया, सभी साधु-साध्वी से क्षमा याचना की और आलोचनादि कर के कायुत्सर्ग युक्त ध्यान करते हुए मृत्यु को प्राप्त हुए।

भगवान् पर किया हुआ आक्रमण खुद को भारी पड़ा

सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि के देहोत्सर्ग के पश्चात् भगवान् ने ही उससे कहा—"गोशालक ! तू अनार्य एवं कृतघ्न मत बन और अपने आप को मत छुपा ! तू वही—मंखलीपुत्र है।"

गोशालक ने भगवान् पर भी वही अस्त्र फेंका, परन्तु वह तेजोलेश्या भगवान् का वध नहीं कर सकी। जिस प्रकार पर्वत को वायु गिरा नहीं सकती, उसी प्रकार मारक शक्ति भी व्यर्थ रही। वह शक्ति इधर-उधर भटकने लगी, फिर भगवान् की प्रदक्षिणा कर के ऊँची उछली और अपना प्रयोग करने वाले--गोशालक के शरीर में प्रविष्ट हो कर उसे ही जलाने लगी। गोशालक अपनी ही तेजोलेश्या से जलता हुआ क्रोधपूर्वक बकने लगा--"काश्यप ! मेरी तेजोलेश्या से झुलसा हुआ तू पित्तज्वर से अत्यंत पीड़ित हो, सात दिन में छद्मस्थ अवस्था में ही मर जायगा।"

भगवान् ने कहा --"गोशालक मैं तो अभी और सोलह वर्ष तक जीवित रह कर केवलज्ञानी तीर्थंकर की स्थिति में ही विचरूँगा। परन्तु तू तो सात दिन में ही अपनी तेजोलेश्या से उत्पन्न पित्तज्वर मे जलता हुआ, छद्मस्थ अवस्था में ही मर जायगा।"

गोशालक धर्मचर्चा में निरुत्तर हुआ

भगवान् ने श्रमण-निर्ग्रंथों को सम्बोधित कर कहा--"आर्यो ! जिस प्रकार घास-फूस आदि में आग लग जाती है और सब जल कर राख का ढेर हो जाता है, उसी प्रकार गोशालक की शक्ति नष्ट-भ्रष्ट हो चुकी है। यह उस मारक-शक्ति से रहित हो गया है। अब तुम इसके साथ धर्मचर्चा कर के निरुत्तर करो।"

श्रमणनिर्ग्रंथों ने गोशालक से प्रश्न पूछे, परन्तु उसका तत्त्वज्ञान से कोई विशेष सम्बन्ध रहा ही नहीं था। उसने शिष्यत्व स्वीकार किया था--मात्र भगवान् की महानता देख कर। संसार से विरक्त हो कर मुक्ति पाने के लिए उसने साधुता स्वीकार नहीं की थी और न उसने आगमिक ज्ञान ही प्राप्त किया था। वह शीघ्र ही निरुत्तर हो गया।

गोशालक ने शिष्य-सम्पदा भी गँवाई

धर्म-चर्चा में निरुत्तर होने पर गोशालक फिर कुपित हुआ, परन्तु अब वह शक्तिहीन हो गया था। अतएव श्रमण-निर्ग्रन्थों का कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सका। गोशालक की सामर्थ्यहीनता देख कर उसके बहुत-से शिष्य उसका साथ छोड़ कर भगवान् के आश्रय में आये, वन्दना-नमस्कार किया और भगवान् का शिष्यत्व स्वीकार कर के रहने लगे, तथा

कई गोशालक के साथ भी रहे ।

गोशालक अपने प्रयत्न में निष्फल रहा । वह हताश हुआ और निःश्वास छोड़ता, बाल नोचता, अपने अंगों को पीटता और पाँव पटकता हुआ वहाँ से निकला और—"हाय-हाय, मैं मारा गया"—बोलता हुआ हालाहला कुम्हारिन के स्थान में आया । अब वह अपना शोक, खेद एवं हताशा भुलाने के लिए मद्यपान करता, गाता, नाचता और अपनी परम उपासिका हालाहला के हाथ जोड़ता हुआ मिट्टी-मिश्रित पानी से शरीर का सिंचन कराने लगा । उसे उसी की तेजोलेश्या के लौट कर शरीर में प्रवेश करने से दाह-ज्वर हो गया था ।

गोशालक अपने दोषों को छुपाने के लिए अष्ट चरम की प्ररूपणा करने लगा । यथा—"१ चरम गान २ चरम पान ३ चरम नाट्य ४ चरम अंजलिकर्म ५ चरम पुष्कल संवर्त्तक महामेघ ६ चरम सेचनक गंध-हस्ति ७ चरम महाशिला-कंटक संग्राम और ८ चरम मैं (गोशालक) इस अवसर्पिणी का चरम तीर्थंकर जो सिद्धबुद्ध और मुक्त होऊँगा ।"

जन-चर्चा

गोशालक का भगवान् के पास पहुँचने, दो साधुओं को भस्म करने आदि घटना की चर्चा नागरिकजनों में इस प्रकार होने लगी—"कोष्टक चैत्य में दो जिन एक-दूसरे पर आक्षेप कर रहे हैं । एक कहता है—"तू पहले मरेगा," और दूसरा कहता है—"तू पहले मरेगा ।" इन दोनों में कौन सच्चा है ?" बुद्धिमान पुरुषों का कहना है कि—"भगवान् महावीर सत्यवादी हैं और गोशालक मिथ्यावादी है ।"

गोशालक-भक्त अयंपुल

उसी श्रावस्ति नगरी में 'अयंपुल' नामक गोशालक का उपासक रहता था । वह भी धनाढ्य एवं समर्थ था और आजीवक मत का परम श्रद्धालु था । वह गोशालक को परम आराध्य मानता था । वह गोशालक को वन्दन-नमस्कार करने हालाहला के संस्थान में आया । उसने दूर से ही गोशालक को आम्रफल हाथ में लिये हुए यावत् हालाहला को बारम्बार अंजलि-कर्म करते हुए और मिट्टीमिश्रित जल का सिंचन करते हुए देखा, तो

लज्जित हुआ। उसके मुख पर उदासी छा गई और वह पीछा लौटने लगा। गोशालक के स्थविरों ने देखा कि अयंपुल शंकाशील हो कर लौट रहा है, तब उन्होंने उसे बुलाया और कहा—

"अयंपुल! धर्माचार्य गोशालक भगवान् आठ चरम, चार पानक और चार अपानक का उपदेश करते हैं। यह इनका निर्वाण होने के पूर्व का उपदेश है और गायन, नृत्य आदि अभी निर्वाण के चिन्ह हैं। तू उनके पास जा। वे तेरी शंका का समाधान कर देंगे।"

अयंपुल गोशालक के पास जाने लगा। स्थविर का संकेत पा कर गोशालक ने आम्रफल को एक ओर डाल दिया। अयंपुल ने निकट आ कर गोशालक को वन्दन-नमस्कार किया। गोशालक ने अयंपुल से पूछा—

"अयंपुल! तुझे रात्रि के पिछले पहर में संकल्प उत्पन्न हुआ था कि—'हल्ला' किस आकार की होती है?"

"हां, भगवन्! सत्य है"—अयंपुल ने कहा।

"अयंपुल! मेरे हाथ में आम्रफल की गुठली नहीं थी, आम्रफल की छाल थी। तू शंका मत कर।"

"अयंपुल! तेरी शंका का उत्तर यह है—हल्ला बांस के मूल के आकार की होती है।

इतना कहने के पश्चात् उन्माद का प्रकोप बढ़ा, तो वह बकने लगा—"हे वीरा! वीणा बजाओ। हे वीरा! वीणा बजाओ।"

प्रतिष्ठा की लालसा

गोशालक समझ गया कि मेरा मरणकाल निकट आ रहा है। उसने स्थविरों को बुला कर कहा—

"जब मैं मृत्यु प्राप्त कर लूं, तब मुझे सुगंधित जल से स्नान करवाना, सुवासित वस्त्र से शरीर पोंछना, गोशीर्षचन्दन का लेप करना, श्वेत वर्ण का उत्तम वस्त्र पहिनाना और सभी अलंकारों से विभूषित करना। तत्पश्चात् सहस्र पुरुष मेरी शिविका को उठा कर नगरी के मुख्य बाजारों आदि में घुमाते हुए उद्घोषणा करना कि—" मंखलीपुत्र

गोशालक जिन, तीर्थंकर, जिन-प्रलापी, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी थे । वे अंतिम तीर्थंकर थे । उन्होंने मुक्ति प्राप्त की है।" इस प्रकार उत्तम सत्कार-सम्मान के साथ मेरे शरीर की अंतिम क्रिया करना ।"

गोशालक का आदेश स्थविरों ने स्वीकार किया ।

भावों में परिवर्त्तन और सम्यक्त्व-लाभ

तेजोलेश्या के प्रसंग की सातवीं (जीवन की अंतिम) रात्रि व्यतीत हो रही थी, तब गोशालक की मति में परिवर्तन आया । उसने सोचा—"मैं झूठ-मूठ जिन-तीर्थंकर बन कर लोगों को ठग रहा हूँ । वस्तुतः मैं झूठा, मिथ्यावादी, श्रमण-घातक, गुरु-द्रोही, अविनीत, एवं धर्म-शत्रु हूँ । मैंने लोगों को भ्रमित किया है । मैं अपनी ही तेजोलेश्या से आहत हुआ हूँ और पित्तज्वर से व्याप्त हो, दाह से जल रहा हूँ । मैं मर रहा हूँ । वस्तुतः जिन सर्वज्ञ-सर्वदर्शी अंतिम तीर्थंकर तो श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ही हैं ।"

इस प्रकार विचार कर गोशालक ने स्थविरों को बुलाया और उन्हें शपथ दे कर कहा;—

"मैं वास्तव में जिन-तीर्थंकर नहीं हूँ और न सर्वज्ञ ही हूँ । मैं ढोंगी--दंभी हूँ । मैं मंखलीपुत्र गोशालक ही हूँ । मैं श्रमणघातक, गुरु-द्रोही धर्मशत्रु हूँ । जिन तीर्थंकर तो श्रमण भगवान् महावीर ही हैं । वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हैं । मैं तो छद्मस्थ अवस्था में ही मर रहा हूँ । जब मैं मर जाऊँ, तो मेरा बायाँ पाँव रस्सी से बांधना और मेरे मुँह में थूकना, फिर मुझे नगरी में घसीटते हुए लेजाना और उच्च स्वर से घोषणा करना कि—

"यह मंखलीपुत्र गोशालक है । यह जिन-तीर्थंकर नहीं है । यह श्रमण-घातक, गुरु-द्रोही है । इसने अज्ञान अवस्था में ही मृत्यु प्राप्त की है । श्रमण भगवान् महावीर प्रभु ही तीर्थंकर हैं ।" इस प्रकार उद्घोषणा करते हुए मेरे शव का निष्क्रमण करना ।"

इस समय उच्च भावों में गोशालक ने सम्यक्त्व प्राप्त कर ली और इन्हीं भावों में मृत्यु को प्राप्त हुआ ।

मताग्रह से आदेश का दांभिक पालन हुआ

गोशालक का देहान्त जान कर स्थविरों ने द्वार बंद कर दिया । फिर भूमि पर नगरी का रेखाचित्र खिंच कर आकार बनाया । तत्पश्चात् गोशालक के बायें पांव में रस्सी

बांधी। तीन वार मुंह में थूका और उस चित्रांकित नगरी पर घसीटते हुए मन्द स्वर में बोले—"गोशालक जिन नहीं था, यह मंखली का पुत्र था। श्रमणघातक और गुरुद्रोही था। भगवान् महावीर ही जिनेश्वर हैं।" इस प्रकार कह कर शपथ से मुक्त हुए। इसके बाद पाँव की रस्सी खोली, द्वार खोला, गोशालक के शरीर को सुगन्धित जल से स्नान कराया और महा आडम्बर युक्त सम्मान के साथ निष्क्रमण किया।

गोशालक की गति और विनाश

श्री गौतमस्वामी के पूछने पर भगवान् ने कहा—गोशालक की मति सुधरी। वह सम्यक्त्व-युक्त मृत्यु पा कर अच्युत नामक बारहवें स्वर्ग में गया। वहाँ उसकी आयु बाईस सागरोपम प्रमाण है। देवायु पूर्ण कर वह इसी जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में शतद्वार नगर में राजकुमार होगा। उसका नाम 'महापद्म' होगा। राज्याधिकार प्राप्त कर वह महाराजा बनेगा। सम्यक्त्व के प्रभाव से दो महर्द्धिक यक्ष—माणिभद्र और पूर्णभद्र उसकी सेवा करेंगे। पूर्वभव का वैरविपाक उसे श्रमणों का शत्रु बना देगा। वह श्रमणों को बहुत सतावेगा। उन्हें दण्डित करेगा। इस अनार्यपन से दुःखी हो कर अन्य राजा, युवराज, श्रेष्ठि एवं सार्थवाह आदि उसे अनार्यपन छोड़ने के लिए समझावेंगे, तब वह धर्म में अश्रद्धा रखता हुआ भी उनका आग्रह स्वीकार करेगा। परन्तु उसके मन से श्रमणों के प्रति जमा हुआ द्वेष तो वैसा ही रहेगा।

शतद्वार नगर के बाहर एक रमणीय उद्यान होगा। उस समय के 'विमलवाहन' नामक तीर्थंकर भगवंत के प्रपौत्र-शिष्य 'सुमंगल' अनगार होंगे। वे महात्मा विपुल तेजोलेश्या के धारक, तीन ज्ञान के धनी, उस उद्यान के निकट बेले के तप सहित आतापना लेते हुए ध्यान-मग्न होंगे। विमलवाहन नरेश रथारूढ़ होकर उस ओर से निकलेंगे। सुमंगल अनगार को देखते ही राजा क्रोधान्ध हो जायगा और रथ की टक्कर मार कर महात्मा को गिरा देगा। महात्मा भूमि से उठ कर पुनः ध्यान मग्न हो जाएँगे। राजा मुनिराज को फिर गिरा देगा। मुनिराज फिर उठेंगे और अपने अवधिज्ञान का उपयोग लगा कर राजा के भूतकालीन जीवन को देखेंगे और कहेंगे—

"तू न तो राजा है और न राज्याधिपति है। इस-भव के पूर्वभव में तू श्रमणों की घात करने वाला गुरुद्रोही गोशालक था। तुने श्रमणों की घात की थी। सर्वानुभूति अनगार स्वयं समर्थ थे। वे चाहते, तो तुझे नष्ट कर सकते थे। परन्तु वे अपने धर्म में दृढ़

रहे। सुनक्षत्र अनगार और श्रमण भगवान् महावीर स्वामी भी समर्थ थे, परन्तु उन्होंने तेरा अपराध सहन किया था और तुझे क्षमा कर दिया था। परन्तु मैं तुझे क्षमा नहीं करूँगा और तुझे तेरे घोड़े सहित नष्ट कर दूंगा।"

सुमंगल अनगार के उपरोक्त कथन पर विमलवाहन राजा अत्यंत क्रोधित होगा और तीसरी बार टक्कर मार कर उन्हें गिरा देगा। सुमंगल अनगार भी क्रोधित हो जावेंगे और आतापना स्थान से हट कर, तेजस्-समुद्घात कर एक ही प्रहार से विमलवाहन को रथ घोड़े और सारथि सहित जला कर भस्म कर देंगे।

भस्म मुनिवरों की गति

गोशालक के तेजोलेश्या के प्रयोग से सर्वानुभूति अनगार मृत्यु पा कर 'सहस्रार-कल्प' नामक आठवें देवलोक में उत्पन्न हुए और सुनक्षत्र अनगार 'अच्युत-कल्प' नामक बारहवें देवलोक में उत्पन्न हुए। सर्वानुभूति देव की आयु अठारह सागरोपम प्रमाण और सुनक्षत्रदेव की बाईस सागरोपम प्रमाण है। देवायु पूर्ण कर के वे महाविदेह में मनुष्य होंगे और संयम का पालन कर मुक्त हो जावेंगे।

(सर्वानुभूति अनगार पर तेजोलेश्या का प्रथम प्रहार होते ही वे मृत्यु पा गए। उन्हें संभल कर अंतिम साधना करने की अनुकूलता नहीं मिली। इससे वे आठवें स्वर्ग को प्राप्त हुए। परन्तु सुनक्षत्र अनगार पर तेजोलेश्या का प्रहार उतना शक्तिशाली नहीं रहा था। इसलिए वे संभल गये, अंतिम साधना कर सके और बारहवें देवलोक पहुँचे।)

भगवान् का रोग और लोकापवाद

गोशालक की तेजोलेश्या से भगवान् महावीर स्वामी के शरीर में पित्तज्वर उत्पन्न हुआ और रक्त-राद युक्त अतिसार (दस्त) होने लगा। दुर्बलता आई। परन्तु भगवान् ने इसका उपचार नहीं किया। भगवान् का रोग एवं दुर्बलता लोगों की चिन्ता बन गई। भगवान् श्रावस्ति से विहार कर क्रमशः मेढिक ग्राम पधारे। लोग परस्पर वार्त्तालाप में कहते—"गोशालक ने कहा था कि—"मेरी तेजोलेश्या से तुम छः मास में काल कर के—छद्मस्थ अवस्था में ही—मृत्यु प्राप्त करोगे।" गोशालक का यह वचन सत्य तो नहीं

हो रहा है ?" भगवान् का रोग और दुर्बलता देख कर लोगों का चिन्तित होना स्वाभाविक ही था। चिन्ता की स्थिति में सामान्य लोगों में अनेक प्रकार के विचार एवं आशंकाएँ होती है।

सिंह अनगार को शोक

भगवान् महावीर स्वामी के शिष्य सिंह अनगार, बेले-बेले तपस्या करते और सूर्य के सम्मुख ऊँचे हाथ कर के आतापना लेते हुए ध्यान करते रहते थे। वे भी भगवान् के साथ मेढिक ग्राम आये थे। वे शालकोष्ठक चैत्य के निकट एक कच्छ में ध्यान कर रहे थे। ध्यान पूर्ण होने के पश्चात् और पुनः ध्यान प्रारंभ करने के पूर्व उनके मन में विचार उत्पन्न हुआ—"मेरे धर्माचार्य तेजोलेश्या के प्रहार से रोगी होकर दुर्बल हो गये हैं। यदि गोशालक के कथनानुसार इनका छःमास में ही अवसान हो जायगा, तो अन्यतीर्थी कहेंगे कि—"महावीर छद्मस्थ अवस्था में ही मृत्यु को प्राप्त हो गये। वे जिनेश्वर नहीं थे।" इस प्रकार सोचते हुए वे शोकाकुल हो गए और आतापना-भूमि से हट कर वे रुदन करने लगे।

भगवान् महावीर प्रभु ने अपने केवलज्ञान से सिंह अनगार को शोक करते हुए जाना, तो भगवान् ने साधुओं को भेज कर उन्हें अपने समक्ष बुलवाया। सिंह अनगार आये और भगवान् को वन्दना की।

सिंह अनगार को सान्त्वना

भगवान् ने सिंह अनगार से कहा—"तुम्हें ध्यानोपरान्त मेरे रोग तथा गोशालक के कथन पर विचार करते हुए, मेरा जीवन छः महीने में ही समाप्त होने की चिन्ता हुई और तुम रुदन करने लगे। किन्तु यह तुम्हारी भूल है। मैं तो सोलह वर्ष पर्यंत तीर्थंकर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी रहता हुआ विचरण करूँगा और गोशालक का भविष्य-कथन मिथ्या होगा। तुम चिन्ता मत करो। इस मेढिक नगर में 'रेवती' नामक गृहस्वामिनी रहती है, उनके घर जाओ। उसने मेरे लिये दो कुम्हड़ा के फलों का पाक बनाया है, वह तो मत लेना, परन्तु उसने मार्जार-वायु को शान्त करने वाला बिजोरा पाक बनाया है, वह लाओ। वह मेरे लिये उपयुक्त होगा।"

रेवती को आश्चर्य

सिंह अनगार रेवती के घर आये। रेवती ने मुनिराज को वन्दना की, आदर-सत्कार किया और आगमन का कारण पूछा। अनगार ने कहा—

"देवानुप्रिये ! तुमने भगवान् महावीर स्वामी के लिये दो कोहले का पाक बनाया है, वह मुझे नहीं लेना है। परन्तु बिजोरापाक बनाया है, वही लेने आया हूँ मैं।"

सिंह अनगार की बात सुन कर रेवती को आश्चर्य हुआ। उसने पूछा;—

"मुनिवर ! ऐसा कौन ज्ञानी और तपस्वी है कि जिसने मेरी इस गुप्त बात को जान लिया कि मैंने भगवान् के लिए कुम्हड़ा (कुष्मांड) पाक बनाया है ?"

"रेवती ! मेरे धर्माचार्य श्रमण भगवान् महावीर स्वामी सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हैं। उनसे किसी भी प्रकार का रहस्य छुपा नहीं रहता। उन्हीं के कहने से मैं जान सका हूँ।"

सिंह अनगार के वचन सुन कर रेवती अत्यंत हर्षित हुई। उसके हृदय में भगवान् के प्रति पूज्य भाव एवं भक्ति का ज्वार उभर आया। उसने सिंह अनगार के पात्र में सभी पाक वहरा दिया। इस महादान एवं उत्कट भक्ति से रेवती ने देव आयु का बंध किया और संसार परिमित कर लिया। देवों ने दिव्य वर्षा की और रेवती का जय-जयकार किया।

भगवान् महावीर स्वामी ने उस बिजोरा पाक का आहार किया। उसी समय। भगवान् का रोग उपशांत हो गया। भगवान् के निरोग होने से साधु-साध्वी, श्रावक को श्राविकाओं की चिन्ता मिटी। वे प्रसन्न हुए, इतना ही नहीं देव-देवियाँ भी और समस्त हा मानव-समुदाय एवं सारा लोक प्रसन्न हुआ। सभी की चिन्ता मिटी और संतोष प्राप्त हुआ।

गोशालक का भव-भ्रमण

सुमंगल अनगार से भस्म हो कर क्रूरतम परिणामों से भरा हुआ गोशालक का जीव विमलवाहन, सातवीं नरक में तेतीस सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति में उत्पन्न होगा। वहाँ का आयु पूर्ण कर मत्स्य रूप में जन्मेगा। मत्स्य-भव में शस्त्राघात से पीड़ित और दाहज्वर से परितापित हो कर काल कर के पुनः सातवीं नरक में उत्पन्न होगा। वहाँ से पुनः मत्स्य होगा और शस्त्राघात से मारा जा कर छठी नरक में उत्पन्न होगा। छठी नरक

का उत्कृष्ट आयु पूर्ण कर स्त्रीपने उत्पन्न होगा। स्त्री-जन्म में भी शस्त्राघात और दारुण दुःख भोग कर पुनः छठी नरक में उत्पन्न होगा। और पुनः स्त्री होगा। वहाँ से मर कर पाँचवीं नरक में, वहाँ से उरपरिसर्पों में, पुनः पाँचवीं नरक और पुनः उरपरिसर्प। इसके बाद चौथी नरक में और वहाँ से सिंह होगा, फिर चौथी नरक और फिर सिंह। वहाँ से तीसरी नरक में और फिर पक्षियों में--दो बार। फिर तीसरी नरक में और सरिसृप में--दो बार, फिर पहली नरक में और संज्ञीजीव होगा, वहाँ से फिर प्रथम नरक में, फिर असंज्ञी में। सर्वत्र उत्कृष्ट स्थिति और दारुण दुःख भोगेगा।

इसके बाद विविध प्रकार के पक्षियों में, भुजपरिसर्पों में, चतुष्पदों में, उरपरिसर्पों, में चतुष्पदों में, जलचरों में, चतुरेन्द्रियों में, तेइन्द्रिय में, द्वेन्द्रिय में, इस प्रकार प्रत्येक योनि में लाखों बार जन्म-मरण, शस्त्राघात से असह्य वेदना सहेगा। इसके बाद स्थावर में प्रत्येक काय में जन्म-मरण करने के बाद मनुष्य-भव में दो बार वेश्या होगा। फिर ब्राह्मण-पुत्री होगी और जल कर मरेगी। इस प्रकार दुःख भोगते हुए भवनपति में अग्निकुमार देव होगा। वहाँ से मनुष्य हो कर सम्यक्त्व प्राप्त करेगा। श्रमण-प्रव्रज्या स्वीकार करेगा। साधुता की विराधना कर के भवनपति में उत्पन्न होगा। इस प्रकार विराधक साधु हो भवनपत्यादि देवों में उत्पन्न होने के अनेक भव करेगा। फिर आराधना कर के सौधर्म

हालिक की प्रव्रज्या और पलायन

जिस नागकुमार जाति के देव ने भगवान् को छद्मस्थावस्था में उपसर्ग किया था, वह हाँ से मर कर एक ग्राम में कृषक के यहाँ जन्मा। एकबार भगवान् उस ग्राम में पधारे। भगवान् ने श्री गौतम स्वामी को आदेश दे कर उस कृषक को प्रतिबोध देने भेजा। गौतम स्वामी उस हालिक के निकट आये। उस समय वह हल चला कर भूमि खोद रहा था। गौतम स्वामी ने पूछा;--

भगवान् इन्द्रभूतिजी गौतम ने आगे कहा—" यह कष्ट और हिंसा तुझे इस भव में ही नहीं, पर-भव में भी चिरकाल तक दुखी करती रहेगी। तू स्वयं देख ले। तेरे हल की मार से ये कीड़ी-कुंथु आदि कितने जीव मर रहे हैं। इतना कष्ट और ऐसा पाप करने से तुझे जो मिलेगा, वह किस गिनती में होगा ? और जीवनभर ऐसा पाप करते रहने पर तेरी गति क्या होगी ? इस पर विचार कर। यदि तू इस कष्ट कर उद्यम के बदले धर्म-साधना में थोड़ा भी उद्यम करे, तो तेरा मानव-जीवन सफल हो जायगा और तू भविष्य में भी सुखी बन सकेगा।"

गणधर भगवान् गौतम स्वामी के उपदेश से हालिक प्रभावित हुआ। उसका हृदय वैराग्य से भर गया और वह श्री गौतम स्वामीजी से निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या ग्रहण कर के साधु बन गया। दीक्षित हो कर चलते हुए हालिक ने श्री गौतम गुरु से पूछा—

"भगवन् ! हम अब कहाँ जा रहे हैं ?"

--" मेरे गुरु के समीप चल रहे हैं ?"

--" अरे, आप स्वयं अद्वितीय महा पुरुष हैं। आपसे बढ़ कर भी कोई गुरु हो सकता है क्या "--हालिक मुनि ने आश्चर्य से पूछा।

" भद्र ! मेरे ही क्या, समस्त विश्व के गुरु, परम वीतराग सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवान् महावीर प्रभु त्रिलोक-पूज्य हैं। देवेन्द्र भी उनके चरणों में झुकते हैं। हम उन्हीं परमात्मा के पास जा रहे हैं'--श्री गौतम स्वामी ने कहा।

हालिक मुनि ने भगवान् की प्रशंसा अपने गुरु के मुख से सुनी, तो उनके मन में भगवान् के प्रति भक्ति उमड़ी। वे प्रमोद-भावना में रमते हुए भगवान् के समीप पहुँचे। भगवान् पर दृष्टि पड़ते ही हालिक मुनि ने गौतम-गुरु से पूछा--" ये कौन बैठे हैं ?"

" ये ही मेरे धर्माचार्य धर्मगुरु जिनेश्वर भगवंत हैं। चलो, भगवान् की वन्दना करें।"

हालिक भगवान् को देखते ही सहम गया। उसे भगवान् भयानक लगे। वह बोला—" यदि ये ही आपके गुरु हैं, तो मुझे आपके साथ भी नहीं रहना है। मैं जा रहा हूँ—अपने घर "—कहता हुआ हालिक साधु-वेश वहीं छोड़ कर चला गया।

गौतम गुरु को आश्चर्य हुआ। उन्होंने भगवान् से पूछा--

" प्रभो ! हालिक को मुझ पर प्रेम था। उसने मेरे उपदेश से प्रभावित होकर प्रव्रज्या ली और प्रमोद-भावना से चलता हुआ यहां तक आया। परंतु आपको देखते ही

उसकी भावना पलटी, मेरे प्रति उभरा हुआ प्रेम भी नष्ट हो गया और वह दीक्षा त्याग कर चला गया। इसका क्या कारण है?"

"हे गौतम! मैंने त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में जिस सिंह को मारा था, उसी सिंह का जीव यह हालिक है। उस भव में तुम मेरे सारथि थे। तुमने सिंह को मधुर वचनों से आश्वासन दिया था। उस समय यह मेरा द्वेषी और तुम्हारा स्नेही वन गया था। तुम्हारे प्रति उसका स्नेह होने के कारण ही मैंने तुम्हें उसे प्रतिवोध देने भेजा था।"

यद्यपि हालिक उस समय पतित हो गया था। किन्तु उसे एक महालाभ तो हो ही गया था। उसकी आत्मा ने सम्यग्ज्ञान-दर्शन और चारित्र का स्पर्श कर लिया था। उसकी आत्मा से अनादि मिथ्यात्व छूट गया था। उसके सम्यग्दर्शन के संस्कार, फिर कभी उसके सादि-मिथ्यात्व को उखाड़ कर पुन: सम्यग्दर्शन प्रकट करेगा और वह मुक्त भी हो जायगा।

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि चरित्र

भगवान् ग्रामानुग्राम विचरते हुए पोतनपुर पधारे और मनोरम नामक उद्यान में विराजे। प्रसन्नचन्द्र महाराज भगवान् की वन्दना करने पधारे। भगवान् की मोहोपशमनी देशना सुन कर नरेश संसार से विरक्त हुए और अपने वाल कुमार का राज्याभिषेक करके वे निर्ग्रंथ श्रमण वन गए। तप-संयम का निष्ठापूर्वक पालन करते और श्रुताभ्यास करते हुए कालान्तर में वे राजगृह पधारे। महाराजा श्रेणिक अपने पुत्र-पौत्रादि और चतुरंगिनी सेना सहित भगवान् को वन्दन करने के लिए नगरी के मध्य में होते हुए उद्यान की ओर जा रहे थे। उनकी सेना में 'सुमुख' और 'दुर्मुख' नाम के दो सैन्याधिकारी आपस में वातें करते हुए जा रहे थे। उन्होंने राजर्षि प्रसन्नचन्द्रजी को एक पाँव ऊँचा किये, दोनों हाथ ऊपर उठाये ध्यान करते हुए देखा। उन्हें देख कर सुमुख वोला—"ये महात्मा उग्र-तपस्वी हैं। इनके लिये स्वर्ग और मोक्ष पाना सर्वथा सरल है।" साथी की वात सुन कर दुर्मुख वोला; —

"यह तो पोतनपुर का राजा प्रसन्नचन्द्र है। यह छोटे वछड़े को भार से सम्पूर्ण भरे हुए गाड़े में जोतने के समान अपने वालक पुत्र पर, महाराज्य का भार लाद कर साधु वन गया। इसने यह नहीं सोचा कि यह वालक एक विशाल राज्य को कैसे सम्भाल सकेगा। अव इसके मन्त्री चम्पानगरी के दधिवाहन राजा से मिल कर, वालक को राज्य-

भ्रष्ट करने का षड्यन्त्र रच रहे हैं। इसकी रानियाँ भी बालक को छोड़ कर न जाने किस के साथ चली गई है। सारे राज्य को अस्तव्यस्त करने और राज्य पर विपत्ति खड़ी करने वाले 'इस' पाखण्डी का तो मुँह देखना भी पाप है।"

राजर्षि के निकट हो कर जाते हुए उसने उपरोक्त शब्द कहे थे। सेनानी के ये शब्द महर्षि ने भी सुने।

छोटा-सा निमित्त भी पतन कर सकता है

जिस प्रकार छोटीसी चिनगारी भयंकर आग बन कर धन-माल और भवनादि सम्पत्ति को जला कर भस्म कर देती है, उसी प्रकार सेनानी के दुर्वचन रूपी विष ने, महर्षि को अमरत्व प्रदान करने वाले ध्यान रूपी अमृत को विषमय बनाने का काम किया। एक छोटे-से निमित्त ने सोये हुए मोह उपादान को जगा कर सक्रिय कर दिया। राजर्षि का ध्यान भंग हुआ और उलटी दिशा पकड़ी। वे सोचने लगे;—

"अहो, आश्चर्य है कि मेरे अत्यन्त विश्वस्त मन्त्री भी कृतघ्न हो गये। धिक्कार है इन दुष्टों को। यदि मेरे समक्ष उन्होंने ऐसा किया होता, तो मैं उन्हें वह कठोर दण्ड देता कि उनका वंश तक नष्ट हो जाता।"

महर्षि अब चारित्रात्मा मिट कर, कषायात्मा हो गए थे। उन में रौद्र-ध्यान का उदय हो गया। वे मन्त्रियों और सामन्तों से मन-ही-मन युद्ध करने लगे। सैनिकों की कतार आगे बढ़ गई। महाराजा श्रेणिक क्रमशः महर्षि के निकट आये और भक्तिपूर्वक वन्दना की। राजर्षि के उग्रतम एवं एकाग्र ध्यान की अनुमोदना करते हुए भगवान् के निकट आये और वन्दना करने के पश्चात् विनय पूर्वक पूछा;—

"भगवन्! आपके शिष्य राजर्षि प्रसन्नचन्द्रजी अभी ध्यान-मग्न हैं। यदि इस ध्यानावस्था में ही उनकी मृत्यु हो जाय, तो उनकी गति कौनसी हो सकती है?"

"सातवीं नरक"—भगवान् ने कहा।

श्रेणिक राजा भगवान् का उत्तर सुन कर चौंका—"ऐसा कैसे हो सकता है? क्या ऐसे उग्र तपस्वी महाध्यानी भी नरक में जा सकते हैं—ठेठ सातवीं नरक में? कदाचित् मेरे सुनने-समझने में भूल हुई हो।" उसने पुनः प्रश्न किया—"यदि इस समय प्रसन्नचन्द्र महात्मा का अवसान हो जाय तो कहाँ उत्पन्न हो सकते हैं?"

—"सर्वार्थसिद्ध महाविमान में"—भगवान् का उत्तर।

—"प्रभो ! कुछ ही काल के अन्तर से आपने दो प्रकार के उत्तर कैसे दिये ?"

—"श्रेणिक ! ध्यान के परिवर्त्तन एवं परिवर्तित ध्यान के समय के परिणाम की अपेक्षा दो प्रकार का परिणाम बताया गया है। प्रथम तो दुर्मुख के वचनों के निमित्त से मुनि रौद्रध्यानी बने। उनका रौद्रध्यान बढ़ता ही गया। वे अपने सामन्तों और मन्त्रियों के साथ मन-ही-मन युद्ध करने लगे। तुमने वन्दना की, उस समय वे युद्ध में संलग्न थे। जब तुमने प्रश्न किया, तब उनके परिणाम सातवीं नरक में जाने के योग्य थे। मन-ही-मन उन्हें अपने समस्त आयुध समाप्त हुए लगे, तो उन्होंने शत्रु का सिर तोड़ने के लिये अपना भारी सिरस्त्राण उतार कर प्रहार करना चाहा, इसके लिए मस्तक पर हाथ ले गये, तो मुण्डित सिर हाथ आया। इस स्पर्श रूपी निमित्त ने उनके कल्पित युद्ध को समाप्त कर दिया। कुछ समय चला हुआ मोहोदय शमन हुआ और पुनः चारित्रात्मा प्रबल हुई। उन्हें अपने चारित्र का भान हुआ। अपनी दुर्वृत्ति को धिक्कारते हुए वे सम्भले और पुनः ध्यानारूढ़ हुए। इस समय उनकी परिणति सर्वार्थसिद्ध महाविमान में देव होने के योग्य है।"

यह बात हो ही रही थी कि उस ओर देवदुंदुभि का निनाद सुनाई दिया। श्रेणिक के पूछने पर भगवान् ने फरमाया--"प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न हो गया है। देवगण उनका महोत्सव कर रहे हैं।"

वीर-शासन का भविष्य में होने वाला अंतिम केवली

"भगवन् ! आपके तीर्थ में अंतिम केवलज्ञानी कौन होगा"--श्रेणिक ने पूछा। श्रेणिक के प्रश्न पूछते ही ब्रह्मदेवलोक के इन्द्र का सामानिक देव× वहाँ आ कर उपस्थित हुआ और भगवान् को वन्दन-नमस्कार किया। भगवान् ने श्रेणिक के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा--

--"यह पुरुष अंतिम केवली होगा।"

श्रेणिक को आश्चर्य हुआ। उसने पूछा—"क्या देव भी केवलज्ञान प्राप्त कर सकते हैं ?"

× त्रि. श. पु. में लिखा है कि—वह देव अपनी चार देवियों के साथ उपस्थित हुआ। परन्तु यह बात सिद्धांत के विपरीत है। क्योंकि देवियां तो दूसरे देवलोक के आगे होती नहीं, और ब्रह्मदेवलोक तो पाँचवाँ है ?

—"यह देव आज से सातवें दिन च्यवेगा और तुम्हारे नगर के निवासी ऋषभदत्त श्रेष्ठि का पुत्र होगा। वह मेरे शिष्य गणधर सुधर्मा का 'जम्बू' नाम का शिष्य होगा। उसे केवलज्ञान होने के बाद इस भरत क्षेत्र की इस अवसर्पिणी काल में दूसरा कोई केवलज्ञानी नहीं होगा।"

—"प्रभो! इस देव का च्यवन समय निकट है, फिर भी इसके तेज में किसी प्रकार की न्यूनता क्यों नहीं लगती?"

—"इस समय इसका तेज मन्द है। इसके पूर्व अधिक तेज था।" भगवान् ने कहा। इसके बाद भगवान् ने धर्मोपदेश दिया।

देव द्वारा उत्पन्न की गई समस्या का समाधान

श्री हेमचन्द्राचार्य ने आगे लिखा कि—उस समय कुष्ट-रोग से पीड़ित—जिसके हाथ-पाँव आदि गल गये हैं और अंगप्रत्यंग से पीप बह रहा है, ऐसा घृणित पुरुष वहाँ आया और भगवान् को वन्दन कर के समीप ही बैठ गया। फिर वह अपने अंग से बहने वाले पीप को हाथ में ले कर भगवान् के चरणों पर लगाने लगा। यह देख कर श्रेणिक को घृणा उत्पन्न हुई और क्रोध भी आया, परन्तु वह वहाँ मौन ही रहा। इतने में भगवान् को छींक आई, तब वह कोढ़ी बोला—"मर जाओ।" राजा अत्यधिक रुष्ट हुआ और अपने सेवक को आज्ञा दी कि—"यह यहाँ से बाहर निकले, तब सैनिकों से इसे पकड़वा लेना। मैं फिर इससे समझूंगा।" इसके बाद महाराजा श्रेणिक को छींक आई, तो वह बोला—"चिरज़ीवी हो।' इसके कुछ काल पश्चात् अभयकुमार को छींक आई, तो कहा—"जीवो या मरो।" अंतिम छींक कालसौरिक* को आई, तब कहा—"न जीओ न मरो।" वह पुरुष उठ कर जाने लगा, तब सुभटों ने उसे घेर लिया। परन्तु वह क्षणमात्र में दिव्य रूप धारण कर के आकाश में उड़ गया। राजा चकित हो गया और भगवान् से पूछा। भगवान् ने कहा—"वह देव था।"

"फिर वह कोढ़ी क्यों बना?—श्रेणिक ने पूछा। भगवान् उस देव का और उसके विचित्र लगने वाले व्यवहार का वर्णन सुनाने लगे।

---

* कालसौरिक भी वहाँ उपस्थित था? २ इस प्रसंग से यह तो प्रमाणित होता है कि छींक का शकुन कम-से-कम श्री हेमचन्द्राचार्य के पूर्व से चला आ रहा है।

दरिद्र सेडुक दर्दुर देव हुआ

कौशाम्बी नगरी में शतानिक राजा × राज्य करता था। वहाँ 'सेडुक' नाम का एक दरिद्र ब्राह्मण रहता था। वह मूर्ख था। मूर्खता और दरिद्रता के कारण उसका जीवन दुःखपूर्वक व्यतीत हो रहा था। उसकी पत्नी गर्भवती हुई। जहाँ पेट भरना भी कठिन हो, वहाँ प्रसूती के लिये विशेष सामग्री का प्रवन्ध कैसे हो? पत्नी ने सुझाया--"तुम राजा के पास जा कर याचना करो। राजा ही हमारी सहायता कर सकेगा।" सेडुक राजा के पास पत्रपुष्पादि ले कर जाने लगा। वह राजा को पुष्पादि भेंट कर के प्रणाम करता और लौट आता।

चम्पा नगरी के नरेश ने अचानक कौशाम्बी पर चढ़ाई कर दी। शतानिक युद्ध के लिए तत्पर नहीं था। उसने कौशाम्वी के नगरद्वार बन्द करवा दिये। चम्पाधिपति नगरी को घेर कर बैठ गए। यह घेरा लम्वे काल तक चालू नहीं रह सका। सैनिकों में शिथिलता आने लगी। रोगादि कारण ने भी शक्ति क्षीण कर दी। कुछ मर भी गए। चुपके-चुपके कई सैनिक खिसक गए। चम्पापति को घेरा मेंहगा पड़ा। वे चुपचाप घेरा उठा कर चल दिये। सेडुक ब्राह्मण ने देखा—शत्रुसेना लौट रही है। वह राजा के समीप आया और बोला--

--"आपका शत्रु घेरा उठा कर जा रहा है। यदि आप अभी पीछे से उस पर आक्रमण कर देंगे, तो विजयश्री प्राप्त हो जायगी।"

सेडुक के शुभोदय की वेला थी। उसकी सूचना से शतानिक ने लाभ उठाया। भागते हुए शत्रु पर उसका आक्रमण सफल रहा। चम्पा की सेना छिन्नभिन्न हो गई। हाथी-घोड़े धन-माल शतानिक के हाथ आये। विजयोत्सव मनाते समय कौशाम्वी-पति ने सेडुक को इच्छित माँगने का कहा। सेडुक, पत्नी को पूछने के लिए घर आया। ब्राह्मणी प्रसन्न हुई। उसे अपनी दुर्दशा का अंत और भाग्योदय होता दिखाई दिया। उसने सोचा—'यदि राजा से जागीर में कोई गाँव ले लिया, तो ब्राह्मण मदोन्मत्त हो कर मुझ पर सौत भी

× चउवन्न महापुरुस च. में ग्राम आदि के नाम में अन्तर है। वहाँ वसंतपुर नगर अजातशत्रु राजा यज्ञदत्त ब्राह्मण लिखा है।

ला सकता है। नहीं, जीवन सुखपूर्वक बीते और मौत का भय भी नहीं रहे, ऐसी ही माँग करनी चाहिए। उसने कहा—'आप तो प्रतिदिन भोजन और दक्षिणा में एक स्वर्ण-मुद्रा माँग लीजिए। बस, इतना ही पर्याप्त होगा।"

सेडुक ने यही माँगा और उसे मिल गया। उसे भोजन और दक्षिणा मिलने लगी। राजा की कृपा से नगरी में भी उसका सम्मान बढ़ा और सेडुक के द्वारा राजा से स्वार्थ-लाभ की इच्छा रखने वाले नागरिक भी उसे न्योता दे कर भोजन और दक्षिणा देने लगे। दक्षिणा के लोभ से, भोजन कर लेने के उपरान्त—भूख नहीं होते हुए भी—सेडुक वमन कर के पूर्व किया हुआ भोजन निकाल कर नये निमन्त्रण का भोजन करने लगा। पुत्र-पौत्रादि परिवार से भी वह बढ़ गया था, और धन की भी वृद्धि हो गई थी। भोजन, वमन और भोजन। अजीर्ण—बिना पचा हुआ भोजन निकाल देने से (आम—अपक्व रस ऊँचा जाने से) त्वचा दूषित हुई। वह रोग का घर हो गया। वह कोढ़ी हो गया। उसके हाथ-पाँव आदि सड़ गए। इतना होते हुए भी राज्य की भोजनशाला में जा कर भोजन करता। एकबार मन्त्री ने राजा से कहा—"इस कोढ़िये की स्पर्श की हुई वायु से भी स्वस्थ मनुष्य को वचना चाहिये। इसलिये अब इसका यहां आना उचित एवं हित-कर नहीं हो सकता। इसके वदले इसके किसी पुत्र को भोजन कराना चाहिये।" राजा ने मन्त्री की बात मान कर सेडुक का प्रवेश रोक दिया। सेडुक के दुर्भाग्य का उदय हुआ। पुत्रों ने भी अपने स्वास्थ्य की सुरक्षा के लिए उसे घर से निकाल दिया और पृथक् एक झोंपड़ी में रखा। उसके पुत्र-पुत्रवधुएँ आदि उससे घृणा पूर्वक व्यवहार करने लगे। सेडुक अपने परिवार पर रुष्ट हुआ। उसने सोचा—"मेरे ही संग्रह किये धन पर ये लोग सुख भोग रहे हैं और मुझ-से ही घृणा करते हैं। मैं यह सहन नहीं कर सकता।" उसने परि-वार से वैर लेने का निश्चय किया और अपने पुत्रों से कहा;—

"मैं इस जीवन से ऊब गया हूँ और मृत्यु की कामना करता हूँ। मरने से पूर्व अपने कुल की रीति के अनुसार एक मन्त्रवासित पशु मुझे अपने परिवार को प्रसाद के लिये देना है, जिससे कुलदेव प्रसन्न हों और परिवार सुखी रहे।"

पुत्रों ने उसे पशु दे दिया। सेडुक ने प्राप्त अन्न को अपनी कोढ़ से झरे हुए पीव में मिला कर पशु को खिलाया। इससे पशु में भी कोढ़ उत्पन्न हो गया। उस पशु को मार कर पुत्रों को दिया। पुत्रों ने उसे खाया। उससे उनमें भी रोग उत्पन्न हो गया। सेडुक तीर्थ-यात्रा के वहाने वन में चला गया। वन में भटकते उसे प्यास लगी। अत्यंत तृषातुर हो वह पानी के लिए भटकने लगा। उसे सघन वन में वृक्षों से घिरा हुआ

एक द्रह मिला। वृक्षों पर से गिरे हुए पत्रों पुष्पों और फलों से और सूर्य के ताप से उस द्रह का जल, क्वाथ के समान औषध वाला हो गया। सेडुक ने उस जल को पेट भर कर पिया। वह जल उसके लिये औषधी रूप हो गया। उसके शरीर में रहे हुए कृमि रेच के साथ निकले। सेडुक समझ गया कि यह जल और यहाँ के फल-मिट्टी मेरे लिए अरोग्यप्रद हैं। वह कुछ दिन वहां रहा और वहीं के जल-फलादि सेवन कर स्वस्थ हो गया। उसमें शक्ति का संचार भी हो गया। वह प्रसन्न होता हुआ कौशांबी आया। उसे स्वस्थ और सकुशल आया जान कर लोग चकित रह गए। उससे स्वास्थ्य-लाभ का कारण पूछा, तो बोला—"मैंने देव की आराधना की है, उसके फल स्वरूप मुझे आरोग्य-लाभ हुआ है।"

लोगों ने कहा--"तुम्हारा सारा परिवार भी कोढ़ी हो गया है। उन्हें भी स्वस्थ बना दो।"

—"नहीं, उन्होंने मुझ-से घृणा की। मेरा अपमान किया। मैं इस अपमान की आग में जलता था। इसलिए मैंने ही कोढ़ी-पशु खिला कर उन में रोग उत्पन्न किया है। वे सब अपने पाप का फल भोगते रहें"--सेडुक ने कहा;—

छींक का रहस्य

इन्द्र ने सभा में तुम्हारी श्रद्धा की प्रशंसा की। दर्दुरांक देव को विश्वास नहीं हुआ। इससे वह तुम्हारी परीक्षा करने यहाँ आया था। उसने गोशीर्षचन्दन मेरे पाँव के लगाया था पीप नहीं। उसने तुम्हारी दृष्टि मोहित कर दी थी, जिससे तुम्हें पीप लगा।"

"भगवन्! आपको छींक आने पर वह अमांगलिक वचन क्यों बोला"—श्रेणिक ने पूछा।

—"श्रेणिक! देव के कथन का आशय यह था कि आप अब तक संसार में क्यों बैठे हैं। आपकी मृत्यु तो अनन्त आनन्द प्रद होगी--शाश्वत सुखदायक होगी।"

—"और मुझे चिरकाल जीवित रहने का क्यों कहा?"

—"क्योंकि तुम्हारे लिये मृत्यु अधिक दुःखदायक होगी—तुम नरक में जाओगे।" अभयकुमार को 'जीओ या मरो' कहा। इसका तात्पर्य यह कि यह जीवित रहेगा तो धर्मसाधना करेगा और मरने पर अनुत्तर-विमान में देव होगा। कालसौरिक तो यहाँ पाप करेगा और मरने पर नरकादि दुःख पाएगा। उसका जीवन और मरण दोनों ही दुखदायक है।

मैं नरकगामी हूँ? मेरी नरक कैसे टले?

"भगवन्! आप जैसे परम तारक को पा कर, हजारों मनुष्य तिर गए। उनकी मुक्ति हो गई। लाखों स्वर्गवासी हुए और होंगे, किन्तु मैं नरक में जा कर दुःखी रहूँगा? यह तो अचंभे की बात है।"—श्रेणिक ने चिंतित हो कर कहा।

"राजन्! तुमने पहले नरक के योग्य आयु का बन्ध कर लिया है"—भगवान् ने कहा।

"भगवन्! कोई ऐसा उपाय बताइए कि जिससे बद्ध-नरकायु टूट जाय। मैं वह उपाय करूँगा"—श्रेणिक भावी दुःख से बचना चाहता था।

—"यदि तू कपिला ब्राह्मणी से साधुओं को भावपूर्वक दान दिला सके और कालसौरिक से कसाई का काम छुड़ा सके‡।"

---

‡ इस प्रसंग पर पूणिया श्रावक की सामायिक क्रय करने की कथा सुनी जाती है, किन्तु उसका उल्लेख किसी प्राचीन ग्रंथ में हमारे देखने में नहीं आया। यदि किसी की जानकारी में हो, तो बताने की कृपा करें।

भगवान् का बताया हुआ उपाय श्रेणिक को सहज एवं सरल लगा। वह उत्साह-पूर्वक वन्दना कर के लौटा।

श्रद्धा की परीक्षा

महाराजा श्रेणिक भगवान् को वन्दना करके अपने राज-भवन में लौट रहे थे। उस समय दर्दुरांक देव ने राजा की धर्मश्रद्धा की परीक्षा करने के लिए, अपने को एक साधु के रूप में, मच्छी मारते हुए बताया। जब राजा ने उसे टोका, तो वह बोला;--

"देख राजा ! भगवान् महावीर के साधुओं को तुम उत्तम आचार-सम्पन्न साधु मानते हो, परन्तु ये मत्स्यमांस-भक्षी हैं। कई साधु राजकुल और ऐसे घरों से आये हैं कि जिनमें मांस-भक्षण होता था। साधु होने पर भी उनकी रुचि उसमें रही। वे सभी छुप-छुप कर अपनी इच्छा पूरी कर रहे हैं। मैं भी उनमें से एक हूँ।"

--"तू कोई दुराचारी होगा। भगवान् के साधु तो महान्-त्यागी, शुद्धाचारी एवं तपस्वी हैं। यदि तुझ-से साधुता नहीं पलती, तो छोड़ इस पवित्र वेश को। तुझे लज्जा नहीं आती---इस वेश में ऐसा दुष्कृत्य करते ? फेंक इस जाल को और जा भगवान् के समीप अपनी आत्मा को शुद्ध करने। अन्यथा कठोर दण्ड दूँगा।"

वह मायावी देव जाल फेंक कर चला गया। आगे बढ़ने पर उसे एक सगर्भा साध्वी दिखाई दी, जो आसन्न प्रसवा थी। वह राजा के सामने ही अपने गर्भ का प्रदर्शन करती हुई आ रही थी। राजा के पूछने पर उसने कहा--

"राजन् ! भगवान् ने स्वयं कहा है कि 'काम दुरतिक्रम' है। इसे देव और इन्द्र भी नहीं जीत सके। तुम्हारा पुत्र नन्दीसेन कितना दम भरते थे, परन्तु उन्हें भी झुकना पड़ा, तब हम कैसे बच सकती हैं ? हजारों साध्वियाँ छुप कर व्यभिचार करती है। तुम किसे रोकोगे ? मैं तुम्हारी दृष्टि में आ गई, परन्तु बहुत-सी छुपी हुई है।"

"पापिष्ठा ! तू अपना पाप छुपाने के लिए दूसरों को भी अपने जैसी बतलाती है। यह तेरी दूसरी अधमता है। छोड़ इस पवित्र वेश को और चल अन्तःपुर में। तेरे प्रसव का प्रबन्ध हो जायगा।"

देव ने देखा कि श्रेणिक की श्रद्धा अडिग है। उसने प्रकट हो कर राजा की श्रद्धा की प्रशंसा की और इन्द्र द्वारा प्रशंसित होने का सुसम्वाद सुनाया। विशेष में एक रत्न-

माला और दो गोले देते हुए कहा कि--" इस हार को टूटने पर जो साँधेगा, वह जीवित नहीं रहेगा।"

राजा ने वह रत्नमाला महारानी चिल्लना को दी और दोनों गोले महारानी नन्दा को दिये। नन्दा रानी को रोष उत्पन्न हुआ कि 'जो रत्नों का उत्तम हार था, वह तो अपनी प्रिया को दिया और मुझे ये गोले ! क्या करूँ मैं इनको ?"

उसने गोले एक खंभे पर दे-मारे। गोले फूट गये और एक में से रत्नजड़ित कुण्डल की जोड़ी और दूसरे में से उत्तम कोटिका रेशमी वस्त्रयुगल। वह अत्यंत प्रसन्न हुई।

श्रेणिक निष्फल रहा × × तुम तीर्थंकर होगे

राजा ने कपिला ब्राह्मणी को बुला कर साधुओं को दान देने का कहा, तो कपिला बोली;--" आप मुझे स्वर्ण-रत्नों से भर दें, या शूली चढ़ा दें। मैं इन मुण्डियों को दान देने का महापाप कभी नहीं करूँगी।" कालसौरिक भी नहीं माना और तर्क करता हुआ बोला;--

" क्या दोष है--कसाई के धन्धे में ? मनुष्यों के खाने के लिए मारता हूँ। और जीव-वध किस में नहीं होता ? धान्य-पानी में जीव नहीं है क्या ?"

राजा ने उसे कुतर्क करते हुए रोक कर कहा--" तू आजीविका के लिए यह क्रूर धन्धा करता है। मैं तुझे प्रचुर मात्रा में धन दूँगा। अब तो इस धन्धे को छोड़ दे।"

--" महाराज ! मैं अपने बाप-दादों से चला आता हुआ धन्धा नहीं छोड़ सकता। आप चाहे जो करें"--कसाई अपने विचारों पर दृढ़ था।

राजा ने उसे बन्दी बना कर अन्धकूप में डलवा दिया। दूसरे दिन श्रेणिक भगवान् को वन्दना करने गया। उसने भगवान् से कहा--

"प्रभो ! मैने कालसौरिक से एक दिन-रात अहिंसा का पालन करवाया है। अब तो मेरे नरक जाने का कारण कट गया होगा ?"

--" राजन् ! कालसौरिक के मन में अहिंसा उत्पन्न ही नहीं हुई। उसने तो अन्धकूप में भी मिट्टी के भैंसे बना कर मारे और अपनी हिंसक-वृत्ति का पोषण किया है।"

भगवान् के वचन सुन कर राजा हताश हुआ, तब भगवान् ने कहा--" तुम हताश क्यों होते हो। नरक से निकल कर तुम आगामी उत्सर्पिणी काल में प्रथम तीर्थंकर बनोगे।"

भगवान् की भविष्य-वाणी से श्रेणिक प्रसन्न हुआ।

नन्द-मणिकार श्रेष्ठि का पतन और मेंढ़क का उत्थान

राजगृह नगर में 'नन्द' नाम का मणिकार श्रेष्ठि रहता था /। वह समृद्धिशाली एवं शक्तिमान था। भगवान् महावीर प्रभु राजगृह पधारे। महाराजा श्रेणिक आदि भगवान् को वन्दन करने गए। नन्द मणिकार भी गया। भगवान् का धर्मोपदेश सुन कर नन्द श्रमणोपासक बना और धर्मसाधना करने लगा। भगवान् विहार कर अन्यत्र पधार गए।

कालान्तर में साधु-साध्वियों के सत्संग सम्पर्क एवं स्वाध्याय के अभाव में नन्द की धर्मश्रद्धा नष्ट हो गई। वह मिथ्यात्वी हो गया। एकदा ग्रीष्म ऋतु के ज्येष्ठ मास में वह तेले का तप कर के पौषधशाला में रहा था। वह भूख-प्यास से व्याकुल हो गया था। उसे अपना व्रत, बन्धन जैसा असह्य लग रहा था। व्रत-पालन की श्रद्धा ही नहीं रही थी। मन मर्यादा तोड़ चुका था। परन्तु काया से निर्वाह हो रहा था। उसे क्षुधा-पिपासा परीषह असह्य हो रहा था। वह सरोवर की शीतलता एवं जल-क्रीड़ा का सुख भोगने की मन में कल्पना करने लगा। उसने सोचा; —

"धन्य है वे महानुभाव, जिन्होंने नगर के बाहर जलाशय निर्माण कराये, बगीचे लगवाये और सभी प्रकार के सुख के साधन जुटा कर सुख भोग रहे हैं और मानव-जीवन को सफल बना रहे हैं। मैं भी प्रातःकाल होते ही महाराजाधिराज के समक्ष भेंट ले कर जाऊँ और नगर के बाहर भूमि प्र.प्त कर के पुष्करणी का निर्माण करवाऊँ।"

इस प्रकार निश्चय कर के प्रातःकाल होते ही उसने पौषध पाला, स्नानादि किया और मूल्यवान भेंट ले कर, स्वजनों के साथ महाराजा के पास गया। महाराज ने यथेच्छ भूमि प्रदान कर दी। उसने निष्णात शिल्पियों से एक चोकोर पुष्करणी का निर्माण कराया। उसमें सुस्वादु शीतल जल भर गया। पानी पर कमल के पुष्प निकल आये। पुष्करणी दर्शनीय हो गई। उसके चारों ओर बगीचा लगाया गया। जिनमें भाँति-भाँति की सुन्दर पुष्पलताएँ, पौधे आदि लहरा रहे थे। पुष्पकरिणी के पूर्व की ओर के उद्यान में एक भव्य चित्रसभा बनावाई, जिसमें मोहक आल्हादक एवं आकर्षक चित्र, फलक और

/ ज्ञातासूत्र स्थित इस चरित्र को ग्रन्थकारों ने क्यों छोड़ दिया ? कदाचित् इस ओर दृष्टि नहीं गई हो ?

मूर्तियाँ आदि सुसज्जित थे। उस चित्रसभा में नृत्य करने वाले और नाट्यकार भी रखे थे, जो लोगों का मनोरञ्जन करते थे, कोई कथा भी सुनाते थे। दक्षिणी उद्यान में भोजनशाला बनाई, जिसमें भिखारियों को भोजन दिया जाता था। पश्चिमोद्यान में औषधालय बनाया, जिसमें कुशल वैद्य नियुक्त किये। वहाँ रोगियों को औषधी एवं पथ्य दे कर रोग-मुक्त किया जाता और उत्तर की ओर एक अलंकार सभा बनाई, जिसमें अनेक अलंकारिक रख कर लोगों के केशकर्त्तन, मर्दन, अभ्यंगन एवं विलेपन करके लोगों को सुख पहुँचाया जाने लगा और नन्द श्रेष्ठि स्वयं भी स्नानादि कर तथा नाटकादि देख कर लुब्ध रहने लगा।

नन्दा-पुष्करिणी में बहुत-से पथिक, कठियारे, घसियारे, लक्कड़हारे, आते, नहाते, धोते, खाते, पीते, नाटकादि देखते और नन्द-मनिहार की प्रशंसा करते। नन्द की प्रशंसा चारों ओर होने लगी। नन्द-श्रेष्ठी अपनी प्रशंसा सुन कर फूल जाता। उसकी प्रसन्नता का पार नहीं रहता।

कालान्तर में अशुभ-कर्म के उदय से नन्द के शरीर में भयानक रोग उत्पन्न हुआ। अनेक प्रकार के उपचार हुए, किन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। वह पुष्करिणी में अत्यंत मूच्छित रहता हुआ मृत्यु पा कर उसी में मेंढ़कपने उत्पन्न हुआ। जिस प्रकार धन में मूच्छित, धन पर उत्पन्न होता है, रत्नों और पुष्करणियों में गृद्धदेव उन्हीं में उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार नन्द, गृद्धता के कारण पुष्करिणी में मेंढ़क हुआ। लोग पूर्व की भाँति पुष्करिणी पर नन्द की प्रशंसा करते रहते थे। मेंढ़क के कानों में भी प्रशंसा के शब्द पड़े। परिचित स्थान तो था ही, परिचित शब्दों ने उसे आकर्षित किया। हृदय में ऊहापोह मचा और क्षयोपशम बढ़ते ही जातिस्मरण हो गया। उसने अपना पूर्वभव देखा। उसे धर्मत्याग और यशकीर्ति तथा जलाशय में अत्यंत आसक्ति रूप अपनी भूल दिखाई दी। वह पछताया और धर्मसाधना करने के लिए तत्पर हो गया। उसने पूर्व पाले हुए श्रावक व्रत पुनः स्वीकार किये और बेले-बेले तपस्या करने लगा। उसने निश्चय किया कि पारणा भी मैं लोगों के उबटन आदि से करूँगा और जल भी अचित हुआ पिऊँगा। वह मनोयोग पूर्वक साधना करने लगा।

कालान्तर में भगवान् राजगृह के गुणशील उद्यान में पधारे। नगर में भगवान् के पदार्पण से हर्ष व्याप्त हो गया। पुष्करिणी पर आने वाले लोगों ने भगवान् के पदार्पण की चर्चा की। मेंढ़क ने सुना, तो हर्षित हुआ और वह भी जलाशय से निकल कर भगवान् को वन्दन करने जाने लगा। महाराजा श्रेणिक और नगरजन भी भगवद्वंदन करने जा रहे थे।

महाराजा के किसी घोड़ी के बच्चे के पाँव से मेंढ़क कुचल गया। अब उससे आगे नहीं बढ़ा गया। वह सरक कर एक ओर हो गया और भगवान् की वन्दना करके अनशन ग्रहण कर लिया। शुभ-ध्यान पूर्वक देह त्याग कर वह सौधर्म-स्वर्ग में दर्दुर देव हुआ। तत्काल उत्पन्न हुए देव ने भगवान् को अवधिज्ञान से देखा। वह शीघ्र ही वन्दन करने समवसरण में उपस्थित हुआ और वन्दन-नमस्कार किया। अपनी चार पल्योपम की स्थिति पूर्ण करके दर्दुर देव, महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर मुक्त होगा।

क्या मैं छद्मस्थ ही रहूँगा ×× गौतम स्वामी की चिन्ता

भगवान् पृष्ट-चम्पा नगरी पधारे। वहाँ 'साल' नाम के राजा और 'महासाल' नामक युवराज भगवान् को वन्दना करने आये और भगवान् का धर्मोपदेश सुन कर विरक्त हो गए। उन्होंने राज्यभार अपने भानेज गागली कुमार को—जो बहिन यशोमती का पुत्र था (पिता का नाम पिठर था) को दे कर भगवान् के पास प्रव्रज्या अंगीकार की। कालान्तर में भगवान् चम्पानगरी पधारे। भगवान् से आज्ञा प्राप्त कर श्री गौतम स्वामीजी, साल और महासाल के साथ पृष्ट-चम्पा पधारे। गागली नरेश, उनके माता-पिता, मन्त्रीगण और जनता ने गणधर भगवान् की वन्दना की और धर्मोपदेश सुना। गागली नरेश, उनके माता और पिता ने गणधर भगवान् के समीप दीक्षा ग्रहण की। वहाँ से गणधर महाराज ने पुनः भगवान् के पास चम्पा जाने के लिये विहार किया। मार्ग में हलुकर्मी महान् आत्मा साल-महासाल और तीन सद्य-दीक्षितों के भावों में वृद्धि हुई और क्षपकश्रेणी चढ़ कर केवलज्ञानी हो गए। गणधर महाराज ने भगवान् को वन्दन-नमस्कार किया और यथास्थान बैठ गए, परन्तु पाँचों निर्ग्रंथों ने भगवान् की प्रदक्षिणा की और केवलियों के समूह की ओर जाने लगे। यह देख कर गौतम स्वामीजी ने उन्हें कहा—"यह क्या? पहले भगवान् को वन्दना करो।" इस पर भगवान् ने फरमाया—"गौतम! तुम केवलज्ञानी वीतरागों की आशातना कर रहे हो।" भगवान् के वचन सुन कर गौतमस्वामी ने मिथ्यादुष्कृत दिया और उन केवलियों से क्षमा याचना की।

इस घटना से श्री गौतम स्वामी चिन्तामग्न हो गए। वे सोचने लगे—"अभी के दीक्षित केवलज्ञानी हो गए और मैं अबतक छद्मस्थ ही हूँ, तो, क्या मैं इस-भव में छद्मस्थ ही रहूँगा? मुझे केवलज्ञान नहीं होगा? मुझे फिर जन्म-मरण करना पड़ेगा?" गणधर महाराज को संबोधित करते हुए भगवान् ने कहा—

"गौतम ! तुम्हारा और मेरा सम्बन्ध बहुत पुराना है। पूर्वभवों में भी तुम्हारा और मेरा साथ रहा है। तुम्हारी मुझ पर प्रीति पूर्वभवों से चली आ रही है। तुम चिर-काल से मेरे प्रशंसक रहे हो। यह स्नेह-सम्बन्ध ही तुम्हारी वीतरागता एवं केवलज्ञान में बाधक हो रहा है। किंतु तुम इसी भव में केवलज्ञान प्राप्त करोगे और इस भव के बाद अपन दोनों एक समान (सिद्ध परमात्मा) हो जावेंगे। अतएव खेद मत करो।*

---

* यह भाव भगवती सूत्र श. १४ उ. ७ से लिया है। ग्रन्थकार तो लिखते हैं कि—खेद होते ही गौतमस्वामी को देव द्वारा कही हुई बात स्मरण हुई। देव ने अरिहन्त भगवान से सुन कर कहा था कि—"जो मनुष्य अपनी लब्धि से अष्टापद पर्वत पर चढ़ कर वहाँ की जिन-प्रतिमाओं की वन्दना करे और वहीं रात्रि-निवास करे, वह उसी भव में सिद्ध होता है।" श्री गौतम स्वामीजी भगवान् की आज्ञा से चारण-लब्धि का प्रयोग कर तत्काल अष्टापद गये। वहाँ पन्द्रह सौ तापस भी पर्वत चढ़ने के लिए प्रयत्नशील थे। उनमें से पाँच सौ तापस उपवास कर के हरे कन्द से पारणा करते हुए चढ़ने लगे, परन्तु वे पर्वत की प्रथम मेखला तक ही पहुँच सके। अन्य पाँच सौ तापस बेले की तपस्याओं और सुखे हुए क़न्द से पारणा करते हुए दूसरी मेखला तक ही पहुँच सके थे। शेष पाँच सौ तेले-तेले तपस्या करते हुए सूखी हुई शैवाल (काई) से पारणा करते थे। वे तीसरी मेखला तक पहुँच कर रुक गये। आगे बढ़ने की उनमें शक्ति ही नहीं थी। गौतमस्वामी का भव्य शरीर देख कर वे चकित रह गये। उनकी देह से सौम्य तेज झलक रहा था। वे अष्टापद पर्वत पर चढ़ गए (सूर्य की किरणे पकड़ कर चढ़ने का उल्लेख इस ग्रन्थ में नहीं है) उन्होंने भरत चक्रवर्ती के बनाये भव्य मन्दिर में प्रवेश किया और आगामी चौबीसी के चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमाओं की वन्दना की। फिर मन्दिर के बाहर निकल कर एक वृक्ष के नीचे बैठ गये। वहाँ अनेक देव और विद्याधर आये और गणधर भगवान् की वन्दना की। धर्मोपदेश सुना। प्रातःकाल गौतम-गुरु पर्वत से नीचे उतरे। जब गौतम-गुरु पर्वत पर चढ़ गए तो उन तापसों को विचार हुआ कि—'सरलता पूर्वक ऊपर चढ़ने वाला कोई सामान्य पुरुष नहीं हो सकता। ये महापुरुष हैं। अपन इनका शिष्यत्व स्वीकार कर लें। इनसे हमें लाभ ही होगा।' जब गौतम-गुरु नीचे उतरने लगे, तो तापस उनके निकट आये और दीक्षा देने की प्रार्थना की। गौतम-गुरु ने उन्हें दीक्षा दी और कहा—"श्रमण भगवान् महावीर प्रभु ही तुम्हारे गुरु हैं।" देव ने उन्हें साधुवेश दिया। वे सब गौतम-गुरु के पीछे चलने लगे। मार्ग में एक गाँव से गौतम स्वामीजी गोचरी में एक पात्र में खीर लाये और उस एक मनुष्य के योग्य खीर से अक्षिणमाणसी लब्धि से पन्द्रह सौ तपस्वियों को पारणा कराया। अन्त में गौतम-गुरु ने पारणा किया, तब वह खीर समाप्त हुई। तपस्वी अवाक् रह गए। एक मनुष्य जितनी खीर से पन्द्रह सौ को भोजन? हम भाग्यशाली हैं।" शुभ ध्यान करते शुष्क-शेवालभक्षी पाँच सौ साधुओं को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। दत्त आदि पाँच सौ को दूर से ध्वजापताका देख कर और कौंडिन्य आदि पाँच सौ को प्रभु का दर्शन होते ही केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। गौतम-गुरु ने भगवान् को वन्दना की, किन्तु पन्द्रह सौ तो प्रदक्षिणा कर के केवली-परिषद की ओर जाने लगे, तो गौतम-गुरु ने उन्हें भगवान् की वन्दना करने का कहा। भगवान् ने कहा—"केवली की

सुलसा सती की परीक्षा

अपने पूर्व के परिव्राजक के वेश में रहने वाला प्रभु-भक्त अम्बड़ श्रावक एकबार भगवान् को वन्दन करने चम्पानगरी आया। उपदेश सुनने के बाद वह राजगृह जाने लगा, तो भगवान् ने अम्बड से कहा--"राजगृह के 'नाग' नामक रथिक की पत्नी 'सुलसा' 'सम्यक्त्व में दृढ़-अडिग सुश्राविका है ×।" प्रभु की वन्दना नमस्कार कर अम्बड अपनी वैक्रिय-शक्ति से उड़ा और आकाश-मार्ग से तत्काल राजगृह पहुँच गया। उसने सोचा—"सुलसा भगवान् की कितनी भक्त है कि जिस से भगवान् ने उसकी प्रशंसा की। मैं उसकी परीक्षा करूँ।" अपना रूप परिवर्तित कर के वह सुलसा के घर पहुँचा और भिक्षा माँगी। सुलसा के नियम था कि वह सुपात्र को ही दान देती। जो सुपात्र नहीं होता, उसे स्वयं नहीं दे कर दासी से दिलवाती। उसने दासी के द्वारा अम्वड को भिक्षा दी।

अम्वड राजगृह के पूर्व की ओर के उद्यान में गया और ब्रह्मा का रूप धारण कर के पद्मासन लगा कर बैठ गया। वह चार हाथ, चार मुंह, ब्रह्मास्त्र, तीन अक्षसूत्र, जटा और मुकुट धारण किये हुए था, और सावित्री को साथ लिये हुए तथा निकट ही अपना वाहन हंस बिठाया हुआ दिखाई दे रहा था,। साक्षात् ब्रह्मा के पदार्पण का नगर में प्रचार हुआ। लोग दर्शन करने उमड़े। धर्मोपदेश होने लगा। सुलसा को उसकी सखियों ने कहा--"साक्षात् ब्रह्मा का अवतरण हुआ है। चलो, अपन भी चलें और दर्शन करें।" परन्तु सुलसा निर्ग्रंथनाथ भ० महावीर प्रभु की सच्ची एवं पूर्ण उपासिका थी। वह नहीं गई। दूसरे दिन अम्वड ने विष्णु का रूप बनाया और नगरी के दक्षिण भाग में प्रकट हुआ। शंख-चक्र-गदादि धारण किये हुए, गरुड़-वाहन युक्त के अवतरण के समाचार जान कर नगरजन उमड़े, परन्तु सुलसा अप्रभावित ही रही। तीसरे दिन शंकर का रूप बना कर पश्चिम दिशा में प्रकट हुआ। भाल पर चन्द्रमा, रुण्डमाल, भुजा पर खट्वांग, तीन लोचन,

---

आशातना मत करो।" तब गोतमस्वामी ने मिथ्यादुष्कृत दिया और उन्हें खमाया। इस घटना से भी गणधर महाराज को खेद हुआ, तब भगवान् ने उन्हें अपने प्रति राग यावत् इसी भव में मुक्ति होने की बात कही।

इस कथानक पर से कई प्रश्न उपस्थित होते हैं। साक्षात् जिनेश्वर भगवन्त से भी प्रतिमा-वन्दन का फल अत्यधिक हो सकता है क्या ?

× ग्रन्थकारने लिखा है कि 'भगवान् ने सुलसा की कुशल पूछी'—यह बात सत्य नहीं लगती।

गजचर्म-परिधान, शरीर पर भस्म, वृषभ-वाहन और पार्वती युक्त दृश्यमान थे। नागरिकजन सब दर्शनार्थ गये, परन्तु सुलसा तो अटल ही रही। चौथे दिन पूर्वदिशा में स्वयं जिनेश्वर भगवान् का रूप धारण कर के भव्य समवसरण में, तीन छत्र युक्त सिंहासन पर बैठा हुआ शोभित हुआ। नागरिकजन तो गये ही, परन्तु सुलसा तो फिर भी नहीं गई। जब अंबड ने सुलसा को नहीं देखा, तो किसी पुरुष को भेज कर प्रेरित करवाया। उसने आ कर सुलसा से कहा--"जिनेश्वर भगवंत पधारे हैं, और सभी लोग भगवान् को वन्दन करते गये हैं। तुम क्यों नहीं गई ? चलो, ऐसा अलभ्य अवसर मत खोओ।" सुलसा ने कहा--

"भाई ! ये भगवान् महावीर प्रभु नहीं है। वे तो चम्पा विराजते हैं"

"अरे, ये तो पच्चीसवें तीर्थंकर हैं। तुम स्वयं चल कर दर्शन कर लो"--आगत व्यक्ति ने कहा।

"नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। न तो पच्चीस तीर्थंकर होते हैं और न एक तीर्थंकर के रहते, दूसरे हो सकते हैं। यह कोई मायावि पाखण्डी होगा, जो लोगों को ठगता है"--सुलसा ने कहा।

"अरे बहिन ! ऐसा नहीं बोलना चाहिये। इससे तीर्थंकर भगवान् की आशातना और धर्म की निन्दा होती है। तुम चल कर देखो तो सही। वहाँ चल कर देखने में हानि ही क्या है ?"

"मैं ऐसे पाखण्डी का मुंह देखना भी नहीं चाहती। वह कभी ब्रह्मा बनता है, तो कभी विष्णु। अब जिनेश्वर का मायावि रूप बना कर बैठा है। ऐसे के निकट जाने से पाखण्ड का अनुमोदन होता है।"

सुलसा को अडिग जान कर अम्बड को निश्चय हो गया कि वास्तव में सुलसा सम्यक्त्व में सुदृढ़ एवं अटल है। भगवान् ने भरी सभा में इस सती की प्रशंसा की यह उचित ही है। अपनी माया को समेट कर अम्बड ने नैषेधिकी बोलते हुए सुलसा के घर में प्रवेश किया। अम्बड को देख कर सुलसा उठी और स्वागत करती हुई बोली;--

"हे धर्मबन्धु ! श्रावक श्रेष्ठ ! आपका स्वागत है।" सुलसा ने स्वागत करके आसन प्रदान किया।

"देवी ! तुम धन्य हो। इस संसार में सर्वश्रेष्ठ श्राविका तुम ही हो। भगवान् ने भरी सभा में तुम्हारी श्रद्धा की प्रशंसा की थी। ऐसी भाग्यशाली श्राविका और कोई

"देवी ! इस नगर में अभी ब्रह्मा आदि देव आये थे और नगरजन उनको वन्दन करने, धर्मोपदेश सुनने गये थे, परन्तु तुम नहीं गयी। इसका क्या कारण है ?"

"महाशय ! आप जानते हैं कि वे देव राग-द्वेष, काम-भोग और विषय-विकार युक्त हैं। जिसने वीतराग-धर्म को हृदयंगम कर लिया है, वह वहाँ क्यों जायगा ? भगवान् जिनेश्वर देव महावीर प्रभु को प्राप्त कर लेने के बाद फिर कौनसी कमी रह जाती है कि जिससे दूसरों की चाहना की जाय ?"

अम्बड प्रसन्न हुआ और "साधु साधु" (धन्य-धन्य) कह कर चला गया।

दशार्णभद्र चरित्र

श्रमण भगवान् महावीर प्रभु चम्पा नगरी से विहार कर विचरते हुए दशार्ण* देश में दसन्ना नदी के तट पर बसे दशार्णपुरी नगरी पधारे। 'दशार्णभद्र' राजा वहाँ का स्वामी था। चर-पुरुष ने राजा के सम्मुख उपस्थित हो कर कहा--"भगवान् महावीर प्रभु इस नगर की ओर ही पधार रहे हैं, कल यहाँ उद्यान में पधार जावेंगे।" इन शुभ समाचारों ने नरेश के हृदय में अमृत-पान जैसा आनन्द भर दिया। उसने मन्त्री-मण्डल, सभासद एवं अधिकारियों को आज्ञा दी कि "कल प्रातःकाल भगवान् को वन्दन करने जाना है। सभी प्रकार की सजाई उत्कृष्ट रूप से की जाय। हमारी सजाई और ठाठ इस प्रकार का अभूतपूर्व हो कि जैसा आज तक किसी ने नहीं किया। नगर के राज-मार्ग की सजाई भी सर्वोत्तम होनी चाहिये।" राजा ने अन्तःपुर में अपनी रानियों को भी आज्ञा दी और रात भी इसी चिन्तन में व्यतीत की।

भगवान् दशार्ण नगर के बाहर उद्यान में बिराजे। देवों ने समवसरण की रचना की। नगर का राजमार्ग सुशोभित हो रहा था। ध्वजा-पताका, वन्दनवार, पुष्पाच्छादित स्वर्णद्वार आदि से चित्ताकर्षक हो गया था। राजा सजधज के साथ गजारूढ़ हो कर भगवान् की वन्दना करने चल निकला। दोनों ओर चँवर डुलाये जा रहे थे। छत्र धारण किया हुआ था। नरेन्द्र, देवेन्द्र के समान लग रहा था। हजारों सामन्त भी वस्त्राभूषण से सुसज्जित हो कर नरेश के पीछे चल रहे थे। उनके पीछे देवांगना के समान सुशोभित रानियाँ रथारूढ़ हो कर चल रही थी। वन्दीजन स्तुति कर रहे थे। नागरिकजन राजा

* कहा जाता है कि वर्त्तमान में मालव देशान्तर्गत 'मन्दसौर' नगर ही 'दशार्णपुरी' थी।

गजचर्म-परिधान, शरीर पर भस्म, वृषभ-वाहन और पार्वती युक्त दृश्यमान थे। नागरिकजन सब दर्शनार्थ गये, परन्तु सुलसा तो अटल ही रही। चौथे दिन पूर्वदिशा में स्वयं जिनेश्वर भगवान् का रूप धारण कर के भव्य समवसरण में, तीन छत्र युक्त सिंहासन पर बैठा हुआ शोभित हुआ। नागरिकजन तो गये ही, परन्तु सुलसा तो फिर भी नहीं गई। जब अंबड ने सुलसा को नहीं देखा, तो किसी पुरुष को भेज कर प्रेरित करवाया। उसने आ कर सुलसा से कहा—"जिनेश्वर भगवंत पधारे हैं, और सभी लोग भगवान् को वन्दन करने गये हैं। तुम क्यों नहीं गई? चलो, ऐसा अलभ्य अवसर मत खोओ।" सुलसा ने कहा—

"भाई! ये भगवान् महावीर प्रभु नहीं है। वे तो चम्पा विराजते हैं"

"अरे, ये तो पच्चीसवें तीर्थंकर हैं। तुम स्वयं चल कर दर्शन कर लो"—आगत व्यक्ति ने कहा।

"नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। न तो पच्चीस तीर्थंकर होते हैं और न एक तीर्थंकर के रहते, दूसरे हो सकते हैं। यह कोई मायावि पाखण्डी होगा, जो लोगों को ठगता है"—सुलसा ने कहा।

"अरे बहिन! ऐसा नहीं बोलना चाहिये। इससे तीर्थंकर भगवान् की आशातना और धर्म की निन्दा होती है। तुम चल कर देखो तो सही। वहाँ चल कर देखने में हानि ही क्या है?"

"मैं ऐसे पाखण्डी का मुँह देखना भी नहीं चाहती। वह कभी ब्रह्मा बनता है, तो कभी विष्णु। अब जिनेश्वर का मायावि रूप बना कर बैठा है। ऐसे के निकट जाने से पाखण्ड का अनुमोदन होता है।"

सुलसा को अडिग जान कर अम्बड को निश्चय हो गया कि वास्तव में सुलसा सम्यक्त्व में सुदृढ़ एवं अटल है। भगवान् ने भरी सभा में इस सती की प्रशंसा की यह उचित ही है। अपनी माया को समेट कर अम्बड ने नैषेधिकी बोलते हुए सुलसा के घर में प्रवेश किया। अम्बड को देख कर सुलसा उठी और स्वागत करती हुई बोली;—

"हे धर्मबन्धु! श्रावक श्रेष्ठ! आपका स्वागत है।" सुलसा ने स्वागत करके आसन प्रदान किया।

"देवी! तुम धन्य हो। इस संसार में सर्वश्रेष्ठ श्राविका तुम ही हो। भगवान् ने भरी सभा में तुम्हारी श्रद्धा की प्रशंसा की थी। ऐसी भाग्यशाली श्राविका और कोई

"देवी ! इस नगर में अभी ब्रह्मा आदि देव आये थे और नगरजन उनको वन्दन करने, धर्मोपदेश सुनने गये थे, परन्तु तुम नहीं गयी। इसका क्या कारण है ?"

"महाशय ! आप जानते हैं कि वे देव राग-द्वेष, काम-भोग और विषय-विकार युक्त हैं। जिसने वीतराग-धर्म को हृदयंगम कर लिया है, वह वहाँ क्यों जायगा ? भगवान् जिनेश्वर देव महावीर प्रभु को प्राप्त कर लेने के बाद फिर कौनसी कमी रह जाती है कि जिससे दूसरों की चाहना की जाय ?"

अम्बड प्रसन्न हुआ और "साधु साधु" (धन्य-धन्य) कह कर चला गया।

दशार्णभद्र चरित्र

श्रमण भगवान् महावीर प्रभु चम्पा नगरी से विहार कर विचरते हुए दशार्ण° देश में दसन्ना नदी के तट पर बसे दशार्णपुरी नगरी पधारे। 'दशार्णभद्र' राजा वहाँ का स्वामी था। चर-पुरुष ने राजा के सम्मुख उपस्थित हो कर कहा--"भगवान् महावीर प्रभु इस नगर की ओर ही पधार रहे हैं, कल यहाँ उद्यान में पधार जावेंगे।" इन शुभ समाचारों ने नरेश के हृदय में अमृत-पान जैसा आनन्द भर दिया। उसने मन्त्री-मण्डल, सभासद एवं अधिकारियों को आज्ञा दी कि "कल प्रातःकाल भगवान् को वन्दन करने जाना है। सभी प्रकार की सजाई उत्कृष्ट रूप से की जाय। हमारी सजाई और ठाठ इस प्रकार का अभूतपूर्व हो कि जैसा आज तक किसी ने नहीं किया। नगर के राज-मार्ग की सजाई भी सर्वोत्तम होनी चाहिये।" राजा ने अन्तःपुर में अपनी रानियों को भी आज्ञा दी और रात भी इसी चिन्तन में व्यतीत की।

भगवान् दशार्ण नगर के बाहर उद्यान में बिराजे। देवों ने समवसरण की रचना की। नगर का राजमार्ग सुशोभित हो रहा था। ध्वजा-पताका, वन्दनवार, पुष्पाच्छादित स्वर्णद्वार आदि से चित्ताकर्षक हो गया था। राजा सजधज के साथ गजारूढ़ हो कर भगवान् की वन्दना करने चल निकला। दोनों ओर चँवर डुलाये जा रहे थे। छत्र धारण किया हुआ था। नरेन्द्र, देवेन्द्र के समान लग रहा था। हजारों सामन्त भी वस्त्राभूषण से सुसज्जित हो कर नरेश के पीछे चल रहे थे। उनके पीछे देवांगना के समान सुशोभित रानियाँ रथारूढ़ हो कर चल रही थी। वन्दीजन स्तुति कर रहे थे। नागरिकजन राजा

° कहा जाता है कि वर्त्तमान में मालव देशान्तर्गत 'मन्दसौर' नगर ही 'दशार्णपुरी' थी।

का अभिवादन कर रहे थे। गायक गीत गाते जा रहे थे। हाथी-घोड़े नगाड़े आदि पंक्तिबद्ध आगे चल रहे थे। चतुरंगिनी सेना भी साथ थी। राजा गर्वानुभूति से पुलकित होता हुआ समवसरण के निकट पहुँचा और हाथी से नीचे उतर कर समवसरण में प्रविष्ट हुआ। भगवान् की तीन बार प्रदक्षिणा की और वन्दना करने के पश्चात् गर्वित हृदय से योग्य स्थान पर बैठा।

उस समय सौधर्मेन्द्र ने अपने ज्ञान से भगवान् को देखा और दशार्णभद्र के अभिमान को जाना। उसने राजा का गर्व हटाने के लिये एक जलभरित विमान की विकुर्वणा की। उसमें स्फटिक-रत्न के समान निर्मल जल भरा हुआ था। ऊपर सुन्दर एवं विकसित कमल-पुष्प खिले हुए थे। हंस और सारस पक्षी किलोल करते हुए मधुर नाद कर रहे थे। वह जलमय विमान उत्तम रीति से सजा हुआ मनोहारी था। उस जलकांत विमान में अनेक देवों के साथ इन्द्र बैठा हुआ था। देवांगनाएँ चामर विंजा रही थीं। गंधर्व गायन कर रहे थे। यह विमान स्वर्ग से उतर कर मनुष्य लोक में आया और इन्द्र विमान से नीचे उत्तर कर ऐरावत हाथी पर आरूढ़ हुआ। वह हाथी मणिमय आठ दाँत वाला था। उस पर देवदुष्य की झूल आच्छादित थी। देवांगनाएँ इन्द्र पर चामर डुला रही थीं। समवसरण के समीप आ कर इन्द्र हाथी पर से नीचे उतरा और भक्तिपूर्वक प्रवेश किया। उस समय उसके जलकान्त विमान में रही हुई क्रीड़ा-वापिकाओं में रहे हुए प्रत्येक कमल से संगीत की ध्वनि निकलने लगी और प्रत्येक संगीत में एक इन्द्र के समान वैभव वाला सामानिक देव दिखाई देने लगा। उस देव का परिवार भी महान् ऋद्धियुक्त और आश्चर्योत्पादक था। इन्द्र ने भगवान् की वन्दना की। इन्द्र की ऐसी अपार ऋद्धि देख कर दशार्णभद्र नरेश आश्चर्य में डूब गए। उनका अहंकार नष्ट हो गया। वे अपने आपको क्षुद्र एवं कूपमण्डुकसा मानने लगे। उनके मन में ग्लानि उत्पन्न हुई, वैराग्य उत्पन्न हुआ और उन्होंने वहीं वस्त्रालंकार उतार कर केश-लुंचन किया और दीक्षित हो कर भगवान् का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। इन्द्र पर विजय पाने का उन्होंने यही उपाय किया। दशार्णभद्र के दीक्षित होते ही इन्द्र उन के समीप आया और नमस्कार कर के बोला--"महात्मन् ! आप विजयी हैं। मैं अपनी पराजय स्वीकार करता हूँ। मैं आपकी समानता नहीं कर सकता।"

मुनिराज दशार्णभद्रजी संयम-तप की आराधना करने लगे। भगवान् ने वहाँ से विहार कर दिया।

शालिभद्र चरित्र

राजगृह नगर के निकट शालि ग्राम में 'धन्या' नाम की स्त्री– कहीं अन्य ग्राम से आ कर रही थी। उसके 'संगमक' नाम का एक पुत्र था। इसके अतिरिक्त उसका समस्त परिवार नष्ट हो चुका था। वह लोगों के यहाँ मजदूरी करती थी और संगमक दूसरों के बछड़े (गौ-वत्स) चराया करता था। किसी पर्वोत्सव के दिन सभी लोगों के यहाँ खीर बनाई गई थी। संगमक ने लोगों को खीर खाते देखा, तो उसके मन में भी खीर खाने की लालसा जगी। उसने घर आ कर माता से खीर बनाने का कहा। धन्या ने अपनी दरिद्र-दशा बता कर पुत्र को समझाया, किन्तु बालक हठ पकड़ बैठा। धन्या अपनी पूर्व की सम्पन्न स्थिति और वर्त्तमान दुर्दशा का विचार कर रोने लगी। आसपास की महिलाएँ धन्या का विलाप सुन कर आई और रुदन का कारण पूछा। धन्या ने कहा–– "मेरा बेटा खीर माँगता है। मैं दुर्भागिनी हूँ। मैं भले घर की सम्पन्न स्त्री थी, परन्तु दुर्भाग्य से मेरी यह दशा हो गई। रूखा-सूखा खा कर पेट भरना भी कठिन हो गया, तब इसे खीर कहाँ से खिलाऊँ ? यह मानता ही नहीं है। अपनी दुर्दशा का विचार कर मुझे रोना आ गया।" पड़ोसिन महिलाओं के मन से करुणा उत्पन्न हुई। उन्होंने दूध आदि सामग्री अपने घरों से ला कर धन्या को दी। धन्या ने खीर पकाई और एक थाली में डाल कर पुत्र को दी। पुत्र को खीर दे कर धन्या दूसरे काम में लग गई। इसी समय एक तपस्वी संत ने मासखमण के पारणे के लिए, अपने अभिग्रह के अनुसार दरिद्र दिखाई देने वाली धन्या की झोंपड़ी में प्रवेश किया। संगमक थाली की खीर को ठण्डी होने तक रुका हुआ था। संगमक ने तपस्वी महात्मा को देखा, तो उसके हृदय में शुभ भावों का उदय हुआ। उसने सोचा––"धन्य भाग मेरे। ऐसे तपस्वी महातमा मुझ दरिद्र के घर पधारे। यह तो कल्पवृक्ष के समान है। मेरे घर सोने का सूर्य उदय हुआ है। अच्छा हुआ कि ये चिन्तामणि-रत्न समान महात्मा इस समय पधारे, जब कि मेरे पास उन्हें प्रतिलाभने के लिए खीर है।" इस प्रकार विचार करते हुए उसने मुनिराज के पात्र में थाली ऊँड़ेल कर सभी खीर बहरा दी। तपस्वी संत के लौटने के बाद धन्या घर में आई। उसने देखा––थाली में खीर नहीं है। पुत्र खा गया है। उसने फिर दूसरी बार खीर परोसी। संगमक ने रुचि पूर्वक आकण्ठ खीर खाई। उसे अजीर्ण हो कर रोगातंक हुआ। रोग उग्रतम हुआ, परन्तु संगमक के मन में तो तपस्वी संत और उन्हें दिये हुए दान की प्रसन्नता रम रही थी। उन्हीं विचारों में संगमक ने आयु पूर्ण कर देह छोड़ी।

श्रेणिक नरेश को भी आश्चर्य हो रहा था—"कितनी सम्पत्ति होगी—शालिभद्र के पास ?" उसने शालिभद्र को बुलाने के लिये एक सेवक भेजा। भद्रा सेठानी ने नरेश के समक्ष उपस्थित हो कर कहा—"स्वामी ! शालिभद्र तो घर से बाहर निकला ही नहीं। यदि श्रीमान् मेरे घर पधार कर उसे दर्शन देने का अनुग्रह करें, तो बड़ी कृपा होगी।" राजा ने आने स्वीकृति दे दी। भद्रा ने घर पहुँच कर तत्काल नरेश के स्वागत में सजाई करने के लिए सेवकों को लगा दिया। राज्य-प्रासाद से अपने भवन तक का मार्ग और अपना घर-द्वार उत्तम रीति से सजाया गया। श्रेणिक नरेश शालिभद्र के घर तक पहुँचे, तो वे सजाई देख कर बहुत प्रसन्न हुए। घर-द्वार पर स्वर्ण-स्तंभ लगे हुए थे। उन पर इन्द्र नीलमणि के तोरण झूल रहे थे। द्वार की भूमि पर मूल्यवान् मोतियों के स्वस्तिक की श्रेणियें रची थीं। ऊपर दिव्य वस्त्रों के चंदोवे लगे थे और सारा भवन सुगन्ध से मघमघा रहा था। नरेश के आश्चर्य का पार नहीं रहा था। चतुर्थ खण्ड में नरेश के बैठने की व्यवस्था की गई थी। यथास्थान पहुँच कर नरेश सुशोभित सिंहासन पर बैठे। तत्पश्चात् सप्तम खण्ड पर रहे हुए शालिभद्र के पास माता पहुँची और पुत्र से बोली;—

"पुत्र ! श्रेणिक महाराज पधारे हैं। नीचे चलो।"

"माता ! क्रय-विक्रय तो आप ही करती हैं। मैं तो कुछ जानता ही नहीं। यदि लेना है, तो भण्डार से मूल्य चुका कर ले लो"—व्यवहार से अनभिज्ञ शालिभद्र बोला।

पुत्र की बात पर हँसती हुई भद्रा बोली—"पुत्र ! महाराजाधिराज श्रेणिक अपने स्वामी हैं, नाथ हैं। वे कोई क्रय करने की वस्तु नहीं हैं। हम उनकी प्रजा हैं। वे हमारी रक्षा करते हैं। उनका आदर-सत्कार करना हमारा कर्त्तव्य है। चलो।"

माता की बात ने शालिभद्र के हृदय में एक खटका उत्पन्न कर दिया—"मेरे सिर पर भी कोई स्वामी है--नाथ है ? मैं पूर्ण स्वतन्त्र और सुरक्षित नहीं हूँ ?" इस प्रकार सोचता हुआ शालिभद्र उठा और अपनी पत्नियों सहित नीचे उतर कर नरेश के समीप आया और प्रणाम किया। नरेश ने उसे आलिंगन में ले कर गोदी में बिठाया और पुत्रवत् स्नेह किया। नीचे उतरने के श्रम तथा मनुष्यों की भीड़ से वह पसीने से भीग रहा था। माता ने राजेन्द्र से कहा—"महाराज ! अब इसे छोड़ दीजिये। यह ऐसी परिस्थिति में रहने का आदी नहीं है। इसके पिता देव हुए हैं। वे प्रतिदिन इसके और वधुओं के लिये स्वर्ग से वस्त्रालंकार और अंगराग भेजते रहते हैं, और ये उसे एक दिन भोग कर उतार देता है। ऐसी ही आदत हो गई है—इसकी।"

राजा ने शालिभद्र को छोड़ दिया और वह पत्नियों सहित अपने सातवें खण्ड में

पहुँच गया। सेठानी ने नरेश को अपने घर भोजन करने का आग्रह पूर्ण निवेदन किया। महाराज ने उसका आग्रह स्वीकार किया। राजा स्नान करने बैठा। उत्तम कोटि का अभ्यंगन उबटन कर सुगन्धित जल से स्नान कर रहा था कि अचानक अंगुली में से रत्न-जड़ित अंगूठी निकल कर गृहवापिका में गिर पड़ी। राजा मुद्रिका ढूँढने लगा, तो सेठानी ने दासी को आदेश दिया, जिसने उस वापिका का जल दूसरी ओर निकाल दिया। राजा ने देखा--उस वापिका में दिव्य-आभूषण चमक रहे हैं। उनके बीच में राजा की मुद्रिका तो निस्तेज दिखाई दे रही थी। राजा के पूछने पर दासी ने बताया कि--"शालिभद्र और उनकी पत्नियों के देव-प्रदत्त आभूषण प्रतिदिन उतार कर इस वापिका में डाले जाते हैं। ये वे ही आभूषण हैं। महाराजा ने सपरिवार भोजन किया और बहुमूल्य वस्त्राभूषण की भेंट स्वीकार कर राज्यमहालय पधारे।

शालिभद्र के मन में संसार के प्रति विरक्ति बस गई। अब वह पिता के पथ पर चल कर आत्म-स्वतन्त्रता प्राप्त करना चाहता था। सद्भाग्य से वहाँ चार ज्ञान के धारक आचार्य धर्मघोष मुनिराज पधारे। शालिभद्र हर्षित हुआ और रथारूढ़ हो कर वंदना करने चला। आचार्यश्री और सभी साधुओं की वन्दना की। आचार्यश्री ने धर्मोपदेश दिया और पूर्ण स्वाधीन होने का मार्ग बताया। शालिभद्र ने घर आ कर माता को प्रणाम कर कहा--

"मातेश्वरी! मैंने आज निर्ग्रंथ-गुरु का धर्मोपदेश सुना। मुझे उस धर्मोपदेश पर रुचि हुई। यह धर्म संसार के समस्त दुःखों से मुक्त करने वाला है।"

"पुत्र! तुने बहुत अच्छा किया। तू उन धर्मात्मा पिताजी का पुत्र है, जिनके रग-रग में धर्म बसा हुआ था। तुझे धर्म का आदर करना ही चाहिये"--माता ने पुत्र की धर्मरुचि देख कर संतोष व्यक्त किया।

"मातेश्वरी! मुझ पर प्रसन्न हो कर अनुमति प्रदान करें। मैं भी अपने पिताश्री का अनुकरण कर के धर्मघोष आचार्य के समीप दीक्षित होना चाहता हूँ।"--शालिभद्र ने दीक्षित होने की अनुमति माँगी।

"माता ! जब संयम-साधना का दृढ़ निश्चय कर लिया, तो फिर दुःखों और परीषहों को तो आमन्त्रण ही दिया है। जो कायर होते हैं, वे ही दुःख से डरते हैं। मैं सभी परीषहों को सहन करूँगा। आप अनुमति प्रदान कर दें।"

"पुत्र ! यदि तू सर्वत्यागी बनना चाहता है, तो पहले देश-त्यागी बन कर क्रमशः त्याग बढ़ा, जिससे तुझे त्याग का अभ्यास हो जाय। इसके बाद सर्वत्यागी बनना।" शालिभद्र ने माता का वचन मान्य किया और उसी दिन से एक पत्नी और एक शय्या का त्याग—प्रतिदिन करने लगा।

पत्नियों का व्यंग और धन्य की दीक्षा

उसी नगर में 'धन्य' नाम का धनाढ्य श्रेष्ठि रहता था। वह शालिभद्र की कनिष्ट भगिनी का पति था। भाई के संसार-त्याग की बात सुन कर बहिन के हृदय में बन्धु-विरह का दु.ख भरा हुआ था। धन्य श्रेष्ठि स्नान करने बैठा। उसकी पत्नियें तेल-मर्दन उबटनादि कर रही थी और सुभद्रा सुगन्धित शीतल जल से स्नान करवा रही थी। उस समय उसके नेत्र से आंसू की धारा बह निकली। धन्य ने पत्नी की आँखों में आँसू देख कर पूछा;—

"प्रिये ! इस चन्द्र-वदन पर शोक की छाया और आंसू की धारा का क्या कारण है ?"

"नाथ ! मेरा बन्धु गृह-त्याग कर साधु होना चाहता है। इसलिए वह एक-एक पत्नी और एक-एक शय्या का प्रतिदिन त्याग करने लगा है। भाई के विरह की संभावना से मेरा हृदय शोक पूर्ण हो रहा है—स्वामिन्"—सुभद्रा ने हृदयगत वेदना व्यक्त की।

"ऐं क्या एक पत्नी प्रतिदिन त्यागता है ? तब तो वह कायर है, गीदड़ है। यदि त्याग ही करना है, तो सिंह के समान एक साथ सब कुछ त्याग देना चाहिये। क्रमशः त्यागना तो सत्त्वहीनता है"— धन्य ने व्यंगपूर्वक कहा।

पति का व्यंग सुन कर अन्य पत्नियाँ बोली—"यदि त्यागी बनना सरल है, तो आप ही एक-साथ सर्वस्व त्याग कर निर्ग्रंथ-दीक्षा क्यों नहीं लेते ? बातें करना जितना सहज है, कर-दिखाना उतना सरल नहीं है।"

धन्य ने तत्काल उठ कर कहा—"बस, मैं यही चाहता था। तुम सब मेरे लिये बन्धन बनी हुई थी। तुम्हारी अनुमति मुझे सहज ही प्राप्त हो गई। अभी से मैंने तुम

सब का त्याग किया। अब मैं दीक्षित होने जा रहा हूँ।"

पत्नियाँ सहम गई। उन्होंने गिड़गिड़ाते हुए कहा—"नाथ ! हँसी में कही हुई बात सत्य नहीं होती। आप हमें क्षमा कीजिये और गृह-त्याग की बात छोड़ दीजिये।"

धन्य ने कहा--"धन, स्त्री और कुटुम्ब-परिवार सब अनित्य है। यदि इनका त्याग नहीं किया जाय, तो ये स्वयं छोड़ देते हैं, या मर कर छोड़ना पड़ता है। मैं स्वयं संसार का त्याग करना चाहता हूँ"—कह कर धन्य खड़ा हो गया।

पति को जाता देख कर पत्नियें भी संयम लेने के लिये तत्पर हो गई। पुण्ययोग से भगवान् महावीर वहाँ पधारे। धन्य ने दीनजनों को विपुल धन का दान दिया और पत्नियों सहित शिविका में बैठ कर भगवान् के समीप गया। सभी ने भगवान् से दीक्षा ग्रहण की। जब ये समाचार शालिभद्र ने सुने, तो उसने सोचा—"बहनोई ने मुझे जीत लिया।" वह भी तत्काल दीक्षा लेने को तत्पर हो गया। महाराजा श्रेणिक ने शालिभद्र का दीक्षा-महोत्सव किया। शालिभद्र भी भगवान् का शिष्य बन गया। धन्य और शालिभद्र संयम और तप के साथ ज्ञान की आराधना करने लगे। वे बहुश्रुत हुए। वे मासखमण, दो मास, तीन मास, चार मास आदि उग्रतप घोरतप करने लगे। उनका शरीर रक्त-मांस रहित हड्डियों का चर्माच्छादित ढांचा मात्र रह गया।

माता ने पुत्र और जामाता को नहीं पहिचाना

कालान्तर में भगवान् के साथ दोनों मुनि अपनी जन्मभूमि—राजगृह पधारे। भगवान् की वन्दना करने के लिए जनता उत्साहपूर्वक आने लगी। धन्य और शालिभद्र मुनि मासखमण के पारणे के लिए भिक्षार्थ जाने की अनुज्ञा लेने के लिए भगवान् के समीप आये। नमस्कार किया। भगवान् ने शालिभद्र से कहा—"आज तुम तुम्हारी माता से मिले हुए आहार से पारणा करोगे।" दोनों मुनि नगर में भद्रा माता के द्वार पर पहुँचे। मुनियों का शरीर तपस्या से शुष्क हो गया था। वे पहिचाने नहीं जा सकते थे। उधर भगवान् तथा पुत्र-जामाता मुनियों को वन्दना करने जाने की शीघ्रता व्यग्रता से भद्रा सेठानी मुनियों की ओर ध्यान नहीं दे सकी। मुनि लौट आये। मार्ग में उन्हें शालिग्राम की वृद्धा धन्या मिली, जो शालिभद्रजी की पूर्व-भव की माता थी। वह दही-दूध बेचने के लिए नगर में आई थी। मुनियों को देखते ही उसके मन में स्नेह उमड़ा। उसने हाथ जोड़

कर दही ग्रहण करने का निवेदन किया। मुनि दही ग्रहण कर भगवान् के समीप आये। वन्दना की और दही प्राप्त होने आदि की आलोचना की। भगवान् ने कहा—"वह दही देने वाली वृद्धा तुम्हारी पूर्वभव की माता है।" मुनियों ने पारणा किया। दोनों मुनि भगवान् की आज्ञा ले कर वैभारगिरि पर गये और पादपोपगमन अनशन कर के शिला पर लेट गये। उधर महाराजा श्रेणिक भद्रा सेठानी सहित वन्दना करने आये। वन्दना करने के पश्चात् धन्य-शालिभद्र मुनियों के विषय में पूछा। भगवान् ने भद्रा से कहा--"दोनों मुनि तुम्हारे यहाँ भिक्षाचरी के लिए आये थे, परन्तु तुमने उन्हें पहिचाना नहीं। उन्हें पूर्वभव की माता से दही मिला। वे पारणा कर के वैभारगिरि पर गये। वहाँ अनशन कर के सोये हुए हैं।"

पुत्र को भिक्षा मिले बिना घर से लौट जाने की बात भगवान् से सुन कर भद्रा को पछतावा हुआ। महाराजा और भद्रा वैभारगिरि पर आये और मुनियों को वन्दन-नमस्कार किया। मुनियों का शुष्क एवं जर्जर शरीर देख कर भद्रा विव्हल हो गई। वह रोती हुई बोली--"हे वत्स! तुम घर आये, परन्तु मैं दुर्भागिनी प्रमाद में पड़ी रही, तुम्हें देखा ही नहीं और अपने घर से खाली लौट गए। तुमने तो मेरा त्याग कर दिया, परन्तु मेरे मन में आशा थी कि मैं तुम्हें देख सकूँगी। इससे मुझे आश्वासन मिलेगा। परन्तु तुम तो अब शरीर का ही त्याग कर रहे हो। हा, मैं कितनी भाग्यहीना हूँ।' नरेश ने भद्रा को समझाया--"भद्रे! तुम्हारा पुत्र तो हम सब के लिये वन्दनीय हो गया। अब ये शाश्वत सुख के स्वामी होंगे। इन्हें परम सुखी होते देख कर तो प्रसन्न होना चाहिए। तुम महान् पुण्य-शालिनी माता हो। शोक मत करो।" भद्रा आश्वस्त हुई और वन्दना कर के राजा के साथ लौट गई। दोनों मुनि आयु पूर्ण कर के सर्वार्थसिद्ध महाविमान में उत्पन्न हुए। वहाँ तेतीस सागरोपम प्रमाण आयु भोग कर मनुष्य भव प्राप्त करेंगे और तप-संयम की आरा-धना कर मुक्त हो जावेंगे।

रोहिणिया चोर

श्रमण भगवान् महवीर प्रभू के विहार-क्षेत्र में छोटे-छोटे गाँव, वन, अटवी, पर्वत आदि भी आते थे, जिन में कृषक, विभिन्न प्रकार के वनचारी, वनोपजीवी, अनार्य, हिंसक, क्रूर और चोर-डाकू लोग रहते थे। जो भगवान् के समीप आते, उन्हें भगवान् उपदेश प्रदान करते। राजगृह के निकट वैभारगिरि की गुफा, उपत्यका एवं बीहड़ों

में निर्भय रहने वाला 'लोहखुर' नाम का डाकू रहता था। वह क्रूर, हिंसक, निर्दय और भयानक था। डाका डाल कर लूटता, सम्पन्न से विपन्न बना देता और परस्त्रियों के साथ व्यभिचार करता रहता था। भगवान् महावीर के तो वह निकट भी नहीं आता था। वह जानता था कि भगवान् की वाणी में वह प्रभाव है कि बड़े-बड़े दिग्गज भी उनके प्रभाव में आ कर शिष्य बन जाते हैं। महामहोपाध्याय महापण्डित ऐसे इन्द्रभूतिजी आदि तो प्रथम दर्शन में ही उसके साधु हो गए। वे लौट कर घर ही नहीं आये। उन्होंने महावीर का शिष्यत्व प्राप्त करना अपना परम सौभाग्य समझा। लोग प्रसन्नता पूर्वक अपना राजपाट और घरबार छोड़ कर उसके पास साधु बन जाते हैं। उसके उपासक भी इतने प्रभावशाली हैं कि जिनके प्रभाव से देव-प्रकोप भी मिट जाता है। मुद्गरपाणि यक्ष की घटना उसे ज्ञात थी। वह यह भी जानता था कि महावीर की सेवा में देव और इन्द्र भी आते हैं। जिसने महावीर की बात सुनी, उसका आचरण ही बदल जाता है। इसलिए वह भगवान् के समीप ही नहीं जाता। मार्ग छोड़ कर दूर ही से निकल जाता है। उसे भय है कि कहीं महावीर का प्रभाव उस पर पड़ जाय और वह अपना प्रिय धन्धा छोड़ कर दुःखी हो जाय। वह वृद्ध हो गया था। रोग असाध्य था। उसे जीवन की आशा नहीं रही थी। उसने अपने पुत्र 'रोहिण' को निकट बुला कर कहा;--

"बेटा! मेरा जीवन पूरा हो रहा है। अब तुझ पर घर का सारा भार है। तू योग्य है। तू अपने धन्धे की सभी कलाएँ सीख कर प्रवीण हो गया है। परन्तु एक बात का ध्यान रखना। वह महावीर महात्मा है न? जिसे लोग 'भगवान्' मानते हैं और उसके पास देवी-देवता भी आते हैं। तू उससे दूर ही रहना। वह जिस स्थान पर हो--जिस गाँव के निकट हो, उस गाँव से ही तू दूर रहना। उसे देखना तो दूर रहा, उसकी बात भी अपने कान में मत पड़ने देना। वह बड़ा प्रभावशाली जादुगर है। मुझे भी उसका भय था। उसकी बातों में आ कर बड़े-बड़े राजा, राजकुमार, सेठ और सामन्त लोग, अपना धन-वैभव, राज-पाट, पत्नी और पुत्र-पुत्री सब कुछ छोड़ कर साधु हो गये हैं। मेरी इतनी बात अपनी गाँठ में बांध लेगा, तो तू सुखी रहेगा और यह घर बना रहेगा।"

रोहिण ने पिता को वचन दिया। लोहखुर मर गया। बाप का क्रिया-कर्म कर के रोहिण अपने धन्धे में लग गया। वह भी चौर्य-कर्म में निपुण था। वह चोरियाँ करता रहा। राजगृह एक समृद्ध नगर था और निकट था। वह अवसर देख कर इसी को लूटता रहता। लोग रोहीणिये की लूट से दुःखी थे। नगर-रक्षक के चोर को पकड़ने के सारे प्रयत्न व्यर्थ गये। लोगों का त्रास देख कर राजा नगर-रक्षकों पर कुपित हुआ।

अभयकुमार ने नगर-रक्षक से कहा—"तुम सेना को सन्नद्ध कर के गुप्त रूप से यह जानने का प्रयत्न करो कि--रोहिणिया कब नगर में प्रवेश करता है। जब वह नगर में आवे तब तुम सैनिकों से सारे नगर को घेर लो और भीतर भी खोज करते रहो। इस प्रकार वह पकड़ में आ सकेगा।"

भगवान् राजगृह पधारे और गुणशील उद्यान में बिराजे। धर्मोपदेश चल रहा था। रोहिण नगर में जा रहा था। वह मार्ग भगवान् के निकट हो कर ही जाता था। बच कर निकलने की कोई सुविधा नहीं थी। उसने अपने दोनों कानों में अंगुलियाँ डाल दी और शीघ्रतापूर्वक चलने लगा। अचानक उसके पांव में एक काँटा चूभ गया, जिससे उसका चलना अशक्य हो गया। विवश हो कर उसे नीचे बैठ कर काँटा निकालना पड़ा। वह भगवान् की वाणी सुनना नहीं चाहता था, परन्तु काँटा तो निकालना ही था और काँटा निकालने के लिए कान से अंगुलियाँ हटाना भी आवश्यक था। उसने अंगुलियाँ हटाई। काँटा निकाले इतने समय में ही उसके कान में भगवान् के कुछ शब्द पड़ गये। भगवान् ने सभा में देव की पहिचान बताते हुए कहा था;—

"१ देव के चरण पृथ्वी का स्पर्श नहीं करते, २ नेत्र टिमटिमाते नहीं, ३ उनकी माला मुरझाती नहीं और ४ शरीर प्रस्वेद एवं रज से लिप्त नहीं होता।"

इन वचनों को सुन कर भी वह पछताया, परन्तु विवश था। वह उन शब्दों को भूलाना चाह कर भी भूल नहीं सका। उसे खेद था कि वह अपने पिता को दिये हुअे वचन का निर्वाह नहीं कर सका।

अभयकुमार के निर्देशानुसार नगर-रक्षक ने सेना को गुप्त रूप से सज्ज किया और रोहिण के नगर-प्रवेश के अवसर की ताक में लगा रहा। उसे भेदिये ने सूचना दी— "रोहिणिया अभी अमुक मार्ग से नगर में घुसा है।" सैनिकों द्वारा नगर घेर लिया गया। सभी मार्ग रोक दिये गये। इसबार वह पकड़ में आ गया। उसे बन्दी बना कर राज्य-सभा में उपस्थित किया। उसका निग्रह करने के लिए राजा ने अभयकुमार को आदेश दिया। रोहिण को पूछा गया, तो उसने कहा--"मैं निर्दोष हूँ। मैने चोरी नहीं की, कभी नहीं की।" उससे पूछा—"तू कौन है और कहाँ रहता है ?"

—"मैं शालि ग्राम का रहने वाला 'दुर्गचण्ड' कृषक हूँ। मैं नगर देखने आया था। लौटते समय मुझे पकड़ लिया"—रोहिण ने कहा।

—"तू रोहिणिया चोर है और चोरी करने नगर में आया था। तू अपने को छुपा रहा है और झूठा परिचय दे रहा है"--महामन्त्री ने कहा।

--"आप न्यायपरायण हैं। आपको निर्दोष को दण्ड नहीं देना चाहिए। मैंने अपना जो परिचय दिया, उसकी सत्यता शालि ग्राम से जानी जा सकती है।"

महामन्त्री ने एक अधिकारी को शालि ग्राम भेज कर पता लगाया, तो ज्ञात हुआ कि वहाँ का निवासी दुर्गचण्ड, नगर गया है। रोहिणिया बड़ा चालाक था। उसने पहले से ही ऐसा प्रबन्ध कर रखा था कि उसके विषय में किसी को कुछ पूछे, तो वह वही उत्तर दे, जो रोहिण के हित में हो। अन्यथा वह उनसे घातक बदला लेगा। रोहिणिये की बात प्रमाणित हो गई। अब न्याय-दृष्टि से उसे बन्दी रखना उचित नहीं था। किन्तु महामन्त्री को उसकी बात पर विश्वास नहीं हुआ। अन्य सभी को भी उसके चोर होने का विश्वास था। परन्तु उसके पास से न तो चोरी का कोई माल मिला और न किसी ने चोरी करते हुए देखा। वह चोर प्रमाणित नहीं हो रहा था। अभयकुमार ने उसे अपने साथ लिया। सैनिक हटा दिये गये, किन्तु गुप्त रूप से उस पर दृष्टि रखने का संकेत कर दिया।

महामन्त्री की चाल व्यर्थ हुई

अभयकुमार रोहिणिये को स्नेहपूर्वक अपने साथ राज्य-भवन में लाये। मूल्यवान् उपकरणों से सुसज्जित सप्त-खण्ड वाले भवन के ऊपर के खण्ड में उसे ठहराया। उसके स्वागत के लिए अनेक सेवक-सेविकाएँ नियत किये। उसे उच्च प्रकार की मदिरा पिला कर मद में मत्त कर दिया। उसे बहुमूल्य वस्त्रालंकार पहिनाये। भोजन-पान के पश्चात् उसके समक्ष किन्नर-कंठी गायिकाओं को गायन और कला-निपुण वादकों द्वारा सुरीले वादिन्त्र तथा नर्तकियों का नाच होने लगा। कुछ सुन्दर पुरुषों ने देवों का और सुन्दरियों ने देवांगनाओं का स्वांग रचा और रोहिण की शय्या के निकट खड़े हो कर उसकी जयजयकार करने लगे। जब रोहिण पर चढ़ा हुआ नशा कम हुआ, तो उसने भवन, उसकी सजाई, रत्नों के आभरण और गान-वादन और नृत्य देखा। उसे इधर-उधर देखते ही उपस्थित देव-देवी बोल उठे।

"जय हो स्वामी! आपकी विजय हो। आप स्वर्ग के इस महाविमान के अधिपति देव हैं। हम सब आपके सेवक-सेविकाएँ हैं। ये गन्धर्व आपके समक्ष गा रहे हैं। देवांगनाएँ नृत्य कर रही है। आप धन्य हैं। महाभाग हैं। ये देवांगनाएँ आपके अधीन हैं। आप यथेच्छ सुखोपभोग करें।"

हठात् रत्नजड़ित स्वर्ण-दण्ड लिए एक प्रतिहारी देव आया और बोला—
"तुम यह क्या कर रहे हो ? तुम्हें मालूम नहीं है कि—'जो देव यहाँ नये उत्पन्न होते हैं, उन्हें सब से पहले अपने सौधर्म-स्वर्ग के आचार का पालन करना होता है। उसके बाद ही स्वर्गीय सुख भोगते हैं। ये तो हम सब के स्वामी हैं। इनसे तो इसका अवश्य पालन करवाना चाहिये। तुम में इतना भी विवेक नहीं रहा ?"

—"हम प्रसन्नता के आवेग में भूल गए। अब आप ही स्वामी को वह आचार बताइये—गन्धर्व ने कहा।

—"स्वामिन् ! देवों का यह आचार है कि उत्पन्न होने के पश्चात् उनसे पूछा जाता है कि—"पूर्वभव में आपने क्या-क्या सुकृत्य-दुष्कृत्य किये, जिस से आत्मा में इतनी शक्ति उत्पन्न हुई कि आप लाखों-करोड़ों देव-देवियों के स्वामी हुये। कृपया अपने पूर्व-भव के आचरण का वर्णन कीजिये"—प्रतिहारी नम्रता पूर्वक करबद्ध निवेदन किया।

महामन्त्री अभयकुमार ने यह योजना इसलिये की थी कि नशे में मतवाला होकर और देव जैसी लीला देख कर रोहिण स्वयं को देव मान लेगा और अपने सभी पाप उगल देगा।

रोहिण मद्य में मतवाला तो था, परन्तु अब नशा उतार पर था। प्रतिहारी का प्रश्न सुन कर वह चौंका। उसने विचार किया—"क्या सचमुच में मनुष्य-देह छोड़ कर देव हो गया हूँ और ये सब देव-देवियाँ हैं ?" विचार करते उसे भगवान् से सुनी हुई बात स्मरण हो आई। उसने उन तथा-कथित देव-देवियों की ओर देखा, तो उनमें एक भी लक्षण दिखाई नहीं दिया। वे सब भूमि पर खड़े थे। उनकी पलकें स्थिर नहीं रहती थी। गान-वादन और नृत्य से उनके मुख पर पसीना आ रहा था और पुष्पमालाएँ मुरझा गई थी। वह समझ गया कि यह सब महामात्य की—मेरे अपराध मुझ-से स्वीकार करवाने की—चाल है। उसने कहा;—

"मैंने मनुष्य-भव में दुःखीजनों की सेवा की, जीवों को अभयदान दिया, सुपात्र दान दिया; और शुद्धाचार का पालन कर के देव-पद प्राप्त किया है। मैंने दुष्कृत्य तो किया ही नहीं।"

प्रतिहारी—"जीवन में कुछ-न-कुछ दुराचरण हो ही जाता है। इसलिये किसी भी प्रकार का पाप किया हो, तो वह भी कह दीजिये।"

रोहिण—"नहीं, मैंने कोई पाप नहीं किया। यदि पाप करता, तो इस देव-विमान में उत्पन्न हो कर तुम्हारा स्वामी बन सकता ?"

रोहिण साधु हो गया

महामात्य का प्रयत्न निष्फल गया। रोहिण को मुक्त करना पड़ा।

मुक्त होने के पश्चात् रोहिण ने सोचा;—

"मेरे पिता की आत्मा ही पापपूर्ण थी, जो उन्होंने मुझे श्रमण भगवान् महावीर प्रभु की परम आनन्ददायिनी वाणी से वंचित रखा। जिनकी वाणी के कुछ शब्द अनचाहे भी कानों में आ कर हृदय में उतरे और उनके प्रताप से मैं कारावास एवं मृत्युदण्ड से बच गया। हा! मैं दुर्भागी अब तक भगवान् की परम पावनी अमृतमय वाणी से वंचित रहा। अब भी भगवान् का शरण ले कर अपना जीवन सुधार लूं, तो परम सुखी हो जाऊँ।"

वह भगवान् के समीप गया। वन्दना-नमस्कार किया और भगवान् का धर्मोपदेश सुना। भगवान् का धर्मोपदेश सुन कर और अन्य मनुष्यों को दीक्षित होते देख कर, रोहिण ने भगवान् से पूछा—"प्रभो! क्या मैं भी साधु होने योग्य हूँ। आप मुझे अपना शिष्य बनाएँगे?"

"हां, रोहिण! तुम साधु होने योग्य हो। तुम्हें प्रव्रज्या प्राप्त होगी।"

रोहिण ने सभा में उपस्थित महाराजा श्रेणिक के निकट जा कर कहा—"महाराज! मैं स्वयं रोहिणिया चोर हूँ। आपके नगर में मैंने बहुत सी चोरियाँ की, किन्तु पकड़ा नहीं जा सका। अंतिम बार पकड़ा गया। मैं इसबार मृत्युदण्ड से बच नहीं सकता था। आपके महामन्त्री की पकड़ में से निकलना संभव नहीं था। परन्तु भगवान् के कुछ वचन मेरे कानों में--अनचाहे ही—पड़ गये। उन वचनों ने ही मुझे मृत्यु-दण्ड से बचाया। अब मैं इस चौर्यकर्म का ही नहीं, सांसारिक सभी सम्बन्धों का त्याग कर भगवान् की शरण में जा रहा हूँ। आप अपने विश्वस्त सेवकों को मेरे साथ भेजिये। मैं सभी चोरियों का धन उन्हें दे दूंगा।"

अब रोहिण को पकड़ने की आवश्यकता ही नहीं थी। राजा ने उसके निश्चय की सराहना की और रोहिण के साथ अपने सेवकों को भेजे। उसने पहाड़ों, गुफाओं, भेखड़ों और जहां-जहां धन गाड़ा था, वह सभी निकाल कर दे दिया। वह धन राजा ने जिसका था, उसे दे दिया। रोहिण अपने कुटुम्बियों के पास आया। उन्हें समझाया और अनुमति प्राप्त कर भगवान् के समीप आया। श्रेणिक नरेश ने उसे दीक्षित होने में सहयोग दिया। रोहिण मुनि दीक्षित होते ही तप-संयम की आराधना करने लगे। यथाकाल आयु पूर्ण कर देव-भव प्राप्त किया।

चण्डप्रद्योत घेरा उठा कर भागा

श्रमण भगवान् महावीर प्रभु इस भारतभूमि पर विचर कर भव्यजीवों का उद्धार कर रहे थे। उस समय मगधदेश के शासक महाराजा श्रेणिक थे और अवंती प्रदेश का चण्डप्रद्योत। यों दोनों साढ़ू थे। श्रेणिक की महारानी चिल्लना और चण्डप्रद्योत की शिवादेवी सगी बहिनें थीं ✝ परन्तु राज्यविस्तार का लोभ और विजेता बनने की भावना ने शत्रुता उत्पन्न कर दी। शतानीक ने भी अपने साढ़ू दधिवाहन के राज्य पर, रात्रि के समय आक्रमण कर के अधिकार कर लिया था। चण्डप्रद्योत अपने सहयोगी अन्य चौदह राजाओं के साथ विशाल सेना ले कर मगध देश पर चढ़ आया। सीमारक्षक एवं भेदिये ने राज्य-सभा में आ कर चण्डप्रद्योत के सेना सहित आने की सूचना दी। महाराजा श्रेणिक, प्रद्योत की महत्वाकांक्षा एवं शक्ति-सामर्थ्य जानते थे। उन्हें चिन्ता हुई। उन्होंने महामन्त्री अभयकुमार की ओर देखा। अभयकुमार ने निवेदन किया—"यदि प्रद्योत मेरे साथ युद्ध करने आ रहा है, तो मैं उसका योग्य आतिथ्य करूँगा। चिन्ता की कोई बात नहीं है।"

अभयकुमार ने सोच लिया कि सेना के पड़ाव के योग्य भूमि कौन-सी है। उसने लोह-पात्रों में स्वर्ण-मुद्राएँ भरवा कर उस स्थान में रातों-रात भिन्न-भिन्न स्थानों पर भूमि में गड़वा दी। इसके बाद चण्ड-सेना ने प्रवेश किया। शत्रु-सेना का कहीं भी अवरोध नहीं किया गया और सेना ने सरलता से राजगृह को घेर कर पड़ाव डाल दिया।

अभयकुमार ने एक विचक्षण दूत को रात्रि के समय गुप्त रूप से सैन्यशिविर में भेजा। दूत लुकता-छुपता हुआ प्रद्योत के डेरे के निकट पहुँचा। प्रहरी ने उसे रोका। दूत ने कहा—"मैं तो निःशस्त्र हूँ। मुझे महाराजा से अति आवश्यक बात करनी है। तुम महाराजा से निवेदन करो। मुझे इसी समय मिलना है।"

सैनिक भीतर गया और राजा से दूत की बात निवेदन की। राजाज्ञा से दूत को भीतर ले गया। दूत ने प्रद्योत का अभिवादन कर निवेदन किया—

"महाराज! मैं गुप्त-द्वार से निकल कर बड़ी कठिनाई से आ पाया हूँ। महामन्त्रीजी ने यह पत्र श्रीचरणों में पहुँचाने का भार इस सेवक पर डाला, जिसे मैं पार पहुँचा सका।"

प्रद्योत ने पत्र लिया और खोल कर पढ़ने लगा;—

"महाराज! सर्व प्रथम मेरा अभिवादन स्वीकार कीजिये। आप मुझे भले ही पराया

✝ पृ. २४४ पर देखें।

माने, परन्तु मैं तो आपको अपने पिता के समान ही मानता हूँ। मेरी दृष्टि में पूज्या शिवादेवी और चिल्लनादेवी समान हैं। मैं किसी का भी अहित नहीं देख सकता। मुझे लगता है कि आप सावधान नहीं हैं। मैं आपको बतलाता हूँ कि इन कुछ दिनों में ही आपके सहायकों को हजारों स्वर्ण-मुद्राओं (और भविष्य में आपके राज्य का विभाग देने का वचन) दे कर आपके विरुद्ध कर दिया गया है। वे आपके विश्वस्त सहायक आपको बंदी बना कर हमें देने को तत्पर हो गये हैं। आप चाहें, तो उन राजाओं के शिविर के निकट भूमि में छुपाई हुई स्वर्ण-मुद्राएँ निकलवा कर देख सकते हैं।"

पत्र पढ़ते ही प्रद्योत का मुख म्लान हो गया। उस पत्र ने अपने सहायकों के प्रति सन्देह उत्पन्न कर दिया। राजा उठा और पत्रवाहक तथा अंग-रक्षक के साथ एक राजा के शिविर के निकट आया। आसपास देखने पर एक स्थान पर कुछ घास और सूखे पत्ते कुछ काल पूर्व रखे हुए मिले। उन्हें हटाया गया, तो ताजी खोद कर पूरी हुई भूमि दिखाई दी। मिट्टी निकालने पर एक पात्र निकला जो स्वर्णमुद्राओं से भरा हुआ था। अब तो सन्देह पक्का हो गया। प्रद्योत ने अभयकुमार का आभार माना और दूत को पुरस्कृत कर के लौटाया। प्रद्योत भयभीत हो गया। उसने सेनापति को घेरा उठा कर तत्काल उज्जयिनी की ओर चलने का आदेश दिया और स्वयं कुछ अंगरक्षकों के साथ भाग खड़ा हुआ। मगध की सेना ने पीछे से आक्रमण कर के उस भागती हुई सेना के बहुत-से हाथी-घोड़े धन और शास्त्रास्त्र लूट लिये।

चण्डप्रद्योत के भागने पर अन्य राजा चकित रह गए। वे भी भयभीत होकर ऐसे भागने लगे कि ढंग से वस्त्र पहिनने की भी सुध नहीं रही और उलटे-सीधे पहने। किसी का मुकुट रह गया, तो कई कुण्डल छोड़ कर भागे। मागधी-सेना उन पर झपट रही थी और उन्हें भागने के सिवाय कुछ सूझ ही नहीं रहा था। जब सभी राजा उज्जयिनी में एकत्रित हुए और शपथपूर्वक बोले कि हमने न तो शत्रु के किसी व्यक्ति से बात की और न घूस ही ली, तब सभी को विश्वास हो गया कि यह सब अभयकुमार का रचा हुआ माया-जाल है। हमें उस चालाक ने ठग लिया और लूट भी लिया। हमारी शक्ति भी क्षीण कर दी।

वेश्या अभयकुमार को ले गई

राजगृह से घेरा उठा कर और लुट-पिट कर भाग आने की लज्जाजनक घटना से चण्डप्रद्योत अत्यंत क्षुब्ध था और अभयकुमार को पकड़ कर अपने पास मंगवाना चाहता

था। उसने सभा में घोषणा की--"जो कोई भी अभयकुमार को पकड़ कर मेरे सम्मुख लावेगा, उसे मैं उचित पुरस्कार से संतुष्ट करूँगा।"

राजा की घोषणा को किसी ने स्वीकार नहीं किया। एक गणिका ने राजा की घोषणा की बात सुनी, तो उसने सोचा—"पुरुषों को मोहित कर के फांस लेना हम स्त्रियों के लिये कोई कठिन नहीं है। अभयकुमार कितना ही विचक्षण हो, चालाक हो, उसे मैं किसी भी प्रकार पकड़ कर ले आऊँगी।" उसने राजा के समीप जा कर अभिवादन किया और कार्यभार ग्रहण किया, आवश्यक साधन प्राप्त किया और दो सुन्दर युवती स्त्रियाँ राजा से प्राप्त की। उसने अभयकुमार का स्वभाव रुचि आदि की जानकारी प्राप्त की। उसे ज्ञात हुआ कि अभयकुमार धर्म-रसिक है। इसलिये धर्म के निमित्त से ही उसे पकड़ना सरल होगा। वह अपनी दोनों सहयोगिनी के साथ जैन-साध्वियों के पास गई और थोड़े दिनों के अभ्यास से ही जैनधर्म के तत्त्व, साधना और चर्या सीख ली। तदनन्तर वे तीनों राजगृह आई और वहाँ एक आवास ले कर रही। फिर वे तीनों महासतियों के स्थान पर गई। सामायिक-प्रतिक्रमणादि का डौल किया। प्रातःकाल भी वे इसी प्रकार कर के स्तुति-स्तवनादि तल्लीनता पूर्वक गाने लगी। प्रातःकाल अभयकुमार वन्दन करने आये और उन्होंने उन्हें देखा, तो लगा कि ये बहिनें बाहर से आई हुई हैं। उन्होंने उनसे पूछा। गणिका बोली;—

"मैं उज्जयिनी के एक प्रतिष्ठित सेठ की विधवा हूँ। ये दोनों मेरी पुत्रवधू है और विधवा है। हम संसार से विरक्त हैं। हमें दीक्षित होना है। हमने सोचा;—मगधदेश जा कर भगवान् और अन्य महात्माओं और महासती चन्दनाजी आदि को वन्दन कर आवें, फिर प्रव्रजित होंगे। इसी विचार से आई हैं।"

—"बहिन! आप आज मेरा आतिथ्य स्वीकार करने का अनुग्रह करें।" अभयकुमार ने आग्रहपूर्वक कहा।

—"आज तो हमारे उपवास है।"

—"अच्छा तो कल सही। पारणा मेरे ही यहाँ करें।

—"भाई! कल की बात कौन करे, एक क्षण का भी पता नहीं लगता।"

—"मैं स्वयं कल प्रातःकाल यहीं आ कर आपको ले जाऊँगा"—कह कर और साध्वियों को वन्दना-नमस्कार कर अभयकुमार स्वस्थान गये। दूसरे दिन प्रातःकाल अभयकुमार स्वयं गये और तीनों मायाविनियों को अपने घर लाये, फिर साधर्मी-सेवा की उच्च भावना से आदर युक्त भोजन कराया और वस्त्रादि अर्पित कर आदर सहित विदा किया।

एकदिन मायाविनी ने अभयकुमार से कहा--

"बन्धुवर ! आज आप हमारे घर भोजन करने पधारें।" अभयकुमार ने उनका आग्रह माना और साथ ही चल दिया। उसे विविध प्रकार के मिष्ठान्न और व्यञ्जन परोसे। पीने के लिये सुगन्धित जल दिया। जल पीते ही अभयकुमार को नींद आने लगी। वे सो गये। जल में चन्द्रहास मदिरा मिलाई हुई थी। सुसुप्त अभयकुमार को रथ में लिटा कर विश्वस्त व्यक्तियों को सौंप दिया। योजना के अनुसार प्रत्येक स्थान पर रथ तैयार थे। यों रथ पलटते हुए उज्जयिनी पहुँचे और अभयकुमार को चण्डप्रद्योत के सम्मुख उपस्थित किया।

महाराजा श्रेणिक ने अभयकुमार की बहुत खोज करवाई, परन्तु पता नहीं लगा। उन कपट श्राविकाओं के स्थान पर जा कर भी पूछा, तो वे बोली--"वे तो भोजन कर के चले गये थे। कहाँ गये, यह हम नहीं जानती।" तत्पश्चात् गणिका भी उज्जयिनी चली गयी और राजा को अपनी सफलता की कहानी सुनाई। प्रद्योत ने गणिका से कहा--"तेने धर्म के दम्भ से अभय को पकड़ा। यह ठीक नहीं किया। इससे धर्मियों पर भी सन्देह होने लगेगा और धर्म को पाप का निमित्त बनाने का मार्ग खुल जायगा।"

अभयकुमार से चण्डप्रद्योत ने व्यंगपूर्वक कहा--"अरे अभय ! तू तो अपने आपको बड़ा बुद्धिमान समझता था और अपने सामने किसी को मानता ही नहीं था। परन्तु मेरे यहाँ की एक स्त्री भी तुझे एक तोते के समान पिंजरे में बन्द कर के ले आई। बोल अब कहाँ गई तेरी बुद्धि ?"

"आपकी ही राजनीति ऐसी देखी कि जहां अपनी शक्ति नहीं चले, वहाँ स्त्रियों का उपयोग करे और वह स्त्री भी वारांगना। उसका रूप-जाल काम नहीं दे, वहाँ धर्म-छल करने का अधमाधम मार्ग अपनावे। आपका राज्यविस्तार इसी प्रकार होता होगा ?"

अभयकुमार के उत्तर ने प्रद्योत को लज्जित कर दिया, परन्तु तत्काल क्रोध कर के अभयकुमार को वन्दीगृह में बन्द करवा दिया।

अभयकुमार का बुद्धिवैभव

प्रद्योत राजा के यहाँ चार वस्तुएँ उत्तम और रत्न रूप मानी जाती थी;--१ अग्नि-भीरु रथ २ महारानी शिवादेवी ३ अनलगिरि हाथी और ४ लोहजंघ दूत। उस समय

भृगुकच्छ पर प्रद्योत का अधिकार था और राजा नये-येन आदेशपत्र दे कर लोहजंघ दूत को वारवार भृगुकच्छ भेजता रहता था। लोहजंघ एकदिन में २५ योजन जा सकता था। इससे वहाँ के लोग तंग आ गये थे। वे चाहते थे कि यह लोहजंघ मर जाय, तो हमें शांति मिले। यदि यह नहीं होगा, तो उज्जयिनी के आदेश इतनी शीघ्रता से नहीं आ सकेंगे। उन्होंने लोहजंघ को मारने के लिए उसके खाने के लड्डू निकाल लिये और उनके स्थान पर विषमिश्रित लड्डू रख दिये, किन्तु उसका जीवन लम्बा था। लौटते समय वह एक नदी के तट पर भोजन करने बैठा। उस समय उसे अपशकुन हुए। वह बिना खाये उठा और आगे बढ़ा। कुछ दूर निकलने के बाद वह फिर एक जलाशय के निकट लड्डू निकाल कर खाने बैठा, तो फिर अपशकुन हुए। वह डरा और विना खाये ही राजगृह पहुँचा। उसने राजा को आज्ञापालन का निवेदन करने के साथ अपशकुन वाली बात भी सुनाई। राजा ने अभयकुमार को बुला कर कारण पूछा। अभयकुमार ने लड्डू मँगवा कर देखे-सूंघे और कहा—"इसमें तथाप्रकार के द्रव्यों के संयोग से दृष्टिविष सर्प उत्पन्न हुआ है। यदि लोहजंघ ने लड्डू तोड़े होते, तो उसी समय जल जाता। अब इसे बन में, मुँह पीछे कर के रख दिया जाय।" इस प्रकार लड्डू रखने से उसमें उत्पन्न सर्प की दृष्टि से वहाँ के वृक्ष जल गए और वह सर्प मर गया।

अभयकुमार की बुद्धि के परिणाम स्वरूप लोहजंघ बचा और वह विपत्ति टली। इस पर प्रसन्न हो कर राजा ने अभयकुमार से कहा;—

"अभय ! तुमने लोहजंघ को मृत्यु से बचाया। इससे मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। तुम अपनी बन्धनमुक्ति के अतिरिक्त जो चाहो, सो माँग लो। मैं दूंगा।"

—"आपका वचन अभी मेरी धरोहर के रूप में अपने पास रहने दीजिये। जब आवश्यकता होगी, माँग लूंगा"—अभयकुमार ने कहा।

वत्सराज उदयन बन्दी बना

चण्डप्रद्योत राजा के अंगारवती रानी की कुक्षी से वासवदत्ता नाम की पुत्री हुई थी। वह परम सुन्दरी गुणवती और राज्य-लक्ष्मी के समान सुशोभित थी। राजा उस पर पुत्र से भी अधिक स्नेह रखता था। राजकुमारी अन्य सभी कलाओं में प्रवीण हो चुकी थी, किन्तु गन्धर्व-विद्या सीखनी शेष रह गई थी। इसका निष्णात शिक्षक नहीं मिला था। राजा ने अपने अनुभवी मन्त्री से पूछा, तो उसने कहा;—

"कौशाम्बी नरेश उदयन गन्धर्व-विद्या में प्रवीण हैं। वे अपने संगीत से बड़े-बड़े गजराजों को मोहित कर के वशीभूत कर लेते हैं। उनका संगीत सुन कर गजराज रस-मग्न हो जाते हैं। वे गीत के उपाय से हाथियों को पकड़ कर बन्धन में डाल देते हैं। उसी प्रकार हम भी उन्हें पकड़ कर ला सकते हैं। इसके लिए हमें उत्तम गजेन्द्र जैसा ही एक काष्ठ का हाथी बना कर वन में रखना होगा और उसमें इस प्रकार के यन्त्र रखने होंगे कि जिस से वह चल-फिर और उठ-बैठ सके। इस काष्ठ-गज के मध्य में कुछ सशस्त्र सैनिक रहें और वे उसे चलाते-बिठाते रहें। ऐसे उत्कृष्ट गजराज की कीर्तिकथा सुन कर वत्सराज उदयन● अवश्य आएँगे और हम उन्हें बन्दी बना कर ले आवेंगे।"

उत्तम कलाकारों से सर्वोत्तम गजराज बनवाया गया, जो अति आकर्षक था। उसे वन में योग्य स्थान पर रखवाया गया और सभी प्रकार के षड्यन्त्र की रचना कर के उदयन तक समाचार पहुँचाये। वे भी गजराज को देख कर मुग्ध हो गये। उन्होंने अपने अंगरक्षकों और सामन्तों को गजराज से दूर रखे और स्वयं संगीत गा कर गजराज को रिझाने लगे। जब उन्होंने देखा कि गजराज राग-रक्त हो कर स्तब्ध खड़ा है, तो वृक्ष पर चढ़ कर उसकी पीठ पर कूदे। उसी समय गजराज के भीतर रहे हुए सशस्त्र सैनिकों ने निःशस्त्र उदयन को पकड़ लिया। उन्हें उज्जयिनी ले आये और प्रद्योत के सम्मुख खड़े किये। प्रद्योत ने कहा—

"मेरी पुत्री वासवदत्ता जो एक आँख से ही देखती है, दूसरी आँख कानी है, उसे तुम गन्धर्वकला सिखाओ। जब तुम उसे निष्णात कर दोगे, तो तुम्हें मुक्त कर दिया जायगा और यदि मेरी बात नहीं मानोगे, तो बन्धन में डाल दिये जाओगे।"

उदयन ने वासवदत्ता को सिखाना स्वीकार कर लिया। वासवदत्ता के मन में उदयन के प्रति घृणा उत्पन्न करने के लिये कहा गया कि—"उदयन गन्धर्व-विद्या में परिपूर्ण है, परन्तु वह कोढ़ी और कुरूप है। उससे पर्दे में दूर रह कर ही संगीत सीखना है।"

संगीत-शिक्षा प्रारम्भ हुई। दोनों में से एक भी एक-दूसरे को नहीं देखते थे। एक बार कुमारी अपने शिक्षक के विषय में विचार कर रही थी। इस अन्यमनस्कता के कारण शिक्षण के प्रति उपेक्षा हुई, इससे चिढ़ कर उदयन ने कहा—"अरी एकाक्षी! तू एकाग्रता पूर्वक क्यों नहीं सुनती?"

● यह सती मृगावती (प्रद्योत की साली) का पुत्र (भानेज) था। जब कौशाम्बी पर घेरा डाला था तब यह बालक था। अब यौवन वय में था।

राजकुमारी उदयन के शब्द सुनते ही क्रोधित हो गई और बोली—"अरे कोढ़िये! तू मुझे झूठमूठ ही कानी कहता है? तू अन्धा भी है क्या? मेरी दोनों आँखें तुझे दिखाई नहीं देती?"

राजकुमारी की बात सुन कर उदयन ने सोचा—"हमें भ्रमित किया गया है। हम दोनों में एक-दूसरे के विषय में असत्याचरण कर भेद रखा गया है। उसने पर्दा हटाया। दोनों एक-दूसरे को देख कर मुग्ध हो गए। वासवदत्ता ने कहा—

"हे कामदेव के अवतार! मैं पिता की असत्य बात पर विश्वास कर के आपके सुदर्शन मुख के दर्शन से आज तक वंचित रही। अब आपकी प्रदान की हुई कला आप ही के लिए आनन्दकारी हो। यह मेरी हार्दिक इच्छा है।"

वत्सराज उदयन ने कहा—"चन्द्रमुखी! तुम्हारे पिता ने हमें एक-दूसरे से उदासीन रखने के लिये ही मुझे तुम्हें कानी और तुम्हें मुझे कोढ़ी बताया। अभी हम यथायोग्य बर्तेंगे, फिर सुअवसर प्राप्त होते ही मैं तुम्हें ले भागूंगा।"

अब प्रत्यक्ष में तो दोनों का सम्बन्ध शिक्षक-शिक्षिका का रहा, परन्तु अंतरंग में वे पति-पत्नी हो गये थे। इस गुप्त बात को वासवदत्ता की एकमात्र अत्यन्त विश्वस्त धात्री परिचारिका कंचनमाला ही जानती थी। इन दोनों की सेवा में कंचनमाला रहती थी। इसलिए इन दोनों के सम्बन्ध की जानकारी अन्य किसी दास-दासी को नहीं हुई। वे सुख-पूर्वक काल व्यतीत करने लगे।

कालान्तर में अनलगिरि हस्ति-रत्न मदोन्मत्त हो कर भाग निकला और नगर में आतंक फैलाने लगा। हस्तिपालों का अथक प्रयत्न भी उसे हस्तिशाला में नहीं ला सका। यह गजराज राज्य में रत्नरूप में उत्तम माना जाता था और राजा का प्रिय था। इसे मारने का तो विचार ही नहीं किया जा सकता था। किस प्रकार इसे वश में किया जाय? राजा से अभयकुमार ने पूछा। उन्होंने कहा—"उदयन नरेश से हाथी के समीप गायन करवाइये।" राजा ने उदयन से कहा। वे हाथी के निकट आये। वासवदत्ता भी आई। गायन सुन कर हाथी स्तब्ध हो गया और सरलता से बन्धन में आ गया। अभयकुमार के इस मार्गदर्शन से प्रसन्न हो कर राजा ने दूसरी बार इच्छित माँगने का वचन दिया। अभयकुमार ने इस वरदान को भी धरोहर रखने का निवेदन किया।

उदयन और वासवदत्ता का पलायन

वत्सराज उदयन का मन्त्री योगन्धरायण अपने स्वामी को बन्धन-मुक्त करवाने उज्जयिनी आया था और विक्षिप्त के समान भटक रहा था। उज्जयिनी में किसी उत्सव के प्रसंग पर राजा चण्डप्रद्योत अपने अन्तःपुर, सामन्तों और प्रतिष्ठित नागरिकों के साथ उपवन में गया। वहाँ संगीत का भव्य आयोजन किया गया। उदयन और वासवदत्ता भी उस संगीत-सभा में सम्मिलित होने वाले थे। इस अवसर को पलायन करने में अनुकूल समझ कर उदयन ने वासवदत्ता से कहा—

"प्रिये ! आज अच्छा अवसर है। यदि वेगवती हस्तिनी मिल जाय तो अपन वन्धन-मुक्त हो कर राजधानी पहुँच सकते हैं।"

वासवदत्ता सहमत हुई। उसने वसंत नामक हस्तिपाल को लालच दे कर वेगवती हस्तिनी लाने का आदेश दिया। जिस समय हस्तिनी पर आसन कसा जा रहा था, उस समय वह चिघाड़ी। उसकी चिघाड़ सुन कर एक अन्धे शकुन-लक्षणवेत्ता ने कहा--"तंग कसे जाने पर जो हस्तिनी चिघाड़ी, वह सौ योजन पहुँच कर मर जायगी।" उदयन की आज्ञा से हस्तिपाल ने उस हस्तिनी के मूत्र के चार कुंभ भर कर उसके ऊपर चारों ओर बाँध दिये। तत्पश्चात् उदयन अपनी वीणा लिये हस्तिनी पर बैठ., वासवदत्ता भी बैठी, उसने अपने साथ धात्री कंचनमाला को भी बिठाया और चल निकले। उन्हें जाते हुए उदयन के मन्त्री योगन्धरायण ने देखा, तो प्रसन्न हो गया और हर्षपूर्वक बोला—"जाइए, इस राज्य की सीमा शीघ्र ही पार कर जाइए।"

उदयन-वासवदत्ता के पलायन की बात शीघ्र ही प्रकट हो गई। प्रद्योत राजा यह सुन कर अवाक् रह गया। उसने अनलगिरि हस्तिरत्न सज्ज करवा कर कुछ वीर योद्धाओं को आदेश दिया--"जाओ, उन्हें शीघ्र ही पकड़ लाओ।"

अनलगिरि दौड़ा और वेगवती हस्तिनी के पच्चीस योजन पहुँचते ही जा मिला। उदयन ने अनलगिरि को निकट आया देख कर, मूत्र का एक कुम्भ भूमि पर पछाड़ा। कुंभ फूट गया और अनलगिरि मूत्र सूंघने रुक गया। इतने में हस्तिनी दौड़ कर दूर चली गई। गजचालक ने अनलगिरि को तत्काल पीछा करने को प्रेरित किया, परन्तु मूत्र सूंघने में लीन गजराज टस-से-मस नहीं हुआ। जब वह चला, तो हथिनी दूर चली गई थी। पुनः पच्चीस योजन पर अनलगिरि निकट पहुँचा, तो राजा ने दूसरा कुम्भ पटका। इस प्रकार

करते हुए चार मटके फोड़ कर वे कौशाम्बी पहुँच गये। सुभट निराश हो कर लौट गए। उदयन ने वासवदत्ता के साथ लग्न कर सुखपूर्वक रहने लगा।

उदयन और वासवदत्ता के पलायन से चण्डप्रद्योत रुष्ट हो गया और युद्धार्थ प्रयाण करने का आदेश दिया। उसके सुज्ञ मन्त्री ने समझाया--"महाराज ! आपको राजकुमारी के लिए वर की खोज तो करनी ही थी। और वत्सराज उदयन से श्रेष्ठ वर आपको कहाँ मिलता ? फिर राजकुमारी ने स्वयं ही अपना योग्य वर प्राप्त कर लिया है, तो यह प्रसन्न होने की बात है। रुष्ट होने का तो कारण ही नहीं है। अब राजकुमारी का कौमार्य भी कहाँ रहा है ?"

राजा ने मन्त्री की बात मानी और प्रसन्नतापूर्वक सिरोपाव और मूल्यवान् वस्तुएँ भेज कर जामाता का सम्मान किया।

एकबार उज्जयिनी में भयंकर आग लगी। राजा ने अभयकुमार से अग्नि शान्त करने का उपाय पूछा। अभयकुमार ने कहा--

"इस प्रकार की प्रचण्ड आग बुझाने का उपाय तो आग ही हो सकता है। आप अन्य स्थल पर आग जलाइये। इससे यह आग बुझ जायगी।" इस उपाय से आग बुझ गई। राजा प्रसन्न हुआ और तीसरी बार वर माँगने का कहा, तो यह वचन भी राजा के पास धरोहर के रूप में रहा।

एकबार उज्जयिनी में महामारी फैली। इसे शमन करने का उपाय राजा ने अभयकुमार से पूछा। अभयकुमार ने कहा;--

"आप अन्तःपुर में पधारें, तब जो रानी आपको अपने कटाक्ष से आकर्षित करे, उससे ही कूर धान्य के बाकले बना कर भूत-प्रेतों की पूजा करें। उनमें से जो भूत श्रृगाल के रूप में सामने आवे, या सामने आ कर बैठ जाय, उसके मुँह में स्वयं वह रानी बाकले दे, तो महामारी शान्त हो सकती है।"

राजा अन्तःपुर में गया। वहाँ महारानी शिवादेवी ने उसे स्नेहपूर्ण दृष्टि से स्मित रते हुए देखा और वह उस ओर आकर्षित एवं अनुरक्त हो गया, तो उसी के द्वारा बलि बाकले प्रेत रूपी शृगाल के मुँह में दिलवाये, जिससे महामारी शान्त हो गई। इस उपाय से प्रसन्न हो कर प्रद्योत ने अभयकुमार को चौथा वरदान दिया।

अभयकुमार की माँग और मुक्ति

चार वरदान एकत्रित होने पर अभयकुमार ने राजा से अपने चारों वरदान एक-साथ माँगे। वह बन्धन-मुक्त हो कर राजगृह जाने की माँग तो कर ही नहीं सकता था। क्योंकि राजा ने वचन देते समय ही स्पष्ट कर दिया था कि 'मुक्त होने की माँग के अतिरिक्त कुछ भी माँग लो।' अभयकुमार ने माँगे रखी;—१ आप अनलगिरि हाथी के कन्धे पर महावत बन कर बैठें और हाथी को चलावें, २ मैं महारानी शिवादेवी की गोद में बैठूं, ३ अग्निभीरु रथ तो तोड़ कर उसकी लकड़ी की चित्ता बनाई जाय और ४ उस पर आप-हम सब बैठ कर जल-मरें।"

इस माँग की पूर्ति होना अशक्य था। राजा समझ गया कि अब अभयकुमार को छोड़ने के अतिरिक्त कोई मार्ग हमारे सामने नहीं है। प्रद्योत ने स-खेद हाथ जोड़ कर नम्रतापूर्वक अभयकुमार को मुक्त किया और राजगृह पहुँचाया।

अभयकुमार की प्रतिज्ञा

उज्जयिनी से चलते समय अभयकुमार ने प्रद्योत से कहा;—

"आपने तो मुझे धर्मछल से पकड़वा कर हरण करवाया था। परन्तु मैं आपको आपके राज्य में और इसी उज्जयिनी में से, दिन के प्रकाश में आपको ले जाऊँगा और आप चिल्लाते रहेंगे कि "मैं राजा हूँ, मुझे छुड़ाओ।" परन्तु आपकी कोई नहीं सुनेगा।"

कुछ काल के उपरांत वेश्या की दो अत्यन्त सुन्दर युवतियों को ले कर अभयकुमार गुप्त रूप से उज्जयिनी आया और एक व्यापारी बन कर, घर भाड़े पर ले कर रहने लगा। वह अपने साथ एक ऐसा पुरुष भी लाया, जिसकी आकृति रंग-रूप और वय प्रद्योत के समान थी। उसे एक खाट पर डाला और मजदुरों से उठवा कर वैद्य के यहाँ ले जाने के बहाने उसे दूर-दूर तक ले जाने-लाने लगा। वह पुरुष चिल्लाता—"मैं यहाँ का राजा हूँ। मुझे छुड़ाओ।" लोग सुन कर दौड़ पड़े, तब अभयकुमार ने कहा—"यह मेरा भाई है। पागल है। इसी तरह बकता रहता है। इसका उपचार कराने यहां लाया हूँ।" लोग आश्वस्त हो कर लौट गये।

चण्डप्रद्योत जिस राजमार्ग पर हो कर वन-विहार आदि के लिए जाता-आता, उसी

राजमार्ग पर वे रहने लगे थे। अभयकुमार के साथ वाली दोनों सुन्दरियाँ सजधज के साथ प्रद्योत की दृष्टि में आई। प्रद्योत देखते ही मुग्ध हो गया और टकटकी पूर्वक देखता ही रहा। सुन्दरियों ने स्मितपूर्वक कटाक्ष किया। राजा ने अपनी दूती उनके पास भेजी, तो उन्होंने उसे तिरस्कार पूर्वक लौटा दी। कूटनी चतुर थी। समझ गई कि इनका मन तो राजा की ओर है, परन्तु लज्जावश अस्वीकार करती है। उसने राजा को आश्वासन दिया और कहा कि 'दो-तीन दिन प्रयत्न करने पर मान जाएगी। कूटनी दो-तीन दिन जाती रही। उसका प्रयत्न सफल हुआ। सुन्दरी ने कहा—"हम अपने भाई के साथ आई हैं। उसके रहते राजा के यहाँ नहीं आ सकती। यह आज से सातवें दिन दूसरे गाँव जायगा, तब राजा यहाँ आ सकते हैं।"

इधर प्रतिदिन उस विक्षिप्त बने हुए छद्मवेशी को ले कर अभयकुमार वैद्य के यहाँ जाता-आता और वह चिल्लाता रहता—"अरे लोगों! मुझे छुड़ाओ। मैं यहाँ का राजा हूँ।" लोग यही समझते कि यह पागल का बकवाद है, परन्तु आश्चर्य है कि इसका रूप और आकृति राजा से पूर्णरूप से मिलती है।" कोई उसकी बात पर विश्वास नहीं करता और सब सुन कर भी अनसुना कर देते। सातवें दिन राजा वहाँ आया। अभय के छुपे सैनिकों ने उसे पकड़ कर खाट पर बाँधा और उठा कर ले जाने लगे। राजा तड़पा और चिल्लाया, परन्तु किसी ने उस ओर ध्यान नहीं दिया। अभय सकुशल राजा को नगर से निकाल कर वन में लाया और पहले से ही खड़े रथ में डाल कर ले उड़ा। मार्ग में यथास्थान रथ खड़े रखे थे। रथ पलटते हुए राजगृह ले आये।

श्रेणिक ने शत्रु को देखते ही क्रोधपूर्वक खड्ग उठा कर मारने को तत्पर हुआ। परन्तु अभयकुमार ने उन्हें रोका। तत्पश्चात् चण्डप्रद्योत को सत्कार-सम्मान पूर्वक उज्जयिनी पहुँचाया।

संयम सहज और सस्ता नहीं है

गणधर भगवान् श्री सुधर्मास्वामीजी के उपदेश से राजगृह का एक लक्कड़हारा विरक्त हो गया और दीक्षा ले कर संयमी बन गया। तत्पश्चात् वह भिक्षाचरी के लिये नगर में निकला। उसकी पूर्व की दरिद्रावस्था को जानने वाले लोग उसकी निन्दा करते हुए कहने लगे;—"ये देखो, महात्मा आए हैं। चलो अच्छा हुआ। रोज वन में दूर-दूर तक जाना, लकड़ी काट कर, भार उठा कर लाना, बेच कर अन्न लाना और संध्या तक

खा-पी कर पड़े रहना। एक दिन का थकेला उतरे ही नहीं कि फिर वही कष्टदायक क्रम चलाना। इन सब झंझटों से मुक्त हो कर सुखमय जीवन व्यतीत करने का सुगम मार्ग मिल गया है इन्हें। झट झोली ले कर निकले, इच्छानुसार पात्र भर लाये और सुखपूर्वक खा-पी कर आराम किया। किसी बात का झंझट नहीं, कोई दुःख नहीं। कल तक भार के पैसे के लिए घर के बाहर खड़ा रह कर जिनके आगे हाथ फैलाता था, वे अब इनके चरणों में प्रणाम करेंगे और इन्हें अपने खाने में से अच्छा भोजन देंगे। बस कपड़े बदलने की जरूरत थी।"

इस प्रकार की निन्दा और व्यंग वे सहन नहीं कर सके। उन्होंने श्री सुधर्मास्वामी से कहा--"अब इस नगर से विहार करना चाहिए। अभयकुमार उस समय सुधर्मास्वामी की वन्दना कर रहे थे। उन्होंने नवदीक्षित सन्त की बात सुनी, तो कारण पूछा। कारण जान कर लोगों के अज्ञान पर उन्हें खेद हुआ। लोगों का भ्रम मिटाने का निश्चय कर के श्री सुधर्मास्वामी से निवेदन किया—"भगवन्! विहार की उतावल नहीं करें, अभी एक-दो दिन रुकें।"

राज्य-महालय में आ कर महामन्त्री अभयकुमार ने तीन कोटि के रत्न राज्य-भण्डार से निकलवाये और चतुष्पथ के मध्य में रखवा कर पटह पिटवा कर उद्‌घोषणा करवाई;—

"भाइयों! आओ, तुम्हें ये रत्नों के ढेर दिये जा रहे हैं। शीघ्र आओ।"

लोगों की भीड़ जमा हो गई। अभयकुमार ने लोगों को सम्बोधित करते हुए कहा--

"हाँ, ये रत्नों के ढेर तुम्हें बिना मूल्य दिये जावेंगे। परन्तु इसके बदले में तुम्हें तीन वस्तु के त्याग की प्रतिज्ञा करनी होगी और उनका निष्ठापूर्वक पालन करना होगा-- जीवनपर्यंत, तीन करण तीन योग से। वे तीन वस्तु हैं--१ सचित्त पानी २ अग्नि और ३ स्त्री के स्पर्श का त्याग करना होगा। जो पुरुष इन तीनों का सर्वथा त्याग करेगा, उसे ही ये रत्न मिलेंगे।"

अभयकुमार की शर्त सुन कर लोग स्तब्ध रह गए। कुछ क्षणों तो सन्नाटा छाया रहा। फिर एक ने अपने निकट खड़े दूसरे से कहा;--

"जाओ, ले लो हीरों का ढेर। मुफ्त में मिल रहा है।"

—"तुम ले लो। मैं इतना साहस नहीं कर सकता।"

"महामन्त्रीजी हमें साधु बनाना चाहते हैं। जब कच्चा पानी अग्नि और स्त्री को

ही त्याग दें, तो साधु ही बनना पड़े। फिर इन रत्नों को ले कर करें ही क्या ? चलो घर चलें। व्यर्थ ही आये और समय गँवाया। तुम में साहस हो तो ले लो।"

—"मैं ले लूं और सन्त बन जाऊँ ? पहले पत्नी से पूछूं, फिर पत्नी के होने वाले पुत्र का लग्न कर दूं, फिर सोचूंगा"—कह कर चलने लगा।

लोगों को खिसकते देख कर महामात्य ने कहा—

"क्यों, रत्नों के ढेर नहीं लेना है ? आये तो रत्न लेने को ही थे। फिर खाली क्यों जाते हो ?"

"स्वामिन् ! आपकी शर्त बड़ी कठोर है। हम में इन रत्नों को लेने की शक्ति नहीं है। कोई भव्यात्मा ही ऐसा साहस कर सकती है।" यही उत्तर था उस समूह का।

"तब रत्नों के ये ढेर उस लक्कड़हारे को दे दिया जाय, जिसने कल दीक्षा ली थी और जिसकी तुम लोग निन्दा कर रहे थे ? उन्होंने तो बिना किसी लालच के संयम ग्रहण किया था, परन्तु तुम्हारे सामने तो धन का ढेर लगा हुआ है। फिर भी साहस नहीं हो रहा है। कहो क्यों संयम पालना सहज है ?'

"स्वामिन् ! हमारी भूल हुई। हम अज्ञानी हैं। हमसे अपराध हुआ है। हम अभी जा कर उन महात्मा से क्षमा माँगते हैं।"

महामन्त्री लोगों की भूल सुधार कर और रत्नों के ढेर उठवा कर राजभवन चले गये।

अभयकुमार की निर्लिप्तता

युवराज अभयकुमार समस्त मगध साम्राज्य का सञ्चालक था। कठिन परिस्थितियों में उसने राज्य को बिना युद्ध किये बचा लिया था, और आक्रामक को भाग जाने पर विवश कर दिया था। महाराजाधिराज श्रेणिक, अभयकुमार की राज्य-व्यवस्था, राज्यतन्त्र के सुन्दर सञ्चालन, प्रजा की सुखसमृद्धि और राज्य के प्रति प्रजा की भक्ति एवं सम्पूर्ण विश्वास बढ़ाने में प्राप्त सफलता से प्रसन्न थे। महाराजा के मन में भगवान् महावीर प्रभु और उनके धर्म के प्रति पूर्ण श्रद्धा थी, भक्तिभाव था और वे धर्म की पूर्ण आराधना करने की भावना भी करते थे। परन्तु अप्रत्याख्यानी चौक के उदय से वे असमर्थ रहते थे। भगवान्, निर्ग्रन्थ गुरु और निर्ग्रन्थधर्म के प्रति श्रद्धा रखने आदर-बहुमान करने, भक्तिभाव रखने के अतिरिक्त वे त्याग कुछ भी नहीं कर सकते थे। उनसे कामभोग छोड़े नहीं जा

सकते थे। परन्तु अभयकुमार की स्थिति इसके विपरीत थी। वह पिता के राज्य का सञ्चालन करता हुआ भी अलिप्त रहता था। वह व्रतधारी श्रावक था। प्रत्याख्यानावरण चौक का उदय भी उस पर तीव्रतर नहीं था और वह सर्वत्यागी श्रमण बनने का मनोरथ कर रहा था। परन्तु वह राज्य का स्तंभ था, रक्षक था और कठिन परिस्थितियों में धैर्यपूर्वक सुगम मार्ग निकाल कर गौरवपूर्वक सुरक्षित रखता था। राज्यभार से मुक्त हो कर प्रव्रजित होना उसके लिये सुगम नहीं था। वह उचित अवसर की प्रतीक्षा करने लगा।

उदयन नरेश चरित्र

सिन्धु-सौवीर देश की राजधानी वीतभय नगरी थी। महाराज 'उदयन' उस के स्वामी थे। वे महाप्रतापी थे। उनकी महारानी 'प्रभावती' बहुत सुन्दर और गुणवती थी। 'अभिचिकुमार' उनका पुत्र था। महाराजा उदयन सिन्धु-सौवीर आदि सोलह जनपद और वीतभय आदि ३६३ नगरों एवं कई आकर के स्वामी थे। महासेन आदि १० मुकुटधारी राजा उनकी आज्ञा में थे, जिन्हें छत्र-चामर आदि धारण करने की अनुमति महाराजा ने प्रदान की थी। अन्य छोटे राजा-सामन्त आदि भी बहुत थे। महाराज उदयन जीव-अजीव आदि तत्त्वों के ज्ञाता श्रमणोपासक थे।

उदयन नरेश के 'सुवर्णगुलिका' नाम की एक अत्यन्त सुन्दर दासी थी। उसके रूप की अनुपमता चण्डप्रद्योत के जानने में आई, तो चण्डप्रद्योत ने उसे प्राप्त करने के लिये एक विश्वस्त दूत वीतभय भेजा। चण्डप्रद्योत का अभिप्राय दूत द्वारा जान कर दासी ने सोचा--"दासी से महारानी बनने का सुयोग प्राप्त हो रहा है। परन्तु यों दूत के साथ चली जाना उचित नहीं होगा।" उस चतुर दासी ने दूत से कहा—"मैं महाराज की आज्ञा पालन करने को तत्पर हूँ। परन्तु मैं तभी उज्जयिनी आ सकूँगी, जब स्वयं महाराज मुझे अपने साथ ले जायँ।" दूत लौट गया। कामासक्त चण्डप्रद्योत अनिलवेग गजराज पर आरूढ़ होकर मध्यरात्रि के समय वीतभय आया और "सुवर्णगुलिका" को अपने साथ लेकर उज्जयिनी चला गया।

टिप्पण— त्रिश० श० च० में इस स्थान पर लम्बीचौड़ी कहानी दी गई है। बताया गया है कि—चम्पा नगरी में एक कुमारनन्दी नामक× स्वर्णकार रहता था। वह धनाढ्य था और स्त्रीलम्पट भी।

× आचार्य श्री मलयगिरि रचित आवश्यकवृत्ति गा. ७७४ की कथा में भी यही नाम है, परन्तु निशीथ भाष्य गा. ३१८२ और चूर्णि में स्वर्णकार का नाम 'अनंगसेन' लिखा है।

किसी स्वरूपवान् युवती को देखता और यदि वह धनबल से प्राप्त हो सकती, तो वह यथेच्छ मूल्य दे कर क्रय कर लेता और उसके साथ क्रीड़ा करता। उस कुमारनन्दी सोनी के 'नागिल' नाम का प्रिय मित्र था। वह व्रतधारी श्रावक था। एक बार पञ्चशैल में रहने वाली दो व्यन्तर देवियों का पति देव अपनी देवियों के साथ नन्दीश्वर द्वीप जा रहा था कि मार्ग में ही उसका मरण हो गया। दोनों देवियों ने भावी पति के विषय में उपयोग लगाया। उन्होंने कुमारनन्दी स्वर्णकार के निकट आ कर अपने दिव्य रूप का प्रदर्शन किया। कुमारनन्दी मुग्ध हो गया। परिचय पूछने पर वे बोली—"हम 'हासा' और 'प्रहासा' नाम की देवियाँ हैं। यदि तुम्हें हमारे साथ रमण करने की इच्छा हो, तो पंचशैल द्वीप आओ।" इतना कह कर वे उड़ गई। कुमारनन्दी ने एक वृद्ध नाविक को कोटि द्रव्य दे कर उसकी नौका से प्रयाण किया। समुद्र में लम्बी यात्रा के बाद एक पर्वत दिखाई दिया। नाविक ने कुमारनन्दी से कहा—"समुद्र के किनारे पर्वत के निकट वह वटवृक्ष दिखाई देता है। उसके नीचे होकर यह नौका जायगी। उस समय तुम वृक्ष की डाल पकड़ कर ऊपर चढ़ जाना। पंचशैल पर्वत पर से तीन पाँव वाले भारण्ड पक्षी आ कर इस वटवृक्ष पर रात को विश्राम करते हैं। तुम एक पक्षी का पाँव पकड़ कर रस्सी से अपने को उससे बाँध देना। प्रातः वह पक्षी उड़ कर पंचशैल जाएगा। उनके साथ तुम भी पहुँच जाओगे।" स्वर्णकार ने ऐसा ही किया। स्वर्णकार को अपने निकट देख कर व्यन्तरियें प्रसन्न हुई। व्यन्तरी ने कहा—तुम हमारी कामना करते हुए अग्नि प्रवेश कर मानव-देह नष्ट कर के देवगति प्राप्त करो। इसी से हमारा संयोग हो सकेगा। कामातुर स्वर्णकार को देवी ने स्वदेश पहुँचा दिया। वह आत्मघात कर व्यन्तर देव हुआ।

अपने मित्र को विषयलोलुपता से मरते देख कर नागिल श्रमणोपासक विरक्त हो गया और श्रमण-प्रव्रज्या स्वीकार कर ली। आराधक होकर अच्युत स्वर्ग में देव हुआ। उसने ज्ञानोपयोग से अपने पूर्व भव के मित्र स्वर्णकार को विद्युन्माली व्यन्तर देव के रूप में देखा। नन्दीश्वर द्वीप पर उत्सव में उसे ढोल बजाते देख कर उसने कहा—"तू मानव-भव हार गया। इसी का यह परिणाम है। देख, मैंने धर्म की आराधना की, तो मैं अच्युत स्वर्ग का देव हुआ हूँ।" विद्युन्माली अब नागिल देव से अपने उद्धार का मार्ग पूछता है और नागिल देव उसे भ. महावीर स्वामी की गोशीर्ष-चन्दनमय काष्ठ की प्रतिमा बनाने की सलाह देता है। प्रतिमा निर्माण और प्रतिष्ठा की कहानी भी लम्बी और रोचक है। यहाँ तक लिखा है कि—

प्रभावती महारानी प्रतिमा के आगे नृत्य करती थी और उदयन नरेश वीणा बजाता था। एकबार नृत्य करती हुई रानी को राजा ने मस्तक रहित देखा। बाद में जिस दासी ने पूजा के समय धारण करने के श्वेत वस्त्र ला कर दिये, वे रानी को रक्तवर्णी दिखाई दिये। रानी ने क्रोधित हो कर दासी पर प्रहार किया और साधारण चोट से ही दासी मर गई। फिर वे रक्त वर्ण दिखाई देने वाले वस्त्र श्वेत दिखाई देने लगे। रानी को पश्चात्ताप हुआ। इन अनिष्ट सूचक निमित्तों से रानी सावधान हुई और संयम ग्रहण किया। छः महीने संयम पाल कर अनशन कर के प्रथम स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुई।

इस प्रभावती देव ने उदयन नृप को प्रतिबोध देने के प्रयत्न किये, तब वह श्रमणोपासक हुआ।

×
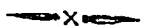
ग्रन्थकार का यह कथन विश्वास योग्य नहीं है। भगवती सूत्र में उदयन नरेश और प्रभावती देवी

का चरित्र अंकित है। उसमें न तो मन्दिर-मूर्ति के लिए एक अक्षर ही लिखा है और न प्रभावती देवी मरने के बाद देव होकर राजा को प्रतिबोध देने आने का ही उल्लेख है। भगवती सूत्र के आधार से यह कथा ही विश्वास के योग्य नहीं रहती, क्योंकि भगवती सूत्र में उदयन नरेश की दीक्षा का उल्लेख है। वहाँ प्रभावती देवी का रानी के रूप में ही—उत्सव में—उपस्थिति और लुंचित केश ग्रहण करने का उल्लेख है। अतएव कथा अविश्वसनीय ही है। हाँ, सुवर्णगुलिका दासी ऐतिहासिक है और उसके कारण युद्ध होने का उल्लेख प्रश्नव्याकरण सूत्र १—४ में है। वहाँ भी मात्र "**सुवण्णगुलियाए**" शब्द ही हैं और कुछ भी नहीं।

उज्जयिनी पर चढ़ाई और विजय

उदयन नरेश को ज्ञात हो गया कि प्रतिमा और सुवर्णगुलिका को चण्डप्रद्योत उड़ा ले गया है। अपनी गजशाला के समस्त हस्तियों का मद उतरने से वे समझ गए कि यहाँ उज्जयिनी का चण्डप्रद्योत, अनिलवेग गजराज पर चढ़ कर आया था। हाथी के मलमूत्र की गन्ध से समस्त हस्तियों का मद उतरा। इससे स्पष्ट है कि चण्डप्रद्योत आया और दासी को उड़ा कर ले गया। उदयन ने अपने अधीन रहे हुए राजाओं सामन्तों और योद्धागणों के साथ विशाल सेना ले कर उज्जयिनी पर चढ़ाई कर दी। चण्डप्रद्योत भी अनिलवेग गजराज पर आरूढ़ हो कर रणक्षेत्र में आया। युद्ध प्रारम्भ हो गया। उदयन नरेश रथ पर बैठ कर युद्ध स्थल में आये। चण्डप्रद्योत जानता था कि उदयन के साथ रथारूढ़ हो कर युद्ध करने से मैं सफल नहीं हो सकूँगा। इसलिये वे हाथी पर चढ़ कर युद्ध करने आये। उदयन नरेश ने चण्डप्रद्योत के हाथी को अपने शीघ्रगामी रथ के घेरे में ले लिया। उनका रथ अनिलवेग के चक्कर लगाता रहा और हस्ती-रत्न के पाँव उठाते ही अपने धनुष से सूई जैसे तीक्ष्ण बाण मार कर गजराज के पाँव विंध दिये। अनिलवेग पृथ्वी पर गिर पड़ा। उदयन तत्काल लपका और प्रद्योत को पकड़ कर बाँध दिया। अपने रथ में डाल कर शिविर में ले आया। युद्ध समाप्त हो गया। उदयन ने चण्डप्रद्योत के मस्तक पर—तप्त लोहशलाका से "दासीपति" अक्षर अंकित करवा दिये।

उज्जयिनी पर अपना अधिकार स्थापित कर और वन्दी चण्डप्रद्योत को साथ ले कर विजयी उदयन नरेश अपने राज्य में लौटने लगा। वर्षाऋतु प्रारंभ हो गई थी। मार्ग पानी कीचड़ और नदी-नाले आदि से अवरुद्ध हो गये थे। इसलिये योग्य स्थान पर नगर के समान पड़ाव लगा कर रुकना पड़ा। महाराजा की छावनी को मध्य में रख कर आस-पास दस राजाओं के डेरे लग गये। दस राजाओं से सेवित महा-राजा उदयन का पड़ाव

जिस स्थान पर लगा, वह स्थान 'दशपुर' कहलाया। बन्दी चण्डप्रद्योत की भोजनादि व्यवस्था महाराजा ने अपने समान ही करवाई।

क्षमापना कर जीता हुआ राज्य भी लौटा दिया

पर्वाधिराज पर्युषण के दिन थे। महाराज उदयन श्रमणोपासक थे। उन्होंने सम्वत्सरी महापर्व का पौषध युक्त उपवास किया। उन्हें भोजन नहीं करना था। इसलिये रसोइये ने बन्दी चण्डप्रद्योत से पूछा—"आपके भोजन के लिये क्या बनाया जाय?" रसोइये के प्रश्न पर प्रद्योत चौंका। उसने रसोइये से पूछा।

"पहले तो कभी तुमने मुझसे पूछा ही नहीं, आज क्यों पूछते हो?" चण्डप्रद्योत के मन में सन्देह हुआ—कदाचित् विष-प्रयोग कर मुझे मारने की योजना हो।

—"आज महाराज और अंतःपुर आदि ने महापर्व का पौषधोपवास किया है। आप ही के लिये भोजन बनाना है। इसलिए आपको पूछना पड़ा है।"

"तब तो आज मैं भी उपवास करूँगा। मेरे माता-पिता भी श्रावक थे और उपवास करते थे।"

रसोइये ने चण्डप्रद्योत की बात महाराजा को सुनाई। उन्होंने कहा—

"प्रद्योत धर्म-रसिक नहीं, धूर्त है। परन्तु आज वह भी पर्व की आराधना कर रहा है, इसलिये मेरा धर्मबन्धु है। उसे मुक्त कर दो।"

चण्डप्रद्योत मुक्त कर दिया गया। उदयन नरेश ने उससे क्षमा याचना की और उसके ललाट पर बांधने को स्वर्णपट्ट दिया, जिससे अंकित किया हुआ 'दासीपति' नाम छुप जाय और उसका राज्य भी लौटा दिया। चण्डप्रद्योत को अपना खोया हुआ राज्य प्राप्त हो गया। वह लौट गया।

वर्षाकाल पूरा होने पर महाराजा उदयन अपने सामन्तों और सेना के साथ स्वदेश चले गये। किन्तु उस पड़ाव के समय जितने व्यापारी और अन्य लोग वहाँ बस गये थे, वे वहीं रह गए और वह बस्ती 'दशपुर' (आज का मन्दसौर ?) कहलाई ×।

× ग्रन्थकार लिखते हैं कि इस दशपुर नगर को उदयन नरेश ने जिन प्रतिमा के खर्च के लिये दे दिया। और चण्डप्रद्योतन ने विदिशा में एक नगर बसाया और उसने विद्युन्माली देव-निर्मित प्रतिमा के लिए बारह हजार गाँव प्रदान किये। यह घटना श्रमण भगवान् महावीर प्रभु की विद्यमानता की है। परन्तु सर्वमान्य आगमों में मन्दिर-प्रतिमा और ग्राम-दान विषयक एक शब्द भी नहीं है।

* एकबार उदयन नरेश पौषधशाला में पौषधयुक्त धर्मजागरण करते, एवं संसार की असारता का चिन्तन करते हुए संकल्प किया कि 'वह ग्राम-नगर धन्य है, जहाँ देवाधिदेव श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विचर रहे हैं। वहाँ के राजा-सामन्तादि और निवासी भी धन्य हैं, जो भगवान् को वन्दना-नमस्कार कर के पर्युपासना करते हैं। यदि श्रमण भगवान् ग्रामानुग्राम विचरते हुए, यहाँ पधारें, तो मैं भगवान् की वन्दना एवं पर्युपासना करूँ।"

उस समय श्रमण भमवान् महावीर स्वामी चम्पा नगरी के पूर्णभद्र चैत्य में बिराजमान थे। उदयन नरेश के मनोगत भाव जान कर भगवान् वीतभय नगर पधारे। भगवान् का आगमन जान कर उदयन नरेश प्रसन्न हुए। वे हर्षोल्लास एवं आडम्बर पूर्वक भगवान् को वन्दन करने गये। महारानी प्रभावती आदि रानियें भी भगवान् के समवसरण में आई। वन्दना-नमस्कार के पश्चात् भगवान् की देशना सुनी। भगवान् का धर्मोपदेश सुन कर उदयन नरेश के निर्वेद-संवेग में वृद्धि हुई। उन्होंने भगवान् को वन्दना कर के निवेदन—किया "प्रभो! मैं अभीचिकुमार को राज्याधिकार दे कर श्रीचरणों में निर्ग्रंथप्रव्रज्या अंगीकार करना चाहता हूँ।" भगवान् ने कहा—"जैसा तुम्हें सुख हो, वैसा करो। धर्मसाधना में रुकावट नहीं होनी चाहिये।"

उदयन नरेश समवसरण से निकल कर राज्य-भवन की ओर चले। मार्ग में उन्होंने सोचा—

"अभीचिकुमार मेरा एक मात्र पुत्र है और अत्यन्त प्रिय है। वह निरन्तर सुखी रहे, उसे कभी किसी भी प्रकार का दुःख नहीं हो। इसलिये उसके हित में यही उचित होगा कि वह राज्य के दुःखदायक बन्धनों में नहीं बन्ध कर पृथक् रहे। यदि वह राज्य-वैभव और काम-भोग में लिप्त-आसक्त एवं गृद्ध हो जायगा, तो संसार-सागर के भयंकर दुःखों में डूब जायगा और दुःख-परम्परा बढ़ती ही जायगी। इसका अन्त आना कठिन हो जायगा। इसलिये पुत्र पर राज्य-भार नहीं लाद कर भानेज केशीकुमार का राज्याभिषेक कर दूं।"

अपने उपरोक्त विचार को निश्चित करते हुए वे राज्य-प्रासाद में पहुँचे और राज्यासन पर आरूढ़ हो कर भानेज केशीकुमार के राज्याभिषेक की घोषणा कर दी। नियमानुसार राज्याभिषेक हो गया। तत्पश्चात् उदयन महाराज का अभिनिष्क्रमण उत्सव

* यह चरित्र वर्णन भगवती सूत्र श. १३ उ. ६ के अनुसार है।

हुआ। उदयन नरेश के मस्तक के केश महारानी प्रभावती ने ग्रहण किये। महारानी ने इस प्रकार हृदयोद्गार व्यक्त किये—"हे स्वामी! आप अप्रमत्त रह कर संयम पालन करने में ही प्रयत्नशील रहें और कषायों पर विजय प्राप्त कर के मुक्ति प्राप्त करें।"

अभीचिकुमार का वैरानुबन्ध

पिता द्वारा राज्य-वैभव से वंचित किये जाने पर अभीचिकुमार को खेद हुआ। वह राज्य-वैभव भोगना चाहता था। निराश अभीचिकुमार अपने अन्तःपुर सहित वीतभय नगर छोड़ कर अपनी मौसी के पुत्र कूणिक नरेश के राज्य में—चम्पा नगरी—आया और राज्याश्रय में रहा। कूणिक नरेश ने उसको आदर दिया और सभी प्रकार की सुख-सुविधा प्रदान की। कालान्तर में अभीचिकुमार जीव-अजीव का ज्ञाता श्रमणोपासक हो गया। फिर भी वह अपने पिता राजर्षि उदयनजी के प्रति वैरभाव से मुक्त नहीं हो सका। उसने बहुत वर्षों तक श्रमणोपासक पर्याय का पालन किया, और अर्ध मासिक× संलेखना कर के—उस वैरभाव की आलोचना किये बिना ही—काल कर के एक पल्योपम की स्थिति वाला असुरकुमार देव हुआ। वहाँ की आयु पूर्ण कर के वह महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगा और चारित्र का पालन कर के मोक्ष प्राप्त करेगा।

राज्य-लोभ राजर्षि की घात करवाता है

राजर्षि उदयनजी भगवान् के शासन के अंतिम राजर्षि हुए। दीक्षित होने के बाद वे उग्र तप करने लगे। अपथ्य आहार से उग्र वेदना उत्पन्न हुई। वैद्यों ने कहा—'आप दही लेवें। इससे रोग का शमन होगा।' राजर्षि विहार करते हुए गोबहुल स्थान में आये—जहाँ निर्दोष दही की प्राप्ति सुलभ थी। वह स्थान वीतभय राज्य के अन्तर्गत एवं निकट था। राजर्षि को राजधानी की ओर आते जान कर मन्त्रियों ने केशी नरेश से कहा—"महाराज! महात्मा उदयनजी इधर आ रहे हैं।"

—"यह तो आनन्द-दायक समाचार है। अपने अहो भाग्य है कि महाभाग यहाँ पधार रहे हैं"—केशी नरेश ने प्रसन्न होते हुए कहा।

× पूज्य श्रीहस्तीमलजी म. सा. ने जैनधर्म का मौलिक इतिहास पृ. ५३१ पर 'एक मास की संलेखना' लिखा। यह भगवती सूत्र से विपरीत है।

—"लगता है कि संयम और तप की साधना से थक कर पुनःराज्य प्राप्त करने आ रहे हों"--मन्त्री ने कहा।

—"राज्य तो उन्हीं का दिया हुआ है। वे लेवें तो दुःख किस बात का ?"

—"नहीं महाराज ! राज्य तो आपके पुण्य-प्रताप से ही आप को मिला है। इसकी रक्षा करना आपका कर्त्तव्य है। प्राप्त राज्य को सहज ही छोड़ देना, अयोग्यता की निशानी है"--मन्त्री ने रंग चढ़ाया।

—"अब मैं क्या करूँ"--राजा ने मन्त्री से पूछा।

—"इस कंटक को हटाना होगा और इसका सहज उपाय किया जायगा।" मन्त्री ने किसी पशुपालिका को लोभ दे कर महात्मा को विषमिश्रित दही देने का प्रबन्ध किया। किसी भक्त देव ने महर्षि से कहा "विष मिला हुआ दही आपको दिया जायगा। आप नहीं लेवें"। महात्मा ने दही लेना बंद कर दिया। इससे रोग बढ़ा, तो महात्मा ने पुनः दही लेना चालू किया। तीन बार दही में मिले हुए विष का देव ने हरण किया, परन्तु भवितव्यता वश चौथी बार देव का उपयोग अन्यत्र रहा और महात्मा ने विष मिला हुआ दही खा लिया। विष-प्रयोग जान कर महात्मा ने संथारा कर लिया और एक मास के अनशन में केवलज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो गए।

कपिल केवली चरित्र

कौशाम्बी नगरी में जितशत्रु राजा का पुरोहित 'काश्यप' ब्राह्मण था। उसकी 'यशा' पत्नी से 'कपिल' नामक पुत्र का जन्म हुआ था। काश्यप महाविद्वान था। वह राज्यमान्य एवं प्रतिष्ठित था। कपिल बालक था, तभी उसके पिता काश्यप की मृत्यु हो गई। काश्यप के मरते ही राज्य की ओर से मिलता हुआ सम्मान बन्द हो गया और उसके स्थान पर अन्य विद्वान की नियुक्ति हो गई। जब अन्य विद्वान सम्मान सहित अश्वारूढ़ हो राज्य-प्रासाद जा रहा था और काश्यप के घर के आगे से निकला, तो उसे देख कर काश्यप की पत्नी को आघात लगा। क्योंकि इसके पूर्व यही प्रतिष्ठा उसके दिवंगत पति को प्राप्त थी। आज यह दूसरों को प्राप्त है। इस अभाव ने उसे शोकाकूल कर दिया। वह रोने लगी। उसे रोते देख कर कपिल भी रोने लगा। कपिल ने माता के रुदन का कारण पूछा। माता ने कहा—"जो सम्मान और प्रतिष्ठा तेरे पिता को प्राप्त थी। और

जिससे हम गौरवान्वित हो रहे थे, वह सब उनके दिवंगत होते ही हम से छिन गई और दूसरे को प्राप्त हो गई। यदि तू योग्य होता, तो यह दिन नहीं देखना पड़ता। इसी का दुःख होता है।"

कपिल ने कहा—"मां! शोक मत करो। मैं पढ़-लिख कर विद्वान बनना चाहता हूँ। कहो, किसके पास पढ़ने जाऊँ?"

—"पुत्र! यहाँ के विद्वान तो अपनी प्रतिष्ठा देख कर ईर्षालु हो गए हैं। इसलिए वे तुम्हारे लिए अनुपयोगी होंगे। तुम श्रावस्ति नगरी जाओ। वहाँ पंडित इन्द्रदत्त तुम्हारे पिताजी का मित्र रहता है। वे महाविद्वान हैं। तुझे पुत्रवत् समझ कर पढ़ाएँगे।"

कपिल माता की आज्ञा ले कर श्रावस्ति गया। उसने इन्द्रदत्त शर्मा को प्रणाम कर के अपना परिचय दिया और बोला--"मैं आपकी शरण में हूँ। मुझे विद्यादान दीजिये।"

--"पुत्र! तू तो मेरे भाई का पुत्र है। तुने अच्छा किया कि विद्या पढ़ने का संकल्प कर के यहाँ आया। परन्तु मैं स्वयं निर्धन हूँ, दरिद्र हूँ। तेरा आतिथ्य करने का सामर्थ्य मुझ में नहीं है। मैं तुझे अवश्य पढ़ाऊँगा, परन्तु तू भोजन कहाँ करेगा और बिना भोजन के पढ़ेगा भी कैसे?"

"पिताजी! भोजन की चिन्ता आप नहीं करें। मैं भिक्षा कर के अपना जीवन चला लूंगा। ब्राह्मणपुत्र को भिक्षा मिलना सहज है। बस "**भिक्षां देहि**" कहा कि भिक्षा मिली। ब्राह्मण हाथी पर चढ़ कर वैभवशाली भी हो सकता है और भिक्षोपजीवी भी। भिक्षोपजीवी ब्राह्मण राजा के समान स्वतन्त्र होता है।

इन्द्रदत्त कपिल को साथ ले कर शालिभद्र नाम के सेठ के यहाँ गया और उच्च स्वर से "**ॐ भूर्भुवः स्वः**" आदि गायत्री मन्त्र बोल कर सेठ को आकर्षित किया। सेठ ने उन्हें अपने समीप बुला कर प्रयोजन पूछा।

"भाग्यवान् सेठ! इस विप्र बटुक को आपकी भोजनशाला में नित्य भोजन दीजिये। यह कौशाम्बी से विद्याभ्यास के लिये मेरे पास आया है। मैं इसे अभ्यास कराऊँगा। आप भोजन दीजिये"—इन्द्रदत्त ने माँग की।

सेठ ने कपिल को भोजन देना स्वीकार कर लिया। कपिल प्रतिदिन सेठ की भोजनशाला में भोजन करता और इन्द्रदत्त से विद्या पढ़ता। भोजनशाला में एक युवती दासी भोजन परोसा करती थी। कपिल भी युवावस्था प्राप्त कर चुका था। एक-दूसरे का दृष्टि मिलाप हुआ, वचन-व्यापार होने लगा और उपहास्य आदि मार्ग से वेदमोहनीय अपना उदय सफल करने लगा। उनका पाप-व्यापार प्रच्छन्न चलने लगा। कालान्तर में

किसी उत्सव का दिन आया। दासी उदास हो कर बोली—"प्राणेश ! उत्सव पर सखियों के साथ जाने, गोष्ठी करने आदि के योग्य सामग्री मेरे पास नहीं है। मैं कैसे उनमें सम्मिलित हो सकूँगी ? दीनहीन हो कर जाने में मेरी निन्दा होगी। मैं तुच्छ एवं हीन दृष्टि से देखी जाऊँगी। कुछ उपाय कीजिये।"

—"प्रिये ! मैं क्या करूँ ? मैं स्वयं दरिद्र हूँ। सेठ की कृपा से पेट-भराई हो जाती है और पढ़ता हूँ। मेरे पास है ही क्या, जो मैं तुझे दूं ?"

दासी ने कहा—"एक उपाय है। इस नगर में धनदत्त सेठ है। उसे जो कोई प्रातःकाल के पूर्व मधुर स्वर में कल्याण राग से मंगलाचरण गा कर जगावे, उसे वह दो माशा सोना देता है। यदि रात को ही उठ कर आप सेठ के यहाँ सर्वप्रथम पहुँच जावें, तो आपको स्वर्ण मिल सकता हैं।"

—"यह कार्य मैं अवश्य करूँगा। तुम निश्चित रहो।"

कपिल स्वर्ण पाने के लिए आधी रात के बाद ही चल निकला। मार्ग में उसे नगर-रक्षकों ने चोर समझ कर पकड़ा और प्रातःकाल उसे राजा के सम्मुख खड़ा किया। राजा ने कपिल से उसका परिचय और रात्रि में गमन का कारण पूछा। कपिल ने अपनी कहानी सुना दी। राजा को उसके चेहरे पर उभरे भावों से उसका कथन सत्य लगा। उसकी दयनीय दशा देख कर राजा ने कहा;—"तेरी इच्छा हो, वह मुझ-से माँग ले। मैं तुझे दूँगा।"

कपिल प्रसन्न हो गया और बोला—"कृपानाथ ! मैं अपनी आवश्यकता का विचार कर लूं, फिर माँग करूँगा।"

राजा की आज्ञा पा कर कपिल अशोकवाटिका में गया और सोचने लगा;—

"यदि दो माशा स्वर्ण ही मांगुगा, तो उससे क्या मिलेगा ? प्रिया के वस्त्र भी पूरे नहीं पड़ेंगे और अभाव खटकता रहेगा। इसलिए सौ स्वर्ण-मुद्रा माँग लूं।" लोभ बढ़ने लगा—"सौ दिनारों से भी सभी आवश्यकताएँ कैसे पूर्ण होगी ? उत्तम वस्त्रों के साथ मूल्यवान् आभूषण भी चाहिए और दासत्व से मुक्त होकर सुखपूर्वक रहने के लिये अच्छा घर, उत्तम भोजन आदि सुखपूर्वक मिलते रहने के लिए तो सहस्र मुद्राएँ भी न्यून ही होगी। बाल-बच्चे होंगे। उन्हें पालना, पढ़ाना, विवाहादि करना, इत्यादि के लिए तो लाख सोनैये भी कम होंगे।" करोड़ दिनार........ बढ़ते-बढ़ते हठात् विचार पलटे। इस निमित्त से उनकी भवितव्यता जगी। उसके महान् पुण्य का उदय और चारित्र-मोहनीय का क्षयोपशम तीव्र हुआ। उसने सोचा;—

वाली ऊबड़खाबड़ महाअटवी में छुप जाता। राज्य की रक्षक-सेना भी उसे इस अटवी में खोजते भयभीत होती थी। डाकूदल के निरीक्षक, पहाड़ी एवं ऊँचे वृक्ष पर चढ़ कर, बाहर से अटवी में प्रवेश करने वालों को देखते और अपने सरदार को संकेत करते, जिससे वह सावधान हो जाता। महात्मा श्री कपिलजी तो वीतराग थे। उनका भय-मोहनीय कर्म नष्ट हो चुका था। इस डाकूदल का इन कपिल भगवान् से उद्धार होने वाला था। डाकूदल का उपादान परिपक्व हो चुका था। यह कपिल महात्मा जानते थे। यह उत्तमोत्तम निमित्त उपादान के निकट जा रहा था। उपादान भी निमित्त से मनोरंजन करने के लिए अपने स्थान से चल कर उस मार्ग पर आ पहुँचा। डाकू सरदार बलभद्र बोला--"ऐसे साधु गायन अच्छा करते हैं। आज इनका गायन सुन कर आनन्द लेना चाहिए। आज हमें कोई विशेष कार्य भी नहीं है।"

महात्मा को डाकूदल ने घेर लिया और गायन सुनाने ‡ का आदेश दिया। महर्षि तो जानते ही थे। वहीं बैठ कर उन्होंने गायन प्रारंभ किया।

"अधुवे असासयम्मि, संसारम्मि दुक्ख पउराए ....

वैराग्य रस से भरपूर इन गाथाओं से कपिल भगवान् उस डाकूदल के उत्तम उपादान को झकझोर कर जगाने लगे। उत्तराध्ययन सूत्र के आठवें अध्ययन की बीस गाथाएँ × इसी उपदेश से भरी हैं। सरदार सहित सभी डाकू संसार से विरक्त होकर भगवान् कपिलजी के शिष्य बन गए। उन्होंने गृहस्थवास का त्याग कर निर्ग्रंथ दीक्षा अंगीकार कर ली।

अभयकुमार की दीक्षा

भगवान् से उदयन नरेश का चरित्र / सुन कर अभयकुमार चिन्ता-मग्न हो गये। उन्हें विचार हुआ--'भगवान् का कहना है कि--उदयन नरेश ही अंतिम राजर्षि हैं। इससे स्पष्ट हो गया कि अब कोई भी राजा दीक्षित नहीं होगा और पिताश्री मुझे राज्य-भार देना चाहते हैं। नहीं, मैं राज्य नहीं लूंगा।' वे श्रेणिक नरेश के समक्ष आये और

‡ त्रि. श. चरित्रकार 'नाच करने का' उल्लेख करते हैं।

× ग्रन्थकार ५०० ध्रुवपद गाने का उल्लेख करते हैं। लिखा है कि प्रत्येक ध्रुवपद पर एक-एक व्यक्ति प्रतिबोध पाया।

/ कपिल केवली का चरित्र भी उदयन नरेश के चरित्र के अन्तर्गत आया है।

प्रणाम कर कहने लगे;--

"पूज्य ! मुझे आज्ञा दीजिये । मैं निर्ग्रंथ-दीक्षा ग्रहण करूँगा ।"

"अभय ! तुम राज्यभार वहन करने के योग्य हो । तुम्हारे भाइयों में ऐसा एक भी नहीं है जो मगध-साम्राज्य को संभाल सके, रक्षा कर सके और शान्ति तथा न्याय से प्रजा को संतुष्ट रख सके। इसलिये मैं तुम्हारा राज्याभिषेक कर के निश्चित होकर रहूँ।"

"नहीं, पूज्य ! आप जैसे भगवान् के भक्त का पुत्र होकर और भगवान् महावीर प्रभु जैसे परम तारक पा कर भी मैं संसार-सागर में गोते खाता रहूँ, तो मेरे जैसा अधम कौन होगा ? आप स्वयं धर्मप्रिय हैं और राज्य-वैभव तो अनित्य है । इसमें उलझ कर मनुष्य-भव बिगाड़ना कैसे उचित होगा ?"

"पिताश्री ! मुझ पर कृपा कर के अब शीघ्र आज्ञा दीजिये । आपकी कृपा से मेरा मनोरथ सफल हो जायगा ।"

श्रेणिक नरेश स्वयं अप्रत्याख्यानावरण मोह के उदय से विरत नहीं हो सकते थे, परन्तु धर्मरसिक तो थे ही । उन्होंने अभयकुमार को अनुमति दे दी । पिता की अनुमति प्राप्त कर अभयकुमार माता के समीप आये । माता से निवेदन किया । नन्दा देवी स्वयं भी संसार त्यागने को तत्पर हो गई । नरेश ने अभयकुमार और नन्दा देवी को महोत्सव पूर्वक भगवान् के समीप ले जा कर दीक्षा दिलवाई । दीक्षित होते समय अभयकुमार और नन्दा देवी ने दिव्य कुण्डल और दिव्य वस्त्र विहल्ल और वेहास कुमार को दिये ।

अभयकुमार संयम और तप का उत्तमतापूर्वक पाँच वर्ष तक पालन कर के आराधक हुए और साधना पूर्वक काल कर के विजय नाम के अनुत्तर§ देवपने उत्पन्न हुए । वहाँ का आयु पूर्ण कर मनुष्य हो कर मुक्त होंगे ।

कूणिक ने श्रेणिक को बन्दी बनादिया

अभयकुमार के दीक्षित होने के बाद श्रेणिक नरेश ने सोचा--'अब मेरा उत्तराधिकारी किसे बनाऊँ ? कौन पुत्र ऐसा है जो अभय के स्थान की पूर्ति कर सके और राज्य

§अनुत्तरोववाई में मुनिराज अभयजी की गति 'विजय' अनुत्तर विमान की लिखी है--'**अभओ विजये ।**" परन्तु ग्रन्थकार 'सर्वार्थसिद्ध' महाविमान को लिखते हैं । यह अप्रामाणिक है । प्रामाणिक तो आगम-विधान ही है ।

का भार उठा सके।' उसकी दृष्टि में एकमात्र कूणिक ही सभी दृष्टि से योग्य लगा। उसने निश्चय कर लिया कि कूणिक को ही मगध-साम्राज्य का शासक बनाना। यह निश्चय कर के उसने महारानी चिल्लना के छोटे पुत्र (कूणिक के सगे छोटे भाई) को अठारह लड़ियों वाला हार और 'सेचनक' नामक गजराज दे दिया। उनका विचार था कि अन्य पुत्रों को जागीर दे दूंगा, फिर सारा साम्राज्य कूणिक का ही रहेगा। परन्तु कूणिक पर इसका विपरीत प्रभाव पड़ा। उसने अपने 'काल' आदि दस बन्धुओं को एक गुप्त स्थान पर बुलाया और अपनी कुटिल योजना उपस्थित करते हुए बोला;—

"ज्येष्ठ बन्धु अभयकुमारजी को धन्य है कि उन्होंने युवावस्था में ही राज्याधिकार और भोगोपभोग त्याग कर निर्ग्रंथ बन गये। परन्तु पिताजी वृद्ध हो गये, फिर भी राज्य और भोग नहीं छोड़ते। होना तो यह चाहिये कि ज्यों ही पुत्र योग्य हो जाय, तब पिता को राज्य का भार पुत्र को दे कर संसार छोड़ देना चाहिये, किन्तु पिताजी की भोग-लालसा ने उनके विवेक को हर लिया है। अब अपन सब मिल कर पिताजी को बन्दी बना कर एक पींजरे में बन्द कर दें और राज्य के ग्यारह विभाग कर के अपन बाँट लें।"

कूणिक की दुष्ट योजना सब ने स्वीकार कर ली और श्रेणिक को एकांत में अकेला पा कर बन्दी बना दिया तथा एक पिंजरे में बन्द कर दिया। कल तक जो मगध-साम्राज्य का स्वामी था, जिसका शासन लाखों-करोड़ों मनुष्यों पर चलता था और जिसने जीवन भर उच्च प्रकार के भोग ही भोगे, जिसकी सेवा में अनेक दास-दासियाँ हाथ जोड़े खड़े रहते थे, वह मगध-सम्राट श्रेणिक आज एक आपराधिक बन्दी जैसा पिंजरे में बन्द है—शत्रु नहीं अपने प्रिय पुत्र द्वारा। भाग्य से उत्पन्न विडम्बना ही है यह। ग्रन्थकार लिखते हैं कि कूणिक पिता को भोजन भी नहीं देता था। और दुखी करता था †। वह किसी

† ग्रन्थकार लिखते हैं कि कूणिक बन्दी पिता को भोजन और पानी भी नहीं देता था और प्रातःकाल और सायंकाल पिता को सौ-सौ चाबुक पीटता था। चिल्लना अपने मस्तक के बालों के जुड़े में उड़द के बाकलों का पिण्ड छुपा कर ले जाती। भूख का मारा श्रेणिक उसे मिष्ठान्न जैसा समझ कर खा जाता। अपने मस्तक के बालों को मदिरा से धो कर झरते हुए बिन्दुओं को समेट कर लाती और उन मद्य-बिन्दुओं को पति के मुंह में टपका कर उनकी तृषा शान्त करती, तथा नशे में चाबुकों की मार से उत्पन्न पीड़ा भुलाई जाती। इस कथानक पर सहसा विश्वास नहीं होता। इतनी नृशंसता किसी शत्रु के साथ भी नहीं की जाती, फिर पिता के साथ कैसे हुई और तब तक माता भी उसका भ्रम दूर नहीं कर सकी, जो बहुत दिनों—महीनों बाद किया? वैसे श्रेणिक के पूर्वभव की उस घटना पर विचार करते हैं, तो स्पष्ट होता है कि श्रेणिक का जीव सुमंगल राजा के मन में तपस्वी के प्रति दुर्भाव नहीं था—जिससे इतना दुःखदायक

मनुष्य को पिता के पास भी नहीं जाने देता था। उसने केवल अपनी माता को ही पिता से मिलने की अनुमति दी थी। पुत्र से बन्दी बनाया हुआ श्रेणिक उसी प्रकार विवश था जिस प्रकार दृढ़ बन्धनों में बंधा गजराज और पिंजरे में पड़ा सिंह होता है। श्रेणिक आर्त्त-रौद्र ध्यान में ही लगा रहता था।

एक दिन कूणिक माता को प्रणाम करने गया। माता को शोक-संतप्त देख कर कारण पूछा+। माता ने कहा; —

"कुलकलंक। तेरे पिता को भी तू बहुत अधिक प्रिय था। जब तू गर्भ में था और तेरी दुष्टात्मा ने पिता के हृदय का मांस मांगा, तो तेरी तुष्टि के लिए उन्होंने अपना मांस दिया। तब से मैं तुझे कुलांगार और पिता का शत्रु मानने लगी थी। मैंने गर्भ में ही तेरा विनाश करने का भरसक प्रयास किया, परंतु तू नहीं मरा। तेरा जन्म होते ही मैंने तुझे बन में फिकवा दिया। वहाँ कुर्कुट के पंख से तेरी अंगुली कट गई। तेरे पिता को ज्ञात होते ही वे बन में गये और तुझे उठा लाये और मेरी बहुत भर्त्सना की तथा पालन करने का आदेश दिया। मैं तेरा पालन करने लगी, परन्तु उपेक्षा पूर्वक। कुर्कुट से कटी हुई उंगली जब

कर्मबन्धन हो। हां, तपस्वी ने अवश्य वैर लेने का बन्ध किया था। हो सकता है कि श्रेणिक के इस निमित्त से अन्य वैसा गाढ़ कर्म उदय में आया हो? रहस्य ज्ञानीगम्य है।

+ ग्रन्थकार लिखते हैं कि—पिता को बन्दी बना कर कूणिक राज्य का संचालन करने लगा। उसकी रानी पद्मावती ने एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। बधाई देने वाली दासी को कूणिक ने भरपूर पारितोषिक दिया और तत्काल अन्तःपुर में पहुँचा। सौरिगृह में जा कर बच्चे को उठा लिया और देख कर आनन्दित हो गया। वह एक श्लोक बोलने लगा, जिसका भाव था—

"हे वत्स! तू मेरे अंग से उत्पन्न हुआ है और मेरे हृदय के स्नेह से तू सिंचित है। इसलिये तू मेरी आत्मा के समान है। हे पुत्र। तू सुदीर्घ एवं पूर्णायु प्राप्त कर।"

इस प्रकार बार-बार बोलता हुआ वह अपने हृदय के हर्ष को उगलने लगा। पुत्र का जन्मोत्सव कर के उसका नाम 'उदायी' रखा।

कालान्तर में एकदिन जब वह भोजन करने बैठा, तो शिशु को अपनी बायीं जंघा पर बिठा दिया। भोजन करते-करते बच्चे ने मूत दिया, जिसकी धार भोजन की थाल में गिरी। मोहाधीन कूणिक हँसता हुआ बोल उठा—"वाह, पुत्र! तुने मेरे भोजन को घृतपूरित कर दिया।" वह मूत्र से आर्द्र हुए अंश को एक ओर हटा कर शेष खाने लगा। पुत्र-स्नेह से उसे वह भोजन भी स्वादिष्ट एवं रुचिकर लगा। उस समय माता चिल्लना सामने ही बैठी हुई देख रही थी। उसने माता से पूछा;—

"माता! जितना उत्कट स्नेह मुझे इस पुत्र पर है, उतना संसार के किसी अन्य पिता को अपने पुत्र पर होगा?"

पकगई और तुझे पीड़ित करने लगी, तो तेरे स्नेही पिता तेरी अंगुली अपने मुंह में ले कर चूसते और पीप निकाल कर थूकते। इससे तुझे शान्ति मिलती। ऐसा उन्होंने कई बार किया। ऐसे वात्सल्य-धाम पिता की तुने जो दशा की। वह तो एक कुलकलंक, शत्रु ही कर सकता है।"

--"परन्तु माता ! पिताजी तो हम भाइयों में भेद रखते थे। वे अच्छी वस्तु मेरे छोटे भाई को देते थे और निम्नकोटि की मुझे देते थे। क्या यह प्रेम का प्रमाण हैं"--कूणिक ने पूछा।

--"यह भेद भाव तो में रखती थी। क्योंकि तेरे लक्षण मेरे समक्ष गर्भ में ही प्रकट हो गए थे"--माता ने कहा।

श्रेणिक का आत्मघात

माता की बात का कूणिक पर अनुकूल प्रभाव हुआ। उसका वैरोदय नष्ट हो चुका था। उसके हृदय में पश्चात्ताप की अग्नि धधक उठी और पितृ-भक्ति जगी। वह यह वोलता हुआ उठ गया कि--"मैं कितना अधम हूँ। मुझे धिक्कार है कि मैंने विना विचारे महान् अनर्थ कर डाला। दुष्ट-बुद्धि ने मुझे कलंकित बना दिया। माता ! मैं जाता हूँ, अभी पिताजी को मुक्त कर के उन्हें राज्यासन सौंपता हूँ।"

कूणिक उठा और पुत्र को माता को दे कर पिता की बेड़ी तोड़ने के लिए एक परशु उठा कर वन्दीगृह की ओर चला। दूर से प्रहरी ने देखा, तो श्रेणिक से कहा--"महाराज इधर ही पधार रहे हैं और उनके हाथ में परशु है। मुझे भय है कि कुछ अनर्थ नहीं कर दे।" श्रेणिक ने भी देखा। उसे लगा कि पुत्र के रूप में काल निकट चला आ रहा है। अब मुझे आत्म-हत्या ही कर लेनी चाहिये। इस प्रकार सोच कर उसने तालुपुट विप (जो अंगूठी में था) ले कर जीभ के अग्रभाग पर रखा। विष रखते ही व्याप्त हो गया और तत्काल प्राण-पखेरु शरीर छोड़ गये। उनका मृत-देह ढल कर पृथ्वी पर गिर पड़ा। कूणिक निकट पहुँचा, तो उसे पिता का शव ही मिला।

कूणिक को पितृशोक

कूणिक ने पिता को गतप्राण पाया, तो उसे घोर आघात लगा। वह छाती पीट कर उच्च स्वर से रोने लगा। विलाप करता हुआ वह वोला--

"पिताजी ! मैं महापापी हूँ, कुपुत्र हूँ। मेरे जैसा कुपुत्र संसार में कोई दूसरा नहीं होगा। माता के वचन से मेरे मन में पश्चात्ताप की भावना उत्पन्न हुई थी और मैं आपसे क्षमा माँगने तथा मुक्त कर के पुनः पूर्वस्थिति में रखने आया था। परन्तु आपने मुझ कुपुत्र को क्षमा माँगने का भी अवसर नहीं दिया। हा दुर्दैव ! मुझे पितृ-द्रोही पितृघातक क्यों बनाया ? मेरे इस घोर पातक का प्रायश्चित्त तो अब आत्मघात ही है। मैं भृगुपात कर के मरूँ, अग्नि में जल कर, पानी में डूब कर या शस्त्र प्रयोग कर के आत्मघात करूँ और इस कलंकित जीवन का अन्त कर लूं।"

मन्त्रियों ने समझा कर श्रेणिक नरेश के देह की उत्तरक्रिया करवाई।

पिण्डदान की प्रवृत्ति

प्रश्चात्ताप एवं शोकातिरेक से कूणिक का स्वास्थ्य गिरने लगा। राजा की दशा देख कर मन्त्रीगण चिन्तित हुए। उन्होंने मन्त्रणा कर के राजा का शोक दूर करने का उपाय निश्चित किया। फिर एक पुराना ताम्र-पत्र लिया और उस पर यह लेख खुदवाया कि—

"पुत्र-प्रदत्त पिण्डदान मृत पिता को प्राप्त होता है।"

यह लेख राजा को दिखा कर कहा—"महाराज ! आप शोक ही शोक में अपना कर्त्तव्य भूल रहे हैं। हमें यह प्राचीन लेख मिला है। इसमें लिखा है कि पुत्र को चाहिये कि दिवंगत पिता को पिण्ड-दान करे। वह पिण्डदान पिता की आत्मा को प्राप्त होता है और वह आत्मा, पुत्र के दिये हुए पिण्ड का भोग कर तृप्त होती है। आप शोक त्याग कर अपने कर्त्तव्य का पालन करिये। स्वर्गीय महाराज की आत्मा आप के पिण्डदान की प्रतीक्षा कर रही होगी।"

कूणिक ने मन्त्रियों की बात मानी और पिण्डदान किया। ग्रंथकार लिखते हैं कि "तभी से पिण्ड दान की प्रवृति चालू हुई।" कूणिक पिण्डदान कर के आश्वस्त रहने लगा।

चम्पा नगरी का निर्माण और राजधानी का परिवर्तन

कूणिक जब पिता का आसन, शय्या आदि देखता और माता की दुरावस्था का विचार करता, तो उसके हृदय में एक टीस उठती और वह शोकातुर हो जाता। अब उसका

मन राजगृह में नहीं लग रहा था। वह कहीं अन्यत्र जा कर रहना चाहता था। उसने वास्तु-विद्या में निपुण पुरुषों को बुला कर आदेश दिया--"तुम बन में जाओ और उत्तम भूमि देखो, जहाँ नूतन नगर बसाया जा सके।"

वास्तु-विशेषज्ञ भूमि देखते हुए चले जा रहे थे। एक स्थान पर उन्होंने चम्पा का एक विशाल वृक्ष देखा। उन्हें विचार हुआ कि—उद्यान में होने वाला यह वृक्ष इस बन में कैसे उत्पन्न हुआ? न तो कोई इसका सिंचन करता है और न कोई जलाशय ही इसके निकट है, फिर भी यह सुरक्षित वृक्ष के समान हराभरा एवं शोभित है। इसकी शाखाएँ, प्रतिशाखाएँ, पत्र आदि सभी आश्चर्य जनक है। इसकी सुगन्ध कितनी मनोहर और दूर-दूर तक फैली हुई है। इस वृक्ष की छत्ररूप छाया के नीचे विश्राम करने की इच्छा होती है। नगर बसाने के लिये यह स्थान उत्तम है। वह नगर भी समृद्ध एवं रमणीय होगा। वास्तु-शास्त्रियों ने अपना अभिप्राय राजा को दिया। राजा ने आज्ञा दी—"तत्काल कार्य प्रारम्भ करो। उस नगरी का नाम भी 'चम्पा' ही होगा।"

थोड़े दिनों में नगरी का निर्माण हो गया। कूणिक नरेश अपनी राजधानी, कुटुम्ब-परिवार और राज्य के विविध कार्यालय चम्पा नगरी ले आये और राज्य का संचालन करने लगे।

महायुद्ध का निमित्त ×× पद्मावती का हठ

महाराजा श्रेणिक ने चिल्लना देवी के आत्मज और कूणिक के सगे छोटे भाई वेहल्ल × और वेहास को अठारह लड़ी वाला हार और सेचनक हस्ति दिया था और दिव्य कुण्डल और वस्त्र नन्दा देवी ने दिये थे। वे जब उस हार, कुण्डल और वस्त्र पहिन कर हाथी पर बैठ कर निकलते और उनकी रानियों के साथ जल-क्रीड़ा करते तो देवकुमार जैसे शोभायमान लगते। उनकी अद्भुत शोभा देख कर कूणिक नरेश की रानी पद्मावती के हृदय में ईर्षाग्नि प्रज्ज्वलित हो गई। उसने सोचा—'यह हार कुण्डल और वस्त्र तो मगध-सम्राट (पति) के लिये ही उपयुक्त हो सकते हैं। यदि इन दिव्य अलंकारों और सेचनक हस्ति से मेरे पति वंचित रहें, तो उनकी शोभा और प्रभाव ही क्या? लोगों को आकर्षित कौन करेगा—महाराजा या ये दोनों—अधिनस्थ ?'

× निरियावलिया सूत्र में केवल 'वेहल्ल' का ही उल्लेख है।

महारानी पद्मावती इसी विचार में डूब गई। उसने निश्चय कर लिया कि महाराज से कह कर ये अलंकरण इन से लिवाना चाहिये। जब कूणिक नरेश अंतःपुर में आये, तो अवसर देख कर रानी ने कहा--

"प्राणेश ! आपके बन्धु विहल्ल वेहास के पास जो दिव्य हार कुण्डल और हस्ति-रत्न है, वह तो आपके योग्य है। राज्य की श्रेष्ठतम वस्तु का उपभोग तो राज्य का स्वामी ही करता है, अन्य नहीं। ये वस्तुएँ आप उससे ले लेवें।"

"नहीं प्रिये ! ये वस्तुएँ तो पिताश्री ने उन्हें दी थी। इन्हें उनसे लेना अनुचित होगा। लोक में निन्दा होगी। पिताश्री के देहावसान के बाद तो इन बन्धुओं पर मेरा अनुग्रह विशेष रहना चाहिये"--कूणिक ने कहा।

—"यदि आप इन उत्तमोत्तम अलंकारों से वंचित हैं, तो आप निस्तेज रहेंगे। शोभा में इन से वृद्धि होती है, वह आपकी नहीं, आपके भाई की होगी। मैं इसे 'सहन नहीं कर सकूंगी"--रानी ने रूठने का डौल करते हुए कहा।

मोह का मारा कूणिक दबा और बन्धु से हार आदि लेने का वचन दे कर रूठी हुई प्रियतमा को मनाया।

कूणिक ने भाइयों से हार हाथी की माँग की, तो विहल्ल-वेहास ने कहा--"हमें पिताश्री ने दिये हैं। यदि आपको हार और हाथी लेना है, तो आधा राज्य हमें दीजिये और हार-हाथी आप ले लीजिये।" कूणिक नहीं माना, तो वे अनुकूल अवसर देख कर रात्रि के समय अपनी रानियों के साथ दिव्य अलंकार और अन्य आवश्यक वस्तु ले कर चल निकले और वैशाली नगरी में अपने मातामह (नाना) के पास चले गये। चेटक नरेश ने अपने दोहित्रों का स्नेहपूर्वक चुम्बन किया और युवराज के समान रखा।

शरणागत का संरक्षण

दूसरे दिन कूणिक नरेश को ज्ञात हुआ कि विहल्ल और वेहास रात्रि में ही रानियों और दिव्य वस्तुओं के साथ निकल कर कहीं चले गये हैं। खोज हुई तो ज्ञात हुआ कि 'वैशाली' की ओर गये हैं। यही सम्भावना थी। कूणिक के लिये अब चुप बैठना प्रतिष्ठा का विषय बन गया था। पत्नी के दुराग्रह और अपनी मोह-मूढ़ता उसे युद्ध की ओर घसीट रही थी। उसने एक दूत विशाला नरेश--अपने सगे नाना--के पास भेज कर अपने भाइयों की सम्पत्ति सहित माँग की। दूत ने महाराजा चेटक को प्रणाम किया। कुशलक्षेम के

पश्चात् विनयपूर्वक कूणिक नरेश का सन्देश सुनाते हुए कहा;—

"महाराज ! राजबन्धु विहल्ल और वेहासजी रात्रि के समय चुपचाप निकल कर हस्ति-रत्नादि सम्पत्ति सहित यहाँ आ गये हैं। मेरे स्वामी ने उन्हें लौटा लाने के लिये मेरे द्वारा आपसे सविनय निवेदन किया है। आप उन्हें लौटाने की कृपा करें।"

"अपनी शरण में आया हुआ एक सामान्य व्यक्ति भी भय स्थान पर धकेला नहीं जाता, तब ये दोनों तो मेरे दोहित्र हैं और मुझ पर विश्वास रख कर ही यहाँ आये हैं। इनकी रक्षा करना तो मेरा कर्त्तव्य है। इसके सिवाय ये दोनों मुझे पुत्र के समान प्रिय भी हैं। मैं इन्हें लौटाने का विचार ही कैसे कर सकता हूँ?"

"यदि आप दोनों राजबन्धुओं को लौटाना नहीं चाहते, तो कम से कम वह हस्ति और हार ही लौटा दें, तो भी विवाद मिट जायगा"—दूत ने कहा।

—"दूत ! यह अन्याय की बात है। किसी तीसरे व्यक्ति को यह अधिकार नहीं है कि दूसरे की न्यायपूर्ण सम्पत्ति छिन कर पहले—वादी को दे दे। जो मेरे दोहित्र की सम्पत्ति है, उसे मैं बरबस छिन कर कैसे दे सकता हूँ? इसकी रक्षा के लिए ही तो वे यहाँ आये हैं। ये तो मुझ-से पाने के अधिकारी हैं। मैं इन्हें दान दे सकता हूँ, छिन नहीं सकता।

"गजराज हार आदि इनके पिता ने इन्हें अपनी जीवित अवस्था में ही दिये हैं। इस पर इनका न्यायपूर्ण अधिकार है। यदि ये राज्य की सम्पत्ति चुरा कर लाते, तो अवश्य अनधिकारी होते और दण्ड के पात्र भी। अब इन वस्तुओं को पाने का एक ही न्याय पूर्ण मार्ग है। यदि कूणिक अपने राज्य का आधा भाग इन्हें दे दे, तो ये वस्तुएँ उसे दी जा सकती है"—राजा ने उत्तर दे कर दूत को यथोचित सम्मान के साथ लौटा दिया।

दूत ने कूणिक नरेश को चेटक नरेश का उत्तर सुनाया, तो कूणिक ने पुनः दूत को भेज कर विनम्र निवेदन कराया कि—

"राज्य में जो भी उत्तम रत्नादि उत्पन्न होते हैं, उन पर राज्याधिपति का अधिकार होता है, क्योंकि वह रत्न राज्य की शोभा है। इसलिए सेचनक गजराज और रत्नहार पर मेरा अधिकार है। कृपया ये दोनों वस्तुएँ हमें दीजिये और विहल्ल-वेहास को लौटा दीजिये।"

दूत द्वारा कूणिक का सन्देश सुन कर चेटक नरेश ने कहा;—

"मेरे लिए तो जैसा कूणिक है, वैसे ही वेहल्ल-वेहास हैं। ये तीनों बन्धु मेरी पुत्री चिल्लना और जामाता श्रेणिक नरेश के पुत्र हैं। परन्तु कूणिक का पक्ष न्याय पूर्ण नहीं है। यह सत्य है कि सेचनक हस्ति और हार राज्य में उत्तम रत्न है, परंतु इन रत्नों को तो

राज्याधिपति श्रेणिक (उसके पिता) ने ही उन्हें दान में दे दिया। इसके अतिरिक्त उन्हें राज्य का कुछ भी भाग नहीं मिला, तब उचित प्रतिदान दिये बिना ही पिता द्वारा प्रदत्त वस्तु माँगना कैसे उचित हो सकता है? इसीलिए मैंने न्याय-मार्ग बताया कि इन दोनों वस्तुओं को प्राप्त करना है, तो विनिमय स्वरूप अपना आधाराज्य दे दो और दोनों वस्तुएँ ले लो। यही उत्तम मार्ग है।"

दूत लौट गया। चेटक नरेश का उत्तर सुन कर कूणिक राजा क्रोधित हो उठा। उसने तीसरी बार दूत को आदेश दिया—

"तुम विशाला नगरी जा कर चेटक के पादपीठ को बायें पाँव से ठुकराओ और भाले की नोक पर लगा कर पत्र दो। साथ ही क्रोधित हो, ललाट पर त्रिवली एवं भृकुटी चढ़ा कर कहो;--

"रे मृत्यु के इच्छुक निर्लज्ज दुर्भागी चेटक! तुझे महाराजाधिराज कूणिक आदेश देते हैं कि—सेचनक हस्ति, हार और दोनों बन्धुओं को मुझे अर्पण कर दे, अन्यथा युद्ध के लिए तत्पर होजा। कूणिक नरेश विशाल सेना ले कर शीघ्र ही आ रहे हैं।"

दूत चेटक नरेश के समीप आया, हाथ जोड़ कर प्रणाम किया और कहा—"स्वामिन्! मेरा प्रणाम स्वीकारें। यह मुझ स्वयं का आपके प्रति विनय है। परन्तु अब आगे जो मैं अशिष्टतापूर्वक वर्त्तन करूँगा, वह मेरा नहीं, मेरे स्वामी महाराजाधिराज कूणिकजी की ओर का होगा।" इतना कह कर उसने अपने बायें पाँव से चेटक नरेश की पादपीठिका ठुकराई और भाले की नोक पर रख कर कूणिक का पत्र उन्हें दिया और क्रोधपूर्वक भृकुटी एवं त्रिवली चढ़ा कर बोला--"रे मृत्यु के इच्छुक........आदि।

दूत के अशिष्ट एवं अश्रुतपूर्व कटु वचन सुन कर चेटक महाराज भी क्रोधित हो गये और रोषपूर्वक बोले;--

"रे दूत! मैं कूणिक को न तो हार-हाथी ही दूँगा और न दोनों कुमारों को ही लौटाऊँगा। तू जा और कह दे कूणिक को। वह अपनी इच्छा हो वह करे। मैं युद्ध के लिये तत्पर हूँ।"

इस दूत को अपमान पूर्वक पिछले द्वार से निकाल दिया। दूत ने चम्पा लौट कर कूणिक को अपनी यात्रा का परिणाम निवेदन किया। दूत की बात सुन कर कूणिक क्रोधित हुआ। अब युद्ध छेड़ना उसने आवश्यक मान लिया। उसने तत्काल ही अपने कालकुमार आदि दस बन्धुओं को बुलाया और वेहल्ल-वेहास के पलायन और चेटक नरेश से हुए संदेशों

के आदान-प्रदान सम्बन्धी विवरण सुनाने के साथ अपने निश्चय की घोषणा करते हुए कहा;—

"अब वैशाली राज्य के साथ हमारा लड़ना अनिवार्य हो गया है। तुम सभी शीघ्र ही अपने-अपने राज्य में जाओ और स्वयं शस्त्रसज्ज हो कर अपने तीन हजार हाथी, तीन हजार घोड़े, तीन हजार रथ और तीन करोड़ पदाति सैनिकों के साथ सभी प्रकार की सामग्री से सन्नद्ध हो कर आओ।"

कूणिक का आदेश पा कर कालकुमार आदि दसों बन्धु अपनी-अपनी राजधानी की ओर गये और अपनी सेना के साथ सन्नद्ध हो कर उपस्थित हुए।

चेटक-कूणिक संग्राम

कूणिक भी अपनी सेना के साथ चल निकला। उसके पास कुल ३३ हजार हाथी इतने ही घोड़े और रथ थे और ३३ कोटि पदाति सैनिक थे।

जब चेटक नरेश को कूणिक के चढ़ आने की सूचना मिली, तो उन्होंने काशी-कोशल देश के अपने नौ मल्लवी और नौ लिच्छवी गण राजाओं को बुलाया और उन सब के समक्ष कूणिक के साथ उठा हुआ विवाद प्रस्तुत कर पूछा—

"कहिये, अब क्या किया जाय। वेहल्ल-वेहास और उसके हार-हाथी कूणिक को लौटा दिये जायँ या युद्ध किया जाय?"

"नहीं, स्वामिन्! भयभीत शरणागत को लौटाना उचित नहीं है और न राज-कुल के योग्य है। अब तो युद्ध ही करना उचित है और हम सभी आपके साथ हैं"—अठारह गण राजाओं ने कहा।

"ठीक है। अब आप जाओ और सभी अपनी विशाल सेना के साथ शीघ्र ही युद्ध स्थल पर पहुँचो"—चेटक ने आदेश दिया।

चेटक नरेश की अधीनता में सत्तावन हजार हाथी, इतने ही घोड़े रथ और सत्तावन कोटि पदाति सैनिक रणस्थलि पर आये। कूणिक ने सेना का 'गरुड़व्यूह' बनाया और चेटक ने अपनी सेना का 'शकटव्यूह' बनाया। युद्ध प्रारम्भ हो गया। विविध प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से सज्ज सेनाएँ लड़ने लगी। अश्वारोही अश्वारोही से, पदाति पदातिसे और रथिक रथिक से भिड़ गया। मारकाट मच गयी। कूणिक की सेना के ग्यारहवें भाग का सेनापति 'कालकुमार' अपने तीन-तीन हजार हाथी, घोड़े, रथ और तीन कोटि पदाति

के साथ पूरी सेना का सेनापति बन कर लड़ रहा था। उसके सम्मुख महाराजा चेटक नरेश थे। भयंकर संग्राम हुआ। हाथी-घोड़े और मानव-शरीरों से रक्त के फव्वारे उछल रहे थे। रक्त की नहरें बह रही थी। उसमें हाथियों के मृत-शरीर टिले-टेकरे के समान लग रहे थे। टूटे हुए रथों और मनुष्यों के शवों से भू-भाग पट गया था। इस युद्ध में कालकुमार की सेना छिन्न-भिन्न हो गई। अपनी सेना की दुर्दशा देख कर कालकुमार अत्यंत कुपित हुआ और वह चेटक नरेश को मारने के लिए उन्हें खोजता हुआ उनके निकट आ रहा था। साक्षात् काल के समान कालकुमार को अपनी ओर आता हुआ देख कर चेटक नरेश ने सोचा--'इस प्रचण्ड महाबली कालकुमार का निग्रह किसी से नहीं हुआ। इसी से यह जीवित है और मुझे मारने के लिये आ रहा है।' चेटक नरेश को क्रोध चढ़ आया। उन्होंने धनुष पर दिव्य अस्त्र रखा और कान तक खिंच कर मारा, जिस से कालकुमार का हृदय भिद गया और वह मृत्यु को प्राप्त हो गया। संध्या का समय हो गया था। युद्ध रुका। कूणिक की सेना अपनी क्षति और सेनापति के मरण से शोक-संतप्त होती हुई शिविर की ओर लौट गई। वैशाली की सेना हर्षोन्मत्त हो जय-जयकार करती हुई लौटी।

दूसरे दिन कूणिक की सेना का सेनापति काल का छोटा भाई महाकालकुमार हुआ। युद्ध छिड़ा और वही परिणाम निकला। महाकाल स्वयं भी चेटक नरेश द्वारा मारा गया और सैनिकों और वाहनों का विनाश हुआ। इस प्रकार दस दिन में दसों भाई सेनापति हुए और मारे गये। अब कूणिक अकेला रह गया था।

कूणिक का चिंतन और देव आराधन

कूणिक युद्ध का अकल्पित भयानक परिणाम देख कर हताश हो गया। उसने सोचा—धिक्कार है मुझे जो चेटक नरेश की शक्ति एवं प्रभाव जाने बिना ही मैंने युद्ध छेड़ दिया और देव के समान अपने दसों भाइयों को मरवा कर अब अकेला रह गया हूँ। अब जो युद्ध करता हूँ तो एक ही दिन में मैं भी मारा जाऊँगा। इसलिये अब न तो युद्ध करना उचित है और न इस दशा में निर्लज्ज हो कर लौट जाना ही उचित है। चेटक के के पास दिव्य अस्त्र है। उसे कोई नहीं जीत सकता। देव-प्रभाव देव-प्रभाव से ही नष्ट होता है। इसलिये मुझे भी अब किसी देव की आराधना कर के दिव्य अस्त्र प्राप्त करना होगा। उसने तेले का तप किया और एकान्त स्थान में देव की आराधना करने लगा।

कूणिक पूर्वभव में तपस्वी था ही। इस बार भी वह एकाग्रता पूर्वक तपयुक्त देव का आह्वान करने लगा। साधना सफल हुई। भवनपति का चमरेन्द्र और सौधर्म देवलोक का स्वामी शक्रेन्द्र/ आकर्षित हो कर उपस्थित हुए और पूछा—"कहो क्यों आह्वान किया ?"

—"देवेन्द्र ! मैं संकट में हूँ। मेरी सहायता कीजिये और दुष्ट चेटक को नष्ट कर दीजिये। उसने मेरे दस बन्धुओं को सेना सहित मार डाला और मुझे भी मारने पर तुला हुआ है"—कूणिक ने याचना की।

—"कूणिक ! तुम्हारी माँग अनुचित है। चेटक नरेश श्रमणोपासक हैं और मेरे साधर्मी हैं। मैं उन्हें नहीं मार सकता। हां, उनसे तुम्हारी रक्षा करूँगा। वे तुझे जीत नहीं सकेंगे"—शक्रेन्द्र ने कहा।

शिलाकंटक संग्राम

कूणिक को इससे संतोष हुआ। कूणिक शस्त्रसज्ज हो कर अपने 'उदायी' नामक हस्ति-रत्न पर आरूढ़ हुआ। देवेन्द्र देवराज शक्र ने एक वज्रमय कवच की विकुर्वणा कर के कूणिक को सुरक्षित किया। फिर इन्द्र ने महाशिलाकंटक संग्राम की विकुर्वणा की। इस युद्ध में एक मानवेन्द्र और दूसरा देवेन्द्र था और विपक्ष में चेटक नरेश अठारह गणराजा और विशाल सेना थी। परिणाम में शत्रु-सेना की ओर से आई हुई बड़ी शिला भी एक छोटे कंकर के समान और भाले-बर्छी कंटक के समान लगे और अपनी ओर से बरसाये हुए कंकर भी महाशिला बन कर विनाश कर दे। अपनी ओर से गया हुआ कंटक भी भाले के समान प्राणहारक बन जाय। आज के इस देव-चालित युद्ध ने शत्रु-सेन का विनाश कर दिया। बहुत-से मारे गये, बहुत से घायल हुए और भाग भी गये। गण-राजा भी भाग खड़े हुए। इस एक ही संग्राम में चौरासी लाख सैनिक मारे गये और नरक-तिर्यञ्चयोनि में उत्पन्न हुए।

रथमूसल संग्राम

दूसरे दिन रथमूसल संग्राम मचा। अपनी पराजय और सुभटों का संहार होते हुए भी पुनः व्यवस्थित होकर चेटक नरेश अपने मित्र अठारह गणराजाओं के साथ सेना

/ शक्रेन्द्र तो कार्तिक सेठ के भव में कूणिक के पूर्वभव का मित्र था और चमरेन्द्र तापसभव का साथी पूरण नामक मित्र था। इसी से वे सहायक हुए।

लेकर आ डटे। इसबार कूणिक अपने 'भूतानन्द' नामक हस्ति-राज पर आसीन हुआ। देवेन्द्र शक्र पूर्व की भाँति वज्रमय कवच से कूणिक को सुरक्षित कर आगे रहा और पीछे चमरेन्द्र ने सुरक्षा की। इस युद्ध में एक मानवेन्द्र,, दूसरा देवेन्द्र और तीसरा असुरेन्द्र एक हाथी पर रहे और विपक्ष में चेटक नरेश अठारह गणराजा और विशाल सेना थी।

वरुण और उसका बाल-मित्र

वैशाली में नाग सारथि का पौत्र वरुण× रहता था। वह ऋद्धिसम्पन्न उच्चाधिकार प्राप्त और महान् शक्तिशाली था। वह जिनेश्वर भगवन्त का परमोपासक एवं तत्त्वज्ञ था। श्रमणोपासक के व्रतों का पालन करने के साथ ही बेले-बेले की तपस्या भी करता रहता था। चेटक-कूणिक युद्ध के चलते वरुण को भी महाराजा चेटक की ओर से युद्ध में भाग लेने का आमन्त्रण मिला। उस दिन उस के बेले की तपस्या थी। उसने बेले की तपस्या का पारणा नहीं किया और तपस्या में वृद्धि कर के तेला कर लिया। तत्पश्चात् उसने स्नान किया। वस्त्रालंकार और अस्त्रशस्त्र से सज्ज होकर अपनी सेना के साथ चला और रथ-मूसल संग्राम में सम्मिलित हुआ। वरुण के यह नियम था कि जो व्यक्ति उसका अपराधी होगा, उसी पर वह प्रहार करेगा—उसी पर वह शस्त्र चलावेगा, निरपराधी पर नहीं। उस दिन वही सेनापति * हुआ। कूणिक का सेनापति उसके समक्ष उपस्थित हुआ और ललकारते हुए कहा— "हे महाभुज ! चला तेरा शस्त्र। मैं सावधान हूँ।"

—"नहीं मित्र ! मैं श्रमणोपासक हूँ। जब तक मुझ पर कोई प्रहार नहीं करे, तब तक मैं किसी पर शस्त्र नहीं चलाता। तुम्हारा वार होने के बाद ही मैं प्रहार करूँगा" —वरुण ने कहा।

शत्रु ने बाण मारा जो वरुण की छाती में धंस गया, परंतु वरुण घबराया नहीं। वह क्रोधातुर हुआ और कानपर्यन्त धनुष खिंच कर बाण मारा, जिससे शत्रु क्षत-विक्षत हो कर मृत्यु को प्राप्त हुआ।

× यहाँ यह संभावना लगती है कि—राजगृह की सुलसा श्राविका का पति नाग सारथि था। उसके पुत्र महाराजा श्रेणिक के अंगरक्षक थे और चिल्लना-हरण के समय मारे गये थे। उन नाग-पुत्रों में से किसी का पुत्र (नाग का पौत्र) यह वरुण हो और महाराजा श्रेणिक की मृत्यु के पश्चात् या पूर्व ही वह राजगृह छोड़ कर विशाला चला गया हो ?

* सेनापति होने का उल्लेख त्रि. श. पु. च. में है।

घायल तो वरुण भी हो गया था। उसने रण-क्षेत्र से अपना रथ हटाया और एकान्त स्थान पर रोका। फिर रथ पर से उतरा। रथ से घोड़े खोले और मुक्त कर दिये। वरुण ने भूमि का प्रमार्जन किया, दर्भ का संथारा बिछाया और उस पर आसीन होकर बोला—

"नमस्कार हो मोक्ष प्राप्त अरिहंत भगवंतों को, नमस्कार हो मेरे धर्मगुरु धर्माचार्य श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को। भगवन् ! आप वहाँ रहे हुए मुझे देख रहे हैं। मैंने आपसे स्थूल प्राणातिपात से स्थूल परिग्रह पर्यंत त्याग किया था। अब मैं 'प्राणातिपातादि पापों का सर्वथा जीवनपर्यंत त्याग करता हूँ और अशन-पानादि तथा इस शरीर का भी त्याग करता हूँ।"

वरुण ने अपना कवच उतारा, शस्त्र उतारे और छाती में धँसे हुए बाण को निकाला। फिर आलोचना-प्रतिक्रमण करके समाधीपूर्वक मृत्यु को प्राप्त हुआ। वरुण का जीव प्रथम स्वर्ग के अरुणाभ विमान में देव हुआ। वहाँ का आयुष पूर्ण कर के महाविदेह में जन्म लेगा और सयम-तप का पालन कर मुक्ति प्राप्त करेगा।

वरुण का बचपन का एक मित्र असम्यग्दृष्टि था। वरुण के साथ उसकी अक्षुण्ण एवं दृढ़ मित्रता थी। जब उसे ज्ञात हुआ कि वरुण युद्ध में गया है, तो वह भी शस्त्र-सज्ज हो कर युद्ध में आया और वरुण के निकट ही लड़ने लगा। वह भी घायल हो गया। उसने मित्र वरुण को घायल दशा में युद्धभूमि से निकलते देखा, तो वह भी उसके पीछे-पीछे निकल चला और उसके निकट ही अपने रथ से उतर कर घोड़े छोड़ दिये। वह भी घास बिछा कर बैठा। कवच शस्त्र खोले, बाण निकाल कर उसने कहा—

"जो व्रत-नियम त्याग शील मेरे मित्र ने किये हैं, वे मुझे भी होवें।"

समाधी भाव में मृत्यु पा कर वह उत्तम कुल में मनुष्य जन्म पाया। वह भी महाविदेह में मनुष्य हो कर मोक्ष प्राप्त करेगा।

वरुण एक प्रख्यात योद्धा और प्रचण्ड सेनापति था। उसके प्रभाव से ही शत्रु-सेना का साहस टूट जाता था। उसकी मृत्यु जान कर कूणिक की सेना का साहस बढ़ा। वह द्विगुण साहस से जूझने लगी। चेटक-सेना अपने सेनापति का मरण जान कर क्रोधाभिभूत हो कर लड़ने लगी। वीरशिरोमणि चेटक नरेश भी अपने अमोघ बाणों से शत्रु के साथ जूझने लगे। यदि देवेन्द्र, कूणिक के रक्षक नहीं होते, तो चेटक नरेश के अमोघ बाण से वह समाप्त हो जाता। उधर रथमूसल के प्रहार से चेटक की सेना का विनाश हो रहा था। चेटक नरेश के

अमोघ बाण व्यर्थ जाते देख कर उनकी सेना सहम गई। सेना समझ गई कि अपने स्वामी का पुण्य-बल क्षीण हो गया है। अब विजय की आशा नहीं रही।

इस युद्ध में बिना ही अश्व का एक रथ, जिसमें न तो कोई सारथि था और न कोई योद्धा था, वह चारों ओर घूम-घूम कर प्रहार कर रहा था। रथ में से मूसल के समान अस्त्र निकल कर शत्रु-सेना पर प्रहार करते। एक साथ हजारों मूसलों की वज्र-मय मार पड़ती थी। जिस पर भी मूसल पड़ते, वह बच नहीं सकता था। इस संग्राम में भी चेटक-पक्ष पराजित हुआ। देव-शक्ति के आगे मानव-शक्ति भौतिक-बल में नहीं टिक सकती। अठारहों राजा भाग खड़े हुए। छियानवे लाख सैनिक इस रथमूसल संग्राम की भेंट चढ़े। इनमें से दस हजार तो एक ही मच्छी की कुक्षि में उत्पन्न हुए, एक देव और एक मनुष्य हुआ, शेष नरक-तिर्यञ्च गति पाए।

सेचनक-जलमरा वेहल्ल-वेहास दीक्षित हुए

चेटक नरेश युद्धभूमि से लौट कर वैशाली में आये और नगरी में प्रवेश कर द्वार बन्द करवा दिये। कूणिक ने वैशाली को घेरा डाल दिया।

वेहल्ल और वेहासकुमार रात्रि के समय गुप्त रूप से सेचनक गजराज पर आरुढ़ हो कर कूणिक की सेना में घुसते और असावधान सैनिकों का वध करते। अपना काम कर के वे रात्रि के अन्धकार में ही चुपचाप लौट जाते। इस प्रकार का विनाश देख कर कूणिक चिंतित हुआ। उसने अपने मन्त्रियों से उपाय पूछा। मन्त्रियों ने कहा—"यदि सेचनक हाथी का विनाश हो जाय, तो अपनेआप यह उपद्रव रुक सकता है।"

उनके आने के मार्ग में खाई खोदी गई। उसमें खेर की लकड़ी के अंगारे भरे गये और ऊपर से उसे ढक दिया गया, जिससे किसी को अग्नि होने की आशंका नहीं रहे।

वेहल्ल और वेहास अपनी सफलता से उत्साहित थे। वे पूर्व की भाँति शत्रु-सैन्य का विनाश करने आये, परन्तु गजराज को आगे रही हुई विपत्ति का ज्ञान हो गया। वह विभंगज्ञान वाला था। उसे आगे बढ़ाने का प्रयास किया, परन्तु उसने पाँव नहीं उठाये। अन्त में स्वामी ने कहा;—

"सेचनक! आज तू भी अड़ कर अपना पशुपना दिखा रहा है? आज तू कायर क्यों हो गया? क्या तेरी बुद्धि और साहस लुप्त हो गये हैं?" तेरे लिये हमने घर-बार छोड़ा, विदेश आये। तेरे ही कारण पूज्य नाना चेटक नरेश और अन्य अठारह नरेश आदि युद्ध में कूदे, नर-संहार हुआ और सभी विपत्ति में पड़ गए। जिसमें स्वामीभक्ति नहीं रहे, ऐसे पशु का

पोषण करना उचित नहीं होता ।"

इस प्रकार के कटु वचन सुन कर सेचनक ने अपने स्वामी वेहल्ल और वेहास को बलपूर्वक अपने पर से नीचे उतार दिया और स्वयं अग्नि-भरित खाई में गिर कर जल मरा। वह प्रथम नरक में उत्पन्न हुआ। अपने प्रिय गजेन्द्र का मरण, उसकी बुद्धिमत्ता एवं स्वामी-भक्ति तथा अपने अज्ञान एवं अविश्वास पर दोनों बन्धु पश्चात्ताप पूर्वक स्वयं को धिक्कारने लगे। गजराज वियोग से वे अत्यन्त हताश हो गए थे। इस हस्ती के बल पर तो वे युद्ध में भी अजेय रहे थे। अब वे अपने पूज्य मातामह महाराजा चेटक के किस प्रकार सहायक बन सकेंगे ? अब तो जीवन ही व्यर्थ है। यदि जीवन शेष है, तो भगवान् महावीर प्रभु का शिष्यत्व अंगीकार कर तप-संयम युक्त जीना ही श्रेयस्कर है, अन्यथा मरना ही शेष रहेगा ।"

वे भाग्यशाली थे। जिनशासन-रसिक देवी ने उन्हें भगवान् के समवसरण में पहुँचा दिया। दोनों बन्धुओं ने भगवान् से निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या ली और तप-संयम की विशुद्ध आराधना कर के अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुए। वहाँ का आयु पूर्ण कर महाविदेह में मनुष्य भव पाएँगे और चारित्र पाल कर मुक्त हो जावेंगे ।

कुलवालुक के निमित्त से वैशाली का भंग

वैशाली का दुर्ग (किला) कूणिक से टूट नहीं रहा था। वह हताश हो गया। उसने जिस गजराज और हार के लिए युद्ध किया और अपने भाइयों तथा विशाल सेना का नाश करवाया था, वे भी नहीं मिले और वैशाली भी सुरक्षित रह सके, यह उसके लिये अपमान जनक लग रहा था। उसने प्रतिज्ञा की—"यदि वैशाली का भंग कर के इसकी भूमि को मैं गधों द्वारा खिंचे हुए हल से नहीं खुदवा लूं, तो भृगुपात अथवा अग्नि में जल कर आत्म-हत्या कर लूंगा।" इस प्रतिज्ञा से सभी चिंतित थे। इतने में भाग्य-योग से 'कुलवालुक' मुनि पर रुष्ट हुई देवी ने कहा—"यदि मागधिका वेश्या कुलवालुक मुनि को मोहित कर के अपने वश में कर ले, तो उसके योग से तू वैशाली प्राप्त कर सकेगा।"

कूणिक के मन की निराशा मिटी। मागधिका वेश्या चम्पा में ही रहती थी। कूणिक चम्पा आया और मागधिका को बुला कर उसे अपना प्रयोजन समझाया। मागधिका ने प्रसन्नता पूर्वक कार्य करना स्वीकार किया। राजा ने उसे बहुत-सा धन दिया। मागधिका बुद्धिमती थी। मनुष्यों को चतुराई से ठगने की कला में वह प्रवीण थी। उसने श्राविका

का आचरण और व्यवहार सीखा और साधु-साध्वियों के सम्पर्क में आने लगी तथा व्रत-धारिणी धर्मप्रिय श्राविका के समान दिखावा करने लगी। एकबार उसने आचार्यश्री से पूछा; —

"भगवन् ! कुलवालुक मुनि दिखाई नहीं देते, वे कहाँ है ?"

आचार्य महाराज उसके पूछने के कुत्सित कारण को क्या जाने। उन्होंने सहज ही कहा; –

"एक सुसंयमी उत्तम संत थे। उनके एक कुशिष्य था। वह गुरु की आज्ञा नहीं मान कर अवहेलना करता। गुरु उसे प्रेमपूर्वक सुशिक्षा देते, तो भी वह उनकी उपेक्षा करता। गुरु का वह आदर तो करता ही नहीं था। एक बार विहार में वे एक पर्वत से नीचे उतर रहे थे। गुरु आगे और शिष्य पीछे था। कुटिल शिष्य के मन में गुरु को मार डालने का विचार उठा। उसने ऊपर से एक बड़ा पत्थर गिराया, जो लुढ़कता हुआ गुरु की ओर आ रहा था। गुरु ने पत्थर लुढ़कने की ध्वनि सुन कर उस ओर देखा और संभल कर दोनों पाँव फैला दिये। पत्थर पाँवों के बीच में हो कर निकल गया। गुरु को शिष्य के इस कुकृत्य पर रोष आया और शाप देते हुए कहा--"कृतघ्न दुष्ट ! तू इतना घोर पापी है ? तुझ में साधुता तो क्या, सदाचारी गृहस्थ के योग्य गुण भी नहीं है। भ्रष्ट ! तू पतित है, और स्त्री के संसर्ग से भ्रष्ट हो कर महापतित होगा।"

"तुम झूठे हो। मैं तुम्हारे इस शाप को व्यर्थ सिद्ध कर के तुम्हें मिथ्यावादी ठहराऊँगा"—कह कर वह एक ओर चलता बना और एक निर्जन अरण्य में—जहाँ स्त्री ही क्या, मनुष्य का भी निवास नहीं था-रहकर मास-अर्द्धमास आदि तपस्या करने लगा। उस ओर हो कर जो पथिक जाते, उनके आहार से पारना कर के तपस्या करता। उस स्थान के निकट ही एक नदी थी। वर्षाकाल में आई बाढ़ से नदी का पानी फैला और उस तपस्वी के स्थान तक आ गया था। नदी के तट के समीप होने के कारण उसका नाम "कुलवालुक" प्रसिद्ध हो गया। अभी वे मुनि उस प्रदेश में ही रहते हैं।"

आचार्य से कुलवालुक के स्थान की जानकारी प्राप्त कर के वह श्राविका बनी हुई वेश्या प्रसन्न हुई। घर आ कर उसने प्रयाण करने के लिये रथ सेवक और उपयोगी खाद्यादि सामग्री जुटाई और चल निकली। क्रमशः वह कुलवालुक मुनि के स्थान पहुँच कर रुक गई। उसने भक्ति का प्रदर्शन करते हुए कहा—

"तपस्वीराज ! मेरा जीवन तो अब धर्मसाधना में ही व्यतीत होता है। तपस्वियों और साधु-संतों के दर्शन-वन्दन करना, प्रतिलाभना और धर्म की साधना करते हुए जीवन सफल करना ही मेरा लक्ष्य है। पथिकों से आप के उग्र तपस्वी होने की बात सुन कर घर

पोषण करना उचित नहीं होता ।"

इस प्रकार के कटु वचन सुन कर सेचनक ने अपने स्वामी वेहल्ल और वेहास को बलपूर्वक अपने पर से नीचे उतार दिया और स्वयं अग्नि-भरित खाई में गिर कर जल मरा। वह प्रथम नरक में उत्पन्न हुआ। अपने प्रिय गजेन्द्र का मरण, उसकी बुद्धिमत्ता एवं स्वामी-भक्ति तथा अपने अज्ञान एवं अविश्वास पर दोनों बन्धु पश्चात्ताप पूर्वक स्वयं को धिक्कारने लगे। गजराज वियोग से वे अत्यन्त हताश हो गए थे। इस हस्ती के बल पर तो वे युद्ध में भी अजेय रहे थे। अब वे अपने पूज्य मातामह महाराजा चेटक के किस प्रकार सहायक बन सकेंगे ? अब तो जीवन ही व्यर्थ है। यदि जीवन शेष है, तो भगवान् महावीर प्रभु का शिष्यत्व अंगीकार कर तप-संयम युक्त जीना ही श्रेयस्कर है, अन्यथा मरना ही शेष रहेगा।"

वे भाग्यशाली थे। जिनशासन-रसिक देवी ने उन्हें भगवान् के समवसरण में पहुँचा दिया। दोनों बन्धुओं ने भगवान् से निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या ली और तप-संयम की विशुद्ध आराधना कर के अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुए। वहाँ का आयु पूर्ण कर महाविदेह में मनुष्य भव पाएँगे और चारित्र पाल कर मुक्त हो जावेंगे।

कुलवालुक के निमित्त से वैशाली का भंग

वैशाली का दुर्ग (किला) कूणिक से टूट नहीं रहा था। वह हताश हो गया। उसने जिस गजराज और हार के लिए युद्ध किया और अपने भाइयों तथा विशाल सेना का नाश करवाया था, वे भी नहीं मिले और वैशाली भी सुरक्षित रह सके, यह उसके लिये अपमान जनक लग रहा था। उसने प्रतिज्ञा की--"यदि वैशाली का भंग कर के इसकी भूमि को मैं गधों द्वारा खिंचे हुए हल से नहीं खुदवा लूं, तो भृगुपात अथवा अग्नि में जल कर आत्म-हत्या कर लूंगा।" इस प्रतिज्ञा से सभी चिंतित थे। इतने में भाग्य-योग से 'कुलवालुक' मुनि पर रुष्ट हुई देवी ने कहा--"यदि मागधिका वेश्या कुलवालुक मुनि को मोहित कर के अपने वश में कर ले, तो उसके योग से तू वैशाली प्राप्त कर सकेगा।"

कूणिक के मन की निराशा मिटी। मागधिका वेश्या चम्पा में ही रहती थी। कूणिक चम्पा आया और मागधिका को बुला कर उसे अपना प्रयोजन समझाया। मागधिका ने प्रसन्नता पूर्वक कार्य करना स्वीकार किया। राजा ने उसे बहुत-सा धन दिया। मागधिका बुद्धिमती थी। मनुष्यों को चतुराई से ठगने की कला में वह प्रवीण थी। उसने श्राविका

का आचरण और व्यवहार सीखा और साधु-साध्वियों के सम्पर्क में आने लगी तथा व्रत-धारिणी धर्मप्रिय श्राविका के समान दिखावा करने लगी। एकबार उसने आचार्यश्री से पूछा; —

"भगवन् ! कुलवालुक मुनि दिखाई नहीं देते, वे कहाँ है ?"

आचार्य महाराज उसके पूछने के कुत्सित कारण को क्या जाने। उन्होंने सहज ही कहा; —

"एक सुसंयमी उत्तम संत थे। उनके एक कुशिष्य था। वह गुरु की आज्ञा नहीं मान कर अवहेलना करता। गुरु उसे प्रेमपूर्वक सुशिक्षा देते, तो भी वह उनकी उपेक्षा करता। गुरु का वह आदर तो करता ही नहीं था। एक बार विहार में वे एक पर्वत से नीचे उतर रहे थे। गुरु आगे और शिष्य पीछे था। कुटिल शिष्य के मन में गुरु को मार डालने का विचार उठा। उसने ऊपर से एक बड़ा पत्थर गिराया, जो लुढ़कता हुआ गुरु की ओर आ रहा था। गुरु ने पत्थर लुढ़कने की ध्वनि सुन कर उस ओर देखा और संभल कर दोनों पाँव फैला दिये। पत्थर पाँवों के बीच में हो कर निकल गया। गुरु को शिष्य के इस कुकृत्य पर रोष आया और शाप देते हुए कहा--"कृतघ्न दुष्ट ! तू इतना घोर पापी है ? तुझ में साधुता तो क्या, सदाचारी गृहस्थ के योग्य गुण भी नहीं है। भ्रष्ट ! तू पतित है, और स्त्री के संसर्ग से भ्रष्ट हो कर महापतित होगा।"

"तुम झूठे हो। मैं तुम्हारे इस शाप को व्यर्थ सिद्ध कर के तुम्हें मिथ्यावादी ठहराऊँगा"—कह कर वह एक ओर चलता बना और एक निर्जन अरण्य में—जहाँ स्त्री ही क्या, मनुष्य का भी निवास नहीं था-रहकर मास-अर्द्धमास आदि तपस्या करने लगा। उस ओर हो कर जो पथिक जाते, उनके आहार से पारना कर के तपस्या करता। उस स्थान के निकट ही एक नदी थी। वर्षाकाल में आई बाढ़ से नदी का पानी फैला और उस तपस्वी के स्थान तक आ गया था। नदी के तट के समीप होने के कारण उसका नाम "कुलवालुक" प्रसिद्ध हो गया। अभी वे मुनि उस प्रदेश में ही रहते हैं।"

आचार्य से कुलवालुक के स्थान की जानकारी प्राप्त कर के वह श्राविका बनी हुई वेश्या प्रसन्न हुई। घर आ कर उसने प्रयाण करने के लिये रथ सेवक और उपयोगी खाद्यादि सामग्री जुटाई और चल निकली। क्रमशः वह कुलवालुक मुनि के स्थान पहुँच कर रुक गई। उसने भक्ति का प्रदर्शन करते हुए कहा—

"तपस्वीराज ! मेरा जीवन तो अब धर्मसाधना में ही व्यतीत होता है। तपस्वियों और साधु-संतों के दर्शन-वन्दन करना, प्रतिलाभना और धर्म की साधना करते हुए जीवन सफल करना ही मेरा लक्ष्य है। पथिकों से आप के उग्र तपस्वी होने की बात सुन कर घर

से दर्शन पाने के लिए निकली। आज मेरा मनोरथ फला। अब कुछ दिन यहीं रह कर सेवा करने और सुपात्रदान का लाभ लेने की इच्छा है। आपकी कृपा से मेरी भावना सफल होगी। आप जैसे महान् तपस्वी की सेवा छोड़ कर अब मैं अन्यत्र कहाँ जाऊँ? आपके दर्शन और सेवा तो समस्त श्रमण-संघ की सेवा के समान है। कृपया मेरे यहाँ पारणा कर के मुझे कृतार्थ करें। मेरे पास निर्दोष मोदक हैं।"

अत्यन्त भक्ति प्रदर्शित करती हुई वह सेवकों के निकट आई और एक सघन वृक्ष के नीचे पड़ाव लगाने की आज्ञा दी। तपस्वी मुनि भी उसकी भक्ति देख कर पिघल गये। उन्होंने उससे पारणे के लिये मोदक लिये और पारणा किया। खाने के पश्चात् तपस्वी मुनि को अतिसार (दस्त) होने लगे। उस मायाविनी ने मोदक में वैसी औषधी मिला दी थी। अतिसार से मुनिजी अशक्त हो गए। उनकी शक्ति क्षीण हो गई। उनसे उठना तो दूर रहा, हिलना भी कठिन हो गया। अब कपटी श्राविका पश्चात्ताप करती हुई बोली;—

"तपस्वीराज! मैं पापिनी हो गई। मेरे मोदक से आपको अतिसार हुआ और आपकी यह दशा होगई। अब आपको इस दशा में छोड़ कर मैं कहीं नहीं जा सकती। मैं सेवा कर के आपको स्वस्थ बनाऊँगी, उसके बाद ही आगे जाने का विचार करूँगी।"

तपस्वीजी को सेवा की आवश्यकता थी ही। वे सम्मत हो गए। अब युवती वेश्या मुनिजी की सेवा करने लगी। वह उनका स्पर्श करने लगी। मुनिजी हिचकिचाये, तब वह बोली—"गुरुदेव! आपकी दशा अभी मेरी सेवा चाहती है। अभी आप मना नहीं करें, स्वस्थ होने पर प्रायश्चित्त लेकर शुद्धि कर लीजियेगा।"

सुन्दरी उनके शरीर पर स्वयं तेल का मर्दन करने लगी और पथ्य बना कर देने लगी। कुलवालुकजी में शक्ति का संचार होने लगा। धीरे-धीरे शक्ति बढ़ने लगी। उन्हें उपासिका की सेवा, मधुर वाणी, सुरीले भजन और स्निग्ध स्पर्श रुचिकर लगने लगा। वे उस उपासिका का सतत सान्निध्य चाहने लगे। मागधिका से किये जाते हुए मर्दन से कुलवालुक का मोह उभड़ने लगा। दिन-रात का साथ रहना और मोहक शब्द-रूप-गंध-रस और स्पर्श के योग से तप-संयम की होली जल कर भस्म होती ही है। कुलवालुक भी फिसला। उनमें पति-पत्नीवत् व्यवहार होने लगा। वह पूज्य मिट कर कामिनी का पूजक (किंकर) हो गया। मागधिका उसे मोह-पाश में बांध कर चम्पा नगरी ले आई और राजा को अपनी सफलता का सन्देश सुनाया। कूणिक ने कुलवालुक का आदर-सत्कार किया और कहा—"आप वैसा उपाय करें कि जिससे वैशाली का गढ़ टूट जाय।" राजा का आदेश स्वीकार कर के बुद्धिमान् कुलवालुक साधु के वेश में विशाला पहुँचा। वह दुर्ग के

अटूट होने का कारण खोजने लगा। फिरते-फिरते उसे श्रीमुनिसुव्रत स्वामी का स्तूप ⁄ दिखाई दिया। वह स्तूप उत्तम नक्षत्र-योग युक्त होने के कारण ही वैशाली की सुरक्षा होने का उसे विश्वास हुआ। अब उसे उस स्तूप का उच्छेद करना था। इसी उद्देश्य से वह नगरी में घमने लगा। इस मुनिवेशी को देख कर नागरिकों ने कहा--

"भगवन्! शत्रु के घेरे से हम बहुत दुखी हैं। कब तक बन्दी रहेंगे हम? आप जैसे तपस्वी महात्मा तो सब कुछ जानते हैं। कोई उपाय बताइये--इस से उगरने का?"

"हां, भाई! तुम लोगों की कठिनाई देख कर मुझे खेद हुआ। मैंने इसका उपाय भी जान लिया है। तुम्हारी इस नगरी में जो वह स्तूप है, उसकी स्थापना खोटे लग्न एवं कुयोग में हुई थी। उसी से इस राज्य पर संकट आते रहते हैं। यदि वह स्तूप तोड़ दिया जाय, तो संकट मिट सकता है।"

धूर्त्त कुलवालुक की बात पर लोगों ने विश्वास कर लिया। सभी स्तूप को तोड़ने के लिए चले और तोड़ने लगे। उस समय कुलवालुक के कहने पर कूणिक ने घेरा उठा कर सेना को कुछ दूर ले गया। लोगों को विश्वास हो गया और उत्साह के साथ स्तूप तोड़ने लगे और अंत में समूल नष्ट कर दिया।

कूणिक को बारह वर्ष के बाद वैशाली को नष्ट करने का अवसर मिला।

महाराजा चेटक का संहरण और स्वर्गवास

वैशाली का दुर्ग टूटते ही कूणिक ने महाराजा चेटक (अपने नाना) को एक दूत द्वारा कहलाया—"पूज्य! मैं आपका आदर करता हूँ। कहिये, आपके हित में क्या करूँ?"

चेटक ने उत्तर दिया—"राजन्! तुम विजयोत्सव मनाने के लिये उत्सुक हो, परन्तु अच्छा हो कि नगरी में कुछ विलम्ब से प्रवेश करो।"

कूणिक ने चेटक का उत्तर सुन कर सोचा—"यह क्या माँगा चेटक ने? मैं तो इस समय दान स्वरूप बहुत कुछ दे सकता था।"

सुज्येष्ठा का पुत्र सत्यकी था +। उसने युद्ध का परिणाम और मातामह की

⁄ यहाँ स्तूप होने का कारण क्या था? जन्मादि स्थल तो यह नहीं है।

+ सुज्येष्ठा चेटक की ही पुत्री थी। वह श्रेणिक पर मुग्ध थी। परन्तु सुज्येष्ठा रह गई और चिल्लना चली गई, तब सुज्येष्ठा विरक्त हो गई। उसकी कथा संक्षेप में यह है कि वह दीक्षित होकर साध्वी हो गई।

संकटापन्न स्थिति जानी। वह आकाश-मार्ग से वैशाली आया और विद्या के बल से महाराजा चेटक और विशाला के नागरिकों को उड़ा कर एक पर्वत पर ले गया। चेटक नरेश इस जीवन से ऊब गये थे। उन्होंने मरने का निश्चय किया और अनशन कर के एक जलाशय में कूद पड़े। उधर धरणेन्द्र का उपयोग इस ओर लगा। उसने साधर्मी जान कर चेटक नरेश को उठा कर अपने भवन में ले आया। वहाँ उन्होंने आलोचनादि किया और अरिहंतादि शरण का चिन्तन करते हुए धर्मध्यान युक्त आयु पूर्ण कर स्वर्ग गमन किया।

कूणिक ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वैशाली का भंग कर के गधों से हल चलवाया और अपनी राजधानी लौट आया।

कूणिक की मृत्यु और नरक गमन

कालान्तर में भगवान् चम्पा नगरी पधारे। कूणिक भी वन्दना करने आया। उसने धर्मोपदेश सुनने के पश्चात् पूछा—

"भगवन् ! जो चक्रवर्ती महाराजा काम-भोग का त्याग नहीं कर सकते और जीवनभर भोग में ही लुब्ध रहते हैं, उनकी कौन-सी गति होती है ?"

"—वे नरक गति में जाते हैं। यथा बन्ध सातवीं नरक तक जा सकते हैं"—भगवान् ने कहा।

"भगवन् ! मेरी गति कैसी होगी"—पुनः प्रश्न।

—"छठी नरक"—भगवान् का उत्तर।

—"मैं सातवीं नरक में क्यों नहीं जा सकता'—कूणिक का प्रश्न।

—"तुम्हारा पापबन्ध उतना सबल नहीं है।"

वह उपाश्रय के आंगन में कायोत्सर्ग करती थी। उस समय 'पेढाल' विद्यासिद्ध परिव्राजक आकाश-मार्ग से जा रहा था। वह ऐसे मनुष्य की खोज में था जो ब्रह्मचारिणी से उत्पन्न हो। ऐसे व्यक्ति को वह अपनी विद्या देना चाहता था। सुज्येष्ठा को देख कर उसकी आशा फलवती हुई। उसने धूंध छा कर अन्धेरा किया और सुज्येष्ठा को मूर्च्छित कर उसमें अपना वीर्य प्रक्षिप्त किया। उससे जन्मा पुत्र 'सत्यकी' कहलाया। योग्य वय में वह भी परिव्राजक हुआ। उसका पेढाल ने हरण किया और अपनी रोहिणी आदि विद्या दी। वह भी आकाशचारी हुआ।

सुज्येष्ठा तो सती ही थी। भगवान् ने उसका सतीत्व स्वीकार किया। श्रावक के घर प्रसव हुआ। स्थानांग ९ में भावी तीर्थंकरों के नाम में—"सच्चइ णियंठीपुत्ते" की टीका में यह कथा है।

कूणिक की तो मति ही उलटी थी। उसने सोचा—"चक्रवर्ती तो सातवीं तक जा सकता है और मैं छठी नरक तक ही? मैं क्या चक्रवर्ती से कम हूँ? है कोई मुझ पर विजय प्राप्त करने वाला?' उसने रानी पद्मिनी को "स्त्री-रत्न" बनाया, वैसे ही सेनापति आदि को पंचेन्द्रिय-रत्न और एकेन्द्रिय-रत्न कृत्रिम बनाये। सेना लेकर उसने विजय-प्रयाण किया। अनेक देशों पर विजय प्राप्त करता हुआ वह वैताढ्य पर्वत की तिमिस्रा गुफा तक पहुँचा † और द्वार खोलने के लिये दण्ड-प्रहार किया। द्वार-रक्षक कृतमाल देव ने उसे रोका, परंतु वह चक्रवर्ती होने के गर्व में अड़ा रहा, तो देव ने उसे वहीं भस्म कर दिया। कूणिक मर कर छठी नरक में नैरयिक हुआ।

कूणिक का उत्तराधिकारी उसका पुत्र 'उदयन' हुआ, जो प्रबल पराक्रमी श्रमणोपासक हुआ। वह जिन-धर्म का अनन्य उपासक था।

वल्कलचीरी चरित्र

पोतनपुर नरेश सोमचन्द्र की धारिनी रानी, स्नेह-पूर्वक अपने पति के मस्तक के बाल सँवार रही थी कि उसकी दृष्टि एक श्वेत केश पर पड़ी। उसने पति से कहा—"स्वामिन्! दूत आ गया है।"

—"कहाँ है वह दूत?"—इधर उधर देखते हुए राजा ने पूछा।

—"यह रहा धर्मराज का दूत"—कहते हुए रानी ने वह श्वेत केश उखाड़ कर पति की हथेली पर रखा—"यह युवावस्था को नष्ट कर के वृद्धावस्था के आगमन की सूचना देने आया है--देव!"

राजा खेदित हुआ, तो रानी ने कहा—"खेद करने की आवश्यकता नहीं, सावधान होना चाहिए।"

—"मैं जरा के दूत को देख कर खेदित नहीं हुआ। मुझे खेद इस बात का है कि मेरे पूर्वज तो इस दूत के आने के पूर्व ही राजपाट और भोग-विलास छोड़ कर धर्म साधना में लग गये थे और मैं अब तक भोग में ही आसक्त हूँ। मैं शीघ्र ही चारित्र ग्रहण करना चाहता हूँ। परंतु पुत्र अभी बालक है। यह राज्य-भार संभालने योग्य नहीं हुआ, यही विचार बाधक बन रहा है। परंतु मैं इस बाधा को हटा दूंगा। तुम पुत्र को संभालो। मैं

---

† वहाँ तक कूणिक का पहुँच जाना सम्भव कैसे हुआ?

अब नहीं रुकूंगा"—राजा शीघ्र ही त्यागी बनने को तत्पर हुआ।

"स्वामिन् ! जब आप ही त्यागी बन कर जा रहे हैं, तो मैं पुत्र-मोह से संसार में क्यों रुकूँ ? नहीं, मैं भी आप के साथ ही चल रही हूँ। आप पुत्र का राज्याभिषेक कर दीजिये। मन्त्रीगण विश्वस्त हैं। इसलिए पुत्र और राज्य को किसी प्रकार का भय नहीं है।"

पुत्र का राज्याभिषेक कर के राजा और रानी, एक धात्री को साथ ले कर वन में चले गये और एक शून्य आश्रम को स्वच्छ बना कर 'दिशा-प्रोक्षक' जाति के तापस हो कर रहने लगे। वे सूखे हुए पत्रादि खा कर तप साधना करते। उन्होंने घास-पात छा कर पथिकों के विश्राम के लिए एक मढ़ी बना ली। पत्नी के लिये पति स्वादिष्ट जल और फलादि ला कर खिलाता और पत्नी, पति के लिए कोमल घास का बिछौना आदि सेवा करती। वह ऐसे पके बीज वाले फल लाती, जिन्हें पीस कर तेल निकाला जा सके। उस तेल से वह दीपक जलाती, आंगन को लीपती और झाड़-बुहार कर स्वच्छ बनाती।

पति-पत्नी, मृग-शावकों को पाल कर संतुष्ट रहते और अपनी तप साधना भी करते रहते। समय पूर्ण होने पर तापसी रानी ने एक सुन्दर बालक को जन्म दिया। बालक प्रभावशाली एवं आकर्षक था। वन में उनके पास वस्त्र नहीं थे। इसलिये वल्कल (वृक्ष की छाल) से लपेट कर पुत्र को रखने लगे। इसलिये बालक का नाम "वल्कलचीरी" रख दिया। पुत्र-जन्म के कुछ काल पश्चात् धारिनी देवी परलोक सिधार गई। बालक को तपस्वी सोमचन्द्र ने धात्री को दिया। वह वनचर भैंस का दूध पिलाती और बालक की सेवा करती। परंतु धात्री भी कुछ काल बाद मर गई। अब तो तपस्वी सोमचन्द्र को ही बालक को संभालना पड़ा। वे तपस्या भी करते और बालक को भी संभालते। धीरे-धीरे बालक बड़ा होने लगा। वह चलने-फिरने योग्य हुआ, तो मृग-छौनों के साथ खेलता। तपस्वी सोमचन्द्र पुत्र के लिए वन में उत्पन्न धान्य लाता, उसे कूटता-पीसता, लकड़े भी लाता और भोजन बना कर बालक को खिलाता-पिलाता, फल भी खिलाता और भैंस का दूध भी पिलाता। बालक बड़ा हुआ और पिता की तपस्या में सहायक बनने लगा। अब वह तपस्वी पिता के शरीर पर तेल का मर्दन करता और फल आदि ला देता। वह युवावस्था होने पर भी इतना भोला और सरल रहा कि उसके लिये स्त्री सर्वथा अपरिचित रही। वह न तो कुछ पढ़ सका था और न अन्य मनुष्य के सम्पर्क में आ सका था। उसके लिये तो पिता और मृग आदि वनचर पशुओं के अतिरिक्त कुछ था ही नहीं।

बन्धु का संहरण

महाराजा प्रसन्नचन्द्र को ज्ञात था कि माता-पिता के वन में जाने के बाद उसके एक लघु-बन्धु का जन्म हुआ है। वह बन्धु को देखने के लिए तरसता था, परंतु पिता की ओर से प्रतिबन्ध था। वे स्नेही-सम्बन्धी और पुत्र से भी सर्वथा निस्संग रहना चाहते थे। प्रसन्नचन्द्र सोचता—'तपस्वी पिताजी है, लघुबंधु नहीं। उसे बरबस तपस्वी क्यों बनाया जाय? परंतु वह विवश था। बन्धु को वहाँ से लाने का उपाय नहीं सूझ रहा था। उसने चित्रकार को भेज कर बालक बन्धु का चित्र बनवाया और उसे ही देख कर स्नेह करने लगा। वह बन्धु को अपने पास ला कर साथ रखना चाहता था और उपयुक्त समय की प्रतीक्षा में था। अब भाई यौवन वय प्राप्त हो गया है। अब उसे लाना सहज होगा। उसने कुछ वेश्याओं को बुला कर कहा—

"तुम वनवासी तपस्वियों का वेश बना कर पूज्य पिताश्री के आश्रम जाओ और मिष्ट वचन, कोमल स्पर्श, उत्तम मिष्ठान्न आदि मनोहर विषयों से मेरे युवक बन्धु को अपने मोहपाश में बाँध कर यहाँ ले आओ। मैं तुम्हें भारी पुरस्कार दूँगा।"

वेश्याएँ प्रसन्न हुई। कुछ युवती वेश्याएँ सन्यासिनी का वेश बना कर बन में गई। वे राजर्षि सोमचन्द्र की दृष्टि से बचती हुई ऋषिकुमार को खोज रही थी। वल्कलचीरी वन में से फल आदि ले कर आ रहा था। उसे देख कर सन्यासी बनी हुई वेश्याएँ उसके निकट गई। वल्कलचीरी ने उन्हें भी ऋषि समझा और प्रणाम कर के बोला—

"ऋषियों! आप कौन हैं? आपका आश्रम कहाँ है?"

—"हे ऋषिकुमार! हम पोतन आश्रम वासी ऋषि हैं और तुम्हारे अतिथि बन कर आये हैं"—प्रमुख वेश्या बोली।

—"हां, लो, ये मधुर फल खाओ। मैं अभी वन में से ले कर ही आ रहा हूँ।"

—"हम ऐसे निरस फल नहीं खाते। ये फल तो तुच्छ हैं। हमारे आश्रम के वृक्षों के फल तो अत्यंत मिष्ठ और स्वादिष्ठ हैं और सुगन्धित भी। लो, हमारा भी एक फल खा कर देखो"—वेश्या एक वृक्ष की छाया में ऋषिकुमार के साथ बैठी और अपनी झोली में से मोदक निकाल कर दिया।

वल्कलचीरी को वह फल (मोदक) अत्यंत स्वादिष्ट लगा और अपने कापायिक आमलक आदि तुच्छ लगे। वेश्याएँ उसको स्पर्श करती हुई बैठी और उसके शरीर पर हाथ फिराने लगी। मधुर स्वर से उससे बातें करने लगी। कुमार ने पूछा—

—"इन उत्तमोत्तम फलों के वृक्ष कहाँ है ?"

—"हमारे पोतनाश्रम में है"—वेश्या बोली।

कुमार उन अद्वितीय फलों पर आश्चर्य में था कि उसका हाथ वेश्या ने अपने पुष्ट स्तन पर फिराया। कुमार उसके स्तन और उनका मनोहारी स्पर्श अनुभव कर विशेष आकर्षित एवं अचम्भित हुआ। उसने पूछा—

—"आपके वक्ष पर ये बड़े-बड़े दो क्यों हैं और आपका शरीर इतना कोमल क्यों है ?"

—"हम ऐसे मधुर और अत्यन्त पौष्टिक मिश्री-फल खाते हैं। इससे हमारा शरीर अत्यन्त कोमल है और इसी से ये दो बड़े-बड़े स्तन हो गये हैं। तुम ये तुच्छ फल खाते हो, इससे तुम्हारी देह कठोर, रुक्ष और शुष्क होगई। यदि तुम हमारे आश्रम में आओ और ऐसे फल खाओ, तो तुम्हारा शरीर भी ऐसा बन जाय"--वेश्या ने स्नेहपूर्वक स्मित करते हुए कहा।

वल्कलचीरी का मन अपने आश्रम से हट कर वेश्याओं के मोहजाल में फँस गया। वह आश्रम में गया और अपने उपकरण रख कर लौटा। वेश्याएँ उसकी प्रतीक्षा करने लगी, किंतु इतने में वृक्ष पर चढ़ कर इधर-उधर देखते हुए वेश्या के गुप्तचर ने उन्हें संकेत से बताया कि 'वृद्ध ऋषि वन में से इधर ही आ रहे हैं।' वे डरीं। उन्हें ऋषि के शाप का भय लगा। वे वहाँ से भाग गईं।

ऋषिपुत्र उन वेश्याओं की खोज करने लगा। उसकी एकमात्र लगन उन वेश्याओं के आश्रम में उनके साथ रहने की थी। वह बन में भटक रहा था कि उसे एक रथ आता हुआ दिखाई दिया। यह भी उसके लिए एक नयी ही वस्तु थी। जब रथ निकट आया, तो उसने रथिक से कहा;—

"हे तात ! मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ।"

—"तुम्हें कहाँ जाना है"--रथिक ने पूछा।

--"मुझे पोतनाश्रम जाना है।"

—"चलो, मैं भी पोतनाश्रम ही जा रहा हूँ। मेरे साथ चलो।"

कुमार उसके साथ चल दिया। रथ में रथिक की पत्नी भी बैठी हुई थी। वल्कलचीरी उसे भी "हे तात ! हे तात !" सम्बोधन करने लगा। उसने पति से पूछा--"यह कैसा मनुष्य है, जो मुझे भी 'तात' कहता है ?"

—"यह वनवासी ऋषि का पुत्र लगता है। इसे स्त्री-पुरुष का भेद ज्ञात नहीं है।

इसीसे यह इस प्रकार बोलता है"—रथिक ने पत्नी का समाधान किया।

कुमार रथिक को घोड़ों को चाबुक से मारते देख कर बोला;—

"हे तात! आप इन मृगों को रथ में क्यों जोतते हैं और ये मृग भी कैसे हैं? मुनि को मृगों को जोतना और मारना उचित नहीं है।"

रथिक हँसा और बोला—"मुनिकुमार! ये मृग इसी काम के हैं। इनको मारने में कोई दोष नहीं है।"

रथिक ने ऋषिपुत्र को मोदक दिये। वह मोदक के मोह में बन्धा हुआ ही पोतनाश्रम जा रहा था। मार्ग में रथिक को एक चोर मिला। रथिक ने चोर को मारा और मरण तुल्य बना दिया। रथिक के बल से पराभूत बलवान् चोर प्रभावित हुआ और अपना धन रथिक को दे दिया। पोतनपुर पहुँच कर रथिक ने वल्कलचीरी से कहा;—"तुम्हारा पोतनाश्रम यही है, जाओ।" रथिक ने उसे कुछ धन भी दिया और कहा—"यह धन तुम्हारे काम आएगा। इस आश्रम में धन से ही रहने को स्थान और खाने को भोजन मिलता है।"

वल्कलचीरी ने नगर में प्रवेश किया। बड़े-बड़े भव्य-भवन देख कर वह चकराया। वह नगर में भटकता रहा और पुरुषों और स्त्रियों को देखते ही ऋषि समझ कर प्रणाम करता रहा। लोग उसकी हँसी उड़ाते रहे। वह सभी घरों को आश्रम ही मानता रहा और इस द्विधा में रहा कि 'किस आश्रम में प्रवेश करूँ।' हठात् वह एक भवन में चला गया। वह भवन वेश्या का ही था। कुमार ने वेश्या को प्रणाम किया और कहा—

"हे मुनि! मैं आपके आश्रम में रहना चाहता हूँ। इसके भाड़े के लिये यह द्रव्य ग्रहण करो।"

—"हे ऋषिकुमार! यह सारा आश्रम ही तुम्हारा है। प्रसन्नता से रहो"—वेश्या ने स्नेहपूर्वक कहा।

वेश्या ने नापित बुला कर कुमार को समझा-बुझा कर उसके बढ़े हुए बाल और नख कटवाये और वल्कल के स्थान पर वस्त्र पहिनाने के लिए जिस समय उस पर से वल्कल हटाया जाने लगा, उस समय वह विह्वल हो कर चिल्लाने लगा और कहने लगा—"हे मुनि! मेरा वल्कल मत उतारो।"

वेश्या ने कहा—"हमारे आश्रम में वल्कल नहीं पहनते। ऐसे वस्त्र पहने जाते हैं।" बड़ी कठिनाई से समझा कर वस्त्र पहिनाये। उसके बालों में सुगन्धित तेल लगाया। शरीर पर तेल का मर्दन किया। उष्ण जल से स्नान करवाया, श्रेष्ठ वस्त्रालंकार

पहिनाये। तत्पश्चात् वेश्या ने अपनी सुन्दर युवती कन्या के साथ कुमार के लग्न करने के लिये अन्य वेश्याओं को बुला कर मंगलगीत गाने लगी, बाजे बजाये जाने लगे। वादिन्त्र की ध्वनि कान में पड़ते ही कुमार ने अपने कान हाथों से ढक लिये। विवाह-विधि होने लगी।

भ्रातृ मिलन

जो वेश्याएँ मुनि का वेश धारण कर के कुमार को लाने बन में गई थीं और राजर्षि सोमचन्द को देख कर भय से इधर-उधर भाग गई थी, उन्होंने ऋषिकुमार की बहुत खोज की, परन्तु वह नहीं मिला। वे हताश हो कर राजा के पास आई और कहा--

"स्वामिन् ! हमने कुमार को अपने वश में कर लिया था और वे आश्रम छोड़ कर हमारे साथ आना चाहते थे। वे अपने उपकरण मढ़ी में रख कर आ ही रहे थे, परंतु दूसरी ओर बन में गये हुए ऋषि लौट कर आश्रम में आ रहे थे। उन्हें देख कर हम डर गई। शाप के भय से हम इधर-उधर भाग गई। हमने बन में कुमार की बहुत खोज की। परन्तु वे नहीं मिले, न जाने कहाँ चले गये। वे आश्रम में नहीं गये होंगे।"

वेश्याओं की बात सुन कर राजा चिंतित हो कर पश्चात्ताप करने लगा--"अहो, मैंने कैसी मूर्खता कर डाली। पिताश्री से पुत्र छुड़वा कर उन्हें वियोग दुःख में डाला और मुझे मेरा भाई भी नहीं मिला। पिता से बिछड़ा हुआ मेरा बन्धु किस विपत्ति में पड़ा होगा।"

राजा प्रसन्नचन्द्र शोकसागर में डूब गया। भवन में होते हुए गायन और वादिन्त्र बन्द करवा दिये। नगर में भी वादिन्त्रादि से उत्सव मनाने और मनोरंजन करने की मनाई कर दी। ऐसे शोक के समय वेश्या के घर मंगलगान गाने और वादिन्त्र की ध्वनि सुन कर लोगों में रोष उत्पन्न हुआ। वेश्या की निन्दा होने लगी। वेश्या ने जब नगर में व्याप्त राजशोक की बात सुनी, तो वह राजा के समक्ष उपस्थित हुई और राजा से नम्रतापूर्वक निवेदन किया;--

"स्वामिन् ! अपराध क्षमा करें। मुझे एक भविष्यवेत्ता ने कहा था कि--"तेरे घर एक मुनिवेशी कुमार आवेगा, उससे तू अपनी पुत्री का लग्न कर देना।" मेरे घर एक ऋषि-पुत्र आया है। मैंने उसके साथ अपनी पुत्री के लग्न किये। उसी उत्सव में बाजे बज रहे थे। मुझे आपके शोक की जानकारी नहीं हुई। क्षमा करें--देव !"

वेश्या की बात से राजा का शोक थमा। उसने उन वेश्याओं को और उसके

साथियों को वेश्या के घर भेजा कि वे उस कुमार को देखें कि वह वही है, या अन्य कुमार पहिचान लिया गया। राजा को अपार हर्ष हुआ। राजा ने अपने लघुबन्धु क सद्यपरिणिता पत्नी सहित उत्सवपूर्वक हाथी पर बिठा कर राज्यभवन में लाया। राज ने अपने राज्य का आधा भाग भी दिया और उसे व्यावहारिक ज्ञान दे कर कुशल बनाय तथा राजकुमारियों के साथ लग्न भी करवाये। वल्कलचीरी भोगसागर में निमग्न होगया

कालान्तर में वह रथिक, चोर से प्राप्त गहने बेचने नगर में आया। वे गहने उसं नगर से चोरी में गये थे। रथिक पकड़ा गया और राजा के समक्ष लाया गया। वल्कल-चीरी ने रथिक को पहिचाना और अपना उपकारी तथा निर्दोष बता कर मुक्त करवाया

पुत्र के वियोग में राजर्षि सोमचन्द्रजी बहुत भटके, बहुत खोजा। नहीं मिला, तो निराश हो गये। पुत्र-शोक से रोते-रोते आँखों की ज्योति चली गई। शरीर की शक्ति क्षीण हो गई। उन्होंने खान-पान छोड़ दिया। उनके सहचारी तपस्वी उन्हें समझा कर फलों से पारणा करवाते। मोहकर्म ने उन्हें यहाँ भी नहीं छोड़ा। वल्कलचीरी भोग में आसक्त रहा। उसे अपने पिता की स्मृति ही नहीं आई। बारह वर्ष व्यतीत होने के पश्चात् एक मध्य-रात्रि को उसकी नींद खुल गई। उसका ध्यान अपनी पिछली अवस्था पर गया और पिता तथा योगाश्रम स्मृत्ति में आये। उसे विचार हुआ कि 'मेरे वियोग में पिताश्री की क्या दशा हुई होगी ? मैं दुरात्मा उन परमोपकारी पिता को भी भूल गया, जिन्होंने मुझे बड़ी कठिनाई से प्रेमपूर्वक पाला था। वृद्धावस्था में मुझे उनकी सेवा करनी थी, परन्तु मैं तो यहाँ भोग में ही डूब गया। अब मैं शीघ्र ही पिताश्री के पास जाऊँ और उनकी सेवा में लग जाऊँ।"

वल्कलचीरी का मोह शमन हो चुका था और अभ्युदय होने वाला था। प्रातःकाल हो वह अपने ज्येष्ठ-बन्धु के पास पहुँचा और इच्छा व्यक्त की। दोनों बन्धु परिवार सहित पिता के दर्शन करने वन में गये। वल्कलचीरी को अपना बिछड़ा हुआ वन, आश्रम और वनचर पशु आदि देखते ही आनन्दानुभूति हुई। उसने ज्येष्ठ-बन्धु प्रसन्नचन्द्र से कहा—"यह वन कितना मनोहर है। ये मेरे आत्मीय मृग शशक आदि, यह मातातुल्य भैंस, जिसका दूध पी कर मैं पुष्ट हुआ।" इस प्रकार बातें करते वे पिता के पास पहुँचे। राजा ने पिता को प्रणाम करते हुए कहा—"पूज्य ! आपका पुत्र प्रसन्नचन्द्र आपको प्रणाम करता है।" राजर्षि को पुत्र के शरीर पर हाथ फिराते हुए हर्ष हुआ। उन्हें आँखों से दिखाई नहीं देता था। इतने में छोटा पुत्र प्रणाम करता हुआ बोला;—"यह वल्कलचीरी आपके चरण-कमणों में प्रणाम करता है।"

राजर्षि सोमचन्द्रजी को अपार हर्ष हुआ। वे बिछड़े हुए पुत्र का मस्तक सूंघने लगे। बदन पर हाथ फिराते हुए उन्हें इतना आनन्द हुआ कि हृदय उमड़ आया। उनके नेत्रों से आनन्दाश्रु बहने लगे। सहसा शरीर में शक्ति का संचार हुआ और आँसू के साथ आँखों का अन्धापा धुल कर ज्योति प्रकट हो गई। वे पुत्रों और परिवार को देखने लगे। उनका हर्ष हृदय में समा ही नहीं रहा था। उन्होंने पुत्रों से पूछा;—

--"तुम सुखपूर्वक जीवन चला रहे हो ?"

--"हाँ देव ! आपकी कृपा-दृष्टि से हम सूखपूर्वक जीवन बिता रहे हैं।

ऋषिराज को अब ज्ञात हुआ कि वल्कलचीरी का प्रसन्नचन्द्र ने ही हरण करवाया था--भ्रातृभाव के अतिरेक से। वे संतुष्ट हुए।

भवितव्यता का आश्चर्यजनक परिपाक

वल्कलचीरी को अपने छोड़े हुए उपकरण याद आए। वह मढ़ी में गया और अपने मैले-कुचेले और काले पड़े हुए कमण्डल आदि की अपने उत्तरीय वस्त्र से धूल झाड़ कर स्वच्छ बनाने लगा। उसने आश्रम के वन में प्रवेश करते समय ही यह निश्चय कर लिया था कि अब इस तपोवन और पिताश्री को छोड़ कर नहीं जाना। वह उपकरणों की वस्त्र से प्रमार्जना करता हुआ सोचने लगा—"क्या मैंने पहले कभी साधु के पात्र की प्रतिलेखना-प्रमार्जना की थी ?" विचारों की एकाग्रता बढ़ते हुए उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। अब उसने अपने पूर्व के देवभव और मनुष्यभव जान लिया और पूर्व-भव में पाले हुए संयम-चारित्र का स्मरण हो आया। वे संवेग रंग में ऐसे रंगे कि धर्म-ध्यान में उत्तरोत्तर बढ़ते हुए शुक्लध्यान में पहुँच गए और क्षपक-श्रेणी चढ़ कर घातीकर्म नष्ट कर केवलज्ञान केवल-दर्शन प्राप्त कर लिया। केवलज्ञानी वल्कलचीरी भगवान् ने पिता सोमचन्द्र और बन्धु आदि को धर्मोपदेश दिया। देव ने उन्हें श्रमणवेश दिया। ऋषि सोमचंद्र और राजा प्रसन्नचन्द्र ने भगवान् वल्कलचीरी को वन्दन-नमस्कार किया और उनके साथ ही विहार कर पोतनपुर आये। उस समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी भी पोतनपुर पधारे। महात्मा वल्कलचीरी ने मुनि सोमचन्द्रजी को भगवान् को सौंप दिया। महाराजा प्रसन्नचन्द्र वैराग्य भाव धारण कर राज्य भवन गये। *

* प्रसन्नचन्द्रराजर्षि का वर्णन इसके पूर्व पृ. ३३६ में हुआ है।

प्रदेशी और केशीकुमार श्रमण

[प्रदेशी नरेश यद्यपि भ. पार्श्वनाथजी के सन्तानीय महात्मा केशीकुमार श्रमण का देशविरत शिष्य था, परन्तु भगवान् महावीर स्वामी का समकालीन भी था ही, भले ही छद्मस्थकाल का हो और वह भगवान् के सम्पर्क में नहीं आया हो। देव होने के पश्चात् वह भगवान् को वन्दना करने आया था। इसका चरित्र भी उल्लेखनीय है। अतएव रायपसेणी सूत्र से यहाँ दिया जा रह है।]

अर्ध केकयदेश श्वेताम्बिका नगरी का राजा प्रदेशी नास्तिक था। वह अधर्मी, पापी और पाप में ही लगा रहता था। उसके हाथ रक्त में सने रहते थे। वह स्वर्ग-नरक, परलोक, पुण्य-पापादि का फल नहीं मानता था। उसके शासन में अपराधियों को अति कठोर दण्ड दिया जाता था। वह विनयादि गुण से रहित था। प्रजा का पालन नहीं, पीड़न करता था। परंतु उसके मन में जीव और शरीर का भिन्नाभिन्नत्व—एकत्व-पृथकत्व जानने की जिज्ञासा थी। वह जीव को जानने के लिये खोज करता रहता था। और खोज का मार्ग था—मनुष्यों को विविध रीति से मार कर उनके शरीर में जीव को ढूँढना।

प्रदेशी राजा की रानी का नाम 'सूर्यकान्ता' था। राजा को रानी अत्यंत प्रिय थी। वह उसके साथ भोग में अनुरक्त रहता था। राजा का ज्येष्ठ पुत्र सूर्यकान्तकुमार युवराज था। युवराज राज्यकार्य संभालता रहता था।

प्रदेशी राजा के लिये ज्येष्ठ-भ्राता के समान विशेष वय वाला 'चित्त' नामक सारथि था। वह राज्यधुरा का चिन्तक, वाहक, अत्यंत विश्वस्त बुद्धिमान् और प्रामाणिक प्रधानमन्त्री था।

उस समय कुणाल देश में 'श्रावस्ति' नामक नगरी थी। वहाँ प्रदेशी राजा का अन्तेवासी = आज्ञा पालक, 'जितशत्रु' नाम का राजा राज्य करता था। एक बार प्रदेशी राजा ने चित्त सारथि को बहुमूल्य भेंट ले कर जितशत्रु राजा के पास भेजा और उसके राज्य की नीति एवं व्यवहार का निरीक्षण कर ज्ञात करने का निर्देश दिया। चित्त एक रथ में आरूढ़ हो, कुछ सेवकों के साथ चल कर श्रावस्ति आया और जितशत्रु राजा को विनय-पूर्वक नमस्कार किया, कुशलक्षेम पृच्छा के पश्चात् प्रदेशी की ओर से मूल्यवान् भेंट सर्मपित की। जितशत्रु राजा ने चित्त सारथि का आदर-सत्कार किया और राज-मार्ग पर रहे हुए भव्य प्रासाद में ठहराया। उसका आतिथ्य भव्य रूप से किया गया। उसके खानपान ही नहीं, गान-वादन, नृत्य-नाटक आदि और उच्चकोटि के भोग साधन प्रस्तुत कर मनोरञ्जन किया गया।

उस समय भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी की परम्परा के संत, संयम और तप के धनी चार ज्ञान और चौदह पूर्व श्रुत के धारक महात्मा केशीकुमार श्रमण ५०० श्रमणों के परिवार से श्रावस्ति नगरी पधारे और कोष्ठक उद्यान में विराजे। श्रमण महर्षि का पदार्पण सुन कर चित्त सारथि भी वन्दन करने गया। धर्मोपदेश सुना, श्रावक के बारह व्रत अंगीकार किये और धर्म में असंदिग्ध अनुरक्त रहता हुआ तथा पर्वतिथियों को पौषधोपवास करता हुआ रहने लगा और जितशत्रु की नीति और अपने राज्य के हित को देखने लगा। कालान्तर में जितशत्रु राजा ने चित्त सारथि को बुलाया और प्रदेशी राजा के लिए मूल्यवान भेंट देते हुए कहा—"देवानुप्रिय ! यह भेंट मेरी ओर से महाराजा प्रदेशी को भेंट कर मेरा प्रणाम ('पाउग्गहणं'—पाद ग्रहण = चरण-वन्दन) निवेदन करो।"—चित्त को सम्मान पूर्वक विसर्जित किया।

भगवान् श्वेताम्बिका पधारें

अपने स्थान पर आ कर चित्त सुसज्जित हुआ। अपने अंगरक्षकों और सेवकों के साथ (विना सवारी के) पाँवों से चल कर, सेवक से छत्र धराता हुआ और स्थानीय बहुत-से लोगों के साथ कोष्ठक उद्यान में पहुँचा। गुरुदेव महर्षि केशीकुमार श्रमण को वन्दना-नमस्कार किया, धर्मोपदेश सुना और निवेदन किया;—

"भगवन् ! मेरा यहाँ का काम पूरा हो चुका है और जितशत्रु नरेश से बिदाई हो चुकी है। मैं अब श्वेताम्बिका जा रहा हूँ। श्वेताम्बिका नगरी भव्य है, आकर्षक है, दर्शनीय है। आप वहाँ अवश्य ही पधारें।"

चित्त की विनती सुन कर महर्षि मौन रहे, तो चित्त ने दूसरी बार निवेदन किया, फिर भी महात्मा मौन रहे। तीसरी बार कहने पर महर्षि ने निम्नोक्त उदाहरण देते हुए कहा;—

"एक सघन वन में बहुत-से पशु-पक्षी शांति पूर्वक रहते हों, वहाँ कोई हिंसक पारधी आ कर उन पशु-पक्षियों को मारे, उनका घात करे, तो फिर वे पशु-पक्षी उस वन में आवेंगे ?"

—"नहीं, भगवन् ! वे भयभीत जीव वहाँ नहीं आते"—चित्त ने कहा—

—"इसी प्रकार हे चित्त ! वहाँ का राजा अधर्मी है, पापप्रिय है। ऐसे पापी के राज्य में हम कैसे आवें"—श्रमण महर्षि ने कहा।

--"भगवन् ! आपको राजा से कोई प्रयोजन नहीं। आप श्वेताम्बिका पधारें। वहाँ भी बहुत-से ईश्वर, तलवर, सेठ-सार्थवाह आदि हैं, जो आपकी वन्दना करेंगे, सेवा भक्ति करेंगे और आहारादि प्रतिलाभ कर प्रसन्न होंगे।"

—"ठीक है। मैं विचार करूँगा"—महात्मा ने कहा।

चित्त सारथि गुरुदेव को वन्दना कर के लौटा और स्वस्थान आया। फिर रथारूढ़ होकर अनुचरों के साथ श्वेताम्बिका आया। उसने मृगवन उद्यान के उद्यानपालक से कहा;--"महर्षि केशीकुमार श्रमण अपने श्रमण-परिवार के साथ ग्रामानुग्राम विचरते हुए यहाँ पधारें, तो तुम उनकी विनय पूर्वक वन्दना करना नमस्कार करना और उन्हें स्थान पाट आदि प्रदान करना, फिर उनके पदार्पण की सूचना मुझे तत्काल देना।"

चित्त प्रदेशी राजा के समक्ष उपस्थित हुआ और जितशत्रु की भेंट समर्पित कर उस राजा की नीतिव्यवहार आदि स्थिति के निरीक्षण का परिणाम सुनाया और स्वस्थान आया और सुख पूर्वक रहने लगा।

केशीकुमार श्रमण से प्रदेशी का समागम

कालान्तर में मुनिराज श्री केशीकुमार श्रमण अपने ५०० शिष्यों के साथ श्वेताम्बिका पधारे और मृगवन उद्यान में विराजे। वनपालक ने चित्त महाशय को गुरुदेव के पधारने की सूचना दी। चित्त अति प्रसन्न हुआ। वह आसन से नीचे उतरा और उस दिशा में सात-आठ चरण चल कर अरिहंत भगवंत को नमस्कार किया और गुरुदेव केशीकुमार श्रमण को नमस्कार किया, तत्पश्चात् वनपालक को भरपूर पुरस्कार दिया। फिर रथारुढ़ हो कर सेवकगण सहित मृगवन उधान में गया। गुरुदेव को वन्दन-नमस्कार किया और धर्मोपदेश सुना। अन्त में निवेदन किया;--

"भगवन् ! प्रदेशी राजा नास्तिक अधर्मी एवं क्रूर है, हिंसक है। यदि आप उसे धर्मोपदेश देंगे, तो बहुत उपकार होगा। उसकी अधार्मिकता दूर होगी। वह धर्मात्मा हो जायगा। इससे बहुत-से जीवों और श्रमणों तथा भिक्षुओं का भला होगा। इतना ही नहीं, समस्त देश का हित होगा।"

—"देवानुप्रिय ! प्रदेशीराजा साधुओं के सम्पर्क में ही नहीं आवे, तो उसे धर्मोपदेश कैसे दिया जाय ?"

—"भगवन् ! कम्बोज देश के चार अश्व भेंट स्वरूप प्राप्त हुए थे। उनके निमित्त

से मैं शीघ्र ही राजा को लाऊँगा"—चित्त वन्दन-नमकार कर के चला गया।

दूसरे दिन चित्त राजा के समीप आया और नमस्कार कर निवेदन किया;—

--"स्वामिन् ! कम्बोज के जो चार घोड़े आये हैं, वे सध गए हैं। अब उनको देख लीजियेगा।"

—"हां, तुम उन्हें रथ में जोत कर लाओ। मैं आता हूँ।"

राजा और चित्त रथारूढ़ हो कर निकले। नगर के बाहर पहुँच कर चित्त ने रथ की गति बढ़ाई। शीघ्र गति से कई योजन तक रथ दौड़ाया। राजा धूप प्यास आदि से घबरा गया, थक गया। उसने चित्त को लौटने का आदेश दिया। रथ लौटा कर चित्त मृगवन के निकट लाया और निवेदन किया;--

"महाराज ! आपकी आज्ञा हो तो इस उपवन में विश्राम ले कर स्वस्थ हो लें।" राजा तो चाहता ही था। वे मृगवन में पहुँचे। रथ से नीचे उतरे। चित्त ने रथ से अश्वों को खोल दिया और राजा के साथ विश्राम करने लगा।

उस समय महर्षि केशीकुमार श्रमण, महा परिषद को धर्मोपदेश दे रहे थे। स्वस्थ होने पर राजा का ध्यान उस ओर आकर्षित हुआ। उसने चित्त से पूछा;--

—"चित्त ! ये कौन जड़ मूढ़ अज्ञानी हैं ? अज्ञानी होते हुए भी इनका शरीर दीप्त, कान्ति युक्त शोभित एवं आकर्षक लग रहा है ?" ये लोग क्या खाते-पीते हैं और इस विशाल जन-सभा को क्या देते हैं ? इतनी बड़ी सभा में ये धीरगम्भीर वाणी से क्या सुना रहे हैं ? इन्होंने इस वन की इतनी भूमि रोक ली कि मैं इच्छानुसार इसमें विचरण भी नहीं कर सकता ?"

"स्वामिन् ! ये भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी की शिष्य-परम्परा के श्रीकेशीकुमार श्रमण हैं। ये महान् श्रमण हैं, महाज्ञानी हैं और विशुद्ध संयमी हैं। ये प्रासुक-निर्दोष आहार-पानी भिक्षा से प्राप्त कर जीवन चलाते हैं। ये महान् उत्तम श्रमण हैं"-चित्त ने परिचय दिया।

--"क्या ये सम्पर्क करने के योग्य हैं ? इनके पास चल कर परिचय करना एवं वार्तालाप करना उचित है"--राजा की उत्सुकता बढ़ी। उसने पूछा।

—"हां, स्वामिन् ! ये सर्वथा योग्य हैं। इनका परिचय करने से आपको लाभ ही होगा।"

केशीकुमार श्रमण और प्रदेशी की चर्चा

राजा चित्त के साथ महर्षि के निकट आया और पूछा;—

—"भगवन् ! आप महाज्ञानी और विशुद्ध संयमी हैं ?"

—"राजन् ! तुम्हारा व्यवहार तो उन कर-चोर व्यापारियों जैसा है, जो राज्य का कर चुराने के लिए राजमार्ग छोड़ कर उन्मार्ग पूछते हैं। तुम भी श्रमणों से पूछने के शिष्ट व्यवहार को छोड़ कर बिना विनयोपचार किये पूछ रहे हो। मुझे देख कर तुम्हारे मन में यह विचार हुआ कि—" ये जड़-मूढ़ अज्ञानी कौन हैं ?"—श्रमण महर्षि ने राजा को सहसा प्रभावित कर दिया।

—"हां, भगवन् ! आपका कथन सत्य है। मेरे मन में ऐसे विचार उत्पन्न हुये थे। परन्तु आपको इतना अधिक ज्ञान है कि मेरे मनोगत भाव जान लिये"—आश्चर्य पूर्वक पूछा।

—"राजन् ! मत्यादि पाँच प्रकार का ज्ञान होता है। इनमें से केवलज्ञान छोड़ कर चार ज्ञान मुझे है और इससे मैं मनोगत संकल्प जान लेता हूँ।"

—"भगवन् ! मैं यहाँ बैठ जाऊँ ?"

—"राजन् ! इस भूमि के तो तुम ही शाशक—आज्ञापक हो। मेरा यहाँ स्वामित्व नहीं है, जो मैं आज्ञा दूं।"

राजा समझ गया और चित्त के साथ बैठ कर पूछा—

(१) "महात्मन् ! आप श्रमण-निर्ग्रंथों का ऐसा विचार मन्तव्य एवं सिद्धांत है कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है। अर्थात् शरीर और जीव एक ही है—ऐसा आप नहीं मानते ?"

—"हां, राजन् ! हम जीव और शरीर को एक नहीं, भिन्न-भिन्न मानते हैं" —श्रमणमहर्षि ने कहा।

(२) —"भगवन् ! आपके सिद्धांत को मैं सत्य कैसे मानूं ? इसकी सत्यता का एक भी प्रमाण मुझे नहीं मिला। मेरे पितामह बहुत ही अधर्मी थे। उनका जीवन हिंसादि पापों से ही भरा हुआ था। आपके सिद्धांत से तो वे नरक में ही गये होंगे। मैं उनका अत्यन्त प्रिय था। मुझ पर उनका प्रगाढ़ स्नेह था। वे मेरे सुख में सुखी और मेरे तनिक भी दुःख में स्वयं दुःखी रहते। मुझे वे अपनी आत्मा के समान ही मानते थे। यदि शरीर और जीव पृथक् होते और मेरे दादा मर कर नरक में गये होते, तो वे यहाँ आ कर मुझे अवश्य कहते कि—"वत्स ! तू पाप करना छोड़ दे। पाप करने से नरक के महान् दुःख भोगना पड़ते हैं। मैं स्वयं पाप का फल भोगता हुआ दुःखी हो रहा हूँ।" तो मैं जीव और शरीर भिन्न मानता। मेरे समक्ष ऐसा कोई आधार ही नहीं है, तो मैं कैसे मानूं कि जीव

और शरीर भिन्न है ?"

—"राजन् ! तुम्हारा सोचना अनुचित है । तुम्हें समझना चाहिये कि पापी जीव स्वाधीन नहीं, पराधीन होता है—एक कारागृह में बन्दी मनुष्य के समान । वह यथेच्छ आने-जाने में स्वतन्त्र नहीं होता । विचार करो कि—"तुम्हारी अत्यन्त प्रिय रानी सूर्य-कान्ता सजधज कर देवांगना जैसी बनी हुई है, कोई सुन्दर स्वस्थ एवं सुसज्ज युवक उसके साथ दुष्कर्म करने का प्रयत्न करे और तुम देख लो, तो तुम उस युवक के साथ कैसा व्यवहार करोगे ?"—महर्षि ने सचोट उदाहरण उपस्थित कर प्रतिप्रश्न किया ।

—"भगवन्! मैं उसे मारूँ, पीटूं, हाथ आदि अंग काट दूं, यावत् प्राणदण्ड दे कर मारडालूँ"—प्रदेशी ने उत्तर दिया ।

--"यदि वह व्यक्ति कहे कि—'मुझे कुछ समय के लिये छोड़ दीजिये, मैं अपने घर जाऊँ और अपने परिवार से कहूँ कि व्यभिचार का पाप कभी मत करना । इसका फल महान् दुःखदायी होता है । मैं परिवार को समझा कर शीघ्र ही लौट आऊँगा,' तो तुम उस अपराधी को घर जाने के लिए छोड़ दोगे ?"

--"नहीं भगवन् ! मैं उसे कदापि नहीं छोड़ूंगा । वह महान् अपराधी है"—प्रदेशी ने कहा ।

—"इसी प्रकार हे राजन् ! तुम्हारा दादा महान् पापकर्मों का उपार्जन कर नरक में घोर दुःख भोग रहा है और इच्छा होते हुए भी वह क्षणमात्र के लिए भी वहाँ से छूट नहीं सकता, तो यहाँ आवे ही कैसे और तुम्हें सन्देश भी कैसे दे सकता है ?" नरक में गया हुआ जीव बहुत चाहता है कि मैं मनुष्य लोक में जाऊँ, किन्तु इन चार कारणों से नहीं आ सकता—१ नरक में भोगी जाने वाली भारी वेदना से वह निकल ही नहीं सकता २ परमा-धामी देव के आक्रमण उसे निकल ने नहीं देते, ३ नरकगति के योग्य कर्म का उदय होने के कारण उसे वहीं रह कर कर्म भोगना होते हैं और ४ नरकायु भुक्तमान होने के कारण आयुपर्यंत वह निकल ही नहीं सकता । इन कारणों से नारक यहाँ नहीं आ सकते । अतएव यह सत्य समझो कि जीव और शरीर भिन्न है ।"

(३) प्रश्न—"भगवन् ! आपने मेरे पितामह के नरक से लौट कर नहीं आने का जो कारण बताया, वह दृष्टांत है । सम्भव है वे आपके बताये कारणों से नहीं आ सकते हैं । परन्तु मेरी दादी तो अत्यन्त धार्मिक थी । श्रमणोपासिका थी । उसका जीवन धर्ममय था । आपकी मान्यता से वह अवश्य देवलोक में उत्पन्न हुई होगी और स्वतन्त्र होगी । यदि वह भी यहाँ आ कर मुझे धर्म का महत्व बताती और पाप से रोकती, तो मैं अवश्य मान

लेता। मैं तो दादी का भी अत्यन्त प्रिय था ?"

उत्तर—"राजन् ! देव, मनुष्यलोक में इन चार कारणों से नहीं आते;—

१ देव उत्पन्न होते ही दिव्य-भोगों में गृद्ध हो कर रह जाते हैं। उन दिव्य भोगों के सामने मनुष्य सम्बन्धी भोग तुच्छ होते हैं। इसलिए वे भोग में बन्धे रहते हैं।

२ भोगगृद्धता से मनुष्यों का प्रेम नष्ट हो जाता है और देव-देवी से स्नेह बढ़ जाता है। इससे नहीं आते।

३ यदि किसी के मन में आने के भाव हों, तो दिव्य भोगाकर्षण से वह सोचता है कि मुहूर्तमात्र रुक कर फिर चला जाऊँगा। इतने में यहाँ के सैकड़ों हजारों वर्ष व्यतीत हो जाते हैं और मनुष्य मर जाते हैं। इससे वे नहीं आते।

४ मनुष्यलोक की दुर्गन्ध चार सौ पाँच सौ योजन ऊँची जाती है और वह देवों को असह्य होती है। इसलिये भी नहीं आते।

इस प्रकार देवों के मनुष्य क्षेत्र में नहीं आने के कारण हैं। मैं तुम से ही पूछता हूँ कि तुम स्नान-मंजनादि से शुचिभूत हो, देव पूजा के लिये पुष्पादि ले कर देवकुल जा रहे हो और मार्ग में शौचघर (पाखाने) में खड़ा भंगी तुम्हें बुलावे और कहे कि--"आइये पधारिये, स्वामिन् ! यहाँ बैठिये और घड़ी भर विश्राम कीजिये," तो तुम उस शौचालय में जाओगे ?"

—"नहीं, भगवन् ! मैं वहाँ नहीं जाऊँगा। वह महाअशुचि एवं दुर्गन्धमय स्थान है"--प्रदेशी ने कहा।

—"इसी प्रकार देव भी इस मनुष्य क्षेत्र की तीव्र दुर्गन्ध के कारण यहाँ नहीं आ सकते"--महर्षि ने समाधान किया।

(४) प्रश्न--"भगवन् ! एक दिन मैं राजसभा में बैठा था कि मेरे समक्ष नगर-रक्षक एक चोर को –चुराये हुये धन सहित—लाया। मैंने उस चोर को जीवित ही लोहे की दृढ़ कोठी में बन्द करवा कर उसके छिद्र लोह और रांगा के रस से बन्द करवा कर विश्वस्त सेवकों के संरक्षण में रखवा दिया। एक दिन मैंने उस कोठी को देखा तो वह उसी प्रकार वन्द थी जैसी उस दिन की गई थी। उसमें एक भी छिद्र नहीं हुआ था। फिर कोठी खुलवा कर देखा, तो वह चोर मरा हुआ था। इससे यही सिद्ध होता है कि उस चोर का जीव उस शरीर में ही रहा था और शरीर के साथ ही नष्ट हुआ। यदि एक भी छिद्र होता, तो यह माना जा सकता था कि इस छिद्र में से जीव निकल गया। इस प्रत्यक्ष परीक्षण से सिद्ध हो गया कि जीव और शरीर एक ही है, भिन्न-भिन्न नहीं है।"

उत्तर—"प्रदेशी ! अमूर्त जीव के निकलने में किसी भी प्रकार की रुकावट नहीं होती। जैसे किसी कूटाकार गृह में एक पुरुष भेरी (नगारा) लेकर बैठा हो और उस गृह के द्वार खिड़कियाँ यावत् छिद्र तक बंद कर दिये हों। वह पुरुष उस बंद घर में डंडे से नगारा बजावे, तो उसकी ध्वनि (घोष) बाहर आता है या नहीं ?"

"हां भगवन् ! उस भेरी का नाद बाहर आता है"—प्रदेशी बोला।

—"अब बताओ कि भेरी का नाद कोई छिद्र बना कर बाहर आता है ?" अनगार भगवंत का प्रति प्रश्न।

—"नहीं, भगवन्। भेरी का नाद बिना छिद्र किये ही आता है।"

—"राजन् ! शब्द एवं ध्वनि जो वर्णादि युक्त है, बिना छिद्र किये ही बाहर निकल आता है, तो वर्णादि रहित अरूपी आत्मा के बाहर निकल ने में सन्देह ही कौनसा रहता है ? अतएव शरीर और जीव को पृथक् मानना चाहिये—श्रमण महर्षि ने समाधान किया।

(५) प्रश्न—"भगवन् ! आप विद्वान हैं, ज्ञानी हैं और चतुर हैं, सो दृष्टांत देकर निरुत्तर कर देते हैं। परंतु मेरा समाधान नहीं होता। एक दिन नगर-रक्षक मेरे समक्ष एक चोर को-साक्षी सहित-लाया। मैंने उसे प्राणदण्ड दिया और जीव रहित कर के एक लोहे की कोठी में बंद करवा कर पूर्व की भाँति सारे छिद्र बंद करवा दिये। कालान्तर में मैंने उस कोठी को देखा, तो उसके छिद्र पूर्णरूप से बंद थे। कोठी खुलवा कर देखी तो उस चोर के मृत शरीर में कीड़े कुलबुला रहे थे। प्रश्न होता है कि वे कीड़े बिना छिद्र किये उस लोहमय कुंभी में घुसे कैसे ? इससे लगता है कि जीव और शरीर एक है, भिन्न नहीं"—प्रदेशी ने तर्क उपस्थित किया।

उत्तर—"राजन्। लोहे के ठोस गोले को अग्नि से तप्त किया हुआ तुमने देखा होगा-जो भीतर-बाहर पूर्णरूप से अग्नि जैसा हो जाता है।"

"हां, भगवन् ! देखा है। गोला अग्नि जैसा हो जाता है। उसमें अग्नि प्रवेश कर जाती है"—प्रदेशी का उत्तर।

—"वह अग्नि उस गोले में छिद्र करके घुसती है, या बिना छिद्र किये"—महर्षि का प्रतिप्रश्न।

—"बिना छिद्र किये ही घुस जाती है"—राजा का उत्तर।

—"इसी प्रकार हे नराधिप ! जीव के प्रवेश करने में भी किसी प्रकार के छिद्र की आवश्यकता नहीं रहती। जीव के गमनागमन में किसी भी प्रकार की रुकावट नहीं होती।"

(६) प्रश्न--"भगवन् ! एक सवल, निरोगी, कलावंत, कुशल युवक एक साथ पांच वाणों को पाँच लक्ष्यों पर छोड़ सकता है, उसी प्रकार एक निर्बल कला-विहीन वालक, पाँच वाण भिन्न लक्ष्यों पर एक साथ छोड़ने में समर्थ हो जाता, तो मैं मान लेता कि जीव और शरीर भिन्न है। शरीर के सबल-निर्वल, कुशल-अकुशल होने से जीव वैसा नहीं हो जाता। परंतु प्रत्यक्ष में वैसा नहीं दिखाई देता। इसलिये मैं जीव और शरीर को एक मानता हूँ ?"

उत्तर--"सबल युवक पुरुष, नवीन एवं दृढ़ धनुष से वाण छोड़ने में समर्थ होता है, वही युवक जीर्णशीर्ण धनुष से उसी प्रकार वाण छोड़ने में समर्थ नहीं होता—शक्ति होते हुए भी साधन उपयुक्त नहीं होने के कारण निष्फल होता है। शरीर रूपी साधन के भेद से भी जीव और शरीर का भिन्नत्व स्पष्ट हो जाता है।"

(७) प्रश्न—"भगवन् ! एक सवल सशक्त दृढ़ युवा पुरुष, जितना लोह आदि का भार उठा सकता है, उतना निर्वल, अशक्त, रोगी, जराजीर्ण और विगलित गात्र पुरुष नहीं उठा सकता। यही जीव और शरीर की ऐक्यता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। तव मैं भिन्नता कैसे मानूं।"

उत्तर—पूर्व के उत्तर में जीर्ण धनुष का उदाहरण है, तो इस प्रश्न के उत्तर में जीर्ण कावड़ ('विहंगिया' = भारयष्टिका = वहँगी) का उदाहरण है। बलवान व्यक्ति नूतन सुदृढ़ कावड़ से तो वहुत-सा भार उठा सकता है, परंतु जीर्णशीर्ण टूटी कावड़ से नहीं। जो व्यक्ति युवावस्था में अधिक भार उठा सकता था, वही वृद्धावस्था में खटिया से उठ कर पानी भी नहीं पी सकता, या उठ भी नहीं सकता। यह शरीर और जीव की भिन्नता का प्रत्यक्ष प्रमाण है।"

(८) प्रश्न—मैंने एक चोर को पहले तुला से तोला, फिर अंगभंग किये विना ही श्वास रूंध कर मार डाला और मारने के वाद फिर तोला, तो भार में कुछ भी अन्तर नहीं आया। तोल में जितना जीवित अवस्था में था उतना ही पूरा मरने पर भी हुआ। यदि किञ्चित् मात्र भी अन्तर होता, तो मैं जीव और शरीर का भिन्नत्व मान लेता। भार में कमी नहीं होने का अर्थ ही यह है कि जीव और शरीर एक ही है ?"

उत्तर—"जीव अरूपी है, इसलिये उसमें भार होता ही नहीं, फिर न्यूनाधिक कैसे हो ? क्या तुमने कभी खाली और वायु से भरी हुई बस्ति (वत्थि = भस्त्रिका = मशक) तोली है, या तुलती हुई देखी है ?'।

—"हां, महात्मन् ! देखी है।"

—"खाली के तोल में और वायुपूरित मशक के तोल में कुछ अन्तर रहा क्या ?"

—"नहीं भगवन् ! कोई अन्तर नहीं रहा। खाली और भरी हुई मशक तोल में समान ही निकली।"

—"जब रूपी एवं भारयुक्त वायु का वजन भी समान ही रहा, तो अरूपी जीव का कैसे हो सकता है ? अतएव हे नरेन्द्र ! जीव और शरीर की भिन्नता में सन्देह मत कर" —महर्षि ने समझाया।

(९) प्रश्न—"भगवन् ! मेरे समक्ष एक चोर लाया गया। मैंने उसे ऊपर से नीचे तक सभी ओर से ध्यानपूर्वक देखा, परन्तु उस शरीर में जीव कहीं भी दिखाई नहीं दिया। फिर मैंने उसके दो टुकड़े करवाये और उसमें सूक्ष्म दृष्टि से जीव की खोज की, परन्तु नहीं मिला। फिर मैंने तीन-चार यावत् छोटे-छोटे संख्येय टुकड़े करवाये और जीव की खोज की, परन्तु निष्फल रहा। जब सूक्ष्म खोज करने पर भी जीव दिखाई नहीं दिया, तो स्पष्ट हो गया कि शरीर से पृथक् कोई जीव है ही नहीं, फिर भिन्नत्व कैसे मानूं।"

उत्तर—"राजन् ! तुम तो उस मूढ़ लक्कड़हारे से भी अधिक मूढ़ लगते हो ?"

—"किस लक्कड़हारे की बात कह रहे हैं महात्मन् !"—राजा ने आश्चर्य से पूछा —

—"सुन प्रदेशी ! कुछ वनोपजीवी लोग काष्ठ लेने के लिए वन में गये। वन में पहुँच कर उन्होंने अपने में से एक से कहा;—"तुम इस अरनी † में से अग्नि प्रज्वलित कर भोजन बनाओ, हम लकड़े ले कर आते हैं।' वे सब वन में घुस गए। वह मूर्ख व्यक्ति अरनी में अग्नि खोजने लगा। एक के दो टुकड़े किये, तीन-चार करते-करते अनेक टुकड़े कर डाले, परंतु अग्नि नहीं मिली और वह कूढ़ता ही रहा। जब लकड़ी ले कर सभी कठियारे आये और उन्होंने उस मूर्ख की बात सुनी तो बोले;—

—"मूर्ख ! कहीं टुकड़े करने से भी अग्नि मिलती है ?" उन्होंने दूसरी लकड़ी ली और घिस कर अग्नि प्रज्वलित कर भोजन पकाया। तदनुसार तुम ने भी मनुष्य को मार-काट कर जीव की खोज की। यह उस कठियारे से किस प्रकार कम बुद्धिमानी है ?"

(१०) प्रश्न—"भगवन् ! आप जैसे उपयुक्त दक्ष, कुशल, महान् बुद्धिवंत महाज्ञानी, विज्ञान सम्पन्न, विनय सम्पन्न, तत्त्वज्ञ के लिए भरी सभा में मेरा अपमान करना,

---

† एक लकड़ी जिसे घिसने—मंथन करने—से अग्नि उत्पन्न होती है। पूर्वकाल में अरनी की लकड़ी से अग्नि उत्पन्न कर के उसमें यज्ञ करते थे।

कठोर शब्दों से भर्त्सना करना, अनादर करना उचित है क्या ?"--प्रदेशी ने महाश्रमण के मूढ़मति आदि शब्द सुन कर पूछा।

उत्तर—"राजन्! तुम जानते हो कि परिषद (सभा) कितने प्रकार की होती है ?"

--"हां, भगवन्! सभा चार प्रकार की होती है। यथा–१ क्षत्रिय-परिषद २ गाथापति-सभा ३ ब्राह्मण-सभा और ४ ऋषि-परिषद।

—"इन परिषदों में अपराधी के लिये दण्डनीति कैसी होती है"—महर्षि ने पूछा।

—"क्षत्रिय-सभा के अपराधी को अंगभंग से लगा कर प्राणदण्ड तक दिया जाता है। गाथापति परिषद के अपराधी को अग्नि में झोंक दिया जाता है। ब्रह्मण-सभा का अपराध करने वाले को कठोरतम वचनों से उपालंभ यावत् तप्त-लोह से चिन्हित किया जाता है और देश से निकाल दिया जाता है। और ऋषि परिषद के अपराधी को मध्यम कठोर वचनों से उपालंभ ही दिया जाता है"--प्रदेशी ने नीति बतलाई।

--"राजन्! तुम उपरोक्त दण्डनीति जानते हो, फिर भी तुमने मेरे प्रति कैसा विपरीत एवं प्रतिकूल व्यवहार किया है ?"

—"भगवन्! मेरा आपसे प्रथम साक्षात्कार हुआ है। पहली बार ही आप से संभाषण हुआ है। जब मैं आप से पूछने लगा, तब मुझे लगा कि—आपके साथ विपरीत व्यवहार करने से मुझे अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त होगा, मुझे अधिकाधिक तत्त्वज्ञान मिलेगा। इसीलिये मैंने आप के साथ विपरीत आचरण किया है।"

महात्मा केशीकुमार श्रमण ने राजा से पूछा--"राजन्! तुम जानते हो कि व्यवहार कितने प्रकार का है ?"

—"हां भगवन्! जानता हूँ। व्यवहार चार प्रकार का है। यथा--

१ एक मनुष्य किसी को कुछ देता है, परंतु मधुर भाषण से शिष्ट व्यवहार नहीं करता।

२ दूसरा मीठा तो बोलता है, परंतु देता कुछ भी नहीं।

३ तीसरा देता भी है और मिष्ट वाणी के व्यवहार से संतुष्ट भी करता है।

४ चौथा न तो कुछ देता है, न मीठे वचन बोलता है। कटुभाषण से दुःख देता है।

—"राजन्! तुम जानते हो कि उपरोक्त चार प्रकार के मनुष्यों में किस प्रकार के मनुष्य व्यवहार के योग्य हैं और कौन अयोग्य हैं ?" महर्षि ने पूछा।

--"हां, भगवन्! प्रथम के तीन प्रकार के पुरुष व्यवहार करने योग्य हैं [illegible] ी, [illegible] ार चौथा अयोग्य है।"

--" इसी प्रकार हे राजन् ! प्रथम के तीन प्रकार के पुरुषों के समान तुम भी व्यवहार करने योग्य हो, अयोग्य नहीं "--महात्मा ने कहा।

(११) प्रश्न--" भगवन् ! आप तो चतुर दक्ष एवं समर्थ हैं, क्या आप शरीर में से जीव निकाल कर हस्तामलकवत् दिखा नहीं सकते ?"

उत्तर--" प्रदेशी ! वृक्ष के पत्ते, लता और घास हिल रहे हैं, कम्पित हो रहे हैं, इसका क्या कारण है। क्यों हिल रहे हैं ये ?"

--" भगवन् ! वायु के चलने से पान-लता आदि कम्पित हो रहे हैं।"

--" राजन् ! तुम सरूपी शरीर वाले वायुकाय को देखते हो "--महर्षि ने पूछा।

--" नहीं, भगवन् ! मैं वायु को देख नहीं सकता।"

--" प्रदेशी नरेश ! जब तुम सरूपी शरीर सम्पन्न वायुकाय को भी नहीं देख-दिखा सकते, तो मैं तुम्हें अरूपी आत्मा कैसे दिखा सकता हूँ ? कुछ विषय ऐसे हैं कि जिन्हें छद्मस्थ--अपूर्णज्ञानी पूर्ण रूप से नहीं देख सकते। जैसे--

१ धर्मास्तिकाय २ अधर्मास्तिकाय ३ आकाशास्तिकाय ४ अशरिरी जीव ५ परमाणु-पुद्गल ६ शब्द ७ गन्ध ८ वायु ९ अमुक जीव तीर्थंकर होगा या नहीं और १० अमुक जीव सिद्ध होगा या नहीं।

उपरोक्त विषय छद्मस्थ मनुष्य सर्वभाव से जान-देख नहीं सकता। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी ही जान-देख सकता है। इसलिए हे राजन् ! आँखों से प्रत्यक्ष देखने का विषय नहीं होने के कारण ही जीव के अस्तित्व पर अविश्वासी नहीं रहना चाहिये। रूपी के समान अरूपी द्रव्यों के अस्तित्व पर श्रद्धा करनी ही चाहिये।"

(१२) प्रश्न--भगवन् ! हाथी और कुंथुए का जीव बड़ा-छोटा है या समान ?

--" हाथी और कुंथु का जीव समान है, बड़ा-छोटा नहीं "--महात्मा का उत्तर।

--" भगवन् ! यह कैसे हो सकता है ? हाथी और कुंथुए के शरीर, खान-पान, क्रिया-कर्म आदि में महान् अन्तर है, हाथी विशाल है, तो कुंथुआ अति अल्प, फिर समानता कैसे हो सकती है "--राजा ने प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले भेद का तर्क उपस्थित किया।

--" राजन् ! यह अन्तर शरीर से सम्बन्धित है, जीव से नहीं। जैसे--एक भवन में, भवन के कक्ष में एक दीपक रखे, तो वह दीपक उस सारे भवन अथवा कक्ष को प्रकाशित करता है। यदि उस दीपक पर कोई टोकरा रख दे, तो वह भवन को प्रकाशित नहीं कर के टोकरे को ही प्रकाशित करेगा। टोकरा हटा कर हंडा, पतीली यावत् छोटा प्याला रख दे, तो उस दीपक का पूरा प्रकाश उस प्याले में ही रहेगा, कमरे या घर में नहीं

दीपक वही है, भिन्नता है तो प्रकाश के भाजन में। इसी प्रकार जीव वही—वैसा ही है, समान प्रदेश वाला। अन्तर शरीर और शरीराश्रित क्रियादि से है। अतएव शरीर एवं जीव के भिन्नत्व में सन्देह नहीं करना चाहिये।"

प्रदेशी राजा समझ गया। उसे जीव के भिन्नत्व में विश्वास होगया। परन्तु अब उसके समक्ष पूर्वजों से चली आ रही नास्तिकता खड़ी हो गई। उसने महर्षि से निवेदन किया;—

प्रदेशी समझा ×× परम्परा तोड़ी

(१३) प्रश्न—"भगवन्! मेरे पितामह 'तज्जीव तच्छरीरवादी थे,' तदनुसार मेरे पिता भी और मैं भी अबतक उसी मान्यता का रहा। पूर्वजों से चले आये अपने मत का त्याग मैं कैसे करूँ?"

उत्तर—"राजन्! तुम्हारे पितामह और पिता तो अनसमझ से मिथ्यावाद पकड़े रहे, परन्तु तुम समझ कर भी मिथ्यात्व को पकड़े रखना चाहते हो। यह तो दुःखी हो कर पश्चात्ताप करने वाले उस लोहभारवाहक जैसी मूर्खता होगी"—महर्षि ने कहा।

—"भगवन्! लोह-भारवाहक कैसे दुःखी हुआ?"

—"कुछ लोग धन प्राप्ति के लिए विदेश गए। मार्ग में एक गहन अटवी में उन्हें लोहे से भरपूर एक खान मिली। सभी प्रसन्न हुए और जितना लोहा ले जा सकते थे—लिया और आगे बढ़े। आगे उन्हें राँगा की खान मिली। उन्होंने लोहा फेंक कर राँगा लिया। परन्तु उनमें से एक व्यक्ति ऐसा था जिसने अपना लोहा नहीं छोड़ा और राँगा नहीं लिया। साथियों ने उसे समझाया कि "लोहा फेंक दे और राँगा ले ले। राँगा मूल्यवान् है, इसे बेच कर बहुत-सा लोहा प्राप्त किया जा सकता है—कई गुना।" परन्तु वह नहीं माना और कहने लगा;—

"मैं ऐसा अस्थिर विचारों वाला नहीं हूँ जो एक को छोड़ कर दूसरे को पकड़े और बार-बार बदलता रहे। मैं स्थिर मन वाला हूँ। एक बार जिसे अपनाया, उसे जीवन भर निभाने वाला हूँ—प्राणप्रण से। तुम्हारी सीख मुझे नहीं चाहिये।'

सार्थ आगे बढ़ा। वह ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता रहा, त्यों-त्यों क्रमशः तांबा, चाँदी, सोना, रत्न और वज्ररत्न की खाने मिलती गई और वे अल्प मूल्य वाली वस्तु छोड़ कर

बहुमूल्य धातु अपनाता रहा, परन्तु वह लोह-भारवाही अपनी हठ पर ही अड़ा रहा और लोहा ले कर घर लौटा। अन्य लोगों ने रत्नों के धन से भव्य भवन बनाये और सभी प्रकार की सुख-सामग्री एवं दास-दासियाँ प्राप्त कर सुखी हुए। उनका परिवार भी सुखी हुआ और वे लोगों में प्रसंशित हुए। और वह लोहे वाला दुःखी हुआ। वह अपने पारिवारिक-जनों में और लोगों में निन्दित हुआ। अब वह अपने साथियों का उत्थान, सुखी जीवन देख कर पछताने लगा। लोग भी कहते—"मूर्ख! तेरी मति पर यह लोहा क्यों लदा रहा? तूने अपने साथी हितैषियों की सीख क्यों नहीं मानी? अब जीवनभर पछताता और छीजता रह।"

—"राजन्! उस लोह-भारवाही मूढ़ जैसी हठ तुम्हारे हित में नहीं होगी। प्राप्त मनुष्य-भव गँवा कर तुम्हें पछताना और भीषण दुःखों से भरी अधोगति में जाना पड़ेगा। अपना हित तुम स्वयं ही सोच लो"—महर्षि केशीकुमार श्रमण ने हितशिक्षा दी।

—"भगवन्! मैं उस लोहभारवाही जैसा हठी नहीं रहूँगा और पश्चात्ताप करने जैसी दशा नहीं रहने दूंगा। अब मैं समझ गया हूँ"—प्रदेशी ने अपना निर्णय सुनाया।

राजा श्रमणोपासक बना

राजा उठा और भक्ति-भाव पूर्वक वन्दन-नमस्कार किया, गुरुदेव से धर्मोपदेश सुना और चित्त सारथि के समान श्रावक व्रत अंगीकार कर के उठा और नगरी की ओर जाने को तत्पर हुआ, तब महर्षि केशीकुमार श्रमण ने कहा;—

—"राजन्! तुम जानते हो कि आचार्य कितने प्रकार के होते हैं और उनके साथ कैसा व्यवहार और विनय किया जाता है?"

—"हां, भगवन्! जानता हूँ। तीन प्रकार के आचार्य होते हैं—१ कलाचार्य २ शिल्पाचार्य और ३ धर्माचार्य। कलाचार्य और शिल्पाचार्य का विनय उनकी सेवासुश्रूषा करने, उनके शरीर पर तेल का मर्दन कर, उबटन और स्नान करवा कर, वस्त्रालंकार और पुष्पादि से अलंकृत कर के भोजन करवाने और आजीविका के लिये योग्य धन देने तथा पुत्र-पौत्रादि के सुखपूर्वक निर्वाह होने योग्य आजीविका से लगाने से होता है। और धर्माचार्य के विनय की रीति यह है कि—धर्माचार्य को देखते ही वन्दन-नमस्कार एवं सत्कार-सम्मान करना। उन्हें कल्याणकारी मंगलस्वरूप देवस्वरूप तथा ज्ञान के भण्डार मान कर

पर्युपासना करना, और निर्दोष आहारपानी, स्थान, पीठफलकादि ग्रहण करने के लिये निवेदन करने से उनकी विनय भक्ति होती है।"

--"राजन् ! तुम विनयाचार जानते हो, फिर भी मेरे साथ किये हुए प्रतिकूल व्यवहार का परिमार्जन किये बिना ही जाने लगे ?"

--"भगवन् ! मैंने सोचा है कि कल प्रातःकाल अपनी रानियों और परिवार सहित श्रीचरणों की वन्दना कर के अपने अपराध की क्षमा याचना करूँ।"

अब अरमणीय मत हो जाना

प्रदेशी चला गया और दूसरे दिन चतुरंगिनी सेना आदि और परिवार तथा अंतःपुर सहित आ कर गुरुदेव को विधिवत् वन्दन-नमस्कार किया और बारबार क्षमा याचना की। महर्षि ने धर्मोपदेश दिया, तत्पश्चात् प्रदेशी से कहा;--

"राजन् ! तुम अरमणीय (अप्रिय, अधार्मिक, दुःखदायी) मिट कर रमणीय (प्रिय धर्मी, जीवों के लिये सुखदायी) बने हो। अब फिर कभी अरमणीय नहीं बन जाना। क्योंकि--जिस प्रकार--१ पत्र-पुष्प-फल आदि से भरपूर एवं सुशोभित उद्यान रमणीय होता है, और बहुत-से पथिक उस उद्यान की शीतल छाया में विश्राम कर सुख का अनुभव करते हैं, परंतु जब पतझड़ हो कर पत्रपुष्पादि रहित हो जाता है, तब अमरणीय हो जाता है। फिर वहाँ कोई पथिक नहीं टिकता। २ नाट्यशाला में तबतक ही दर्शकों की रुचि रहती है और भीड़ लगी रहती है, जबतक कि वहाँ गान, वादन, नृत्य-नाटक और हास्यादि से मनोरंजन होता रहे। नाटक समाप्त होने पर एक भी दर्शक नहीं ठहरता, क्योंकि वह नाट्यशाला अरमणीय हो जाती है। ३ जबतक गन्नों का खेत कटता रहता है, पिलता रहता है, गन्ना, उसका रस और गुड़ पिया-पिलाया और दिया जाता है, तबतक रमणीय होता है, जब सब बन्द हो जाता है, तो अरमणीय हो जाता है। ४ धान्य के खलिहान भी रमणीय-अरमणीय होते हैं। इसलिए राजन् ! तुम रमणीय बन गये हो, तो भविष्य में अरमणीय नहीं हो जाओ, इतनी सावधानी सदैव रखना"--महर्षि ने सावधानी का बोध दिया।

प्रदेशी का संकल्प और राज्य के विभाग

—"भगवन् ! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि अब अरमणीय बनने की भूल कभी नहीं करूँगा। इतना ही नहीं, अब मैं श्वेताम्बिका नगरी सहित अपने राज्य के सात हजार गांवों

की आय के चार विभाग करूँगा। इनमें से एक विभाग सेना आदि सुरक्षा के साधनों के लिए दूंगा, दूसरा राज्य-भंडार में प्रजा के हितार्थ, तीसरा अंतःपुर के लिए और चौथा भाग दानशाला के लिए रखूंगा, जहाँ पथिकों भिक्षुओं एवं याचकों के लिये भोजन की व्यवस्था होगी। वह भोजन राज्य की ओर से दिया जाता रहेगा।"

प्रदेशी स्वस्थान गया और दूसरे ही दिन उसने उपरोक्त प्रकार से राज्य के चार विभाग कर के राजाज्ञा प्रसारित कर दी।

प्रदेशी नरेश जीव अजीव आदि तत्त्वों के ज्ञाता श्रमणोपासक होगए। अब उनकी रुचि न तो राज्य में रही, न रानियों और परिवार में। वे इन सब की उपेक्षा करने लगे और धर्मसाधना में रत रहने लगे।

महारानी की घातक योजना पुत्र ने ठुकराई

राजा को धर्मिष्ट और राज्य-परिवार तथा भोग से विमुख देख कर महारानी सूर्यकान्ता के स्वार्थ को धक्का लगा। पति अब उसके लिये उपयोगी नहीं रहा था। उसने पति को विष प्रयोग से मार कर अपने पुत्र सूर्यकान्तकुमार को राजा बनाने और उसे नाम-मात्र का राजा रख कर स्वयं सत्ताधारिनी बनने का संकल्प किया। उसने एकांत में पुत्र के सामने योजना रखी, परन्तु पुत्र सहमत नहीं हुआ। पुत्र को माता के विचार नहीं सुहाये। वह बिना उत्तर दिये ही लौट गया। महारानी घबराई। उसे लगा कि कहीं पुत्र, पिता के सामने मेरा रहस्य खोल दे, तो मेरी क्या दशा हो? उसने स्वयं ने पति की हत्या करने का संकल्प किया।

प्राण-प्रिया ने प्राण लिये × राजा अडिग रहा

एक दिन रानी ने राजा को भोजन एवं पानी आदि में विष मिला कर खिला-पिला दिया*। विष का प्रभाव होने लगा। राजा समझ गया। वह तत्काल पौषधशाला में आया और अंतिम आराधना करने में संलग्न हो गया। राजा ने समझ लिया कि रानी ने मुझे

---

* मूल में बेले की तपस्या का पारणा होने का उल्लेख नहीं है। टीकाकार ने "अंतरे जाणइ" शब्द के विवेचन में बेले का पारणा होना लिखा है।

मारने के लिये विष दिया है। परन्तु धर्मिष्ठ राजा ने रानी पर किंचित् मात्र भी रोष नहीं किया और शांतिपूर्वक संथारा कर के धर्मध्यान में लीन हो गया। यथासमय आयु पूर्ण कर प्रथम स्वर्ग के सूर्याभ विमान में देव हुआ। सौधर्मस्वर्ग की चार पल्योपम की आयु पूर्ण कर महाविदेह क्षेत्र में मनुष्यभव प्राप्त करेगा। उच्च समृद्ध कुल में पुत्र रूप में उत्पन्न होगा। वहाँ चारित्र का पालन कर मुक्त हो जायगा।

जब भगवान् महावीर प्रभु आमलकल्पा नगरी के उद्यान में विराजमान थे, तब यही सूर्याभदेव भगवान् को वन्दना-नमस्कार करने अपने परिवार के साथ आया था।

धन्ना सेठ पुत्री सुसुमा और चिलात चोर

राजगृह में धन्य सार्थवाह रहता था। उसके पाँच पुत्र और एक 'सुसुमा' नाम की रूपवती पुत्री थी। उस कन्या को खेलाने के लिए 'चिलात' नाम का दासपुत्र था। चिलात सुसुमा को अन्य बच्चों के साथ खेलाता, किन्तु उसमें चोरी की बहुत बुरी आदत थी। वह दूसरे बच्चों के खिलौने और कपड़े तथा गहने लेलेता और उन्हें मारपीट भी करता। चिलात को धन्ना सेठ ने बहुत समझाया, परन्तु उसकी बुरी आदत नहीं छुटी। अन्त में उसे घर से निकाल दिया। फिर वह निठल्ला हो कर इधर-उधर भटकता रहा और जुआरी, मद्यप तथा वैश्यागामी हो गया। उसकी दुर्वृत्तियों ने उसका पतन कर दिया। वह एक डाकूदल में सम्मिलित हो कर कुशल डाकू बन गया। 'सिंहगुफा' नाम की चोरपल्ली का सरदार 'विजय' नाम का एक डाकूराज था। उसका विश्वासपात्र बन कर 'चिलात' ने चोरी की सभी कलाएँ सीख लीं और विजय के मरने पर उस डाकूदल का सरदार बन गया।

एकदिन सभी डाकुओं को साथ ले कर वह राजगृह में धन्नासेठ का घर लूटने आया। डाकुओं को धन की लालसा थी और चिलात के मन में सुसुमा सुन्दरी बसी थी। मध्य रात्रि में डाकूदल ने मन्त्रबल से राजगृह का पुरद्वार खोल कर नगर में प्रवेश किया और धन्नासेठ के घर पर हमला कर दिया। सेठ-सेठानी और पाँचों पुत्र, इस अचानक आक्रमण से भयभीत हो कर भाग गये। किन्तु सुसुमा नहीं भाग सकी। वह डाकूराज के पंजे में पड़ गई। धन्ना सेठ का लाखों का द्रव्य और सुसुमा सुन्दरी को ले कर डाकूदल वन में भाग गया। शान्ति होने पर सेठ ने घर में प्रवेश किया और बिछुड़ा हुआ

कुटुम्ब मिला, तब सुसुमा-हरण का ज्ञान हुआ। धन से नहीं, पर सुसुमा के हरण से सारा कुटुम्ब दुःखी था। प्रातःकाल होते ही सेठ, किमती भेंट ले कर नगर-रक्षक के पास गये। भेंट देने के बाद अपनी दुःख-गाथा सुनाई, और विशेष में कहा—'महोदय ! चोरी गये हुए धन के लिए मैं चिंतित नहीं हूँ। मुझे मेरी प्रिय पुत्री ला दीजिये। चोरी का धन सब आपही लेलीजिएगा।' नगर-रक्षक ने तत्काल दल-बल सहित सिंहगुफा पर चढ़ाई कर दी और मार्ग में ही डाकू-दल से भिड़ गया। डाकू, रक्षक-दल की बड़ी शक्ति का अनुमान लगाया और प्राप्त धन फेंक कर इधर-उधर भाग गये। किन्तु चिलात सुसुमा को लिये हुए भयानक वन में घुस गया। रक्षक-दल के साथ सेठ भी अपने पुत्रों सहित कन्या को मुक्त कराने आये थे। रक्षक-दल तो डाकुओं द्वारा छोड़ा हुआ धन समेटने में लगा, किन्तु सेठ तथा उनके पुत्रों ने चिलात का पिछा किया। भागते हुए चिलात ने जब देखा कि 'अब सुसुमा को उठा कर भागना असंभव है,' तो उस नराधम ने उसका सिर काट कर धड़ को फेंकता हुआ, झाड़ी में लुप्त हो गया।

जब धन्नासेठ और उनके पुत्रों ने, सुसुमा का शव देखा, तो उनके हृदय में वज्राघात हुआ। वे सभी मूच्छित हो कर गिर पड़े। मूर्च्छा मिटने पर उन्हें अपनी दुर्दशा का भान हुआ। वे भूख-प्यास से अत्यन्त व्याकुल और अशक्त हो गये थे। उनका पुनः राजगृह पहुँचना कठिन हो गया। बिना खान-पान के उनकी दशा भी अटवी में ही मर-मिटने जैसी हो गई। वहाँ न कुछ खाने का और न कुछ पीने का। क्या करें, बड़ी भयंकर समस्या उनके सामने खड़ी हुई। जब अन्य कोई उपाय नहीं सूझा, तब धन्य ने अपने पुत्रों से कहा;—

"समय मोहित होने का नहीं, समझदारी पूर्वक बच निकलने का है। यदि छः में से एक मर जाय और पांच बच जाय, तो उतनी बुरी बात नहीं है। छहों के मरने की बनिस्बत पांच का बचना ठीक ही है। इसलिए पुत्रों ! तुम मुझे मार डालो और मेरे रक्त का पान कर के और मांस का भक्षण कर के इस मृत्यु-संकट से बचो। इस समय तुम मेरा मोह छोड़ दो। वैसे मेरी आयु भी अब थोड़ी ही रही है।"

'देव ! आप हमारे भगवान् तथा गुरु के समान पूजनीय हैं। आपके महान् उपकार से हम पहले से ही दबे हुए हैं। अब पितृ-हत्या का पाप कर हम संसार में जीवित रहना नहीं चाहते। यदि आप मुझे मार कर मेरे रक्त-मांस से अपना सब का बचाव करेंगे, तो

में पितृऋण से मुक्त हो कर भ्रातृ-रक्षा के पुण्य का भागी बनूंगा। देव ! आप मुझे ही मार डालिए"—ज्येष्ठ पुत्र ने आग्रह के साथ कहा।

बड़े भाई को रोकते हुए छोटे भाई ने, इसी प्रकार सभी अपने को मिटा कर अन्य सब का संकट मिटाने को तत्पर हुए। तब धन्ना सेठ ने कहा—"किसी के भी मरने की आवश्यकता नहीं है। सुसुमा का यह मृत-शरीर ही इस समय हमारे लिए उपयोगी होगा। हा, दैव ! आज हम अपनी प्राणप्यारी पुत्री के मृत शरीर का भक्षण करेंगे। विवशता क्या नहीं कराती।" सब ने ऐसा ही किया और अरनी से अग्नि प्रज्वलित कर खा-पी कर घर आ गये। पुत्री का लौकिक क्रिया-कर्म कर के शोक निवृत्त हुए। कालान्तर में भगवान् महावीर का उपदेश सुन कर धन्ना सेठ निर्ग्रंथ बन गए और ग्यारह अंग का ज्ञान कर तथा तप-संयम की आराधना कर प्रथम स्वर्ग में गये। वहां से महाविदेह में जन्म लेवेंगे और प्रव्रजित हो कर सिद्धगति प्राप्त करेंगे।

उपरोक्त कथा पर से बोध देते हुए निर्ग्रंथनाथ भगवान् फरमाते हैं कि 'हे, साधुओं ! जिस प्रकार चिलात चोर सुसुमा में मूर्च्छित हो कर दुखी हुआ, उसी प्रकार जो साधुसाध्वी खान-पान में गृद्ध हो कर स्वाद के लिए, शरीर पुष्ट बनाने के लिए, इन्द्रियों के पोषण के लिए और विषय इच्छा से आहारादि करेंगे, वे यहाँ भी निन्दनीय जीवन बितावेंगे और परभव में घोर दुःखों के भोक्ता बनेंगे। और जिस प्रकार धन्य सार्थवाह ने, रस, वर्ण, गन्ध तथा शरीर पुष्टि के लिए नहीं, किन्तु भयानक अटवी को पार कर के सुखपूर्वक राजगृह पहुँचने के लिए—रूक्ष-वृत्ति से पुत्री का मांस खाया और राजगृहि में पहुँच कर सु[illegible]आ, उसी प्रकार साधुसाध्वी भी, अशूचि, एवं रोग के भंडार तथा नाशवान शरीर के पोषण, संवर्धन तथा बल के लिए नहीं, किन्तु मोक्ष प्राप्ति के लिए (**सिद्धिगमण-संपावणट्ठाए**) रूक्षभाव से आहार पानी का सेवन करेंगे, वे वन्दनीय-पूजनीय एवं प्रशंसनीय होंगे तथा परमानन्द को प्राप्त करेंगे।

(ज्ञाताधर्म कथा सूत्र के १८ वें अध्ययन में इतनी ही कथा है, परन्तु आवश्यक वृहद्वृत्ति आदि में चिलात डाकू की आगे पापी से धर्मी होने की कथा लिखी है, उसका सार निम्नानुसार है)

डाकू चिलात ने सुसुमा का मस्तक काट कर गले में लटकाया और आगे भागा। उसे पीछे से शत्रुओं का भय तो था ही। आगे बढ़ते हुए उसे एक तपस्वी संत ध्यानस्थ दिखाई दिये। उसने उनसे रोषपूर्वक कहा—"मुझे संक्षेप में धर्म बताओ, अन्यथा तुम्हारा भी मस्तक काट लूंगा।" तपस्वी संत ने ज्ञानोपयोग से जाना कि सुलभबोधि जीव है। उन्होंने कहा—"उपशम, विवेक, संवर।" चिलात एक वृक्ष के नीचे बैठ कर सोचने लगा—

संत ने उपशम करने का कहा है। उपशम का अर्थ है--शांति धारण करना, क्रोध रूपी अग्नि को क्षमा के शान्त जल से बुझाना। अर्थ के चिन्तन ने उसकी उग्रता शान्त कर दी। उसने हाथ में पकड़े हुए खड्ग को दूर फेंक दिया। इसके बाद दूसरे पद 'विवेक' पर चिन्तन होने लगा। विवेक का अर्थ 'त्याग' है। पाप का त्याग करना। उसने हिंसादि पापों का त्याग कर दिया। तीसरे पद 'संवर' का अर्थ— इन्द्रियों के विषय और मनोविकारों को रोकना, इतना ही नहीं मन, वचन, और शरीर की प्रवृत्ति को रोक कर काया का उत्सर्ग करना।

चिलात दृढ़तापूर्वक ध्यानस्थ हो चिन्तन करने लगा। उसका मिथ्यात्व हटा, सम्यक्त्व प्रकटा। सुसुमा का मस्तक छाती पर लटक रहा है। उससे झरे हुए रक्त से शरीर लिप्त है। रक्त की गन्ध से आकर्षित बहुत-सी वज्रमुखी चींटियाँ आई और शरीर पर चढ़ी। चींटियाँ अपने वज्रवत् डंक से चिलातीपुत्र के शरीर में छेद कर रही है। पाँवों से बढ़ते-बढ़ते सारे शरीर को छेद कर उनका रक्त पी रही है। चींटियों के वज्रमय डंक से असह्य जलन हो रही है। परन्तु ध्यानस्थ चिलातीपुत्र अडोल शान्त खड़े समभाव में रमण कर रहे हैं। ढ़ाई दिन तक उग्र वेदना सहन कर और देह त्याग कर वे स्वर्गवासी हुये।

पिंगल निर्ग्रंथ की परिव्राजक से चर्चा

श्रमण भगवान् महावीर प्रभु 'कृतांगला' नगरी के छत्रपलाशक उद्यान में [illegible] थे। कृतांगला नगरी के समीप श्रावस्ती नगरी थी। वहाँ कात्यायन गोत्रीय गर्दभाल परिव्राजक के शिष्य स्कन्दक परिव्राजक रहते थे। वे वेदवेदांग, इतिहास निघण्टु (कोश) आदि अनेक शास्त्रों के अनुभवी एवं पारंगत—रहस्यज्ञाता थे। वे इन शास्त्रों का दूसरों को अध्ययन कराते थे और प्रचार भी करते थे।

श्रावस्ति नगरी में भगवान् महावीर स्वामी के वचनों के रसिक 'पिंगल' नामक निर्ग्रंथ भी रहते थे। एक दिन पिंगल निर्ग्रंथ परिव्राजकाचार्य स्कन्दक के समीप आये और पूछा; —

"मागध! कहो, १ लोक का अन्त है, या अनन्त है? २ जीव का अन्त है, या अनन्त? ३ सिद्धि अंतयुक्त है, या अन्तरहित? ४ सिद्ध, सान्त हैं या अनन्त? और ५ किस प्रकार की मृत्यु से जीव संसार भ्रमण की वृद्धि और किस मृत्यु से कमी करता है?

उपरोक्त पांच प्रश्न सुन कर स्कन्दकजी स्तब्ध रह गए। उनसे उत्तर नहीं दिया जा सका। वे स्वयं शंकित हो गए। उनके मन में कोई निश्चित्त सत्य उत्तर जमा ही नहीं। उन्हें मौन देख कर पिंगल निर्ग्रंथ ने पुनः पूछा, जब तीसरी बार पूछने पर भी उत्तर नहीं मिला, तो पिंगल निर्ग्रथ लौट गए। स्कन्दक के मन में पिंगल के प्रश्न रम ही रहे थे। उन्होंने नगरी में भ्रमण करते हुए लोगों की बातों से सुना कि श्रमण भगवान् महावीर प्रभु कृतांगला नगरी के छत्रपलाशक चैत्य में बिराजमान हैं। उन्होंने सोचा--"मैं भगवान् महावीर के समीप कृतांगला जाऊँ, उन्हें वन्दना नमस्कार कर के इन प्रश्नों का उत्तर पूछूं।" वे स्वस्थान आये और त्रिदण्ड, रुद्राक्ष की माला आदि उपकरण ले कर कृतांगला जाने के लिए निकले।

उधर भगवान् ने गणधर गौतम स्वामी से कहा—"आज तुम अपने पूर्व के साथी को देखोगे।"

--"भगवन्! मैं किस साथी को देखूंगा?"

—"स्कन्दक परिव्राजक को देखोगे। वे आ ही रहे हैं, निकट आगए हैं। पिंगल निर्ग्रंथ ने प्रश्न पूछ कर उन्हें यहाँ आने का निमित्त उपस्थित कर दिया है"—भगवान् ने सारी बात बता दी।

—"भगवन्! स्कन्दक, निर्ग्रंथ-दीक्षा ग्रहण करेगा"—गौतम स्वामी ने अपने पूर्व के साथी की हितकामना से पूछा।

—"हां, गौतम! वह दीक्षित होगा"—भगवान् ने कहा।

इतने में स्कन्दक आते हुए दिखाई दिये। गौतम स्वामी उठे। अपना पूर्व का साथी, उस समय का समानधर्मी और वेदवेदांग के पारंगत मित्र का आगमन हितकारी हो रहा है। भगवान् की महानता का परिचय दे कर स्कन्दक को पहले से प्रभावित करने के लिये गौतमस्वामी उनका स्वागत करने आगे बढ़े और निकट आने पर बोले;—

"स्कन्दक! तुम्हारा स्वागत है, सुस्वागत है। हे स्कन्दक! तुम्हारा स्वागत-सुस्वागत और अन्वागत (अनुरूप = अनुकुल आगमन) है।" स्कन्दकजी का स्वागत करते हुए गणधर महाराज गौतम स्वामी ने आगे कहा—"श्रावस्ती नगरी में पिंगल निर्ग्रंथ ने तुमसे लोक, जीव आदि विषयक प्रश्न पूछे थे, जिनका उत्तर तुम नहीं दे सके और यहाँ भगवान् से उत्तर प्राप्त करने आये हो।"

"गौतम! तुम्हें कैसे मालूम हुआ? यह बात तो गुप्त ही थी और हम दोनों के सिवाय कोई जानता ही नहीं था"--आश्चर्यपूर्वक स्कन्दकजी ने पूछा।

"स्कन्दक ! मेरे धर्मगुरु धर्माचार्य श्रमण भगवान् महावीर स्वामी सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हैं। उनसे किसी भी प्रकार का रहस्य छुपा नहीं है। उन्हीं ने मुझ से अभी कहा।"

स्कन्दक गौतम स्वामी के साथ भगवान् के निकट आये। तीर्थंकर नामकर्म के उदय से भगवान् का शरीर शोभायमान् और प्रभावशाली था ही और उस समय भगवान् के तपस्या भी नहीं चल रही थी। इसलिये विशेष प्रभावशाली था। स्कन्दक प्रथम-दर्शन में ही आकर्षित हो गये। उनके हृदय में प्रीति उत्पन्न हुई। वे आनन्दित हो उठे और अपने आप झुक गए। उन्होंने भगवान् की वन्दना की। भगवान् ने उनके आगमन का उद्देश्य प्रकट किया और पिंगल निर्ग्रंथ के प्रश्नों के उत्तर बताने लगे;—

"स्कन्दक ! लोक चार प्रकार का है—१ द्रव्य २ क्षेत्र ३ काल और ४ भाव लोक।

१ द्रव्यदृष्टि से लोक एक है और अंत सहित है।

२ क्षेत्र से असंख्येय योजन प्रमाण है और अंतयुक्त है।

३ कालापेक्षा भूतकाल में था, वर्तमान में है और भविष्य में भी रहेगा। ऐसा कोई भी काल नहीं कि जब लोक का अभाव हो। लोक सदाकाल शाश्वत है, ध्रुव है, नित्य है, अक्षय है, अव्यय है यावत् अंत-रहित है।

४ भाव से लोक अनन्त वर्ण-पर्यव, गन्ध-रस-स्पर्श-संस्थानादि पर्याय से युक्त है और अनन्त है। अर्थात् द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षा सान्त और काल तथा भाव दृष्टि से अनन्त है।

इसी प्रकार एक जीव, द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षा अन्त वाला और काल और भाव से अन्त-रहित है। सिद्धि और सिद्ध तथा बाल-मरण, पंडितमरण सम्बन्धी भगवान् के उत्तर सुन कर स्कन्दक प्रतिबोध पाये। भगवान् का धर्मोपदेश सुना और अपने परिव्राजक के उपकरणों का त्याग कर निर्ग्रथ-श्रमण हो गये। वे सर्वसाधक हो, साधना करने लगे। उन्होंने एकादशांग श्रुत पढ़ा, द्वादश भिक्षुप्रतिमा का आराधन किया, गुणरत्न सम्वत्सर तप किया और अनेक प्रकार की तपस्या की। तपस्या से उनका शरीर रुक्ष, शुष्क, दुर्बल, जर्जर और अशक्त हो गया। एक रात्रि जागरणा में उन्होंने सोचा—"अब मुझ में शारीरिक शक्ति नहीं रही। मैं धर्माचार्य भगवान् महावीर की विद्यमानता में ही अंतिम साधना पूरी कर लूं।" प्रातःकाल भगवान् की अनुमति प्राप्त कर और साधुसाध्वियों से क्षमायाचना कर, कडाई स्थविर के साथ विपुलाचल पर्वत पर चढ़े और पादपोपगमन संथारा किया। एक मास का संथारा पाला और आयु पूर्ण कर अच्युत (बारहवें) स्वर्ग में देव हुए। वहाँ

बाईस सागरोपम की स्थिति पूर्ण कर महाविदेह में मनुष्य-जन्म पाएँगे और निर्ग्रंथ-धर्म का पालन कर मुक्त हो जावेंगे। (भगवती २-१)

राजर्षि शिव भगवान् के शिष्य बने

हस्तिनापुर नरेश 'शिव' ने अपने पुत्र शिवभद्रकुमार को राज्य पर स्थापित कर 'दिशाप्रोक्षक' तापस-व्रत अंगीकार किया और बेले-बेले तप करते हुए साधनामय जीवन व्यतीत करने लगे। कालान्तर में उन्हें विभंगज्ञान उत्पन्न हो गया, जिससे वे सात द्वीप और सात समुद्र देखने लगे। वे स्वयं हस्तिनापुर में प्रचार करने लगे कि—"मुझे अतिशय ज्ञान-दर्शन उत्पन्न हुआ है, जिससे मैं सात द्वीप और सात समुद्र देख रहा हूँ। इसके आगे कुछ भी नहीं हैं।" इस प्रचार से जनता में शिवराजर्षि के अतिशय ज्ञान की चर्चा होने लगी।

उस समय भगवान् महावीर प्रभु हस्तिनापुर पधारे। नागरिकजन भगवान् का वन्दन करने आये। धर्मोपदेश सुना। श्री गौतम स्वामी बेले के पारणे के लिये भिक्षार्थ नगर में गये। उन्होंने शिवराजर्षि के अतिशय ज्ञान की बात सुनी और भगवान् के समीप आ कर पूछा—"भगवन्! शिवराजर्षि के अतिशय ज्ञान की चर्चा नगर में हो रही है। वे कहते हैं कि पृथ्वी पर केवल सात द्वीप और सात समुद्र ही है। आगे कुछ भी नहीं है। उनका यह कथन कैसे माना जाय?"

—"गौतम! शिवराजर्षि का कथन मिथ्या है। इस पृथ्वी पर स्वयंभूरमण-समुद्रपर्यंत असंख्य द्वीप और असंख्य समुद्र हैं"—भगवान् ने कहा।

उस समय हस्तिनापुर के बहुत-से नागरिक वहाँ थे। भगवान् का उत्तर उन्होंने सुना। अब लोग बातें करने लगे—"राजर्षि सात द्वीप और सात समुद्र के पश्चात् द्वीप-समुद्र का अभाव बतलाते हैं। उनका यह कथन मिथ्या है। भगवान् महावीर स्वामी असंख्य द्वीप-समुद्र बतलाते हैं।"

लोकचर्चा शिवराजर्षि ने भी सुनी। उनके मन में सन्देह उत्पन्न हुआ। वे खेदित हुए और उनका विभंगज्ञान नष्ट हो गया। अपना ज्ञान नष्ट होने पर उन्हें विचार हुआ—"भगवान् महावीर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हैं और यहीं सहस्राम्र वन में ठहरे हैं। मैं जाऊँ। उनकी वन्दना करूँ।" वे भगवान् के समीप आये। वन्दना की, धर्मोपदेश सुना और दीक्षित होकर तपसंयम की आराधना की। वे मुक्त हो गए। (भगवती सूत्र ११-९)

शंख-पुष्कली × भगवान् द्वारा समाधान

श्रावस्ति नगरी में 'शंख' आदि बहुत-से श्रमणोपासक रहते थे। वे धन-धान्यादि से परिपूर्ण, प्रभावशाली, सुखी एवं शक्तिमान थे। वे जीव-अजीवादि तत्त्वों के ज्ञाता थे। जिन-धर्म में उनकी अटूट श्रद्धा थी। वे व्रतधारी श्रमणोपासक थे।

श्रमणोपासक शंख के "उत्पला" नाम की पत्नी थी। वह सुरूपा, सद्गुणी, तत्त्वज्ञा एवं विदुषी श्रमणोपासिका थी। उसी नगर में 'पुष्कली' नामक श्रमणोपासक भी रहता था। वह भी वैसा ही सम्पत्तिशाली और धर्मज्ञ था।

भगवान् महावीर प्रभु श्रावस्ति पधारे। नागरिकजन और श्रमणोपासक भगवान् की वन्दना करने आये, धर्मोपदेश सुना, प्रश्न पूछ कर जिज्ञासा पूर्ण की और समवसरण से चल दिये। चलते हुये शंख श्रमणोपासक ने कहा; —

"देवानुप्रियो ! आप भोजन बनवाईये। अपन सब खा-पी कर पक्खी का पौषध करेंगे।"

शंखजी की बात सभी ने स्वीकार की। शंखजी घर आये। उनकी भावना बढ़ी। उन्होंने निराहार पौषध करने का निश्चय किया और पौषधशाला में जा कर परिपूर्ण पौषध कर लिया। इधर पुष्कली आदि श्रमणोपासकों ने भोजन बनवाया और शंखजी की प्रतीक्षा करने लगे। शंख नहीं आये, तब पुष्कली, शंखजी के घर गये। पुष्कलीजी को अपने घर आते हुए देख कर उत्पला श्रमणोपासिका हर्षित हुई, आसन से उठी और पुष्कली श्रमणोपासक के संमुख जा कर विधिवत् वन्दन-नमस्कार किया, आसन पर बिठाये और प्रयोजन पूछा। पुष्कली की बात सुन कर उत्पला ने कहा—"वे पौषधशाला में हैं। उन्होंने पौषध किया है।"

पुष्कली पौषधशाला में गये, इर्यापथिकी की, शंखजी को विधिवत् वन्दना की और कहा —"देवानुप्रिय ! भोजन बन चुका है। आप चलिये। सब साथ ही भोजन कर के पौषध करेंगे।"

—"देवानुप्रिय ! मैंने तो पौषध कर लिया है। अब मुझे भोजन करना योग्य नहीं है। आप इच्छानुसार खा-पी कर पौषध करो"—शंख ने कहा।

पुष्कली लौट आये। सभी ने खाया-पिया और पौषध किया। परन्तु उनके मन में शंख के प्रति रोष रहा। दूसरे दिन शंखजी बिना पौषध पाले ही भगवान् के समवसरण में गये और वन्दन-नमस्कार किया। पुष्कली आदि श्रमणोपासकों ने भी भगवान् की

वन्दना की। धर्मोपदेश सुना। धर्मोपदेश पूर्ण होने पर पुष्कली आदि श्रमणोपासक शंखजी के निकट आये और बोले;—

"महानुभाव! आपने हमें भोजन बनाने का कहा और खा-पी कर पक्खी का पौषध करने की प्रेरणा की। हमने आपके कथनानुसार भोजन बनाया, परन्तु आप स्वयं पौषधशाला में जा कर (प्रतिपूर्ण) पौषध कर के बैठ गये। आपने हमारे साथ यह कैसा व्यवहार किया? क्या इससे हम सब का अपमान नहीं हुआ?"

"आर्यो! तुम शंख श्रमणोपासक की निन्दा एवं अपमान मत करो। शंख धर्मानुरागी, दृढ़धर्मी, प्रियधर्मी है। इसने तुम्हारा अपमान करने के लिये नहीं, भावोल्लास में प्रतिपूर्ण पौषध किया और सुदर्शन जागरिका युक्त रहा"— भगवान् ने श्रमणोपासकों का समाधान किया। श्रमणोपासकों ने भगवान् की वन्दना की और शंखजी के निकट आ कर क्षमायाचना की। (भगवती १२-१)

वादविजेता श्रमणोपासक मद्रुक

राजगृह के गुणशील उद्यान के निकट कालोदायी सेलोदायी आदि बहुत-से अन्ययूथिक रहते थे और नगर में 'मद्रुक' नामक श्रमणोपासक भी रहता था। वह ऋद्धिमंत प्रभावशाली एवं शक्तिशाली था। निर्ग्रंथ-प्रवचन का ज्ञाता था। तत्त्वज्ञ था और दृढ़श्रद्धा वाला था। श्रमण भगवान् महावीर स्वामी राजगृह के गुणशील चैत्य में विराजते थे। भगवान् का आगमन सुन कर मद्रुक प्रसन्न हुआ। वह भगवान् की वन्दना करने घर से निकल कर गुणशील उद्यान की ओर जा रहा था। वह अन्ययूथिकों के आश्रम के निकट हो कर जा रहा था। उसे अन्ययूथिकों ने देखा और परस्पर परामर्श कर अविदित— असंभव लगने वाले तत्त्व के विषय में पूछने का निश्चय किया। वे अपने स्थान से चल कर मद्रुक श्रमणोपासक के निकट आये और पूछा--

"हे मद्रुक! तुम्हारे धर्माचार्य पाँच अस्तिकाय के सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं, क्या तुम अस्तिकाय बता सकते हो?"

—"वस्तु का कार्य देख कर, कारण के अस्तित्व का बोध होता है। बिना कार्य के कारण का ज्ञान नहीं होता"—मद्रुक ने कहा।

—"मद्रुक! तुम कैसे श्रमणोपासक हो, जो वस्तु को न तो जानते हो, न देखते हो, फिर भी मानते हो—अन्ध विश्वासी"--अन्ययूथिक ने आक्षेप पूर्वक कहा।

मद्रुक ने प्रतिप्रश्न पूछा—"क्या तुम वायु का चलना मानते हो ?"

अन्य०—"हां, मानते हैं।"

म०—"क्या तुम वायु का रूप देखते हो ?"

अन्य०—"नहीं वायु का रूप तो दिखाई नहीं देता।"

म०--"क्या गन्ध वाले द्रव्य हैं ?"

अन्य०—"हाँ, हैं।"

म०—"तुम उस गन्ध का रूप देखते हो ?"

अन्य०—"नहीं, गन्ध दिखाई नहीं देती।"

म०—"अरणी की लकड़ी में अग्नि है ?"

अन्य०—"हाँ, है।

म०—"उस लकड़ी में तुम्हें अग्नि दिखाई देती है ?"

अन्य०—"नहीं।"

म०--"समुद्र के उस पार जीवादि पदार्थ हैं ?"

अन्य०—"हाँ, है।"

म०--"तुम्हें दिखाई देते हैं ?"

अन्य०--"नहीं।"

म०—"क्या, देवलोक और उसमें देवादि हैं ?"

अन्य०—"हाँ, हैं।"

म०—"तुमने देखे हैं ?"

अन्य०—"नहीं, देखे तो नहीं।"

म०—"इतने पदार्थ तुम नहीं देखते हुए भी मानते हो, फिर अस्तिकाय क्यों नहीं मानते ? जिन पदार्थों को छद्मस्थ नहीं देख सकता, उनका अस्तित्व भी नहीं माना जाय, तो बहुत-से पदार्थों का अभाव ही मानना पड़ेगा। कहो, क्या कहते हो ?"

अन्ययूथिक अवाक् हो निरुत्तर रहे और लौट गये। मद्रुक भगवान् के समवसरण में गया। वन्दना-नमस्कार किया और धर्मोपदेश सुना। फिर भगवान् ने मद्रुक से पूछा—

"मद्रुक ! तुम से अन्ययूथिकों ने प्रश्न पूछे। तुमने उत्तर दिये और वे मौन हो कर लौट गए ?"

—"हां, भगवन् ! ऐसा ही हुआ।"

—"मद्रुक ! तुमने योग्य उत्तर दिये, यथार्थ उत्तर दिये। तुम जानते हो। परन्तु

जो मनुष्य जानता नहीं, फिर भी उत्तर देता है, तो वह असत्य होता है। असत्य उत्तर से वह अरिहंतों और अरिहंत-प्ररूपित धर्म की आशातना करता है। तुमने यथार्थ उत्तर दिये हैं।" मद्रुक भगवान् को वन्दना कर के लौट गया।

गौतम स्वामी ने पूछा—"भगवन्! मद्रुक निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या अंगीकार करेगा?"

"नहीं, गौतम! वह श्रावक धर्म का पालन कर देवगति प्राप्त करेगा। देवभव से च्यव कर महाविदेह में मनुष्य-जन्म पाएगा। वहाँ निर्ग्रंथ-धर्म की आराधना कर के मुक्त हो जायगा।" (भगवती १८-७)

केशी-गौतम मिलन सम्वाद और एकीकरण

तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी के शिष्य महायशस्वी केशीकुमार श्रमण श्रावस्ति नगरी पधारे और तिन्दुक उद्यान में विराजे। उसी समय श्रमण भगवान् महावीर प्रभु के प्रथम गणधर गौतमस्वामीजी भी श्रावस्ति पधारे और कोष्टक उद्यान में विराजे। दोनों महापुरुष एक ही नगरी में भिन्न-भिन्न स्थानों पर रहते हुए एक-दूसरे की उपस्थिति से अवगत हुए। दोनों के साथ शिष्य-वर्ग भी था ही। दोनों महापुरुषों को कोई सन्देह नहीं था। परन्तु उनके शिष्यों में प्रश्न उठ खड़ा हुआ—"जब दोनों परम्पराओं का ध्येय एक है, तो भेद क्यों है, अभेद क्यों नहीं?" एक चार याम रूप धर्म मानते हैं, तो दूसरे पाँच महाव्रत रूप। एक अचेलक-धर्मी हैं, तो दूसरे प्रधान वस्त्र वाले हैं? जब दोनों परम्परा मोक्ष-साधक है और एक ही आचार-विचार रखते हैं, तो इन दो बातों में भेद का कारण क्या है? क्या यह भेद मिट नहीं सकता?"

शिष्यों की भावना जान कर दोनों महर्षियों ने मिलने का विचार किया। गणधर भगवान् गौतम स्वामीजी ने महर्षि केशीकुमार श्रमण के ज्येष्ठ कुल* का विचार कर स्वयं ही अपने स्थान से चल कर तिन्दुक उद्यान में पधारे। गौतम स्वामी को अपनी ओर आते देख कर केशीकुमार श्रमण ने भक्ति एवं सम्मान सहित गौतम स्वामी का स्वागत किया। दर्भ, पलाल और त्रण का आसन प्रदान किया। दोनों प्रभावशाली भव्य महर्षि समान आसन पर विराजते हुए ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे—चन्द्रमा और सूर्य एक साथ

---

* पूर्ववर्ती भ० पार्श्वनाथजी की परम्परा के कुल के। वैसे श्री केशीकुमार श्रमण श्री गौतमस्वामीजी से दीक्षा में भी ज्येष्ठ थे।

अवनी पर आ कर प्रेमपूर्वक साथ बैठे हों। दोनों महापुरुषों का समागम देख-सुन कर लोग चकित रह गये और दौड़े हुए तिन्दुक उद्यान में आये। सहस्रों लोग एकत्रित हो गए। देव-दानव-यक्षादि भी कुतूहल वश उस स्थान पर आये और अदृश्य रह कर देखने लगे।

महर्षि केशीकुमार श्रमण ने गौतम स्वामी से पूछा—

"हे महाभाग ! मैं आपसे प्रश्न पूछना चाहता हूँ।"

"हे भगवन् ! आपकी इच्छा हो वह पूछिये।"

१ प्रश्न—"भगवान् पार्श्वनाथजी और भ. महावीर स्वामी—दोनों तीर्थंकर भगवान् एक मोक्ष के ही ध्येय वाले हैं और एक ही प्रकार के आचार-विचार वाले हैं, फिर भी इन दोनों परम्पराओं में चार याम और पाँच महाव्रत की भेद रूप भिन्नता क्यों है ? यह भेद आपको अखरता नहीं है क्या"—केशीकुमार श्रमण ने पूछा।

उत्तर—"महात्मन् ! यह भेद धर्म का नहीं, मनुष्य की प्रकृति का है। प्रथम जिनेश्वर के समय के शिष्य (लोग भी) ऋजु-जड़ (सरल और अनसमझ) थे। उनको समझाना कठिन था। और अभी के लोग वक्र-जड़ (कुटिल एवं मूर्ख) हैं। इन से पालन होना कठिन होता है। ये वक्रतापूर्वक कुतर्क करते हैं। परन्तु मध्य के तीर्थंकर भगवंतों के शासन के शिष्य ऋजु-प्राज्ञ (सरल और बुद्धिमान) रहे। वे थोड़े में ही समझ जाते थे और यथावत् पालन करते। इसीलिये यह चार और पाँच का भेद हुआ। वस्तुतः कोई भेद नहीं है। मध्य के तीर्थंकरों के शिष्य चार में ही पाँचों को समझ कर पालन करते थे। क्योंकि पाँच का समावेश चार में ही हो जाता है। अतः वास्तविक भेद नहीं है"— गौतम स्वामी ने उत्तर दिया।

केशी स्वामी इस उत्तर से संतुष्ट हुए। वे आगे प्रश्न पूछते हैं—

२ प्रश्न—भ० वर्द्धमान स्वामी का 'अचेलक धर्म' है और भ० पार्श्वनाथ का प्रधान वस्त्र रूप है। यह लिंग-भेद क्यों हैं ?"

उत्तर—"वेश और लिंग धर्मसाधना में सहायक होता है। विज्ञान से इनका औचित्य समझ कर ही आज्ञा दी जाती है। लिंग एवं उपकरण रखने के कारण हैं—१ लोक में साधुता की प्रतीति हो २ संयम का निर्वाह हो, ३ ज्ञान-दर्शन के लिए लोक में लिंग का प्रयोजन है। निश्चय ही मोक्ष की साधना में तो ज्ञान-दर्शन और चारित्र ही का महत्व है‡।

३ प्रश्न—"गौतम ! आप सहस्रों शत्रुओं के मध्य खड़े हैं और वे आप पर विजय

---

‡ ये दो प्रश्न ही मामूली बाह्य भेद से सम्बन्ध रखते हैं शेष सभी प्रश्न आत्म-साधना संबंधी हैं।

पाने के लिए तत्पर हैं। कहिये ऐसे शत्रुओं पर आपने किस प्रकार विजय प्राप्त की ?"

उत्तर--"एक को जीतने से पांच जीत लिये, और पांच को जीत कर दस को जीता। दस को जीतने के साथ ही मैंने सभी शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली।"

पुन: प्रश्न--"वे शत्रु कौनसे हैं ?"

उत्तर—अपना निरंकुश आतमा ही एक बड़ा शत्रु है। इसके साथ कषाय और इन्द्रियों के विषय शत्रु हैं। इन्हें जीत कर मैं सुखपूर्वक विचर रहा हूँ।"

४ प्रश्न--"महाभाग ! संसार में लोग बन्धनों में बन्धे हुए दिखाई देते हैं। आप उन बन्धनों से मुक्त हो कर लघुभूत (हलके) कैसे होगये ?"

उत्तर--"मैंने उन बन्धनों को काट फेंका। अब मैं लघुभूत = भार-मुक्त हो कर विचर रहा हूँ।"

स्पष्टार्थ प्रश्न—"वह पाश = बन्धन कौनसा है ?"

उत्तर—"रागद्वेषादि और तीव्र स्नेह, भयंकर बन्धन है। इन बन्धनों को काट कर मैं भारमुक्त हो गया हूँ।"

५ प्रश्न—"हृदय में उत्पन्न विषैली लता भयंकर फल देती है। आपने उस विषवल्ली को कैसे उखाड़ फेंका ?"

उत्तर--"मैंने उस विषलता को जड़ से उखाड़ कर फेंक दिया। अब मैं उसके विष से मुक्त हूँ।"

—"कौनसी है वह विषलता ?"

—"तृष्णा रूपी विषलता भव-भ्रमण रूप भयंकर फल देने वाली है। मैंने उसे समूल उखाड़ फेंका। अब मैं सुखपूर्वक विचर रहा हूँ।"

६ प्रश्न—"शरीर में भयंकर अग्नि है और शरीर को जला रही है। आपने उस अग्नि को शान्त कैसे किया ?"

उत्तर--"महामेघ से बरसते हुए पानी से मैं अपनी आग को सतत बुझाता रहता हूँ। वह बुझी हुई अग्नि मुझे नहीं जलाती।"

--"वह अग्नि कौनसी है ?"

--"कषाय रूपी अग्नि है। श्रुत शील और तप रूपी जल है। मैं श्रुतधारा से अग्नि को शान्त कर देता हूँ, इसलिये वह मुझे नहीं जला सकती।"

७ प्रश्न--"गौतम ! महा-दुष्ट, साहसी और भयंकर अश्व पर आप आरूढ़ हैं, वह दुष्ट अश्व आपको उन्मार्ग में नहीं ले जाता है क्या ?"

उत्तर—"भागते हुए अश्व को मैं श्रुत रूप रस्सी से बाँध कर रखता हूँ। इसलिये वह उन्मार्ग पर जा ही नहीं सकता और सुमार्ग पर ही चलता है।"

--"आप अश्व किसे समझते हैं ?"

—"मन ही दुष्ट भयंकर और साहसी घोड़ा है, जो चारों ओर भागता है। मैं धर्म-शिक्षा से उसे सुधरा हुआ जातिवान अश्व बना कर निग्रह करता हूँ।"

८ प्रश्न—"लोक में कुमार्ग बहुत हैं, जिन पर चल कर जीव दुःखी होते हैं। किन्तु आप उन कुमार्गों पर जाने--पथ-भ्रष्ट होने से कैसे बचते हो ?"

उत्तर—"हे महामुनि ! मैं सन्मार्ग और उन्मार्ग पर चलने वालों को जानता हूँ। इसलिए मैं सत्पथ से नहीं हटता।"

—"कौन-से हैं वे सुमार्ग और कुमार्ग ?"

—"जितने भी कुप्रवचन को मानने वाले पाखण्डी हैं, वे सभी उन्मार्गगामी हैं। सुमार्ग तो एकमात्र जिनेश्वर भगवंत-कथित ही है और यही उत्तम मार्ग है।"

९ प्रश्न—"पानी के महाप्रवाह में बहते हुए प्राणियों के लिये, शरण देकर स्थिर रखने वाला द्वीप आप किसे मानते हैं ?"

उत्तर—"समुद्र के मध्य में एक महाद्वीप है, उस द्वीप पर पानी का प्रवाह नहीं पहुँच सकता। उस द्वीप पर पहुँच कर जीव सुरक्षित रह सकते हैं।"

--"वह शरण देने वाला द्वीप कौनसा है ?"

—"जन्म-जरा और मृत्यु रूपी महाप्रवाह में डूबते हुए प्राणियों के लिये एक धर्म-रूपी द्वीप ही उत्तम शरण दाता है।"

१० प्रश्न—"महानुभाव गौतम ! महाप्रवाह वाले समुद्र में आप ऐसी नौका में बैठे हैं, जो विपरीत दिशा में जा रही है। कहिये, आप उस पार कैसे पहुँचेंगे ?"

उत्तर--"जिस नौका में छिद्र हैं, वह पार नहीं पहुँचा सकती। परन्तु जो छिद्र-रहित है, वही पार पहुँचा सकती है।"

--"वह नाव कौनसी है ?"

—"यह शरीर नाव रूप है, जीव है उसका नाविक, और संसार है समुद्र रूप। जो महर्षि हैं, वे शरीर रूपी नौका से संसार रूपी समुद्र को तिर कर उस पार पहुँच जाते हैं।"

११ प्रश्न—"संसार में घोर अन्धकार व्याप्त है। उस अन्धकार में भटकते हुए प्राणियों को प्रकाश देने वाला कौन है ?"

उत्तर--"समस्त लोक को प्रकाशित करने वाला निर्मल सूर्य उदय हुआ है। वही प्राणियों को प्रकाशित करेगा।"

--"वह सूर्य कौनसा है?"

--"जिन्होंने ज्ञानावरणादि कर्मरूप अन्धकार को क्षय कर दिया है, ऐसे सर्वज्ञ जिनेश्वर रूपी सूर्य का उदय हुआ है। यही सर्वज्ञ सूर्य सभी प्राणियों को प्रकाश प्रदान करेगा।"

१२ प्रश्न--"संसार में सभी जीव शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित हो रहे हैं। इन जीवों के लिये भय एवं उपद्रव-रहित और शान्ति-प्रदायक स्थान कौन-सा है?"

उत्तर--"लोक के अग्रभाग पर एक ऐसा निश्चल शाश्वत स्थान है, जहाँ जन्म-जरा-मृत्यु और रोग तथा दुःख नहीं है। किन्तु उस स्थान पर पहुँचना कठिन है।"

--वह स्थान कौन-सा है?"

--"वह निर्वाण, अव्याबाध, सिद्धि, लोकाग्र, क्षेम, शिव और अनाबाध है। इसे महर्षि ही प्राप्त कर सकते हैं। वह स्थान शाश्वत निवास रूप है। लोक के अग्रस्थान पर है। इस स्थान को प्राप्त करना महा कठिन है। जिन निर्मल आत्माओं ने इस स्थान को प्राप्त कर लिया है, वे फिर किसी प्रकार का सोच-विचार या चिन्ता नहीं करते। वे वहाँ शाश्वत निवास करते हैं।"

गौतमस्वामी के उत्तर से केशीकुमार श्रमण संतुष्ट हुए। उन्होंने कहा--

"महर्षि गौतम! आपकी प्रज्ञा अच्छी है। मेरे सन्देह नष्ट हो गये हैं। हे संशयातीत! हे समस्त श्रुत-महासागर के पारगामी! मैं आपको नमस्कार करता हूँ।"

गौतम गणधर को नमस्कार कर के केशीकुमार श्रमण ने पाँच महाव्रत रूप चारित्रधर्म भाव से ग्रहण किया। क्योंकि प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के मार्ग में यही धर्म सुखप्रद है।

केशीकुमार श्रमण और गौतमस्वामी का वह समागम नित्य--सदैव के लिये--हो गया। इससे श्रुत और शील का सम्यक् उत्कर्ष हुआ और मोक्ष साधक अर्थों का विशिष्ट निर्णय हुआ। इस सम्वाद को सुन कर उपस्थित जन-परिषद् भी संतुष्ट हुई और सन्मार्ग पाई। परिषद् ने दोनों महापुरुषों की स्तुति की। (उत्तरा० २३)

अर्जुन की विडम्बना x राजगृह में उपद्रव

राजगृह में 'अर्जुन' नाम का मालाकार रहता था। वह धन-धान्यादि से परिपूर्ण था। 'बन्धुमती' उसकी भार्या थी--सर्वांगसुन्दरी कोमलांगी। राजगृह के बाहर अर्जुन की एक पुष्पवाटिका थी। जो सुन्दर आकर्षक एवं रमणीय थी। उसमें विविधवर्ण के सुगन्धित फूल लगते थे। पुष्पोद्यान के निकट ही एक यक्ष का मन्दिर था। यक्ष की प्रतिमा 'मुद्गरपाणि यक्ष' के नाम से प्रसिद्ध थी। वह यक्ष पुरातन काल से, अर्जुन के पूर्वजों से श्रद्धा का का केन्द्र था, पूजनीय-अर्चनीय था। यक्ष प्रतिमा के सान्निध्य था। उसकी सच्चाई की प्रसिद्धि थी। प्रतिमा के हाथ में एक हजार पल प्रमाण भार का लोहे का मुद्गर था। अर्जुन मालाकार बालपन से ही उस यक्ष का भक्त था। वह प्रतिदिन वाटिका में आता, पुष्प एकत्रित कर के चंगेरी में भरता, उनमें से अच्छे पुष्प लेकर श्रद्धापूर्वक यक्ष को चढ़ाता, प्रणाम करता और फूलों की डलिया ले कर बाजार में बेचने ले जाता।

राजगृह में एक 'ललित' नामकी मित्र-मण्डली थी, जिसमें छः युवक सम्मिलित थे। इस मित्र-गोष्ठी ने कभी अपने कार्य से महाराजा को प्रसन्न किया होगा। जिससे महाराजा श्रेणिक ने इन्हें 'यथेच्छ विचरण' एवं 'दण्डविमुक्ति' का वचन दिया था। यह ललित-गोष्ठी समृद्ध थी और इच्छानुसार खान-पान, खेल-क्रीड़ा एवं भोग-विलास करती हुई जीवन व्यतीत कर रही थी। इन पर किसी का अंकुश नहीं था। राज्य-बल से निर्भय होने के कारण इनकी उच्छृंखलता बढ़ी हुई थी। यह मण्डली मनोरंजन में लगी रहती थी।

राजगृह में कोई सार्वजनिक उत्सव का दिन था। उस दिन पुष्पों का विक्रय बहुत होता था। अर्जुन प्रातःकाल उठा, पत्नी को साथ ले कर पुष्पोद्यान में गया और पुष्प चुन कर एकत्रित करने लगा। उसी समय वह ललित-मण्डली भी उस उद्यान में आई और वाटिका की शोभा देखती हुई घूमने लगी। उनकी दृष्टि बन्धुमती पर पड़ी। उसके रूप-यौवन को देख कर उनके मन में पाप उत्पन्न हुआ। उन्होंने बन्धुमती के साथ भोग करने का निश्चय किया और प्राप्त करने की योजना बना ली। वे छहों रस्सी ले कर मन्दिर में घुसे और किवाड़ की ओट में दोनों ओर छुप कर खड़े हो गए। अर्जुन पत्नी सहित मन्दिर में आया। प्रतिमा को पुष्प चढ़ाये और प्रणाम करने के लिए घुटने टेक कर मस्तक झुकाया। उसी समय छहों मित्र किवाड़ों के पीछे से निकल कर अर्जुन पर टूट पड़े। उसे रस्सी के दृढ़ बन्धनों से बांध कर एक ओर लुढ़का दिया और बन्धुमती को पकड़ कर उसके साथ व्यभिचार करने लगे।

यक्ष ने दुराचारियों को मार डाला

अचानक आई हुई विपत्ति से अर्जुन घबराया। इस विपत्ति से बचाने वाला वहाँ कोई नहीं था। उसे अपना देव याद आया। उसने सोचा—

"मैं बचपन से ही इस देव की भक्तिपूर्वक पूजा करता आया। मैं समझता था कि यह देव सच्चा है। कठिनाई के समय मेरी रक्षा करेगा। परन्तु यह मेरा भ्रम ही रहा। इस भयंकर विपत्ति से भी यह मेरी रक्षा नहीं कर सका। अब मैं समझा कि यह देव नहीं, केवल काठ की मूर्ति ही है। इतने दिन मैंने इसकी पूजा कर के व्यर्थ ही कष्ट उठाया।"

अर्जुन का विचार और विपत्ति मुद्गरपाणि यक्ष ने जानी। वह तत्काल अर्जुन के शरीर में घुसा और बन्धन तोड़ डाले। सहस्र पल भार वाला लोहे का मुद्गर उठा कर छहों दुराचारियों और बन्धुमती पर झपटा और सातों को मार डाला।

नागरिकों पर संकट × राजा की घोषणा

यक्ष उन सातों को मार कर ही नहीं रुका, उसने प्रतिदिन छः पुरुष और एक स्त्री को मारने का नियम-सा बना लिया। उसने ऐसी धुन ही पकड़ ली। दोषी हो या निर्दोष, उसकी झपट में आया वह मारा गया। नगर के बाहर निकलना ही मृत्यु के सम्मुख जाने जैसा हो गया। यक्ष के बढ़ते हुए उपद्रव से महाराजा श्रेणिक भी चिंतित हो उठे। उन्होंने नगर में उद्घोषणा करवाई—

"नगरजनों! देव का प्रकोप है। तुम किसी भी कार्य के लिए नगर के बाहर मत निकलना। अर्जुन के शरीर में रहा हुआ देव, बाहर निकलने वाले को मार डालता है। सावधान रहो।"

भगवान् का आगमन × सुदर्शन का साहस

इस संकट-काल को चलते छः मास हो गये। उस समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का राजगृह के गुणशील उद्यान में पदार्पण हुआ। भगवान् का पदार्पण जान कर,

वन्दन करने जाने की इच्छा होने पर भी कोई भी नागरिक नहीं जा सका। सभी ने अपने-अपने घर रह कर ही वन्दना की। एक सुदर्शन सेठ ही साहसी निकला। उसे घर रह कर वन्दना करना उचित नहीं लगा। उसने सोचा—"घर बैठे भगवान् पधारे, फिर भी मैं समक्ष उपस्थित हो कर वन्दना-नमस्कार नहीं करूँ, प्रभु के वचनामृत का पान करने से वञ्चित रह जाऊँ ? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। मैं अवश्य जाऊँगा, भले ही यक्ष मुझे मार-डाले।"

सुदर्शन ने माता-पिता से आज्ञा माँगी। माता-पितादि ने रोकने का भरपूर प्रयत्न किया, किंतु दृढ़निश्चयी को कौन रोक सकता है ? विवश हो, माता-पिता को अनुमत होना पड़ा।

सुदर्शन के आत्म-बल से देव पराजित हुआ

साहसी वीर सुदर्शन श्रमणोपासक घर से निकला और धीरतापूर्वक राजमार्ग पर चलने लगा। लोग उसकी हँसी उड़ाते हुए परस्पर कहने लगे—"देखो, ये भक्तराज जा रहे हैं। जैसे राजगृह में केवल ये ही भगवान् के एक पक्के भक्त हों, और सब कच्चे। परन्तु जब अर्जुन पर दृष्टि पड़ेगी, तो नानी-दादी याद आ जायगी और मल-मूत्र निकल पड़ेगा।"

सुदर्शन का ध्यान भगवान् की ओर ही था, न कोई भय, न चिन्ता और न उद्वेग। वे ईर्यापथ देखते हुए अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते ही जा रहे थे।

अर्जुन के शरीरस्थ यक्ष ने सुदर्शन को देखा और क्रोधित हो कर मुद्गर उछालता और किलकारी करता सुदर्शन की ओर दौड़ा। सुदर्शन ने विपत्ति देखी। वह न भयभीत हो कर भागा और न चिन्तित हुआ। उसने अपना तात्कालिक कर्त्तव्य निर्धारित कर लिया। उसने वस्त्र से भूमि का प्रमार्जन किया और शान्तिपूर्वक भगवान् को वन्दना-नमस्कार कर के सागारी (सशर्त) संथारा कर लिया। उसने यही आगार रखा कि 'यदि यह उपसर्ग टल जायगा, तो मैं संथारा पाल कर पूर्व स्थिति प्राप्त कर लूँगा। अन्यथा जीवनपर्यंत संथारा रहेगा।"

मृत्यु का महाभय सन्निकट होते हुये भी सुदर्शन श्रमणोपासक कितना शांत, कितना निर्भय और आत्मा में धर्म-बल कितना अधिक ?? यक्ष ने मुद्गर का प्रहार करने को हाथ उठाया, परन्तु वह प्रहार नहीं कर सका। उसके हाथ अंतरिक्ष में ही थम गये। धर्मात्मा

के धर्मतेज की शांत प्रभा ने यक्ष के प्रकोप को शांत कर दिया। यक्ष चकित एवं हतप्रभ हो, सुदर्शन को चारों ओर से घूम कर देखने लगा। उसकी मारक शक्ति कुण्ठित हो गई। वह अर्जुन के शरीर से निकला और अपना मुद्गर ले कर चला गया। यक्ष के निकल जाने पर अर्जुन का शरीर भूमि पर गिर पड़ा।

अर्जुन अनगार की साधना और मुक्ति

अर्जुन को भूमि पर गिरा हुआ देख कर सुदर्शन श्रमणोपासक ने समझ लिया कि उपसर्ग टल गया है। उन्होंने अपना सागारी संथारा पाल लिया। अर्जुन कुछ समय मूर्च्छित रहने के पश्चात् स्वस्थ हो कर उठा और सुदर्शन को देख कर पूछा--

—"आप कौन हैं? कहाँ जा रहे हैं?"

—"मैं इसी नगर का निवासी सुदर्शन श्रमणोपासक हूँ और परम तारक श्रमण भगवान् महावीर प्रभु को वन्दन करने व धर्मोपदेश सुनने जा रहा हूँ"— सुदर्शन ने शांतिपूर्वक कहा।

—"महानुभाव! मैं भी भगवान् की वन्दना करने आपके साथ चलना चाहता हूँ"—अर्जुन ने कहा।

—"जैसी तुम्हारी इच्छा। उत्तम विचार हैं तुम्हारे।"--सुदर्शन ने कहा।

अर्जुन भी सुदर्शनजी के साथ भगवान् के समीप गये। वन्दना नमस्कार किया और भगवान् का परम-पावन उपदेश सुना। अर्जुन की आत्मा की भवस्थिति छः मास की ही शेष रही थी। भगवान् की वाणी से अर्जुन की आत्मा में ज्ञानदर्शन और चारित्र की ज्योति जगी। वे वहीं निर्ग्रंथ-दीक्षा ग्रहण कर तपस्या करने लगे। निरन्तर बेले-बेले तप करते रहने की उन्होंने प्रतिज्ञा की। वे प्रथम बेले के पारणे के दिन भगवान् की आज्ञा लेकर भिक्षा के लिये नगर में गये। उन्हें देख कर लोगों का क्रोध भड़का। कोई कहता--"यह मेरे पिता का हत्यारा है, कोई कहता माता का, कोई भाई, काका, मामा आदि का मारक मान कर गालियाँ देता, कोई चपेटा मारता, कोई घूँसा मारता, कोई लातें, ठोकरें मारते, कोई लकड़ी से पीटते, पत्थर मारते, धूल डालते। इस प्रकार कठोर वचन और मार-पीट कर अपना रोष व्यक्त करने लगे। परंतु अर्जुन अनगार पूर्णरूप से शांत रहते एवं क्षमा धारन कर सभी प्रकार के परीषह सहन करने लगे। उन्हें ऐसे रुष्ट लोगों

से आहार-पानी तो मिलता ही कैसे ? कभी किसी ने कुछ आहार दे दिया, तो पानी नहीं मिला, पानी मिला, तो आहार नहीं। वे सभी परीषह शांतिपूर्वक सहन करने लगे। इस प्रकार छः मास पर्यंत सहते हुए और निष्ठापूर्वक संयम-तप की आराधना करते हुए छः मास में ही समस्त बन्धनों को नष्ट कर सिद्ध भगवान् हो गए।

बाल-दीक्षित राजकुमार अतिमुक्त

पोलासपुर नगर के राजा विजय सेन के श्रीमती रानी से अतिमुक्त कुमार का जन्म हुआ था। बालकुमार लगभग ७ वर्ष के थे और बालकों के साथ खेलते-रमते सुखपूर्वक बढ़ रहे थे। उस समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पोलासपुर पधारे और श्रीवन उद्यान में बिराजे। गणधर महाराज गौतम स्वामी अपने बेले के पारणे के लिए भिक्षार्थ नगर की ओर चले। वे इन्द्रस्थान के (जहाँ राजकुमार बहुत से बालक-बालिकाओं के साथ खेल रहे थे) निकट हो कर निकले। अतिमुक्त कुमार की दृष्टि गणधर महाराज पर पड़ी। सद्य फलित होने वाले उपादान को उत्तम निमित्त मिल गया। राजकुमार गणधर भगवान् की ओर आकर्षित हुए और निकट आ कर पूछा—

"महात्मन् ! आप कौन हैं और किस प्रयोजन से कहाँ जा रहे हैं ?"

—"देव-प्रिय ! मैं श्रमण-निर्ग्रंथ हूँ। आत्म-कल्याण के लिये मैंने निर्ग्रंथ प्रव्रज्या अंगीकार की है। अहिंसादि पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, सत्रह प्रकार का संयम, रात्रि-भोजन त्याग आदि की आराधना करता और बेले-बेले तपस्या करता हुआ विचर रहा हूँ। आज मेरे बेले के तप का पारणा है, सो आहार के लिए जा रहा हूँ"—गौतम स्वामी ने कहा।

—"चलिये, मैं आपको भिक्षा दिलवाता हूँ"—कह कर राजकुमार ने गणधर महाराज के हाथ की अंगुली पकड़ ली और चलने लगा। गौतम स्वामी को ले कर कुमार राज्य-महालय में आया। गणधर महाराज को देख कर महारानी श्रीमती प्रसन्न हुई और आसन से उठ कर स्वागतार्थ आगे आई। गणधर भगवान् को वन्दना-नमस्कार किया, आहार-पानी वेहराया और आदर सहित विसर्जित किया।

राजकुमार ने गणधर महाराज से पूछा—"महात्मन् ! आपका घर कहाँ है, आप कहाँ रहते हैं ?"

—देवों के प्रिय ! मेरे धर्मगुरु धर्माचार्य परम तारक श्रमण भगवान् महावीर स्वामी इस नगरी के बाहर श्रीवन में विराजमान हैं। मैं वहीं रहता हूँ।"

—"भगवन् ! मैं भी आपके साथ भगवान् की वन्दना करने चलूं"—कुमार ने पूछा।

—"जैसी तुम्हारी इच्छा"—गणधर भगवान् ने कहा।

भगवान् के समीप पहुँच कर कुमार ने भगवान् को वन्दन-नमस्कार किया। भगवान् ने धर्मोपदेश दिया। भगवान् के उपदेश से राजकुमार अतिमुक्त के हृदय में वैराग्य जगा। उसने भगवान् को वन्दन-नमस्कार कर कहा—

"भगवन् ! आपके उपदेश पर मुझे श्रद्धा प्रतीति और रुचि हुई है। मैं माता-पिता को पूछ कर आपके समीप दीक्षित होना चाहता हूँ।"

"देवानुप्रिय ! तुम्हें सुख हो वैसा करो। आत्म-कल्याण करने में किसी प्रकार की बाधा नहीं आनी चाहिये"—भगवान् ने कहा।

राजकुमार ने माता-पिता के समीप आकर कहा—"आप की आज्ञा हो, तो मैं श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का शिष्यत्व ग्रहण कर धर्म की आराधना करूँ।"

—"अरे, पुत्र ! तुम क्या जानो, दीक्षा में और संयम में ? तुम बालक हो, अन-समझ हो। तुम धर्म में क्या समझ सकते हो"—माता-पिता ने पूछा।

—"मातुश्री ! मैं बालक तो हूँ, परंतु जिस वस्तु को जानता हूँ, उसे नहीं जानता और जिसे नहीं जानता, उसे जानता हूँ"—कुमार ने कहा।

"क्या कहा तुमने—पुत्र ! स्पष्ट कहो। हम तुम्हारी बात समझ नहीं पाये"—बालक की गूढ़ बात पर आश्चर्य करते हुए माता-पिता ने पूछा।

—"मैं यह तो जानता हूँ कि जिसने जन्म लिया है, वह अवश्य ही मरेगा, किंतु यह नहीं जानता कि वह कब, कहाँ और कैसे मरेगा। तथा मैं यह नहीं जानता कि किन कर्मों से जीव नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति में उत्पन्न होता है, परंतु यह अवश्य जानता हूँ कि जीव अपने ही कर्मों से उत्पन्न होता है। इसलिये हे माता-पिता ! मुझे अमर एवं अकर्मा बनने के लिये दीक्षित होने की अनुज्ञा प्रदान करें।"

पुत्र की बुद्धिमत्ता एवं वैराग्य पूर्ण बात सुन कर माता पिता चकित रह गए। उन्होंने संयमी-जीवन की कठोर साधना और उस में उत्पन्न होने वाले विघ्न-परीषहादि, का वर्णन करते हुए कहा कि इनका सहन करना अत्यंत कठिन है। लोहे के चने चबाने के समान है। इत्यादि अनेक प्रकार से समझा कर रोकने का प्रयत्न किया, परंतु पुत्र की

दृढ़ता के आगे उनकी नहीं चली और अनुमति देनी पड़ी। कुमार दीक्षित हो गये।

वर्षा काल था *। अतिमुक्त मुनि बाहर-भूमिका गये। उन्होंने बहते हुए छोटे-से नाले को देखा। बालसुलभ चेष्टा से मिट्टी की पाल बांध कर पानी रोका और अपना पात्र, पानी में तिरता छोड़ कर बोले—"मेरी नाव तिर रही है, यह मेरी नाव है।" बाल-मुनि की यह चेष्टा स्थविर मुनियों ने देखी। वे चुपचाप स्वस्थान आये और भगवान् से पूछा--"अतिमुक्त मुनि कितने भव कर के मुक्ति प्राप्त करेंगे ?"

भगवान् ने कहा—"अतिमुक्त मुनि इसी भव में मुक्त हो जावेंगे। तुम उसकी निन्दा-हीलना एवं उपेक्षा मत करो। उसे स्वीकार कर के शिक्षादि तथा आहारादि से सेवा करो।"

---

* यह प्रसंग भगवती सूत्र श. ५ उ. ४ में आया है।

टिप्पण—— अतिमुक्त कुमार की दीक्षा छः वर्ष की वय में होने का उल्लेख टीकाकार ने किया है और कहीं का यह प्राकृत अंश भी उद्धृत किया है—"**छव्वरिसो पव्वइओ णिग्गंथं रोइऊण पावयणंति।**"

अतिमुक्त मुनि की नौका तिराने की क्रिया बाल-स्वभाव के अनुसार खेल मात्र था। जल-प्रवाह देख कर उनके मनमें असंयमी अवस्था में खेले हुए अथवा देखे हुए खेल की स्मृति हो आई और वे अपनी संयमी अवस्था भूल कर खेलने लगे। मोहनीय कर्म के उदय का एक झोका था। इसने सयम भुला दिया। यह दशा प्रमाद से हुई थी। यह दूषित एवं असंयमी प्रवृत्ति तो थी ही। स्थविर सन्तों का इसे अनुचित एवं संयम-विघातक मानना योग्य ही था। परन्तु स्थविर मुनि कुछ आगे बढ़ गये। उन्होंने कदाचित् अतिमुक्त मुनि को बालक होने के कारण अयोग्य समझा होगा, उन्हें दी हुई दीक्षा को भी अयोग्य माना होगा और इस विषय में साधुओं में परस्पर बातें हुई होगी। इसीलिये भगवान् ने स्थविरों को निन्दा नहीं कर के सेवा करने की आज्ञा दी।

मैने कहीं पढ़ा है कि स्थण्डिल-भूमि से लौटने पर सन्तों से अपनी दूषित प्रवृत्ति की बात सुन कर अतिमुक्त श्रमण को अपनी इस करणी पर अत्यन्त खेद हुआ, खेद ही खेद में संयम-विशुद्धि का चिन्तन करते हुए एकाग्रता बढ़ी। धर्मध्यान से आगे बढ़ कर शुक्लध्यान में प्रवेश कर गए और वीतराग हो कर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गए।

उपरोक्त कथन पर शंका उत्पन्न होती है अतिमुक्त अनगार ने एकादशांग का अध्ययन किया था। इसमें भी समय लगा होगा और गुणरत्न-सम्वत्सर तप में १६ मास लगते हैं। यह तप भी बाल और किशोर-वय व्यतीत होने के बाद किया होगा। अतएव नौका तिराने के दुष्कृत्य की आलोचना करते हुए श्रेणी चढ़ कर केवलज्ञान प्राप्त कर लेने की बात समझ में नहीं आती।

भगवान् की आज्ञा स्वीकार कर स्थविर श्रमण अतिमुक्त मुनि की सेवा करने लगे।

अतिमुक्त अनगार ने एकादशांग श्रुत का अध्ययन किया, गुणरत्न-सम्वत्सर तथा अनेक प्रकार के तप किये और समस्त कर्मों को नष्ट कर सिद्धगति को प्राप्त हुए।

अंतगडसूत्र ६—१५)

उग्र तपस्वी धन्य अनगार

काकंदी नगरी में 'भद्रा' नामकी सार्थवाही रहती थी। वह ऋद्धि सम्पत्ति और धन-धान्यादि में परिपूर्ण थी, प्रभावशालिनी थी और अन्य लोगों के लिए आधारभूत थी। धन्यकुमार उसका पुत्र था। वह बत्तीस पत्नियों के साथ उच्च प्रकार के सुखोपभोग में मनुष्य-भव व्यतीत कर रहा था। श्रमण भगवान् महावीर प्रभु पधारे। धन्यकुमार भी वन्दन करने गया। भगवान् का धर्मोपदेश सुन कर धन्य संसार से विरक्त हो गया। माता से अनुमति प्रदान करने की याचना की। पुत्र की बात सुन कर माता मूच्छित हो गई। सावचेत होने पर पुत्र को रोकने का प्रयत्न किया, परन्तु निष्फल रही। माता को विवश होकर अनुमति देनी पड़ी। माता भद्रा बहुमूल्य भेंट ले कर अपने सम्बन्धियों के साथ जितशत्रु नरेश की सेवामें गई और अपने पुत्र के दीक्षा-महोत्सव में छत्र-चामर आदि प्रदान करने की प्रार्थना की। राजा ने उसके भवन आ कर स्वयं दीक्षा-महोत्सव करने का आश्वासन देकर भद्रा को विसर्जित किया। धन्य-श्रेष्ठि भगवान् से निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या ले कर अनगार बनगए। दीक्षित होते ही धन्य अनगार ने भगवान् की आज्ञा ले कर यह प्रतिज्ञा की कि—

"मैं आज से ही जीवनपर्यंत निरन्तर बेले-बेले तपस्या करता रहूँगा और बेले के पारणे के दिन आयम्बिल तप करूँगा। आयम्बिल का आहार भी मैं उसी से लूंगा, जिसके हाथ दिये जाने वाले आहार से लिप्त होगा और वह आहार भी 'उज्झित धर्मा' = फेंकने के के योग्य होगा, * जिसे कोई श्रमण या भिखारी भी लेना नहीं चाहता हो। ऐसा फेंकने योग्य आहार ही लूंगा।"

कहाँ कोट्याधिपति धन्य-श्रेष्ठि का, राजा-महाराजाओं के समान उच्च भोगमय जीवन और कहाँ यह कठोरतम साधना ? एक ही दिन में कितना परिवर्त्तन ? अपने-

* जैसे—चावल, खिचड़ी आदि पकाये हुए बरतन में अग्नि से जल कर या कड़े—कठोर बन कर चिपक जाते हैं, जिन्हें खुरच कर फेंक दिया जाता है। जली हुई रोटी आदि भी उज्झित है।

आपको तप की दाहक भट्टी में झोंक दिया। वे आभ्यन्तर धुनी जला कर कर्म-काष्ठ का दहन करने के लिए तत्पर हो गए।

धन्य अनगार पारणे के लिए भिक्षार्थ निकलते हैं, परंतु उन्हें कभी खाली--बिना आहार लिये ही लौटना पड़ता है और कभी कठिनाई से मिलता है। वे निश्चित गली--मुहल्ले में एक बार निकलते, मिलता तो ले लेते, नहीं तो लौट आते। साधारणतया आहार प्राप्ति में इतनी कठिनाई नहीं होती, परंतु जब तपस्वी संत किसी अभिग्रह विशेष से युक्त हो कर निकलते हैं, तब कठिनाई होती है और कभी नहीं भी मिलता। धन्य अनगार के प्रतिज्ञा थी। वे वही आहार ले सकते थे, जो फेंकने योग्य होता और दाता के हाथ लिप्त होते। ऐसा योग मिलना सहज नहीं होता। ऐसे आहार के लिये वे रुक कर प्रतीक्षा नहीं करते थे।

धन्य अनगार की तपस्या चलती रही और कर्मकाष्ठ के साथ शरीर का रक्त-मांस सूखता रहा। होते-होते चर्माच्छादित हड्डियों का ढाँचा रह गया--हड्डियाँ नसें और चमड़ी। उठना-बैठना कठिन हो गया। हिलने-डुलने से हड्डियाँ परस्पर टकरा कर खड़-खड़ाहट की ध्वनि करने लगी। शरीर की शोभा घटी, परंतु मुखकमल पर तप के तेज की शान्त-प्रशान्त शोभा बढ़ गई।

भगवान् द्वारा प्रशंसित

एकबार मगधेश महाराजा श्रेणिक ने भगवान् से पूछा;--

"प्रभो ! आपके चौदह हजार शिष्यों में अत्यन्त दुष्कर साधना करने वाले संत कौन हैं?"

--"श्रेणिक ! इन्द्रभूति आदि सभी संत तप-संयम का यथायोग्य पालन करते हैं। परन्तु इन सब में धन्य अनगार महान् दुष्कर करनी करते हैं।" भगवान् ने धन्य अनगार के भोगीजीवन और त्यागी-जीवन का परिचय दिया।

महाराजा श्रेणिक धन्य अनगार के निकट आये। वन्दना-नमस्कार किया और तपस्वीराज की प्रशंसा एवं अनुमोदना करते हुए वन्दना-नमस्कार कर चले गये। धन्य अनगार ने नौ मास तक संयम पाला और विपुलाचल पर एक मास का संथारा पाला! आयु पूर्ण कर वे सर्वार्थसिद्ध महाविमान में देव हुए। वहाँ की तेतीस सागरोपम की स्थिति पूर्ण कर महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य होंगे और चारित्र का पालन कर मुक्त हो जावेंगे।

पापपुंज मृगापुत्र की पाप-कथा

'मृग' नगर के 'विजय' नरेश की 'मृगावती' रानी की उदर से जन्मा मृगापुत्र जन्म से ही अन्धा, बधिर, मूक, पंगु और अनेक प्रकार की व्याधियों का भाजन था। उसके न हाथ थे, न पांव, कान-आंख और नाक भी नहीं थे। अंगोपांग की आकृति मात्र थी। रानी उस पुत्र का गुप्त रूप से भूमिघर में पालन-पोषण करती थी।

उस नगर में एक जन्मान्ध पुरुष रहता था। वह एक सूझते हुए मनुष्य की लकड़ी थाम कर उसके पीछे-पीछे चल कर भिक्षा माँग कर उदर पूर्ति करता था।

श्रमण भगवान् महावीर स्वामी मृग नगर पधारे। विजय नरेश और नागरिकजन भगवान् की वन्दना करने एवं धर्मोपदेश सुनने के लिए चन्दनपादप उद्यान में जाने लगे। लोगों की हलचल एवं कोलाहल सुन कर अन्ध-मनुष्य ने अपने दण्डधर सूझते मनुष्य से कारण पूछा। उसने कहा--'नगर के बाहर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पधारे हैं, ये सभी लोग भगवान् की वन्दना करने जा रहे हैं।' यह सुन कर अन्धे ने कहा—"चलो अपन भी भगवान् की वन्दना एवं पर्युपासना करने चलें।" वे भी भगवान् के समवसरण में गये, वन्दना की और धर्मोपदेश सुना।

गौतम स्वामी मृगापुत्र को देखने जाते हैं

उस अन्ध पुरुष को गौतम स्वामी ने भी देखा। सभा विसर्जित होने के पश्चात् गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा;--

"भगवन्! कोई ऐसा पुरुष भी है जो जन्मान्ध एवं जन्मान्धरूप है?"

--"हां, गौतम! है।"

--"कहाँ है--भगवन्! ऐसा जन्मान्ध पुरुष?"

--"गौतम! इसी नगर के राजा का पुत्र जन्मान्धादि है।"

—"भगवन्! यदि आपकी आज्ञा हो, तो मैं उस जन्मान्ध को देखना चाहता हूँ"—गौतम स्वामी ने इच्छा प्रदर्शित की।

—"जैसा तुम्हें सुख हो वैसा करो"--भगवान् ने अनुमति दी।

गणधर भगवान् गौतम स्वामी राजमहालय में आये। मृगावती देवी गणधर भगवान् को देख कर प्रसन्न हुई, आसन से उठ कर सामने आई और वन्दना-नमस्कार कर के आगमन का प्रयोजन पूछा। गणधर महाराज ने कहा—"मैं तुम्हारा पुत्र देखने आया हूँ।" अपने चार पुत्रों को वस्त्राभूषण से अलंकृत कर महारानी गणधर भगवान् के समक्ष लाई। महर्षि ने उन्हें देख कर कहा--

"नहीं, देवानुप्रिये। मैं तुम्हारे इन पुत्रों को देखने नहीं आया हूँ। तुम्हारा ज्येष्ठ पुत्र जो जन्मान्ध-बधिर आदि है, जिसे तुमने गुप्त रूप से भू-घर में रखा है, उसे देखने आया हूँ"--गौतम भगवान् ने कहा।

—"महात्मन्! ऐसा कौन ज्ञानी, तपस्वी है, जिसने मेरा यह रहस्य जान लिया" —महारानी को भेद खुलने का आश्चर्य हो रहा था।

—"देवानुप्रिये! मेरे धर्मगुरु धर्माचार्य श्रमण भगवान् महावीर प्रभु परम ज्ञानी सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हैं। वे भूत-भविष्य और वर्त्तमान के सभी भावों को पूर्णरूप से जानते-देखते हैं। उनसे सुन कर मैं उसे देखने यहाँ आया हूँ"—गौतम स्वामी ने कहा।

"भगवन्! आप थोड़ी देर यहाँ ठहरिये। मैं अभी आपको मेरा ज्येष्ठ पुत्र दिखाती हूँ"—कह कर महारानी गई और शीघ्र ही भोजनादि से लदी एक गाड़ी (ठेला) लिये हुए आई और गौतम स्वामी से बोली—"आइये मेरे पीछे।" गौतम स्वामी महारानी के पीछे चलने लगे। भूमिघर-द्वार के निकट पहुँच कर महारानी ने चार पट वाले वस्त्र से मुँह-नाक बांधा और गौतम स्वामी से कहा—"भगवन्! आप मुँहपत्ती से मुँह बाँध लीजिये, दुर्गंध आएगी ×। तत्पश्चात् रानी ने मुँह फिराकर भूघर का द्वार खोला। द्वार खुलते ही दुर्गंधमय वायु निकली। वह गंध, मरे और सड़े हुए सर्प, गाय आदि पशुओं की अनिष्टतर दुर्गन्ध जैसी थी। मृगावती देवी के पीछे गौतम स्वामी ने भी भूमि घर में प्रवेश किया। और उस पुत्र को देखा।

× मुंह बांधने का कारण दुर्गन्ध से बचने का है। इसके लिये मुंह और नाक दोनों बांधे जाते हैं। गन्ध के पुद्गल नासिका के सिवाय मुँह में प्रवेश कर पेट में भी पहुँच जाते हैं। इससे बचाव करने के लिए डॉक्टर भी मुंह और नाक पर पट्टी बांधते हैं। इस सम्बंधी मूलपाठ में आगे लिखा है कि--"**तएणं सा मियादेवी परंमुही भूमीघरस्स दुवारं विहाडेति। तएणं गंधो णिगच्छइ।**" अर्थात् मृगावतीदेवी ने मुंह फिराकर भूमिघर का द्वार खोला और उसमें से गन्ध निकली। वस्तुतः इस दुर्गन्ध से बचने के लिये मृगावती ने मुंह बांधने का कहा था, जिसमें नासिका तो मुख्यतः बांधनी ही थी। नासिका, कान और आँखे मुंह पर ही है। इसलिए मुंह कहने से सब का ग्रहण हो गया।

मृगादेवी का लाया हुआ आहार उस क्षुधातुर मृगापुत्र ने खाया। पेट में जाते ही वह कुपथ्य होकर रक्त-पीप आदि में परिणत हो गया और वमन से निकल गया। वमन हुए उस रक्त-पीपमय आहार को वह पुनः खाने लगा। गणधर भगवान् को, वह बीभत्स दृश्य देख कर विचार हुआ—"अहो, यह बालक पूर्वभव के गाढ़ पाप-बन्धनों का नारक जैसा दुःखमय विपाक भोग रहा है!"

मृगापुत्र का पूर्वभव

गौतम भगवान् राज-भवन से निकल कर भगवान् के निकट आये और वन्दना-नमस्कार कर पूछा--"भगवन्! उस बालक ने पूर्वभव में ऐसा कौन-सा पाप किया था, जिसका नारकवत् कटु विपाक यहाँ भोग रहा है?"

"गौतम! इस भरत क्षेत्र में 'शतद्वार' नगर था। 'धनपति' वहाँ का राजा था। इस नगर के दक्षिणपूर्व में 'विजयवर्धमान' नाम का खेट (नदी और पर्वत के बीच की वस्ती) था। उसके अधीन पांच सौ गाँव थे। उस खेट का अतिपति 'एकाई' नामक राष्ट्रकूट--(राजा का प्रतिनिधि) था। वह महान् अधार्मिक क्रूर और पापमय जीवन वाला था। उसने अपने अधीन ५०० ग्रामों पर भारी कर लगाया था। अनेक प्रकार के करों को कठोरता पूर्वक प्राप्त करने के लिये वह प्रजा को पीड़ित करता रहता था। वह उग्र स्वभावी अधिकारी, लोगों को वात-वात में कठोर दण्ड देता, झूठे आरोप लगाकर मारता-पीटता और वध कर देता था। वह लोगों का धन लूट लेता, चोरों से लुटवाता, पथिकों को लुटवाता, मरवाता, वह झूठ, बोलकर बदलने वाला अत्यंत दुराचारी था। उसने पाप कर्मों का बहुत उपार्जन किया। उसके शरीर में सोलह महारोग उत्पन्न हुए, बहुत उपचार कराया, परंतु कोई लाभ नहीं हुआ। वह मर कर प्रथम नरक में उत्पन्न हुआ। वहां का आयु पूर्ण कर यहाँ मनुष्य-भव में भी दुःख भोग रहा है।

पापी गर्भ का माता पर कुप्रभाव

जिस दिन मृगावती देवी की कुक्षी में यह उत्पन्न हुआ, उसी दिन से रानी, पति को अप्रिय हो गई। रानी की ओर राजा देखता भी नहीं था। इस गर्भ के कारण रानी की पीड़ा भी बढ़ गई। रानी समझ गई कि पति की अप्रसन्नता और मेरी पीड़ा का एक मात्र कारण यह पापी जीव ही है। उसने उस गर्भ के गिराने का प्रयत्न किया, परंतु वह

नहीं गिरा। बड़ी कठिनाई से प्रसव हुआ। रानी ने जब पुत्र को जन्मान्ध आदि देखा, तो धात्रीमाता को उसे फेंक आने का आदेश दिया। धात्री ने राजा से कहा। राजा ने आ कर रानी से कहा--"यदि तुम इस प्रथम पुत्र को फिकवा दोगी, तो बाद में तुम्हारे होने वाले गर्भ स्थिर नहीं रहेंगे। इसलिये इसका गुप्त रूप से भूघर में पालन करो।" यही वह पुत्र है। यहाँ छब्बीस वर्ष की आयु में मर कर सिंह होगा। तदनन्तर नरक-तिर्यञ्च के भव करता हुआ लाखों भवों तक जन्म-मरणादि दुःख भोगता रहेगा। अन्त में मनुष्य-भव में साधना कर के मुक्ति प्राप्त करेगा।"

लेप गाथापति

राजगृह नगर के नालन्दा उपनगर में 'लेप' नाम का एक महान् सम्पत्तिशाली गाथापति रहता था। वह धन-वैभव और सामर्थ्य में बढ़ाचढ़ा था। उसका व्यापार बढ़ा हुआ था। दास-दासी भी बहुत थे। प्रचुरमात्रा में उसके यहाँ भोजन बनता था। पशुधन भी प्रचुर था। बहुत-से लोग मिल कर भी उसे डिगा नहीं सकते थे। धर्म-धन से भी वह धनवान् था। निर्ग्रंथ-प्रवचन में उसकी परिपूर्ण श्रद्धा थी। कोई पूछता तो वह निर्ग्रंथ-प्रवचन को ही अर्थ-परमार्थ कहता था शेष सभी को अनर्थ बताता था। श्रावक के व्रतों का वह निष्ठापूर्वक पालन करता था। अष्टमी चतुर्दशी और पक्खी पर्व पर वह परिपूर्ण पौषध करता था। निर्ग्रंथ-धर्म उसके रक्त-मांस ही नहीं, अस्थि और मज्जा तक व्याप्त था। धर्म-प्रेम से वह अनुरक्त रहता था। वह जीव-अजीवादि तत्त्वों का ज्ञाता ही नहीं, रहस्यों का भी वह ज्ञाता था। उसके विशुद्ध चरित्र की जनता पर छाप थी। वह सभी के लिये विश्वास का केन्द्र था।

लेप गाथापति के नालन्दा के बाहर ईशान कोण में 'शेषद्रव्या' नामक उदकशाला (जलगृह) थी, जो अनेक स्तंभों आदि से भव्य तथा दर्शनीय थी। उस उदकशाला के निकट 'हस्तियाम' नामक उपवन था।

गौतम स्वामी और उदक पेढालपुत्र अनगार

हस्तियाम उपवन के किसी गृहप्रदेश में भगवान् गौतम स्वामी विराजमान थे। उस समय भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी के सन्तानीय मेदार्य-गोत्रीय 'उदक पेढाल पुत्र' नामक निर्ग्रंथ, गौतम भगवान् के निकट आये और पूछा;--

प्रश्न--"आयुष्मन् गौतम! आपके प्रवचन के अनुयायी 'कुमारपुत्र' नामक अनगार, श्रावकों को जो त्रस-प्राणियों की घात का प्रत्याख्यान कराते हैं, वह दुष्प्रत्याख्यान

है। इस प्रकार प्रत्याख्यान करने वाले अपनी प्रतिज्ञा का पालन नहीं कर सकते।

क्यों नहीं कर सकते ? इसलिये कि प्राणी परिवर्त्तनशील है। त्रस जीव मर कर स्थावर में उत्पन्न हो जाता है और जो त्रस-पर्याय में हिंसा से बचा था, वही जीव स्थावर-पर्याय प्राप्त कर हिंसा का विषय बन जाता है। जिस जीव की हिंसा का त्याग किया था, उसी की हिंसा वह श्रावक कर देता है। इस प्रकार उसका त्याग भंग हो जाता है।

यदि प्रत्याख्यान में "त्रसभूत" जीव की घात का त्याग कराया जाय, तो सुप्रत्याख्यान होता है, क्योंकि स्थावरकाय में उत्पन्न होने पर वह जीव त्रसभूत नहीं रह कर "स्थावरभूत" हो जाता है।"

(अर्थात् 'त्रस' के साथ 'भूत' शब्द लगाने से सुप्रत्याख्यान होते हैं)

भगवान् गौतम ने उत्तर दिया—"आपका कथन उपयुक्त नहीं है। क्योंकि जीव स्थावरकाय से मर कर, त्रसकाय में भी उत्पन्न होते हैं. वे पहले हिंसा की विरति से बाह्य थे, वे त्रस होने पर विरति का विषय हो जाते हैं और हिंसा से बच जाते हैं।

दूसरी बात यह है कि 'त्रस' और 'त्रसभूत' शब्द एकार्थक है। दोनों शब्दों का विषय त्रस-पर्याय ही है, फिर 'भूत' शब्द बढ़ा कर सरल को क्लिष्ट क्यों करना ?

शुद्ध शब्द 'त्रस' को अशुद्ध मान कर बुरा और 'त्रसभूत' को शुद्ध मान कर अच्छा कहने का कोई औचित्य नहीं है।

त्रस जीव, जबतक 'त्रस नामकर्म' और 'त्रस आयु' का उदय हो, तभी तक वह त्रस है, 'स्थावर नामकर्म' और आयु का उदय होने पर वह तद्रूप हो जाता है—त्रस नहीं रहता। अतएव प्रत्याख्यान कराने में कोई दोष नहीं है।"

कुछ चर्चा होने पर उदकपेढाल पुत्र अनगार समझ गये। उन्होंने गौतमस्वामी को वन्दना-नमस्कार किया और चार याम धर्म से पाँच महाव्रत धर्म अंगीकार करने की इच्छा व्यक्त की। गौतम स्वामी उदकपेढालपुत्र अनगार को ले कर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के समीप आये। उदकपेढालपुत्र अनगार ने भगवान् को वन्दन-नमस्कार किया, पांच महाव्रत और सप्रतिक्रमण धर्म स्वीकार कर संयम का पालन करने लगे। (सूत्रकृतांग २-७)

स्थविर भगवान् की कालास्यवेषिपुत्र अनगार से चर्चा

भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी के शिष्यानुशिष्य कालास्यवेषिपुत्र अनगार एकदा स्थविर भगवंत के समीप आये और बोले—

"आप न तो सामायिक जानते हैं और न सामायिक का अर्थ जानते हैं। इसी

प्रकार प्रत्याख्यान, इसका अर्थ तथा संयम, संवर, विवेक और व्युत्सर्ग भी नहीं जानते हैं और न इनका अर्थ ही जानते हैं।"

स्थविर—"हम सामायिक आदि का अर्थ जानते हैं।"

काला—"बताइये क्या अर्थ है-- इनका।"

स्थविर—"आत्मा ही सामायिक है और आत्मा ही सामायिक का अर्थ है। इसी प्रकार प्रत्याख्यानादि और इनका अर्थ भी आत्मा ही है।"

काला—"आर्य ! यदि आत्मा ही सामायिक प्रत्याख्यानादि और इनका अर्थ है, तो फिर आप क्रोध, मान, माया और लोभ का त्याग कर के इन क्रोधादि की निन्दा-गर्हा क्यों करते हो ?"

स्थ०—"हम संयमित रहने के लिए क्रोधादि की गर्हा करते हैं।

काला--"गर्हा संयम है या अगर्हा ?"

स्थ०--"गर्हा संयम है, अगर्हा नहीं। क्योंकि यह आत्मिक दोषों को नष्ट करती है और हमारी आत्मा संयम में स्थिर एवं पुष्ट रहती है।

कालास्यवेषित पुत्र अनगार समझे और चार याम से पाँच महाव्रत सप्रतिक्रमण धर्मस्वीकार किया। तप-संयम की आराधना कर मुक्त हो गये। (भगवती १-९)

गांगेय अनगार ने भगवान् की सर्वज्ञता की परीक्षा की

श्रमण भगवान् महावीर प्रभु वाणिज्य ग्राम के दुतिपलास उद्यान में विराज रहे थे। भगवान् पार्श्वनाथजी के शिष्यानुशिष्य गांगेय अनगार आये और निकट खड़े रह कर प्रश्न पूछने लगे। उन्हें भगवान् की सर्वज्ञ-सर्वदर्शिता में सन्देह था। उन्होंने नेरयिकादि जीवों के उत्पन्न होने, मरने (प्रवेशनक उद्वर्त्तन) आदि विषयक जटिल प्रश्न पूछे, जिसके उत्तर भगवान् ने विना रुके दिये। भगवान् के उत्तर से गांगेय अनगार को भगवान् की सर्वज्ञता पर श्रद्धा हुई। उन्होंने भगवान् को वन्दना-नमस्कार किया, चतुर्याम धर्म से पंचमहाव्रत स्वीकार कर और चारित्र का पालन कर के मुक्त हो गये। (भगवती ९-३२)

सोमिल ब्राह्मण का भगवद्वन्दन

भगवान् वाणिज्य ग्राम पधारे। वहाँ के वेदपाठी ब्राह्मण सोमिल ने भगवान् का आगमन सुना। उसने मन में निश्चय किया कि मैं श्रमण ज्ञातपुत्र के समीप जाऊँ और

प्रश्न पूछूं। यदि वे मेरे प्रश्नों का यथार्थ उत्तर देंगे, तो मैं उन्हें वन्दन-नमस्कार करूँगा। और वे उत्तर नहीं दे सकेंगे, तो मैं उन्हें निरुत्तर करूँगा। इस प्रकार विचार कर अपने एक सौ शिष्यों के साथ आया। भगवान् से अपने प्रश्नों का यथार्थ उत्तर पा कर वह संतुष्ट हुआ‡ और भगवान् का उपासक हो गया। (भगवती १८-१०)

नौ गणधरों की मुक्ति

श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के नौ गणधर—१ श्री अग्निभूतिजी २ वायुभूतिजी ३ व्यक्तजी, ४ मंडितपुत्रजी, ५ मौर्यपुत्रजी, ६ अकम्पितजी, ७ अचलभ्राताजी, ८ मेतार्यजी और ९ प्रभासजी, मुक्ति प्राप्त कर चुके थे। अब श्री इन्द्रभूतिजी और सुधर्मस्वामीजी ये दो गणधर शेष रहे थे।

भविष्यवाणी

दुःषम काल का स्वरूप

गणधर भगवान् इन्द्रभूतिजी ने भगवान् से पूछा--"भगवन् ! भविष्य में होने वाले दुःषम और दुःषमादुषम काल में भरत क्षेत्र में किस प्रकार के भाव वर्तेंगे ?"

--"हे गौतम ! मेरे निर्वाण के तीन वर्ष और साढ़े आठ मास पश्चात् पाँचवाँ 'दुःषम काल' प्रारम्भ होगा।

तीर्थंकर की विद्यमानता में ग्रामों और नगरों से व्याप्त भूमि धन-धान्यादि से परिपूर्ण समृद्ध स्वर्ग के समान होती है। ग्राम नगर के समान, नगर स्वर्गपुरी जैसे, कुटुम्बी—गृहपति—राजा जैसे, राजा कुबेर जैसे, आचार्य चन्द्रमा के समान, पिता देवतुल्य, सासुएँ माता जैसी और ससुर पिता तुल्य होते हैं। लोग सत्य, शीलवंत, विनीत, धर्म-अधर्म के ज्ञाता, देव-गुरु पर भक्तिवंत, स्वपत्नी में संतुष्ट होते हैं। उनमें विद्या विज्ञान और

‡ इसका वर्णन इसी पुस्तक के पृ. ८५ से हुआ है।

कुलीनता होती है। उस समय राज्यों में परस्पर विग्रह, दुष्काल और चोर-डाकुओं का भय नहीं होता। प्रजा पर राजा नये कर नहीं लगाता। ऐसे सुखमय समय में भी अरिहंत की भक्ति से अनभिज्ञ और विपरीत वृत्तिवाले कुतीर्थियों से मुनियों को उपसर्ग होते हैं और दस आश्चर्य भी हुए हैं, तो तीर्थंकरों के अभाव वाले पाँचवें आरे का तो कहना ही क्या है?

लोग कषाय से नष्ट हुई धर्मबुद्धि वाले होंगे, वाड़-रहित खेत के समान मर्यादा-रहित होंगे। ज्यों-ज्यों काल व्यतीत होता जायगा, त्यों-त्यों लोग कुतीर्थियों के प्रभाव में आते रहेंगे और अहिंसादि धर्म से विमुख रहेंगे। गाँव श्मशान जैसे और नगर प्रेतलोक जैसे होंगे। कुटुम्बीजन दास तुल्य और राजा यमदण्ड के समान होंगे। राजागण लुब्ध हो कर अपने सेवकों का निग्रह करेंगे और सेवकजन स्वजनों को लूटेंगे। 'मत्स्यगलागल' न्यायानुसार बड़ा-छोटे को लूट कर अपना घर भरेगा। अंतिम स्थान वाले मध्य स्थान में आवेंगे, और मध्य में होंगे, वे अन्तस्थानीय बन जावेंगे। सभी देश अस्थिर हो जावेंगे। चोर लोग चोरी कर के, राजा कर लगा कर और अधिकारी लोग घूस (रिश्वत) से प्रजा को लूटते रहेंगे। लोग परार्थ से विमुख स्वार्थ में तत्पर, सत्य, दया, लज्जा और दाक्षिण्यतादि गुणों से रहित होंगे और स्वजनों के विरोधी होंगे। शिष्य, गुरु की आराधना नहीं करेंगे और गुरु भी शिष्य-भाव से रहित होंगे। शिष्य को गुरु श्रुतज्ञान नहीं देंगे। क्रमशः गुरु-कुलवास बंद हो जायगा। धर्म में उनकी बुद्धि मन्द हो जायगी। प्राणियों की अधिकता से पृथ्वी आकुल (व्याप्त) रहेगी। देव-देवी परोक्ष हो जावेंगे। पुत्र पिता की अवज्ञा करेंगे, वहुएँ सर्पिणी के समान और सास कालरात्रि के समान होगी। कुलीन स्त्रियें निर्लज्ज होकर दृष्टि-विकार, हास्य, आलाप आदि चेष्टाओं से वेश्या के समान लगेगी। श्रावक-श्राविका-संघ क्षीण होता जायगा। ज्ञानादि एवं दानादि चतुर्विध धर्म क्षय होता जायगा। तोल-नाप खोटे होंगे, धर्म में भी कूड़-कपट चलाया जावेगा। सदाचारी दुखी और दुराचारी सुखी होंगे। मणि, मन्त्र, तन्त्र, औषधी, विज्ञान, धन, आयुष्य, पुष्प, फल, रस, रूप, शरीर की ऊँचाई और धर्म आदि शुभ भावों की प्रतिदिन हानि होती रहेगी।

इस प्रकार पुण्य के क्षय वाले काल में भी जिसकी बुद्धि धर्म में रहेगी, उसका जीवन सफल होगा। इस दुःषम नाम के पाँचवें काल में श्रमण-परम्परा में अन्तिम 'दुःप्पसह' नाम वाले आचार्य होंगे, 'फल्गुश्री' साध्वी, 'नागिल' श्रावक और 'सत्यश्री' श्राविका होगी। 'विमलवाहन' राजा और 'संमुख' मन्त्री होगा। शरीर दो हाथ लम्बा और उत्कृष्ट आयु वीस वर्ष की होगी। तपस्या अधिक से अधिक वेले तक की हो सकेगी। उस समय दशवैकालिक सूत्र के ज्ञाता, चौदह पूर्वधर जैसे माने जावेंगे। ऐसे मुनि दुःप्रसह

आचार्य तक होंगे और संघ को उपदेश देंगे। दुःप्रसह आचार्य तक संघ रूप तीर्थ रहेगा। ये आचार्य बारह वर्ष की अवस्था में दीक्षित होंगे, आठ वर्ष चारित्र पालन कर तेले के तप सहित काल कर के सौधर्म स्वर्ग में उत्पन्न होंगे। उस दिन पूर्वान्ह में चारित्र का विच्छेद, मध्यान्ह में राजधर्म का लोप और अपरान्ह में अग्नि नष्ट हो जायगी।

इस प्रकार इक्कीस हजार वर्ष की स्थिति वाला पाँचवाँ आरा पूरा होगा।

दुःषम-दुःषमकाल का स्वरूप

दुःषमकाल समाप्त होते ही इक्कीस हजार वर्ष की स्थिति वाला 'दुःषम-दुषमा' नामक छठा आरा प्रारम्भ होगा। प्रारम्भ से ही धर्म और न्याय-नीति नहीं रहने के कारण सर्वत्र अशांति और हा-हाकार मचा रहेगा। मनुष्यों में पशुओं के समान माता-पुत्र आदि व्यवहार नहीं रहेगा। दिन-रात धूलियुवत कठोर वायु चलती रहेगी। दिशाएँ धूम्र वर्ण वाली होने के कारण भयंकर लगेगी। सूर्य में अत्यन्त उष्णता और चन्द्र में अत्यन्त शीतलता होगी। अत्यन्त शीत और अत्यन्त उष्णता के कारण उस समय के मनुष्य अत्यन्त दुःखी रहेंगे। उस समय विरस बने हुए बादलों से क्षार, अम्ल, विष, अग्नि और वज्रमय वर्षा होगी, जिससे मनुष्यों में कास, श्वास, शूल, कुष्ट, जलोदर, ज्वर आदि अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होंगे। जलचर, स्थलचर और नभचर तिर्यंच भी अति दुःखी होंगे। क्षेत्र, वन, आराम, लता, वृक्ष और घास नष्ट हो जावेंगे। वैताढ्य गिरि, ऋषभकूट और गंगा तथा सिंधु नदी के अतिरिक्त अन्य सभी पर्वत, खान और नदियें नष्ट हो कर सम हो जायगी। भूमि अंगारे के समान उष्ण राख जैसी होगी, कहीं अत्यधिक धूल तो कहीं अत्यधिक दलदल (कीचड़) होगा।

मनुष्यों के शरीर कुरूप, अनिष्ट स्पर्श और दुर्गन्ध युक्त होंगे। अवगाहना एक हाथ प्रमाण होगी। उनकी वाणी कर्कश, निष्ठुर एवं कर्णकटु होगी। वे वैर-विरोधी, क्रोधी, मायी, लोभी, रोगी, चपटी नाक वाले, वस्त्र रहित और निर्लज्ज होंगे। वे वढ़े हुए नख-केश वाले, श्वेत-पीत केश वाले, कुलक्षणे भयंकर मुख वाले, अति खुजलाने से फटी हुई चमड़ी वाले और कुसंहनन वाले होंगे। वे सम्यक्त्व से प्रायः भ्रष्ट होंगे। पुरुषों की आयु बीस वर्ष और स्त्रियों की सोलह वर्ष होगी। स्त्री छः वर्ष की वय में गर्भ धारण करेगी और प्रसव अत्यन्त दुःख पूर्वक होगा। वह सोलह वर्ष की आयु में बहुत-से पुत्र-पुत्रियों की माता हो कर वृद्धा हो जायगी। उस समय मनुष्य वैताढ्य गिरि के नीचे बिलों में रहेंगे। गंगा

और सिन्धु नदी के तट पर वैताढ्य पर्वत के दोनों ओर नौ-नौ बिल हैं, कुल बहत्तर बिल हैं। इन बिलों में मनुष्य रहेंगे और तिर्यंच जाति तो बीज रूप रहेगी।

उस विषम काल में मनुष्य और पशु मांसाहारी, क्रूर और विवेकहीन होंगे। गंगा और सिन्धु नदी का पानी मच्छ-कच्छपादि से भरपूर होगा और रथ के पहिये की धूरी तक पहुँचे जितना ऊँडा होगा। रात के समय मनुष्य पानी में से मच्छ-कच्छप निकाल कर स्थल पर दवा रख देंगे। वे दिन के सूर्य के ताप से पक जावेंगे, उनका वे मनुष्य रात्रि के समय भक्षण करेंगे। यही उनका आहार होगा। उस समय दूध-दही आदि और पत्र-पुष्फ-फलादि तो होंगे ही नहीं और न ओढ़ना-बिछौना आदि होगा। वे मनुष्य मर कर प्रायः नरक तिर्यंच होंगे।

यह स्थिति इस लोक के पाँचों भरत और पांचों एरवत क्षेत्र की होगी। इक्कीस हजार वर्ष का यह दुःषम-दुःषमा काल होगा।

उत्सर्पिणीकाल का स्वरूप

छठा आरा पूर्ण होते ही अवसर्पिणी (अपकर्ष) काल समाप्त हो जायगा। तत्पश्चात् उत्सर्पिणी (उत्कर्ष) काल प्रारम्भ होगा। उसके भी छः आरक होंगे। इसका क्रम उलटा होगा। प्रथम दुःषम-दुषम आरक, अवसर्पिणी काल के छठे आरक जैसा इक्कीस हजार वर्ष का होगा और सभी प्रकार के भाव उसी के समान होंगे। परन्तु अशुभ भावों में क्रमशः न्यूनता होने लगेगी।

दूसरा दुःषम आरक अवसर्पिणी काल के पांचवें आरे के समान होगा और इक्कीस हजार वर्ष का होगा। इसके प्रारम्भ से ही उत्कर्ष होना प्रारम्भ हो जायगा।

सर्व प्रथम 'पुष्कर संवर्त्तक' नामक मेघ घनघोर वर्षेगा, जो लगातार सात दिन तक बरसता रहेगा। जिससे पृथ्वी का ताप और रुक्षता आदि नष्ट हो जावेंगे। उसके बाद 'क्षीरमेघ' की वर्षा होगी और लगातार सात दिन-रात होती रहेगी। इससे शुभवर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की उत्पत्ति होगी। तत्पश्चात् तीसरे 'घृतमेघ' की वर्षा भी सात दिन तक लगातार होगी। इससे पृथ्वी में स्निग्धता उत्पन्न होगी। तदुपरान्त चौथे 'अमृत-मेघ' की वर्षा भी सात दिन तक होगी, जिससे भूमि से वृक्ष-लतादि उत्पन्न होकर अंकुरित होंगे। अन्त में पांचवां 'रसमेघ' भी सात दिन तक वर्षेगा। इसके प्रभाव से

वनस्पतियों में अपने योग्य पांच प्रकार के रस की वृद्धि होगी* ।

इन वृष्टियों के पश्चात् पृथ्वी का वातावरण शान्त हो जायगा, चारों ओर हरियाली दिखाई देगी । ऐसी शान्त सुखप्रद एवं उत्साहवर्द्धक स्थिति का प्रभाव उन बिलवासी मनुष्यों पर होगा । वे बिल में से बाहर निकल आवेंगे । चारों ओर हरियाली और सुखद प्रकृति देख कर हर्ष-विभोर होंगे । उनके हृदय में शुभभाव उत्पन्न होंगे । वे सभी एकत्रित होकर प्रसन्नता व्यक्त करेंगे । और सब मिलकर यह निश्चय करेंगे कि अब हम मांस-भक्षण नहीं करेंगे । यदि कोई मनुष्य मांस-भक्षण करेगा, तो हम उससे सम्बन्ध नहीं रखेंगे । हमारे खाने के लिए प्रकृति से उत्पन्न वनस्पति बहुत है । वे नीति-न्याय पूर्ण व्यवस्था करेंगे ।

इनकी सामाजिक व्यवस्था करने के लिये आरक के प्रांत भाग में क्रमशःसात कुलकर होंगे—१ विमलवाहन २ सुदाम ३ संगम ४ सुपार्श्व ५ दत्त ६ सुमुख और ७ संमुचि । प्रथम कुलपति जातिस्मरण से जान कर ग्राम-नगरादि की रचना करेगा, पशुओं का पालन करे-कराएगा, शिल्प, वाणिज्य, लेखन सिखाएगा । इस समय अग्नि उत्पन्न होगी, जिससे भोजन आदि पकाना सिखावेगा । इस काल के मनुष्यों के संहनन-संस्थान आयु आदि में वृद्धि होगी । उत्कृष्ट सौ वर्ष से अधिक आयु वाले होंगे और आयु पूर्ण कर अपने कर्मानुसार चारों गतियों में उत्पन्न होंगे, परंतु मुक्ति नहीं पा सकेंगे ।

'दुःषम सुषमा' नामक तीसरा आरा बयालीस हजार वर्ष कम एक कोटा-कोटि सागरोपम प्रमाण का (अवसर्पिणी काल के चौथे आरे जितना) होगा । इस आरक के ८९ पक्ष (तीन वर्ष साढ़े आठ मास) व्यतीत होने पर 'द्वार' नामक नगर के 'संमुचि' नाम के सातवें कुलकर राजा की रानी भद्रा देवी की कुक्षि से 'श्रेणिक' राजा का जीव, नारकी से निकल कर पुत्रपने उत्पन्न होगा । गर्भ-जन्मादि महोत्सव आयु आदि मेरे (भ. महावीर प्रभु के) समान होंगे । 'महापद्म' नाम के वे प्रथम तीर्थंकर होंगे । उनके पश्चात् प्रतिलोम (उलटे क्रम) से बाईस (कुल तेईस) तीर्थंकर होंगे । ग्यारह चक्रवर्ती, नौ बलदेव नौ प्रतिवासुदेव होंगे ।

'सुषम दुःषम' नामक चौथा आरा दो कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण होगा । इसमें चौबीसवें तीर्थंकर और बारहवें चक्रवर्ती होंगे । इस आरक का एक करोड़ पूर्व से कुछ

* इन वृष्टियों के मध्य में दो सप्ताह का उघाड़ होने का कह कर जो लोग ४९ दिन का सम्वत्सरी का मेल मिलाने का प्रयत्न करते हैं, उसके लिये सूत्र ही नहीं, प्राचीन ग्रन्थ का भी कोई आधार दिखाई नहीं देता, केवल काल-प्रभाव एवं पक्ष-व्यामोह ही लगता है ।

अधिक काल व्यतीत होने पर कल्पवृक्ष उत्पन्न होंगे। उस समय यह क्षेत्र कर्मभूमि मिट-कर भोगभूमि हो जायगी। वे मनुष्य युगलिक होंगे।

"इसके बाद 'सुषम' नामक पाँचवाँ और 'सुषम-सुषमा' नामक छठा आरा क्रमशः तीन कोटाकोटि और चार कोटा-कोटि सागरोपम प्रमाण होगा, जो अवसर्पिणी के दूसरे और पहले आरे के समान भोगभूमि का होगा।"

जम्बू स्वामी के साथ ही केवलज्ञान लुप्त हो जायगा

श्रमण भगवान् से गणधर सुधर्म स्वामी ने पूछा—"भगवन् केवल-ज्ञान रूपी सूर्य कब और किस के पश्चात् अस्त हो जायगा?"

—"तुम्हारे शिष्य जम्बू अंतिम केवली होंगे। उनके पश्चात् भरत-क्षेत्र में इस अवसर्पिणी में किसी को भी केवलज्ञान नहीं होगा। और उसी समय से परम अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, पुलाक-लब्धि, आहारक-शरीर, क्षपकश्रेणी, उपशमश्रेणी, जिनकल्प, परिहार-विशुद्ध चारित्र, सूक्ष्म-सम्पराय चारित्र, यथाख्यात चारित्र और मोक्ष प्राप्ति का विच्छेद हो जायगा।"

हस्तिपाल राजा के स्वप्न और उनका फल

अपापापुरी में भगवान् का अंतिम चातुर्मास था। हस्तिपाल ‡ राजा की रज्जुक-सभा (लेखन शाला) † में भगवान् विराज रहे थे। वहाँ के राजा हस्तिपाल को एक रात्रि में आठ स्वप्न आये। उसने भगवान् से अपने स्वप्नों का फल बतलाने का निवेदन किया। वे स्वप्न इस प्रकार थे;-- १ हाथी २ बन्दर ३ क्षीरवृक्ष ४ काकपक्षी ५ सिंह ६ कमल ७ बीज और ८ कुंभ। भगवान् ने फल बतलाते हुए कहा;—

(१) प्रथम स्वप्न में तुमने हाथी देखा, उसका फल भविष्य में आने वाले 'दुषम' नामक पांचवें आरे में श्रावक-वर्ग क्षणिक समृद्धि में लुब्ध हो जायगा। आत्म-हित का विवेक भुला कर वे हाथी के समान गृहस्थ-जीवन में ही रचे रहेंगे। यदि दुःखी जीवन से ऊब कर कोई प्रव्रज्या ग्रहण करेगा, तो कुसंगति के कारण संयम छोड़ देगा अथवा कुशी-लिये हो जावेंगे। निष्ठापूर्वक संयम का पालन करने वाले तो विरले ही होंगे।

(२) बन्दर के स्वप्न का फल यह है कि संघ के नायक आचार्य भी चञ्चल

‡ कहीं-कहीं राजा का नाम 'पुण्यपाल' भी लिखा है, परन्तु कल्पसूत्र में "हस्तिपाल" नाम है।

† रज्जुक सभा का अर्थ अर्धमागधी कोश में 'पुरानी दानशाला' भी किया है। यह दान=कर प्राप्ति का स्थान था, जो उस समय रिक्त था।

प्रकृति के होंगे। अल्प सत्व वाले, प्रमादी और धर्मियों को भी प्रमादी बनाने वाले होंगे। धर्म साधना में तत्पर तो कोई विरले ही होंगे। स्वयं शिथिल होते हुए भी दूसरों को शिक्षा देंगे। जो चारित्र का लगन पूर्वक निर्दोष रीति से पालन करेंगे, और धर्म का यथार्थ प्रतिपादन करेंगे, उनकी वे कुशीलिये हँसी करेंगे। हे राजन् ! भविष्य में निर्ग्रंथ प्रवचन से अनजान और उपेक्षक तथा उत्थापक लोग विशेष होंगे।

(३) क्षीरवृक्ष के स्वप्न का फल—समृद्ध एवं दान करने की रुचिवाले श्रावकों को श्रमण-लिंगी ठग अपने चंगुल में पकड़े रहेंगे। कुशीलियों और स्वच्छन्दों की संगति वाले श्रावकों को, सिंह के समान सत्वशाली उत्तम आचार वाले सुसाधु भी उन श्वान के समान दुराचारियों जैसे लगेंगे। उत्तम सुविहित मुनियों के विहार आदि में वे वेशधारी कुशीलिये बाधक हो कर उपद्रव करेंगे। क्षीरवृक्ष के समान श्रावकों को सुसाधुओं की संगति करने से वे कुशीलिये रोकेंगे।

(४) चौथे स्वप्न में तुमने कौवा देखा। इसका फल यह है कि—संयम धर्म एवं संघ की मर्यादा का उल्लंघन करने वाले धृष्ट-स्वभावी बहुत होंगे। वे अन्य स्वच्छन्दियों का सहयोग ले कर धर्मियों से विपरीताचरण करते हुए धर्म का लोप और अधर्म का प्रचार करेंगे।

(५) शरीर में उत्पन्न कीड़ों से दुर्बल एवं दुःखी बने हुए सिंह के स्वप्न का फल—सिंह वन का राजा है। अन्य पशु उससे भयभीत रहते हैं, परंतु वह किसी से नहीं डरता। किंतु अपने शरीर में उत्पन्न कीड़ों से ही वह जर्जर एवं दुखी हो रहा है। इसी प्रकार जिन-धर्म सर्वोपरि है। इसके सिद्धांत अन्य से बाधित नहीं हो सकते। किंतु इसी में उत्पन्न दुराचारी द्रव्यलिंगी कीड़े ही इस पवित्र धर्म को क्षत-विक्षत करेंगे।

(६) कमल का उचित स्थान सरोवर है। कमलाकर में उत्पन्न सुन्दर पुष्प विद्रूप हो, उनसे दुर्गन्ध निकले, तो वह घृणित होता है। इसी प्रकार उत्तम कुल में उत्पन्न मनुष्य धर्मिष्ट होना चाहिये। परंतु भविष्य में प्रायः ऐसा नहीं होगा। बहुत-से कुसंगति में पड़ कर धर्म-शून्य होंगे। कुछ धर्मी होंगे, तो उनका स्थिर रहना कठिन होगा। किंतु उकरड़ी पर कमल खिलने के समान कोई हीन-कुलोत्पन्न मनुष्य भी धर्मी होगा। परंतु वह कुल-हीनता के कारण उपेक्षणीय होगा।

(७) उत्तम बीज को ऊसर भूमि में और सड़े हुए बीज को उपजाऊ भूमि में बोने वाला किसान विवेकहीन होता है। इसी प्रकार विवेक-विकल श्रावक कुपात्र को रुचिपूर्वक दान देंगे और सुपात्र की अवहेलना करेंगे।

(८) जलभरित और कमलपुष्पों से आच्छादित कुंभ, एक ओर उपेक्षित पड़े रहने के समान क्षमादि उत्तम गुणों से परिपूर्ण महात्मा विरले एवं बहुजन उपेक्षित से रहेंगे और मलपूरित कुंभ के समान दुराचारी वेशधारी सर्वत्र दिखाई देंगे। वे कुशीलिये शुद्धाचारी मुनियों की निन्दा करेंगे और उन्हें कष्ट देने को तत्पर होंगे। वेश से दुराचारी और सदाचारी समान दिखाई देने के कारण अनसमझ सामान्य जनता दोनों को समान मानेंगी। इस पर एक कथा इस प्रकार है;—

पृथ्वीपुर में 'पूर्ण' नाम का राजा था। 'सुबुद्धि' उसका मन्त्री था। वह बुद्धिमान एवं योग्य था। सुखपूर्वक काल व्यतीत हो रहा था। मन्त्री को एक भविष्यवेत्ता ने कहा—"एक मास पश्चात् वर्षा होगी। उसका पानी जो मनुष्य पियेगा, वह बावरा (विकल मति) हो जायगा। कालान्तर से जब दूसरी बार वर्षा होगी, उसका जल पी कर वे पुनः पूर्ववत् हो जावेंगे।" मन्त्री ने राजा से कहा और राजा ने जनता में ढिंढोरा पिटवा कर कहलाया कि "एक मास के पश्चात् वर्षा होगी, जिस का जल पीने वाले बावले हो जावेंगे। इस लिये सभी लोग अपने घरों में जल का संचय करलें और उस वर्षा के पानी को नहीं पीवे।"

राजा और मन्त्री ने पर्याप्त जल भर लिया और लोगों ने भी भरा। वर्षा हुई, तो लोगों ने उसका पानी नहीं पिया, परंतु संचित जल समाप्त होने पर पीना पड़ा। पानी पीने वाले सब विक्षिप्त से हो कर नाचने-कूदने और अंटसंट बकने लगे और अनेक प्रकार की कुचेष्टाएँ करने लगे। राजा और मन्त्री के पास पर्याप्त जल था, सो वे तो इस पागलपन से बचे रहे। परंतु अन्य सामंत, सरदार अधिकारी सैनिक आदि सभी बावले होकर नाच-कूद आदि करने लगे। केवल राजा और मन्त्री ही स्वस्थ रहे। सामन्तों अधिकारियों और नागरिकों ने देखा कि 'राजा और मन्त्री हम सब से सर्वथा विपरीत हैं। इसलिये ये दोनों बुद्धिहीन विक्षिप्त एवं अयोग्य हो गये हैं। अब ये राज्य का संचालन करने योग्य नहीं रहे। इसलिये इन्हें हटा कर अपने में से किसी योग्य को (जो अधिक नाचकूदादि करता हो) राजा और मन्त्री बनाना चाहिए। उनका विचार मन्त्री के जानने में आया। उसने राजा से कहा—"महाराज ! अब हमें भी इनके जैसा पागल बनना पड़ेगा। अन्यथा इन लोगों से बच नहीं सकेंगे। ये हमें दुखी कर देंगे।"

राजा समझ गया। राजा और मन्त्री बावलेपन का ढोंग करते हुए उनके साथ नाचकूद करने लगे, हँसने और बकवाद करने लगे। उनका राज्य और मन्त्री-पद बच गया। कालान्तर में शुभ समय आया, शुभ वर्षा हुई। सभी उस जल को पी कर प्रकृतिस्थ हुए और पूर्ववत् व्यवहार करने लगे।

इस प्रकार हे हस्तिपाल। पंचमकाल में कोई गीतार्थ होंगे वे भी धर्म के सत्य स्वरूप को जानते हुए भी भविष्य में अनुकूलता की आशा रखते हुए, लिंगधारी दुराचारियों से दबते हुए मिल कर रहेंगे।"

भगवान् के मुख से पंचमकाल का स्वरूप जान कर हस्तिपाल राजा संसार से विरक्त हो गया और संयम स्वीकार कर * क्रमशः मुक्त हो गया।

वीर-शासन पर भस्मग्रह लगा

श्रमण भगवान् महावीर प्रभु का निर्वाण-काल निकट जान कर प्रथम स्वर्ग का स्वामी शक्रेन्द्र चिन्तित हुआ। विचार करने पर उसे लगा कि 'निर्वाण-काल के समय भगवान् की जन्म-राशि पर 'भस्मराशि' नामक महाग्रह आने वाला है, इससे जिनशासन का अनिष्ट होगा।' वह भगवान् के समीप आया और वन्दना कर के निवेदन किया;—

"प्रभो! आपके जन्मादि कल्याणक का नक्षत्र 'उत्तराफाल्गुनी' है। उस पर 'भस्मराशि' नामक महाग्रह दो हजार वर्ष की स्थिति वाला संक्रमित है। यह आपके धर्म-शासन—साधु-साध्वी के लिये अनिष्टकारी होगा। इसलिये यह क्रूर ग्रह हटे, वहाँ तक आपका आयुष्य स्थिर रहे—उतना बढ़ा दें, तो इस कुप्रभाव से आपकी परम्परा बच जावेगी।"

—"शक्रेन्द्र! तुम्हारे मन में तीर्थ-प्रेम है। इसी कारण तुम इस प्रकार सोच रहे हो। तुम जानते हो कि आयु बढ़ाने की शक्ति किसी में नहीं है और धर्मतीर्थ की क्षति तो दुःषम काल के प्रभाव से होगी ही। भस्मग्रह भी इस भवितव्यता का परिणाम है।

गौतम स्वामी को दूर किये

पावापुरी में अंतिम चातुर्मास का चौथा मास—सातवाँ पक्ष = कार्तिक कृष्णा अमावस्या का दिन था। आने वाली रात्रि में भगवान् का निर्वाण होने वाला था। गण-धर भगवान् गौतम स्वामी का भगवान् पर प्रेम अधिक था। इसलिये गौतम को अधिक पीड़ा न हो, और उसका स्नेह-बन्धन टूटने में निमित्त हो सके, इस उद्देश्य से भगवान् ने

---

* पहले उदयन नरेश को राज्य त्याग कर दीक्षा लेने वाला अन्तिम राजा बताया गया। किन्तु उसके बाद हस्तिपाल की दीक्षा होना, उस कथन को बाधित करता है। हस्तिपाल की दीक्षा का समर्थन ठाणांग सूत्र स्थान ८ के उस विधान से भी नहीं होता, जिसमें भगवान् महावीर से दीक्षित हुए आठ राजाओं के नाम हैं। उसमें हस्तिपाल या पुण्यपाल नाम नहीं है।

इन्द्रभूतिजी को 'देवशर्मा ब्राह्मण' को प्रतिबोध देने के लिये निकट के गाँव में भेजदिया। गौतम स्वामी वहाँ गये और देवशर्मा को उपदेश दे कर जिनोपासक बनाया और वहीं रात्रि-वास किया।

भगवान् की अंतिम देशना

कार्तिक कृष्ण-पक्ष की अमावस्या पाक्षिक व्रत का दिन था। काशी देश के मल्लवी वंश के नौ राजा और कौशल देश के लिच्छवी वंश के नौ राजाओं ने वहीं पौषधोपवास किया था। आज भगवान् ने अपनी अंतिम देशना में पुण्यफलविपाक के पचपन अध्ययनों और पापफल-विपाक के पचपन अध्ययनों तथा अपृष्ट व्याकरण के छत्तीस अध्ययन (उत्तराध्ययन) फरमाये।

भगवान् का मोक्ष गमन

भगवान् पर्यङ्कासन से विराजे और योग निरोध करने लगे। बादर-काय-योग में स्थिर रह कर बादर मनोयोग और वचन-योग का निरोध किया। इसके बाद सूक्ष्म काय-योग में स्थिर रह कर बादर काय-योग को रोका, तत्पश्चात् सूक्ष्म वचन और मनोयोग रोका। शुक्ल-ध्यान के 'सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाति' नामक तीसरे चरण को प्राप्त कर सूक्ष्म काययोग का निरोध किया और 'समुच्छिन्नक्रिया अनिवृत्ति' नामक चतुर्थ चरण को प्राप्त कर पांच लघु अक्षर (अ इ उ ऋ लृ) का उच्चारण हो उतने समय तक शैलेशी अवस्था में रह कर शेष चार अघाती कर्मों का क्षय कर के सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हो गए। उस समय लोक में अन्धकार हो गया और जीवनभर दुःख भोगने वाले नैरयिक को भी कुछ समय शांति का अनुभव हुआ।

भगवान् के निर्वाण के समय 'चन्द्र' नाम का सम्वत्सर था, 'प्रीतिवर्धन' मास था, 'नन्दीवर्धन' पक्ष था और 'अग्निवेश' दिन था, जिसका दूसरा नाम 'उपशम' है। उस रात्रि का नाम 'देवानन्दा' था। 'अर्च' नामक लव 'शुल्क' नामक प्राण, 'सिद्ध' नामक स्तोक, 'सर्वार्थ सिद्ध' मुहूर्त और 'नाग' नामक करण था। 'स्वाति' नक्षत्र के योग में प्रत्यूष काल (चार घड़ी रात्रि शेष रहते) छठभक्त की तपस्या के साथ भगवान् मोक्ष प्राप्त हुए।

केवलज्ञान रूपी सूर्य के अस्त होने पर अन्धकार व्याप्त हो गया । भाव उद्योत के लोप होने पर काशी-कोशल देश के अठारह राजाओं ने विचार किया कि 'दीप जला कर द्रव्य उद्योत करेंगे ।'

अनिष्ट सूचक घटना

भगवान् के मोक्ष प्राप्त होते ही दिखाई नहीं दे सके ऐसे कुंथुए इतने परिमाण में उत्पन्न हो गए कि जिनको वचा कर चलना कठिन हो गया था और जो उनके हलन-चलन से ही जाने जा सकते थे । ऐसी स्थिति में संयम की निर्दोपिता रखना असंभव जान कर वहुत-से साधु-साध्वियों ने अनशन कर लिया ।

प्रश्न—"भगवन् ! यह घटना क्या सूचित करती है ?"

उत्तर—अव आगे संयम पालन करना अति कठिन हो जायगा ।"

देवों ने निर्वाण-महोत्सव किया

भगवान् का निर्वाण होने पर भवनपति से लगा कर वैमानिक पर्यन्त देवेन्द्र अपने परिवार सहित उपस्थित हुए और शोकाकुल हो आँसू बहाते रहे । शक्रेन्द्र ने भगवान् के शरीर को शिविका में रखा और इन्द्रोंने शिविका उठाई । देवों ने गोशीर्षचन्दन की लकड़ी से चिता रची और उस पर भगवान् के देह को रखा । अग्निकुमार देवों ने अग्नि प्रज्वलित की । वायुकुमार देवों ने वायु चला कर अग्नि विशेष प्रज्वलित की । दाह-क्रिया हो जाने पर मेघकुमार देवों ने क्षीर-समुद्र के उत्तम जल से चिता शान्त की । तत्पश्चात् भगवान् के मुख की दाहिनी और वायीं ओर की ऊपर की दाढ़ा शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र ने ली, चमरेन्द्र और वलीन्द्र ने नीचे की दाढ़ा ली । अन्य इन्द्र दाँत और देव अस्थियाँ ले गये । उस स्थान पर देवों नें स्तूप वनाया ।

गौतम स्वामी को शोक × × केवलज्ञान

प्रथम गणधर श्री इन्द्रभूतिजी देवशर्मा को प्रतिवोध दे कर लौट कर भगवान् के समीप आ रहे थे कि मार्ग में ही देवों के आवागमन और वार्त्तालाप से भगवान् का निर्वाण

होना जाना । उन्हें आघात लगा । वे शोकाकुल हो कर बोले--

"हे भगवन् ! निर्वाण के समय मुझे दूर क्यों भेजा ? प्रभो ! मैंने इतने वर्षों तक आपकी सेवा की, परन्तु अन्त समय में मैं दर्शन एवं सामिप्य से वञ्चित रहा । मैं दुर्भागी हूँ । वे धन्य हैं, जो अन्त समय तक आपके समीप रहे । हा ! मेरा हृदय वज्र का है, जो भगवान् का विरह जान कर भी नहीं फटता ??

"भगवन् ! मैं भ्रमित था । मैंने भूल की जो आप जैसे वीतराग के साथ राग किया, ममत्वभाव रखा । राग-द्वेष संसार के हेतु है । इसका भान कराने के लिये और मेरा मोह-भंग करने के लिये ही आपने मुझे दूर किया होगा । आप जैसे राग-रहित, ममत्व-शून्य के प्रति राग रखना ही मेरी भूल थी ।"

इस प्रकार चिन्तन करते एकाग्रता बढ़ी, धर्मध्यान से शुक्लध्यान में प्रवेश किया, मोह का आवरण हटा और घातीकर्मों को क्षय कर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो गये ।

श्री गौतम स्वामी को केवलज्ञान होने के पश्चात् पाँचवें गणधर श्री सुधर्मास्वामीजी भगवान् के उत्तराधिकारी आचार्य हुए ।

भगवान् के बयालीस चातुर्मास

भगवान् ने दीक्षित होने के पश्चात् प्रथम चातुर्मास अस्थिक ग्राम में किया, चम्पा और पृष्ठ चम्पा में तीन चातुर्मास किये, वैशाली और वाणिज्य ग्राम में बारह, राजगृह और नालन्दा में चौदह, मिथिला में छः, भद्रिका में दो, आलंभिका में एक, श्रावस्ति में एक, वज्रभूमि में एक और पावापुरी में एक यह अंतिम चातुर्मास हुआ था ।

भगवान् की शिष्य-सम्पदा

श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के उपदेश से प्रभावित होकर आठ राजा दीक्षित हुए । यथा--१ वीरांगद २ वीररस ३ संजय ४ राजर्षि एणेयक ५ श्वेत ६ शिव ७ उदयन और ८ शंख ।

भगवान् की शिष्य सम्पदा इस प्रकार थी ।

गणधर ११, केवलज्ञानी ७००, मनःपर्यवज्ञानी ५००, अवधिज्ञानी १३००, चौदह पूर्वधर ३००, वादी ४००, वैक्रिय-लब्धिधारी ७००, अनुत्तरोपपातिक ८०० साधु १४०००, साध्वियाँ ३६०००, श्रावक १५९०००, श्राविकाएँ ३१८००० । भगवान के धर्मशासन में ७०० साधुओं और १४०० साध्वियों ने मुक्ति प्राप्त की ।

श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के समय मोक्ष प्राप्त मुनियों की दो प्रकार की भूमिका रही—युगान्तकृत-भूमिका और पर्यायान्तकृत भूमिका।

युगान्तकृत भूमिका तीसरे पुरुष तक रही। प्रथम भगवान् मोक्ष पधारे, उनके बाद उनके गौतमादि शिष्य और तीसरे प्रशिष्य जम्बू स्वामी। इसके बाद मुक्ति पाना बंद हो गया।

पर्यायान्तकृत भूमिका—भगवान् को केवलज्ञान होने के चार वर्ष पश्चात् उनके शिष्यों का मुक्ति पाना प्रारम्भ हुआ जो जम्बूस्वामी पर्यन्त चलता रहा।

श्रमण भगवान् महावीर स्वामी तीस वर्ष तक गृहवासी रहे, बारह वर्ष से अधिक छद्मस्थ साधु अवस्था में और कुछ कम तीस वर्ष केवल ज्ञानी तीर्थंकर रहे। इस प्रकार श्रमण-पर्याय कुल बयालीस वर्ष पाल कर—कुल आयु बहत्तर वर्ष का पूर्ण कर—एकाकी सिद्ध बुद्ध मुक्त हुए।

॥ तीत्थरा मे पसियंतु ॥

॥ तीर्थंकर चरित्र सम्पूर्ण ॥